काव्याङ्गदर्पण

KĀVYĀṄGADARPAṆA

डॉ० विजय बहादुर अवस्थी

एम० ए० (हिन्दी, संस्कृत), पी-एच० डी०
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
श्री गुरु तेगबहादुर खालसा कॉलिज, दिल्ली
(दिल्ली विश्वविद्यालय)

नाग प्रकाशक

११ ए/यू०ए० जवाहरनगर, दिल्ली-७

वितरक :

नाग प्रकाशक .

(१) ११ ए/यू० ए० (पोस्ट आफिस बिल्डिंग) जवाहर नगर, दिल्ली,
(२) ८ए/यू० ए० ३, जवाहर नगर, दिल्ली-७,
(३) जल लपुर माफी (चुनार, मिर्जापुर) (उ० प्र०)

मूल्य : Rs. ५००

प्रकाशक . दिल्ली पुस्तक सदन, १६ यू० बी० बंग्लो रोड दिल्ली-७

मुद्रक सतीश कम्पोजिंग एजेंसी द्वारा विकास आर्ट प्रिंटर्स, शाहदरा दिल्ली-३२

पूज्य

माता-पिता

की

पावन स्मृति

में

धन्य जनमु जगतीतल तासू। पितहि प्रमोदु चरित सुनि जासू ॥

—रामचरितमानस, २/४६/१

आभार-प्रदर्शन

उच्च कक्षाओं में साहित्यशास्त्रसम्बन्धी विषय पढ़ाते समय लेखक को जिस अभाव का अनुभव हुआ उसी अभाव की पूर्ति का विनम्र प्रयास 'काव्याङ्ग-दर्पण' है।

यद्यपि सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची में परिगणित सभी ग्रन्थ प्रस्तुत पुस्तक के प्रणयन में उपादेय सिद्ध हुए हैं और लेखक उन सबके रचयिताओं के प्रति हृदय से आभार व्यक्त करता है किन्तु फिर भी कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनको 'काव्याङ्ग दर्पण' के लेखन में विशेष रूप से आधार बनाया गया है। उनका यहाँ उल्लेख करना असंगत न होगा। इन ग्रन्थों में पं० रामदहिन मिश्र का 'काव्यदर्पण', पं० कन्हैयालाल पोद्दार का 'काव्यकल्पद्रुम', लाला भगवान दीन की 'अलंकार-मंजूषा', पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र की 'वाङ्मय-कौमुदी,' डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल की 'आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना', प्रो० समार चन्द्र का 'अलंकार-प्रदीप', पं० दुर्गादत्त का 'काव्य दर्पण', पं० रामबहोरी शुक्ल का 'काव्यप्रदीप', श्री प्यारेलाल शर्मा की 'हिन्दी-छन्द-रचना', श्री रघुनन्दन शास्त्री का 'हिन्दी छन्द-प्रकाश' और डॉ० कृष्णलाल शर्मा की 'आधुनिक हिन्दी-कविता में ध्वनि' प्रमुख हैं। लेखक उपर्युक्त सभी विद्वानों का हृदय से आभारी है।

पुस्तक-मुद्रण में प्रकाशक तथा मुद्रक ने अपूर्व सहयोग का परिचय दिया है, अतः लेखक उनका भी हृदय से आभार मानता है।

दिल्ली —लेखक

२४ अप्रैल, १९७२

विषय-सूची

१ काव्य

सौन्दर्यप्रियता मानव की सहज वृत्ति है। सृष्टि के सुन्दर रूपों के प्रति उसका आकर्षण स्वभावतः होता है। चन्द्रोदय, चन्द्रज्योत्स्ना, सूर्योदय, जलाशय, हिम-मण्डित पर्वतशिखर, उद्यान आदि असंख्य सुन्दर वस्तुएँ उसे आकृष्ट ही नहीं करती, अपितु उसके हृदय में विशिष्ट प्रतिक्रिया की उत्पत्ति भी करती हैं तथा उसे सुन्दर भावों से भर देती हैं। इसके फलस्वरूप उसमें एक विशेष प्रकार के आनंद का संचार होता है और वह अपने इस आनंद की अभिव्यक्ति के लिए आतुर भी होता है। यदि वह विशेष प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति है तो वह इस आनन्द को सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त कर दूसरों को भी अपने इस आनंद का समभागी बनाता है। निश्चय ही उसकी अभिव्यक्ति सार्थक शब्दों के माध्यम से होती है। ये अर्थपूर्ण, आनंदप्रद, चमत्कारपूर्ण, रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाले शब्द ही 'काव्य' कहलाते हैं। और उस प्रतिभावान् काव्य-स्रष्टा को 'कवि' कहते हैं। उसका यह कवि-कर्म उसे जगत्-स्रष्टा प्रजापति ब्रह्मा की श्रेणी में प्रतिष्ठापित करता है, तभी तो प्राचीन काल से ही 'कविर्मनीषी परिभू स्वयंभू' आदि उक्तियाँ उसे एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करती आयी हैं।

काव्य-लक्षण—'काव्य' रसास्वाद की वस्तु है, अभिव्यक्ति की नहीं; इसीलिए इसको लक्षणों की सीमा में बाँधना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। फिर भी प्राचीनकाल से ही साहित्य-मनीषी इसे लक्षण की सीमा में बाँधने का प्रयास करते आये हैं। यह प्रयास संस्कृत के आचार्यों में विशेष प्रकार से देखा जाता है। संस्कृत के सर्वप्रथम आचार्य जिनका काव्य-लक्षण आज उपलब्ध है 'भामह' (६ठी श० ई०) हैं। आचार्य भामह के मतानुसार 'शब्द और अर्थ का सहित भाव ही काव्य है'.

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।[1]

आचार्य रुद्रट (९वीं श० ई० का पूर्वार्द्ध) ने इसी लक्षण को दूसरे शब्दों में कहा कि 'शब्द और अर्थ ही काव्य है'

---

१. काव्यालंकार (भामह), १।१६

ननु शब्दार्थौ काव्यम् ।[१]

आचार्य कुन्तक (१०वीं श० ई० का उत्तरार्द्ध) ने उपर्युक्त लक्षणों में संशोधन करते हुए कहा कि कवि के कल्पना पूर्ण कौशल से युक्त सहृदयों को आनंद देने वाली चमत्कारपूर्ण सुन्दर (वक्र) उक्ति काव्य है

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि ॥[२]

कुन्तक का कथन है कि केवल शब्द और अर्थ 'काव्य' की संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकते जब तक उनमें वक्रता या आह्लादकारिणी चमत्कारपूर्ण शक्ति न हो क्योंकि शब्द और अर्थ तो ज्ञान-ग्रन्थों में भी रहते हैं ।

भोजराज (११वीं श० ई० का पूर्वार्द्ध) के अनुसार काव्य वह शब्दार्थ युगल है जो दोषरहित, गुणयुक्त, अलंकारों से अलंकृत और रसयुक्त हो

अदोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलङ्कृतम् ।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति ॥[३]

कुन्तक के पश्चात् महत्त्वपूर्ण काव्यलक्षणकार हैं आचार्य मम्मट (११वीं श० ई० का उत्तरार्द्ध), विश्वनाथ (१४वीं० श० ई० का पूर्वार्द्ध) और पण्डितराज जगन्नाथ (१७वीं श० ई० का मध्य) । आचार्य मम्मट का काव्य-लक्षण है

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि ।[४]

अर्थात् दोषरहित, गुणयुक्त तथा कहीं-कहीं अलंकार-रहित शब्दार्थ ही 'काव्य' है । इस काव्य-लक्षण के तीनों विशेषणों (अदोषौ, सगुणौ और अनलंकृती) की आलोचना करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने अपने 'साहित्य-दर्पण' में एक नये काव्य-लक्षण की स्थापना की । इनके मतानुसार 'रसात्मक वाक्य ही काव्य है'

वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।[५]

इस मत को पर्याप्त मान्यता प्राप्त हुई है, यद्यपि मम्मट का काव्य-लक्षण भी पर्याप्त रूप में समादृत हुआ । संस्कृत के अन्तिम आचार्य जिन्होंने काव्य-लक्षण का प्रतिपादन किया, पंडितराज जगन्नाथ हैं । उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'रसगंगाधर' में काव्य का लक्षण उपस्थापित करते हुए कहा .

रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।[६]

---

१ काव्यालंकार (रुद्रट), २।१
२ वक्रोक्तिजीवितम्, १।७
३ सरस्वतीकंठाभरण, १।२
४ काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास, सू० १
५ साहित्यदर्पण, १।३
६ रसगंगाधर, १।१ (पृ० ६)

अर्थात् रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द ही काव्य है। इस लक्षण में अर्थ की रमणीयता पर विशेष बल है। यह रमणीयता अत्यन्त व्यापक है। इसके अन्तर्गत रस, गुण, अलंकार आदि से आविर्भूत होने वाली रमणीयता तथा साथ-ही-साथ चमत्कारवत्ता आदि सभी सन्निविष्ट हैं।

उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त 'चन्द्रालोक' के रचयिता 'जयदेव' (१३वीं श० ई० का मध्यभाग) ने भी काव्य-लक्षण का निरूपण किया है तथा उसमें रीति, गुण, अलंकार, रस आदि काव्य के सभी तत्वों का समावेश कर दिया है। उनकी परिभाषा है

निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषिता।
सालंकाररसानेकवृत्तिर्वाक्काव्यनामभाक्॥[1]

अर्थात् दोषरहित, अक्षरसंहति, शोभादि लक्षणों[2] से युक्त, रीति, गुण से विभूषित तथा अलंकार, रस, वृत्ति आदि से समन्वित वाणी का नाम 'काव्य' है।

इन आचार्यों के अतिरिक्त कुछ और आचार्यों ने भी काव्य-लक्षण-निरूपण का प्रयास किया, किन्तु उपर्युक्त काव्य-लक्षण ही विशेष महत्त्व के हैं।

पाश्चात्य विद्वानों ने भी काव्य-लक्षण का प्रतिपादन किया है। उन्होंने काव्य को साहित्य या कविता का पर्यायवाची माना है। अरस्तू ने "काव्य को भाषा के माध्यम से प्राप्त एक अनुकृति कहा है जो मन पर अमिट प्रभाव छोड़ती है।"[3] वर्ड्स्वर्थ के अनुसार "काव्य शान्ति के क्षणों में स्मरण किये गये प्रबल मनोवेगों का स्वतः प्रवर्तन"[4], तथा हडसन के अनुसार "काव्य जीवन की व्याख्या है जो कल्पना और भावना को माध्यम बनाता है।"[5] इसी प्रकार अनेक पाश्चात्य मनीषियों[6] ने काव्य की अपने-अपने ढंग से परिभाषा की

---

१. चन्द्रालोक, १।७
२. दे०—चन्द्रालोक, मयूख ३
३ *Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art, Page 7*
४. "Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings : it takes its origin from emotion recollected in tranquillity "
—Wordsworth Preface to the 'Lyrical Ballads'
५ "Poetry (is) an interpretation of life through imagination and feeling " —An Introduction to the Study of Literature, P 67
६. (i) According to Carlyle Poetry is a Musical Thought
—An Introduction to the Study of Literature, P 64
(ii) According to Shelley Poetry in a general sense may be defined as the expression of the imagination
—An Introduction to the Study of Literature, P. 64
(iii) According to Hazlitt Poetry is the language of the imagination and the passions.
—An Introduction to the Study of Literature, P. 64

है।[1] किसी ने कला, कल्पना और बौद्धिकता पर बल दिया है और किसी ने आनंद और भावानुभूति पर, किन्तु सौन्दर्य और उदात्त तत्त्व का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से समावेश सभी में है। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि काव्य के तीनों तत्त्व (सत्य, शिव और सुन्दर) अधिकांश मनीषियों को किसी न किसी रूप में मान्य हैं।

संस्कृत आचार्यों के अनुकरण पर रीतिकालीन हिन्दी आचार्यों ने भी कविता की परिभाषा की है। किन्तु ये सभी परिभाषाएँ संस्कृत आचार्यों के लक्षणों के अनुवाद-मात्र हैं, उनमें कोई मौलिकता नहीं है।

आधुनिक समीक्षकों में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कविता की परिभाषा करते हुए लिखा है

"जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान-दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस-दशा कहलाती है। हृदय की इसी मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं।"[2]

निष्कर्ष-रूप में हम अत्यन्त संक्षिप्त रूप में कह सकते हैं कि "शब्दार्थमयी सरस रचना ही काव्य है।"

काव्य का स्वरूप—राजशेखर (लगभग ८८०-९२० ई०) ने 'काव्य-मीमांसा' में काव्यपुरुष-रूपक का वर्णन करते हुए लिखा है "शब्द और अर्थ तेरे (काव्यपुरुष के) शरीर हैं, संस्कृत-भाषा मुख है, प्राकृतभाषाएँ तेरी भुजाएँ हैं; अपभ्रंश-भाषा जघा है, पिशाचभाषा चरण हैं और मिश्रभाषाएँ वक्ष स्थल हैं। तू (काव्य) सम, प्रसन्न, मधुर, उदार और ओजस्वी है। (काव्य-गुणों से अभिप्राय है)। तेरी वाणी उत्कृष्ट है। रस तेरी आत्मा है। छन्द तेरे रोम हैं। प्रश्नोत्तर, पहेली, समस्या आदि तेरे वाग्विनोद हैं और अनुप्रास, उपमा आदि तेरे अलंकार हैं।"[3] इसी रूपक के आधार पर आचार्य विश्वनाथ ने अपने 'साहित्यदर्पण' में

---

१. (i) जानसन के अनुसार "Poetry is metrical composition; it is the art of uniting pleasure with truth by calling imagination to the help of reason"
—An Introduction to the Study of Poetry, P 64

(ii) मैथ्यू आर्नल्ड के अनुसार 'Poetry is simply the most delightful and perfect form of utterance that human words can reach' —Essays in Criticism, P 3

२. चिन्तामणि (पहला भाग), पृ० १४१

३ शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुखं, प्राकृतं बाहुः, जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ, उरो मिश्रम्। समः प्रसन्नो मधुर उदार ओजस्वी चासि। उक्तिचणं च ते वचो, रस आत्मा, रोमाणि छन्दांसि, प्रश्नोत्तरप्रवह्लिकादिकं च वाक्केलिः, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलंकुर्वन्ति। —काव्यमीमांसा, पृ० १४

काव्य के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा

काव्यस्य शब्दार्थों शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत्, दोषा काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, अलंकाराः कटककुण्डलादिवत् ।'[1]

अर्थात् शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं, रस-भाव आत्मतत्त्व है, माधुर्यादि-गुण शौर्यादि की भाँति रसरूप आत्मतत्त्व के धर्म हैं, श्रुतिदुष्टादि दोष काणत्व (काना होने) आदि की भाँति रसरूप आत्मतत्त्व के सौन्दर्यापकर्षक हैं, वैदर्भी आदि रीतियाँ शरीर-संस्थान (अंग-रचना) के समान काव्य-संस्थान हैं और अनुप्रास, उपमादि अलंकार कटक, कुण्डल आदि आभूषणों की भाँति शब्द और अर्थ के सौन्दर्यवर्द्धक हैं।'

काव्य-हेतु—आचार्यों ने काव्य-लक्षण के साथ ही साथ काव्य-हेतु का भी निरूपण किया है। काव्य हेतु से अभिप्राय उन साधनों से है जिनके सहारे काव्य का निर्माण होता है। काव्य के ये उपकरण विभिन्न आचार्यों द्वारा विभिन्न रूप में प्रस्तुत किये गए हैं।

आचार्य दण्डी (७वीं श० ई० का उत्तरार्द्ध) के अनुसार काव्य के तीन हेतु हैं - १ नैसर्गिक प्रतिभा, २ निर्मल शास्त्र-ज्ञान और ३ निरन्तर अभ्यास।

नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुतं च बहु निर्मलम् ।
अमन्दश्चाभियोगोऽस्या कारणं काव्यसंपदः ॥[2]

रुद्रट ने इन्हीं को शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास कहा है

तस्यासारनिरासात्सारग्रहणाच्च चारुणः करणे ।
त्रितयमिदं व्याप्रियते शक्तिर्व्युत्पत्तिरभ्यासः ॥[3]

मम्मट ने भी शक्ति, लोक-शास्त्र के अवलोकन की चतुरता तथा काव्य जानने वालों से शिक्षा लेकर उसका अभ्यास—इन तीनों को काव्य का हेतु कहा है :

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात् ।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥[4]

यहाँ शक्ति या नैसर्गिक प्रतिभा से अभिप्राय उस संस्कार-विशेष से है जो किसी-किसी में स्वाभाविक रूप से प्रस्फुटित होता है। यह कवित्व का बीजरूप हुआ करती है : 'कवित्वबीजं प्रतिभानम्।'[5] यह प्रतिभा अत्यन्त दुर्लभ होती है तथा किसी विरले ही को प्रभु की कृपा[6] से प्राप्त होती है, तभी

---

१. साहित्यदर्पण, पृ० ११
२. काव्यादर्श, १।१०३
३ काव्यालंकार, १।१४
४. काव्यप्रकाश, १।३
५. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १।३।१६
६. जेहि पर कृपा करहिं जनु जानी । कवि उर अजिर नचावहिं बानी ॥
—रामचरितमानस, १।१०५।६

तो अग्निपुराणकार ने कहा है

नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र च दुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र च दुर्लभा॥[1]

काव्य का दूसरा हेतु है लोक-शास्त्र का निर्मल ज्ञान जो व्यक्ति में निपुणता की उत्पत्ति करता है। यह निपुणता प्रशिक्षण पर आश्रित रहती है। यह प्रशिक्षण लोक के व्यावहारिक ज्ञान तथा आप्त-ग्रन्थों के अध्ययन के माध्यम से होता है। यदि यह प्रशिक्षण उपयुक्त मात्रा में न हो तो व्यक्ति में निपुणता नहीं आ सकती और वह सफल कवि नहीं बन सकता।

काव्य का तीसरा हेतु अभ्यास है। कोई कितना ही प्रतिभाशाली कवि क्यों न हो, उसकी प्रारंभिक रचनाओं में उतनी परिपक्वता तथा प्रौढ़ता नहीं आ पाती जितनी परवर्ती या बाद की रचनाओं में। अतः अभ्यास का भी अपना विशेष महत्त्व है।

इस प्रकार प्रतिभा, निपुणता और अभ्यास इन तीनों का सम्मिलित रूप ही काव्य-हेतु है। इनमें से प्रत्येक का समान महत्त्व है, तभी तो आचार्य मम्मट के उपर्युक्त लक्षण में 'इति हेतुस्तदुद्भवे' कहा गया है। यहाँ मम्मट ने एक वचन 'हेतु' शब्द का प्रयोग किया है, बहुवचन (हेतवः) का नहीं।

काव्य-प्रयोजन—आचार्यों ने काव्य-हेतु के साथ ही साथ काव्य-प्रयोजन का भी निरूपण किया है। भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में कहा है कि नाट्य (काव्य) धर्म, यश, और आयु का साधक, हितकारक, बुद्धिवर्द्धक तथा लोकोपदेशक होता है :

धर्म्यं यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धिविवर्द्धनम्।
लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति॥[2]

आचार्य भामह के अनुसार सत्काव्य का निर्माण धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष एवं कलाओं में प्रवीणता, आनन्द तथा यश प्रदान करता है :

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
प्रीतिं करोति कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्॥[3]

आचार्य वामन (लगभग ८०० ई०) ने भी

काव्यं सद्दृष्टादृष्टार्थम्। प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात्॥[4]

कहकर काव्य-प्रयोजन की ओर संकेत किया है। इनके अनुसार काव्य का प्रयोजन है प्रीति तथा कीर्ति की प्राप्ति।

आचार्य रुद्रट ने काव्य-प्रयोजन के अन्तर्गत निम्नांकित बातें गिनायी हैं :

---

१. अग्निपुराण, ३३७।३, ४
२. नाट्यशास्त्र, १।११५
३. काव्यालंकार, (भामह), १।२
४. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १।१।५

पुरुषार्थचतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष), विपत्ति-विनाश (अनर्थोपशम), असाधारण सुख, रोगविमुक्ति और अभिमत वर की प्राप्ति।[1]

भोज ने भी कीर्ति और प्रीति को काव्य का प्रयोजन माना है।[2]

आचार्य मम्मट के अनुसार काव्य के प्रयोजन हैं यश की प्राप्ति, सम्पत्ति-लाभ, सामाजिक व्यवहार की शिक्षा, अमंगल का नाश, तुरन्त ही उच्च कोटि के आनन्द का अनुभव तथा कान्तासम्मित उपदेश—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥[3]

इसी प्रकार आचार्य विश्वनाथ ने 'चतुर्वर्गफलप्राप्ति'[4] (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) को काव्य का प्रयोजन माना है।

अग्निपुराण (१२०० ई०) में 'त्रिवर्गसाधन नाट्यम्'[5] कहकर काव्य-प्रयोजन की ओर संकेत किया गया है तथा धर्म, अर्थ और काम-रूप पुरुषार्थ-प्राप्ति को काव्य का प्रयोजन माना गया है।

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों—चिन्तामणि, कुलपति, भिखारीदास आदि ने मम्मट का अनुसरण करते हुए ही काव्य के प्रयोजन का निरूपण किया है।

उपर्युक्त काव्य-प्रयोजनों को हम दो वर्गों में विभक्त कर सकते हैं : १ कवि को केन्द्रबिन्दु मानकर, २ सहृदय को केन्द्रबिन्दु मानकर। यश की प्राप्ति, अर्थ की प्राप्ति, अमंगल का नाश, तत्काल आनन्द की प्राप्ति—ये प्रयोजन कवि की दृष्टि से हैं। व्यवहार की शिक्षा, तत्काल आनन्द की प्राप्ति तथा कान्तासम्मित उपदेश—ये तीनों प्रयोजन भावक या सहृदय को केन्द्रबिन्दु मानकर कहे गये हैं। इनमें से कुछ ऐसे हैं जो दोनों को केन्द्रबिन्दु मानकर कहे जा सकते हैं, जैसे, अमंगल का नाश, तत्काल आनंद की प्राप्ति और कान्तासम्मित उपदेश।

यश की प्राप्ति कवि-कर्म का सर्वप्रथम प्रयोजन है, इसमें दो मत नहीं। वाल्मीकि, सूर, तुलसी आदि अनेक कवियों की कीर्ति का एकमात्र श्रेय उनके ग्रंथों को है, अतः यह निर्विवाद है कि यश-प्राप्ति काव्य-निर्माण का एक प्रमुख उद्देश्य है।

अर्थ-प्राप्ति काव्य-रचना का दूसरा प्रयोजन है। रीतिकालीन अनेक कवियों ने अपनी काव्य-कृतियों द्वारा अनेक राजाओं को प्रसन्न कर उनसे अर्थ की प्राप्ति

---

१. काव्यालंकार (रुद्रट), १।८-१३
२. सरस्वतीकण्ठाभरण, १।२
३. काव्यप्रकाश, १।२
४. साहित्यदर्पण, १।२
५. अग्निपुराण, ३३८।७

की । आज भी अनेक प्रकार के पुरस्कार कवियों को प्रदान किये जाते हैं ।

व्यवहार-ज्ञान अथवा सामाजिक शिष्टाचार के ज्ञान की दृष्टि से काव्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है । उससे पाठकों की रुचि का सदैव से ही परिष्कार होता आया है ।

अमंगल का नाश (शिवेतर क्षति) करना भी काव्य का एक प्रयोजन है । मयूर नामक एक संस्कृत कवि ने 'सूर्यशतक' नामक काव्य लिखकर कुष्ठ रोग से मुक्ति प्राप्त की थी । इसी प्रकार, कहते हैं, पद्माकर ने गंगालहरी की रचना कर अमंगल का नाश किया था ।

तत्काल आनंदप्राप्ति (सद्यः परनिर्वृति) भी काव्य का एक प्रयोजन है । कवि ही नहीं, सहृदय भी काव्य-पाठ कर तत्काल आनंद की उपलब्धि करते हैं ।

सरस उपदेश (कान्तासम्मित उपदेश) काव्य का एक और प्रयोजन है । शास्त्रीय शब्दावली में तीन प्रकार के उपदेश माने गये हैं : १ प्रभुसम्मित, २. सुहृत्-सम्मित, और ३ कान्तासम्मित । वेदशास्त्र प्रभुसम्मित उपदेश, पुराण, महाभारत आदि सुहृत्सम्मित उपदेश तथा काव्य कान्तासम्मित उपदेश के अन्तर्गत परिगणित किया गया है ।

काव्य के भेद—काव्य के भेद अनेक प्रकार से किये जा सकते हैं :

१ शैली के आधार पर ।

२ स्वरूप के आधार पर ।

३ रमणीयता के आधार पर ।

लेखन-शैली के अनुसार काव्य के मुख्य तीन भेद हो सकते हैं : १ गद्य, २. पद्य और ३ मिश्रित काव्य अथवा चम्पू । गद्य काव्य के अन्तर्गत निबंध, कहानी, उपन्यास आदि आते हैं । पद्य के अन्तर्गत महाकाव्य, खंडकाव्य आदि आते हैं तथा चम्पू काव्य में गद्य और पद्य दोनों का मिश्रण[1] रहता है ।

स्वरूप की दृष्टि से विचार करने पर काव्य के दो भेद हैं : १ श्रव्य काव्य, २ दृश्य काव्य ।[2] जो काव्य मुख्यतः श्रवणेन्द्रिय के ही माध्यम से आनन्द दे उसे श्रव्य काव्य और जिस काव्य का आनन्द रंगमंच पर अभिनय देखकर लिया जाय उसे दृश्य काव्य कहते हैं । ये दोनों ही काव्यरूप 'पाठ्य' हो सकते हैं । श्रव्य काव्य दो प्रकार का होता है . १. प्रबंध, २ निर्बन्ध । जिस काव्य में कथा का बन्धन हो उसे प्रबंध तथा जिसमें कथा का बन्धन न हो उसे निर्बन्ध काव्य कहते हैं । प्रबंध काव्य के अन्तर्गत महाकाव्य और खण्डकाव्य आते हैं तथा निर्बन्ध के अन्तर्गत मुक्तक ।

महाकाव्य—आचार्यों ने महाकाव्य का विस्तृत लक्षण देते हुए लिखा है

---

१ गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते । —साहित्यदर्पण, ६।३३६

२ दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम् । —साहित्यदर्पण, ६।१

कि महाकाव्य में जीवन का सर्वांगीण चित्रण होता है। उसका नायक कोई देवता या प्रख्यात राजवंश का होना चाहिए। उसमें धीरोदात्त नायक के गुण विद्यमान होने चाहिएँ। शृंगार, वीर, शान्त रसों में से कोई एक रस उस महाकाव्य का अंगीरस हो तथा उसमें सभी नाटक संधियाँ होनी चाहिएँ। उसकी कथावस्तु किसी ऐतिहासिक अथवा लोकप्रसिद्ध वृत्त पर आधारित होनी चाहिए। उसमें आठ से अधिक सर्ग होने चाहिए, आदि-आदि।[1] उदाहरण के लिए गोस्वामी तुलसीदास विरचित 'रामचरितमानस' लिया जा सकता है।

खण्डकाव्य—खण्डकाव्य में जीवन के विविध रूपों का वर्णन न होकर किसी अंग-विशेष का ही चित्रण होता है, किन्तु यह चित्रण स्वतः पूर्ण होता है।[2] इसीलिए महाकाव्य का एक अंश खण्डकाव्य नहीं हो सकता। मैथिलीशरण गुप्त विरचित 'पंचवटी' एक खण्डकाव्य है।

आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के मतानुसार महाकाव्य और खण्डकाव्य के बीच की भी एक साहित्यविधा होती है। इसे उन्होंने 'एकार्थ काव्य' की संज्ञा प्रदान की है। इसमें किसी एक प्रयोजन (एकार्थ) की सिद्धि के लिए जीवन के अनेक अंगों का वधान होता है। इसे साहित्यदर्पणकार ने 'काव्य' की संज्ञा दी थी, किन्तु आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के अनुसार इसे 'एकार्थ-काव्य' कहा जाना चाहिए। उदाहरण के रूप में उन्होंने 'प्रियप्रवास', 'गंगावतरण', 'साकेत' तथा 'कामायनी' का नाम दिया है।[3] सामान्यतया इन्हें महाकाव्य माना जाता है।

मुक्तक—'मुक्तक' के अन्तर्गत विभिन्न छन्दों का पूर्वापर सम्बन्ध नहीं हुआ करता। मुक्तक का प्रत्येक छन्द अपने आप में पूर्ण हुआ करता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने प्रबंध-काव्य के साथ उसकी तुलना करते हुए लिखा है :

"मुक्तक में प्रबन्ध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। इसमें तो रस के ऐसे छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिये खिल उठती है। यदि प्रबंधकाव्य एक विस्तृत वनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है।"[4]

मुक्तक के भेद—मुक्तक कविता विविध रूपों तथा विषयों में हो सकती है। आजकल ही नहीं, प्राचीन काल से ही मुक्तक कविता विविध विषयों पर अवलम्बित रही है। भर्तृहरि के नीतिशतक, वैराग्यशतक, शृंगारशतक;

---

१. साहित्यदर्पण, ६।३१५-३२५
२. खण्डकाव्य भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च। —साहित्यदर्पण, ६।३२९
३. काव्यांग-कौमुदी (तृतीय कला), पृ० ७
४. हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० २४७

कबीर, बिहारी आदि के दोहे, सूरदास आदि के पद, गिरधरदास की कुंडलियाँ आदि सभी मुक्तक रचना के अन्तर्गत आती हैं। इनके विषय भी भिन्न-भिन्न हैं। किसी का सम्बन्ध नीति से है, किसी का शृंगार से तथा किसी का अन्य किसी विषय से। छन्द-विधान की दृष्टि से भी मुक्तक कविता किसी भी छन्द में हो सकती है। संस्कृत के आचार्यों ने श्लोक संख्या, रचनाकार अथवा विषय-वस्तु की दृष्टि से मुक्तक के अनेक भेद किये हैं। साहित्यदर्पणकार ने १ मुक्तक, २ युग्मक, ३ सान्दानितक, ४ कलापक, ५. कुलक आदि जो पद्यात्मक काव्य के भेद गिनाये हैं वे वास्तव में मुक्तक के ही भेद समझने चाहिएँ। 'मुक्तक' में एक पद्य (बिल्कुल स्वतन्त्र एवं स्वतः पूर्ण), 'युग्मक' में दो पद्य, 'सान्दानितक' में तीन पद्य, 'कलापक' में चार पद्य और 'कुलक' में पाँच पद्यों की रचना होती है।[1]

वर्ण्य विषय की दृष्टि से मुक्तक के दो भेद हैं १ रसमुक्तक, २ सूक्ति-मुक्तक। रसमुक्तक में हृदय की रागात्मक वृत्ति का प्राधान्य होता है किन्तु सूक्तिमुक्तक में नीति या सिद्धान्त से सम्बद्ध बात कही जाती है।

मुक्तक पाठ्य भी हो सकते हैं और गेय भी। गेय मुक्तकों में जहाँ सूर, मीरा आदि के पद हैं वहीं आधुनिक काल का गीतकाव्य भी है। आधुनिक युग का यह गीतकाव्य प्रेम-गीत, शोक गीत, वीर-गीत, राष्ट्रीय-गीत, प्रगति-गीत, प्रयोग-गीत आदि विविध रूपों में पुष्पित-पल्लवित हो रहा है।

दृश्य काव्य के दो भेद हैं १ रूपक और २ उपरूपक। रूपक दस प्रकार के होते हैं १ नाटक, २ प्रकरण ३ भाण, ४ प्रहसन, ५ डिम, ६ व्यायोग, ७ समवकार, ८ वीथी, ९ अंक और १० ईहामृग।[2] इनमें से नाटक ही सर्वाधिक लोकप्रिय है। उपरूपक के अठारह भेद हैं १ नाटिका, २. त्रोटक, ३. गोष्ठी, ४ सट्टक, ५ नाट्यरासक, ६ प्रस्थान ७. उल्लाप्य, ८. काव्य, ९. प्रेङ्खण, १०. रासक, ११ संलापक, १२ श्रीगदित, १३. शिल्पक, १४. विलासिका, १५ दुर्मल्लिका, १६. प्रकरणी, १७ हल्लीश और १८. भाणिका।[3] इनमें से नाटिका ही सर्वाधिक लोकप्रिय है। आजकल एकांकी नाटकों का प्रचार

---

१. छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम्।
द्वाभ्यां तु युग्मकं सान्दानितकं त्रिभिरिष्यते॥
कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम्।—साहित्यदर्पण, ६।३१४, १५

२. नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः।
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति॥—दशरूपक, १।८

३. नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सट्टकं नाट्यरासकम्।
प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यानि प्रेङ्खणं रासकं तथा॥
संलापकं श्रीगदितं शिल्पकं च विलासिका।
दुर्मल्लिका प्रकरणी हल्लीशो भाणिकेति च॥—साहित्यदर्पण, ६।४-५

बहुत बढ़ गया है। इनमें भी श्रव्यनाटक, काव्यरूपक, ध्वनिनाट्य, रेडियोरूपक आदि अनेक नाटक ऐसे हैं जो अत्यन्त प्रचलित हैं। अब नाटक या एकांकी केवल दृश्य-मात्र नहीं है, बल्कि श्रव्य तथा पाठ्य भी है।

नाटक—ऊपर कहा जा चुका है कि रूपक के सभी भेदों में से नाटक ही मुख्य है। प्राचीन आचार्यों ने नाटक के तीन तत्त्व माने हैं : १. वस्तु २. नेता, और ३. रस। वस्तु अथवा कथावस्तु दो प्रकार की होती है : १. आधिकारिक कथावस्तु, २. प्रासंगिक कथावस्तु।[1] नाटक के फल के भोग को 'अधिकार' कहते हैं और इस अधिकार के भोगने वाले को 'अधिकारी' या 'नायक' कहते हैं। उस अधिकारी या नायक से सम्बद्ध कथावस्तु को 'आधिकारिक कथावस्तु' कहते हैं।[2] इस मुख्य कथावस्तु की सहायता के लिए प्रसंगवश आयी हुई कथा-वस्तु 'प्रासंगिक' कथावस्तु कहलाती है। यह प्रासंगिक कथावस्तु भी दो प्रकार की होती है : १. पताका, २. प्रकरी। बड़ी प्रासंगिक कथा को 'पताका' तथा छोटी को 'प्रकरी' कहते हैं।[3] उदाहरणार्थ 'रामचरितमानस' में राम की कथा 'आधिकारिक', सुग्रीव की कथा 'पताका' तथा जटायु की कथा 'प्रकरी' है।

इन दो प्रकार की प्रासंगिक कथाओं के अतिरिक्त किसी नाटक में कथा-वस्तु के विकास के लिए तीन बातें और होती हैं जिन्हें 'बीज', 'बिन्दु' और 'कार्य' कहते हैं। 'बीज' कथा की वह स्थिति है जिसका उल्लेख संक्षेप में किया जाता है। यह कथावस्तु के अंकुरित करने में पूर्ण सहायक होता है। 'बिन्दु' वह स्थिति है जो घटनाओं को जोड़ने का कार्य करे तथा 'कार्य' नाटक के फल को कहते हैं। इसकी प्राप्ति के अनन्तर कथा का अन्त हो जाता है और नाटक की समाप्ति हो जाती है। इन तीनों के साथ पताका और प्रकरी मिलकर पाँच 'अर्थप्रकृतियाँ' कहलाती हैं।[4]

इन पाँचों अर्थप्रकृतियों के अतिरिक्त कथावस्तु की पाँच अवस्थाएँ भी मानी गयी हैं : १. आरम्भ, २. यत्न, ३. प्राप्त्याशा, ४. नियताप्ति और ५. फलागम।[5] नाटक के उद्देश्य की प्राप्ति के कार्य का आरम्भ ही 'आरम्भ' नामक प्रथम अवस्था होती है। उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए जब नायक

---

१. तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासंगिकं विदुः ॥ —दशरूपक, १।११

२. अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः ।
तन्निर्वर्त्यमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ॥ —दशरूपक, १।१२,
साहित्यदर्पण, ६।४३

३. सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक् । —दशरूपक, १।१३

४. बीजबिन्दुपताकाख्यप्रकरीकार्यलक्षणाः ।
अर्थप्रकृतयः पञ्च ता एताः परिकीर्तिताः ॥ —दशरूपक, १।१८

५. अवस्थाः पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ।
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः ॥ —दशरूपक, १।१९

प्रयत्नशील होता है तब उसे 'यत्न' नामक दूसरी अवस्था कहते हैं। उसके पश्चात् जब प्राप्ति की आशा होने लगती है तब उसे 'प्राप्त्याशा' नामक तीसरी अवस्था कहते हैं। जब प्राप्ति का निश्चय हो जाय तो उसे 'नियताप्ति' और अन्तिम अवस्था 'फलागम' या 'फलप्राप्ति' की है जहाँ नाटक की समाप्ति होती है।

उपर्युक्त पाँच अवस्थाओं को पाँच अर्थप्रकृतियों से जोड़ने के लिए पाँच सन्धियाँ भी नाटक में होती हैं। इनके नाम हैं १. मुख, २. प्रतिमुख, ३. गर्भ, ४. अवमर्श तथा ५. निर्वहण अथवा उपसंहार।[1] 'मुख' सन्धि 'बीज' और 'आरम्भ' को जोड़ती है। प्रतिमुख सन्धि में यत्न अपनी पराकाष्ठा को पहुँच जाता है। 'गर्भसन्धि' में ईप्सित वस्तु की प्राप्ति के संकेत मिलने लगते हैं। 'अवमर्श' सन्धि में अभीप्सित की प्राप्ति निश्चित होती है तथा 'निर्वहण' सन्धि में महत्कार्यरूप फल की प्राप्ति होती है।

जो घटनाएँ रंगमंच पर दिखाई नहीं जातीं, केवल जिनकी सूचनामात्र दर्शकों को दी जाती है उन घटनाओं को सूच्य कहते हैं। इन सूच्य कथाओं के निदर्शन के लिए जो साधन अपनाये जाते हैं उन्हें 'अर्थोपक्षेपक' कहते हैं। ये 'अर्थोपक्षेपक' भी ५ हैं १. विष्कम्भ, २. प्रवेशक, ३. चूलिका, ४. अंकास्य और ५. अंकावतार।[2] भूत और भविष्यत् कथांशों की सूचना देने वाला अर्थोपक्षेपक 'विष्कम्भक' कहलाता है। यह 'शुद्ध' और 'संकीर्ण' या 'मिश्र' के भेद से दो प्रकार का होता है। 'शुद्ध विष्कम्भक' में मध्यम प्रकृति के एक या दो पात्रों का प्रयोग होता है तथा 'मिश्र विष्कम्भक' में नीच और मध्यम प्रकृति के पात्रों का प्रयोग किया जाता है।[3]

दूसरा अर्थोपक्षेपक 'प्रवेशक' होता है। यह भी 'विष्कम्भक' के समान भूत और भविष्यत् इतिवृत्त का सूचक हुआ करता है। इसकी योजना दो अंकों के बीच में की जाया करती है तथा इसमें नीच पात्रों द्वारा प्राकृतादि (संस्कृत से भिन्न) भाषा का प्रयोग किया जाता है।[4]

'चूलिका' वह अर्थोपक्षेपक है जिसमें पात्र नेपथ्य के भीतर से ही कथा-

---

१. मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः। —दशरूपक, १।२४

२. अर्थोपक्षेपकैः सूच्यं पञ्चभिः प्रतिपादयेत्।
विष्कम्भचूलिकाङ्कास्याङ्कावतारप्रवेशकैः॥ —दशरूपक, १।५८

३. वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजितः॥
एकानेककृतः शुद्धः संकीर्णो नीचमध्यमैः। —दशरूपक, १।५९, ६०
और भी दे०—साहित्यदर्पण, ६।५५, ५६

४. प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा॥ —साहित्यदर्पण, ६।५७

वस्तु-विशेष की सूचना दिया करते हैं।[1]

'अङ्कास्य' में पूर्व अंक के अन्त में प्रविष्ट पात्रों द्वारा अग्रिम असंबद्ध अंकों की सूचना दी जाती है।[2]

'अंकावतार' वह अर्थोपक्षेपक कहलाता है जिसमें पिछले अंक के अन्त में, इस अंक में पात्रों द्वारा, अग्रिम अंक की सूचना दी जाती है।[3]

वृत्तियाँ—'वृत्ति' का अभिप्राय उस चेष्टा-विशेष से है जिससे किसी रस-विशेष की उत्पत्ति हो। नाटकों में चार वृत्तियाँ मानी गयी हैं १ कैशिकी, २ सात्वती, ३. आरभटी, और ४. भारती। 'कैशिकी' शृंगार रस में, 'सात्वती' वीर रस में, आरभटी रौद्र और बीभत्स रसों में तथा 'भारती' वृत्ति सभी रसों में प्रयुक्त होती है।[4] आचार्यों ने इन्हें 'नाट्यमातर' कहकर इनके महत्व का प्रतिपादन किया है।[5] नाट्यशास्त्रकार ने वृत्तिचतुष्टय का विकास वेद-चतुष्टय से माना है :

ऋग्वेदाद् भारती वृत्तिर्यजुर्वेदात्तु सात्वती।
कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणात्तथा ॥[6]

रंगमंच के अभिनय की दृष्टि से नाटक की कथावस्तु तीन प्रकार की होती है : १. सर्वश्राव्य, २ अश्राव्य या स्वगत, और ३ नियतश्राव्य। कथावस्तु के जो अंश सभी पात्रों को सुनाने के लिए होता है उसे 'सर्वश्राव्य' कहते हैं। 'अश्राव्य' वह कथावस्तु होती है जो किसी अन्य पात्र को सुनाने के लिए नहीं कही जाती, अपितु बोलने वाला पात्र अपने आप कहता है, केवल दर्शकगण ही उसे सुनते हैं। इसे 'स्वगत' भी कहते हैं। 'नियतश्राव्य' को केवल चुने हुए पात्र ही सुनते हैं, अन्य नहीं। 'जनान्तिक' और 'अपवारित' के भेद से इसके भी दो रूप हैं।

नेता या नायक—ऊपर गिनाये गये नाटक के तीन तत्त्वों में से दूसरा तत्त्व नेता (नायक) है। साहित्यदर्पण में नेता या नायक के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है :

---

१. अन्तर्जवनिकासंस्थैः सूचनार्थस्य चूलिका ॥ —साहित्यदर्पण, ६।५८
२. अङ्कान्तपात्रैरङ्कास्य छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात् । —दशरूपक, १।६२
३. अङ्कान्ते सूचितः पात्रैस्तदङ्कस्याविभागतः ।
यत्राङ्कोऽवतरत्येषोऽङ्कावतार इति स्मृतः ॥ —साहित्यदर्पण, ६।५८, ५९
४. शृङ्गारे कैशिकी वीरे सात्वत्यारभटी पुनः ।
रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥ —साहित्यदर्पण, ६।१२२
५ (i) भारती सात्वती कैशिक्यारभटी च वृत्तयः ।
रसभावाभिनयगाश्चतस्रो नाट्यमातरः ॥ —नाट्यदर्पण, ३।१
(ii) चतस्रो वृत्तयो ह्येताः सर्वनाट्यस्य मातृकाः ।
—साहित्यदर्पण, ६।१२३
६. नाट्यशास्त्र, २२।२४

त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता ॥[1]

अर्थात् नायक त्याग भावना से युक्त, महान् कार्यों का कर्ता, उच्च कुल वाला, बुद्धि-वैभव-सम्पन्न, रूप (सौन्दर्य), यौवन तथा उत्साह से पूर्ण, निरन्तर उद्योगशील, जनता का स्नेहभाजन, तथा तेजस्विता, चतुरता और सुशीलता का निदर्शक होता है।

नायकों का वर्गीकरण काव्यशास्त्रकारों ने अनेक प्रकार से किया है। कुल के अनुसार नायक तीन प्रकार का होता है १ दिव्य (देवता) २ अदिव्य (मनुष्य) और ३ दिव्यादिव्य (अवतार)।[2] स्वभाव के अनुसार नेता चार प्रकार का होता है १. धीरोदात्त, २ धीरोद्धत, ३ धीरललित और ४ धीर-प्रशान्त।

धीरोदात्तो धीरोद्धतस्तथा धीरललितश्च।
धीरप्रशान्त इत्ययमुक्तः प्रथमश्चतुर्भेदः ॥[3]

धीरोदात्त नायक आत्मश्लाघाविहीन, क्षमाशील, अत्यन्त गम्भीर, सुख-दुःख में प्रकृतिस्थ, स्वभावतः स्थिर, स्वाभिमानी एवं विनीत तथा दृढव्रती होता है

अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः ॥[4]

धीरोद्धत नायक मायापटु, उग्रस्वभाववाला, चञ्चल प्रकृतिवाला, अहं-कार और दर्प से युक्त तथा आत्मश्लाघापरक होता है

मायापरः प्रचण्डश्चपलोऽहङ्कारदर्पभूयिष्ठः।
आत्मश्लाघानिरतो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः ॥[5]

धीरललित नायक का लक्षण है निश्चिन्त रहने वाला, स्वभाव का मृदु और कलाव्यसनी होना :

निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात्।[6]

धीरप्रशान्त नायक में सामान्य नायक के त्याग आदि गुण प्रचुर मात्रा में होते हैं तथा वह ब्राह्मणादि वर्ण का होता है :

सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिको धीरप्रशान्तः स्यात् ॥[7]

---

१ साहित्यदर्पण, ३।३०
२ भानुदत्त के इन वर्गीकरण को केवल रसार्णव और श्यामसुन्दरदास ने स्वीकृति प्रदान की है। —हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ३६६
३ साहित्यदर्पण, ३।३१
४. साहित्यदर्पण, ३।३२
५ साहित्यदर्पण, ३।३३
६ साहित्यदर्पण, ३।३४
७ साहित्यदर्पण, ३।३४

व्यवहार के अनुसार नायक के चार भेद होते हैं १ दक्षिण, २ धृष्ट, ३ अनुकूल, और ४. शठ। ये भेद केवल शृंगार रस में ही होते हैं। अनेक नायिकाओं में समान अनुराग रखने वाला नायक 'दक्षिण',[१] प्रेमिका के कोप के प्रति निःशंक, उसकी भिड़कियाँ खाने पर भी निर्लज्ज तथा अपने दोष को झूठ द्वारा छिपाने वाला नायक 'धृष्ट',[२] एक प्रेमिका में ही आसक्त नायक 'अनुकूल'[३] तथा 'शठ' नायक वह होता है जो वस्तुतः किसी और नायिका से प्रेम करे किन्तु अपनी पहली प्रेमिका से उसे छिपाकर तथा उससे ऊपरी प्रेम दिखाकर छिपे-छिपे उसका अहित करे।[४]

नाटक का तृतीय तत्त्व रस है। इसका विस्तृत विवेचन रस-प्रकरण में किया जायगा।

रमणीयता की दृष्टि से काव्य के तीन भेद किये गये हैं। १ उत्तम, २ मध्यम और ३. अधम या अवर। जहाँ व्यंग्यार्थ की प्रधानता हो उसे 'उत्तम काव्य' अथवा 'ध्वनि' कहते हैं। इसमें वाच्यार्थ (मुख्य अर्थ) की अपेक्षा व्यंग्य (प्रतीयमान) अर्थ अधिक चमत्कारक होता है

वाच्यातिशयिनि व्यंग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्॥[५]

उदाहरण के लिए निम्नाङ्कित पंक्तियाँ ली जा सकती हैं

(मैं गुनगाहक परम सुजाना। तव कटु रटनि करौं नहिं काना॥)
कह कपि तव गुनगाहकताई। सत्य पवनसुत मोहि सुनाई॥
बन बिधंसि सुत बधि पुर जारा। तदपि न तेहिं कछु कृत अपकारा॥
सोइ बिचारि तव प्रकृति सुहाई। दसकंधर मैं कीन्हि ढिठाई॥[६]

ये पंक्तियाँ रामचरितमानस के षष्ठ सोपान (लंकाकांड) के अन्तर्गत रावण-अंगद-संवाद की हैं। कोष्ठान्तर्गत अर्द्धाली रावण की उक्ति है। उसके उत्तर में कही गयी तीन अर्द्धालियाँ अंगद की उक्ति हैं।

इन अर्द्धालियों के अर्थ से स्पष्ट है कि वाच्यार्थ से अधिक चमत्कार व्यंग्यार्थ

---

१ एषु त्वनेकमहिलासु समरागो दक्षिणः कथितः॥
—साहित्यदर्पण, ३।३५

२ कृतागा अपि निःशङ्कस्तर्जितोऽपि न लज्जितः।
दृष्टदोषोऽपि मिथ्यावाक्कथितो धृष्टनायकः॥ —साहित्यदर्पण, ३।३६

३ अनुकूल एकनिरतः। —साहित्यदर्पण, ३।३७

४. ... ... शठोऽयमेकत्र बद्धभावो यः।
दर्शितबहिरनुरागो विप्रियमन्यत्र गूढमाचरति॥ —साहित्यदर्पण, ३।३७

५. साहित्यदर्पण, ४।१
इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।
—काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास, सू० २ (पृ० ५)

६. रामचरितमानस, ६।२४।४-७

म है, अतः यह उत्तम काव्य या ध्वनि का उदाहरण है।[1]

'मध्यम काव्य' में या तो वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों समानरूप से चमत्कारपूर्ण होते हैं या व्यंग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण होता है। इसे 'गुणीभूत व्यंग्य' भी कहते हैं क्योंकि इसमें व्यंग्यार्थ 'गुणीभूत' या 'अप्रधान' रहता है।

अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यम् व्यङ्ग्ये तु मध्यमम्।[2]

निम्नाङ्कित दोहे में यह बात देखी जा सकती है

उड़े विहग बन-कुंज में वह धुनि सुनि ततकाल।
सिथलित तन विकलित भई गृह-कारज-रत बाल॥[3]

निकट के वन कुंज में पक्षि-समूह के उड़ने के शब्द को सुनकर गृह कार्य में लगी हुई बाला (नायिका) व्याकुल हो गयी। यह उपर्युक्त दोहे का वाच्यार्थ है। इसका व्यंग्यार्थ है प्रेमी तो कुंज में पहुँच गया किन्तु गृह कार्य में तल्लीन नायिका न पहुँच सकी। यहाँ वाच्यार्थ में (पक्षि-समूह के शब्द श्रवण-मात्र से नायिका के अंगों के शिथिल एवं व्याकुल होने में) जो चमत्कार है वह व्यंग्यार्थ में नहीं है। अतः यहाँ मध्यम काव्य या 'गुणीभूत व्यंग्य' है।

'अधम' या 'अवर' काव्य में केवल वाच्यार्थ ही रहता है व्यंग्यार्थ नहीं। इसमें शब्द चमत्कार मात्र होता है। इसीलिए इसे निम्नकोटि का काव्य कहा गया है। निम्नाङ्कित दोहे में यह शब्द चमत्कार देखा जा सकता है

कनक कनक तें सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
या खाये बौरात है, या पाये बौराय॥[4]

यहाँ 'कनक कनक' में यमक अलंकार का चमत्कार है, हृदय को स्पर्श करने वाला काव्य-चमत्कार नहीं। अतः इसकी गणना 'अवर काव्य' के अन्तर्गत की जायगी।

---

१ ध्वनि काव्य का विस्तृत विवेचन आगे 'ध्वनि' नामक अध्याय में देखिये।
२ काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास, सू० ३ (पृ० ७)
३ काव्यकल्पद्रुम (प्रथम भाग—रसमंजरी) पृ० ३२०
४. बिहारी बोधिनी, ६५१

२ | शब्द-शक्ति

काव्य-लक्षण का निरूपण करते समय यह कहा गया है कि शब्द और अर्थ दोनों का समन्वित रूप ही काव्य कहा जाता है। यद्यपि निरर्थक शब्द भी संसार में हैं, किन्तु साहित्य के प्रसंग में हम सार्थक शब्दों को ही लेते हैं, निरर्थक शब्दों की बात नहीं की जाती। किसी भी सार्थक उक्ति में शब्द और अर्थ दोनों का समान महत्त्व है। अर्थ के बिना शब्द का कोई महत्त्व नहीं, वह निरर्थक है। उसी प्रकार शब्द के बिना अर्थ मूर्त रूप नहीं धारण कर सकता, अत उसकी कल्पना भले ही कर ली जाय, उसका व्यावहारिक रूप उपलब्ध नहीं हो पाता। वास्तव में शब्द के अर्थ-बोध द्वारा ही हम शब्द के सामर्थ्य का ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं। इसी शब्द-सामर्थ्य को साहित्यशास्त्र में 'शब्द-शक्ति' कहा गया है। इस शब्द-शक्ति रूप व्यापार से ही हम शब्द के अर्थ का बोध प्राप्त करते हैं। साहित्यशास्त्र में शब्द की तीन शक्तियाँ मानी गयी हैं १ 'अभिधा', २ 'लक्षणा' और ३. 'व्यंजना'। और इन्हीं के अनुरूप क्रमश. तीन प्रकार के अर्थ माने गये हैं : १. 'वाच्य,' २. 'लक्ष्य' और ३ 'व्यङ्ग्य'।

अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यङ्ग्यश्चेति त्रिधा मत.।[1]

साहित्यदर्पणकार ने स्पष्ट रूप से कहा है कि अभिधा व्यापार से वाच्यार्थ, लक्षणा व्यापार से लक्ष्यार्थ तथा व्यञ्जना व्यापार से व्यंग्यार्थ का बोध होता है-

वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मत।
व्यंग्यो व्यजनया ताः स्युस्तिस्र. शब्दस्य शक्तयः॥[2]

अभिधा

शब्द की जिस शक्ति से उसके संकेतित (प्रसिद्ध) अर्थ का बोध हो उसे 'अभिधा' कहते हैं।

'तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा।[3]

---

१. साहित्यदर्पण, २।२
२ साहित्यदर्पण, २।३
३. साहित्यदर्पण, २।४

यह संकेतित अथवा प्रसिद्ध अर्थ पूर्वसंचित ज्ञान, व्याकरण अथवा शब्द-कोष आदि के आधार पर ज्ञात होता है। इस अर्थ को 'वाच्यार्थ', 'अभिधेयार्थ' अथवा 'मुख्यार्थ' तथा इस व्यापार को 'अभिधा' कहते हैं

स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते ।[1]

तथा इस अर्थ को प्रकट करने वाला शब्द 'वाचक' कहलाता है

साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः ।[2]

प्रायः देखा जाता है कि एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। अब किस प्रसंग में शब्द का कौन सा अर्थ ग्रहण किया जाय यह बात जानने के लिए तथा शब्द का संकेतित अर्थ निर्धारित करने के लिए साहित्यशास्त्रियों ने अनेक ढंग या प्रकार बताये हैं। ये ढंग १४ हैं १ संयोग, २ वियोग, ३ साहचर्य, ४ विरोध, ५ अर्थबल ६ प्रकरण, ७ लिंग, ८ अन्यसन्निधि, ९, सामर्थ्य, १० औचित्य, ११ देशबल, १२ कालबल, १३ व्यक्ति और १४ स्वर

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥[3]

१ संयोग—अनेकार्थवाची शब्दों के एक अर्थ का निर्णय किसी ऐसी वस्तु के संयोग के आधार पर किया जाता है जो उसका अभिन्न अंग हो। उदाहरण के लिए 'हरि' शब्द अनेकार्थवाची है, किन्तु जब शंखचक्रसुदर्शन आदि के साथ उसका प्रयोग होगा तब उसका अर्थ विष्णु ही होगा, इन्द्र, सिंह आदि अर्थ न होंगे।

२ वियोग—किसी अभिन्न वस्तु के वियोग के आधार पर भी यह निर्णय किया जा सकता है। जैसे हम कहें कि 'मद के बिना नाग की शोभा नहीं।' यहाँ नाग का अर्थ हाथी ही होगा, सर्प नहीं।

३ साहचर्य—भारतीय साहित्य में 'राम' का प्रयोग दाशरथि राम, बलराम तथा परशुराम के अर्थ में हुआ करता है। लक्ष्मण के साथ प्रयुक्त होने पर उसका अर्थ दाशरथि राम तथा कृष्ण के साथ प्रयुक्त होने पर उसका अर्थ बलराम होगा।

४ विरोध—इसी राम शब्द का प्रयोग जब अर्जुन (सहस्रार्जुन) के साथ होगा तब विरोध भाव के आधार पर राम का अर्थ परशुराम तथा अर्जुन का अर्थ हैहयवंशी राजा सहस्रार्जुन होगा क्योंकि इन्हीं दोनों का वैरभाव इति-

---

१ काव्यप्रकाश, द्वितीय उल्लास, सू० ११

२ काव्यप्रकाश, द्वितीय उल्लास, सू० ६

३ वाक्यपदीय (काव्यप्रकाश, द्वितीय उल्लास, पृ० ३५ तथा साहित्यदर्पण, द्वितीय परिच्छेद, पृ० ७७ पर उद्धृत।)

हास-प्रसिद्ध है।

५ अर्थबल—यहाँ अर्थबल का अर्थ है क्रिया का अर्थबल। नीचे की पंक्ति में स्थाणु का अर्थ शंकर होगा, सूखा वृक्ष नहीं।

भव-खेद-छेदन के लिए क्यों स्थाणु को भजते नहीं।[1]

६ प्रकरण—प्रकरण के आधार पर भी एक अर्थ का निश्चय होता है। 'दल' के दो अर्थ होते हैं पत्ता और सेना। जब युद्ध के प्रसंग में इस शब्द का प्रयोग किया जायगा तब वहाँ इसका अर्थ 'सेना' ही होगा, 'पत्ता' नहीं। इसी प्रकार किसी वृक्ष के प्रसंग में यदि इसका प्रयोग किया जायगा तब वहाँ इसका अर्थ 'पत्ता' होगा, 'सेना' नहीं।

७ लिंग—यहाँ 'लिंग' का अर्थ 'लक्षण' या 'विशेषतासूचक चिह्न' है।

'कुपित मकरध्वज हुआ, मर्याद सब जाती रही'।[2]

यहाँ 'मकरध्वज' का अर्थ 'कामदेव' ही होगा, 'समुद्र' नहीं, क्योंकि जड़ समुद्र क्रोध नहीं कर सकता।

८ शब्दान्तर-सन्निधि—'दान लसत है नाग-सिर' में 'दान' का अर्थ 'गजमद' होगा, 'दक्षिणा' नहीं। इसी प्रकार 'नाग' का अर्थ 'हाथी' होगा, 'सर्प' नहीं।

९ सामर्थ्य—'मधुमत्त कोकिल' में 'मधु' का अर्थ वसंत, 'मधुमत्त भृंग' में 'मधु' का अर्थ मकरंद और 'मधुमत्त मनुष्य' में 'मधु' का अर्थ 'शराब' होगा क्योंकि कोकिल को मत्त करने की सामर्थ्य वसंत में ही, भ्रमर को मत्त करने की सामर्थ्य मकरंद में ही तथा मनुष्य को मत्त करने की सामर्थ्य शराब में ही होती है।[3]

१० औचित्य—किसी योग्यता के कारण भी किसी अर्थ का निश्चय किया जाता है, जैसे—

रे मन सब सों निरस ह्वै सरस राम सों होहि।[4]

यहाँ 'निरस' का अर्थ 'नीरस' न होकर, 'उदासीन' होगा तथा 'सरस' का अर्थ 'रसयुक्त' न होकर, 'प्रेमयुक्त' होगा।

११ देशबल—'मरु तो जीवनहीन है', इस वाक्य में 'जीवन' का अर्थ जल ही होगा, जिंदगी नहीं।

१२ कालबल—समय के आधार पर भी एक अर्थ का निश्चय किया जाता है। 'कुवलय' का अर्थ 'कमल' तथा 'कुमुद' दोनों हैं, किन्तु रात्रि के प्रसंग में उसका अर्थ 'कुमुद' होगा और दिन के प्रसंग में 'कमल'।

---

१. काव्यकल्पद्रुम (प्रथम भाग—रसमंजरी), पृ० ८६
२. काव्यकल्पद्रुम (प्रथम भाग—रसमंजरी), पृ० ८६
३. काव्यकल्पद्रुम (प्रथम भाग—रसमंजरी), पृ० ८७
४ दोहावली, ४१

१३ 'व्यक्ति' से अभिप्राय है पुल्लिंग, नपुंसक लिंग आदि से। जब कोई शब्द भिन्न भिन्न लिंगों में भिन्न भिन्न अर्थ का वाचक होता है तो वहाँ उसका अर्थ विशेष लिंग विशेष के आधार पर जाना जाता है। जैसे,

'बुधि दल-बल करि राखिहौं पति तेरी तरवार।'

यहाँ स्त्रीलिंग 'पति' का अर्थ 'लज्जा' होगा 'स्वामी' नहीं।

१४ 'स्वर' के द्वारा अनेकार्थक पद के अर्थ का निर्णय केवल वेद में ही सम्भव है, अतः काव्य साहित्य में उसके उदाहरण नहीं मिलते।

लक्षणा

जब किसी वाक्य में किसी शब्द के अर्थ का ग्रहण अभिधा द्वारा न हो किन्तु उससे सम्बद्ध हो तब वहाँ 'लक्षणा' का व्यापार माना जाता है। लक्षणा व्यापार में शब्द को 'लक्षक' तथा अर्थ को 'लक्ष्यार्थ' कहते हैं। लक्षणा के लिए निम्नांकित तीन बातें आवश्यक हैं

१ मुख्यार्थ का बाध।

२ मुख्यार्थ से सम्बन्ध।

३ इस अन्य अर्थ के ग्रहण करने का या तो कोई विशेष प्रयोजन हो अथवा इस अर्थ को स्वीकार करने में कोई रूढ़ि या परम्परागत धारणा काम कर रही हो

> मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
> अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणारोपिता क्रिया॥[2]

उदाहरणार्थ निम्नांकित वाक्य लीजिए

इस बात को सुनकर रामदास 'चौकन्ना' हो गया।

'चौकन्ना' का शाब्दिक अर्थ है 'चार कानों वाला'। किन्तु रामदास चार कानों वाला नहीं हुआ, अतः मुख्यार्थ का बाध हुआ। यहाँ चौकन्ना का अर्थ 'विशेष सावधान' है। यह मुख्य अर्थ से भिन्न होते हुए भी उससे सम्बद्ध है क्योंकि चार कान वाला दो कान वाले की अपेक्षा अधिक सावधान होता है। यह 'चौकन्ना' शब्द सावधान के अर्थ में रूढ़ हो गया है। इस प्रकार यहाँ लक्षणा व्यापार की तीनों बातें पूर्ण हुईं। हिन्दी के जितने मुहावरे हैं वे सभी लक्षणा के उदाहरण समझने चाहिए।

---

१ काव्यकल्पद्रुम (प्रथम भाग—रसमंजरी), पृ० ८८

२ काव्यप्रकाश, द्वितीय उल्लास, सू० १२

साहित्यदर्पणकार का कथन है

> मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते।
> रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता॥
>
> —साहित्यदर्पण, २।५

लक्षणा के प्रकार—ऊपर जो लक्षणा के लिए तीन मुख्य बातें कही गयी हैं उनमे से तीसरी बात में दो कारण बताये गये हैं : १ रूढि और २ प्रयोजन। अतः इनके आधार पर लक्षणा के मुख्यतः दो प्रकार हुए

१. रूढा लक्षणा।

२ प्रयोजनवती लक्षणा।

जब अति प्रसिद्धि के कारण किसी शब्द का कोई अर्थ हो गया हो, तब वहाँ रूढा लक्षणा होती है। ऊपर के उदाहरण मे 'चौकन्ना' शब्द 'सावधान' के अर्थ मे रूढ हो गया है, अतः वहाँ रूढा लक्षणा है। जब किसी प्रयोजन-विशेष के कारण किसी शब्द का कोई भिन्न अर्थ लिया जाता है तब वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा होती है, जैसे,

गंगा पर आश्रम है।

इस उदाहरण में 'गंगा पर आश्रम' कहने का प्रयोजन है शीतलता तथा पवित्रता आदि प्रकट करना, क्योंकि गंगा की धारा पर आश्रम की स्थिति असम्भव है। इस प्रकार यहाँ पर गंगा के गुण शीतलता, पवित्रता आदि प्रकट करने के प्रयोजन से लक्षणा का प्रयोग हुआ है।

अब इन दोनों उपर्युक्त भेदों के पुनः दो-दो भेद होते हैं

१ गौणी, २ शुद्धा।

जहाँ मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थ में गुणों का सादृश्य हो वहाँ गौणी और जहाँ सादृश्य से भिन्न सम्बन्ध हो वहाँ शुद्धा लक्षणा होती है। इस प्रकार लक्षणा के चार भेद हुए :

१ गौणी रूढा लक्षणा।

२ शुद्धा रूढा लक्षणा।

३. गौणी प्रयोजनवती लक्षणा।

४. शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि गौणी रूढा लक्षणा मे गुण का सादृश्य तथा रूढि दोनों अपेक्षित हैं तथा शुद्धा रूढा में गुण अथवा सादृश्य से भिन्न सम्बन्ध और रूढि अपेक्षित है। इस दृष्टि से 'रामदास चौकन्ना है' में गौणी रूढा लक्षणा तथा 'जागा जागा पंजाब वीर' मे शुद्धा रूढा लक्षणा है क्योंकि 'पंजाब' के मुख्यार्थ (भूमिखंड) और लक्ष्यार्थ (वहाँ के रहने वाले लोग) मे सादृश्य सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार 'गौणी प्रयोजनवती लक्षणा' मे सादृश्य सम्बन्ध और प्रयोजन अपेक्षित हैं तथा 'शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा' में सादृश्य से भिन्न सम्बन्ध और प्रयोजन अपेक्षित हैं। उदाहरणार्थ, 'गंगा पर आश्रम है' मे गंगा के गुण (शीतलता, पवित्रता आदि) तथा प्रयोजन दोनों हैं। अतः इस उदाहरण में 'गौणी प्रयोजनवती लक्षणा' हुई। इसी प्रकार 'शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा' का उदाहरण हुआ :

घी मेरा जीवन है।

अब 'गौण। प्रयोजनवती लक्षणा' के पुन दो भेद हैं

१ सारोपा, २ साध्यवसाना।

तथा शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा के चार भेद हैं

१ सारोपा।

२ साध्यवसाना।

३ उपादान लक्षणा या अजहत्स्वार्था लक्षणा।

४ लक्षण लक्षणा या जहत्स्वार्था लक्षणा।

जब एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का आरोप किया जाय तो वहाँ 'सारोपा लक्षणा' होती है। इस लक्षणा में उपमेय और उपमान दोनों का उल्लेख होता है, किन्तु जब उपमेय का उल्लेख न हो केवल उपमान का उल्लेख हो तब वहाँ लक्षणा 'साध्यवसाना लक्षणा' होती है। जैसे

वह पुरुष सिंह है।

इस उदाहरण में 'पुरुष' उपमेय और सिंह उपमान है। यहाँ पुरुष(उपमेय) पर सिंह (उपमान) का आरोप होने से 'सारोपा' लक्षणा हुई। किन्तु

सिंह अखाड़े में उतरा।

इस उदाहरण में केवल उपमान (सिंह) का उल्लेख है, उपमेय (पुरुष) का नहीं। अत यहाँ साध्यवसाना लक्षणा हुई।

'सारोपा' और साध्यवसाना के उपर्युक्त दोनों उदाहरण गौणी प्रयोजनवती लक्षणा' के दोनों भेदों सारोपा और 'साध्यवसाना' के उदाहरण हैं। 'शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा' में सादृश्य सम्बन्ध से भिन्न सम्बन्ध(जन्य जनक या अन्य कोई सम्बन्ध) होता है। जैसे

घी मेरा जीवन है।

इस उदाहरण में 'कार्य कारण सम्बन्ध' है जो सादृश्य सम्बन्ध से भिन्न है, अत यहाँ 'शुद्धा लक्षणा' हुई, गौणी नहीं। और क्योंकि घी (उपमेय) पर जीवन (उपमान) का आरोप है, अत 'सारोपा' हुई। इस प्रकार यह 'शुद्धा सारोपा प्रयोजनवती लक्षणा का उदाहरण हुआ। इसी उदाहरण को यदि निम्नांकित ढंग से कहा जाय कि

मेरा जीवन ढुल गया।

तो 'साध्यवसाना' होगा क्योंकि केवल उपमान (जीवन) का उल्लेख हुआ है, उपमेय (घी) का नहीं।

यहाँ यह उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा कि रूपक अलंकार में 'सारोपा लक्षणा' और 'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार में 'साध्यवसाना लक्षणा' होती है।

उपादान लक्षणा वहाँ होती है जहाँ लक्ष्यार्थ के साथ वाच्यार्थ का लगाव बना रहे अथवा लक्ष्यार्थ मुख्यार्थ को न छोड़े। इसीलिए इसका दूसरा नाम 'अजहत्स्वार्था लक्षणा' है। उपादान लक्षणा' या 'जहत्स्वार्था' में लक्ष्यार्थ

मुख्यार्थ को छोड देता है, जैसे

लाल पगडी आ रही है।

इस उदाहरण में 'लाल पगडी' का अर्थ है 'लाल पगडी धारण करने वाला मनुष्य'। यहाँ लक्ष्यार्थ और मुख्यार्थ का सम्बन्ध बना रहा, इसीलिए यहाँ 'उपादान लक्षणा' या 'अजहत्स्वार्था लक्षणा' हुई।

उसका घर पानी में है।

इस उदाहरण में लक्ष्यार्थ ने वाच्यार्थ (मुख्यार्थ) को छोड दिया है, अत यहाँ 'जहत्स्वार्था लक्षणा' या 'लक्षण लक्षणा' हुई।

निम्नांकित रूप में हम लक्षणा के भेदोपभेदों को सुगमता से समझ सकते है
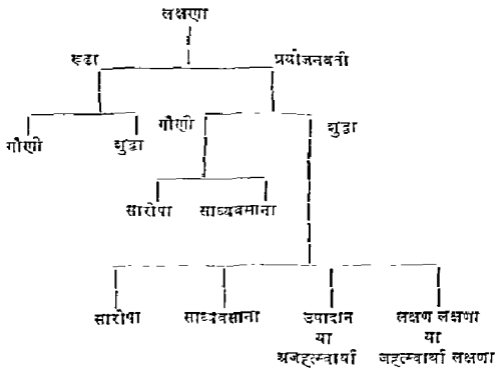
लक्षणा	उदाहरण
१. गौणी रूढा लक्षणा	रामदास चौकन्ना है।
२ शुद्धा रूढा लक्षणा	पंजाब वीर है।
३ सारोपा गौणी प्रयोजनवती लक्षणा	वह पुरुष सिंह है।
४ साध्यवसाना गौणी प्रयोजनवती लक्षणा	सिंह अखाडे में उतरा।

साहित्यदर्पणकार ने रूढा लक्षणा के ८ भेद गिनाये हैं। उनके अनुसार सारोपा, साध्यवसाना, उपादान तथा लक्षण आदि सभी भेद रूढा लक्षणा के होते हैं। —साहित्यदर्पण, द्वितीय परिच्छेद, पृ० ७२

५ सारोपा शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा	घी मेरा जीवन है।
६ साध्यवसाना शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा	मेरा जीवन ढल गया।
७ उपादान (अजहत्स्वार्था) शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा	लाल पगड़ी आ रही है।
८ लक्षण (जहत्स्वार्था) शुद्धा प्रयोजनवती लक्षणा	उसका घर पानी में है।

साहित्यदर्पणकार ने ८ प्रकार की रूढ़ा लक्षणा तथा ३२ प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणा मानी है।[1]

व्यंजना

जब अभिधा और लक्षणा नामक व्यापारों से अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति न हो तथा इन दोनों से भिन्न किसी विशेष अथवा गूढ़ अर्थ की उपलब्धि हो तब वहाँ 'व्यंजना' नामक व्यापार होता है। व्यंजना से उपलब्ध अर्थ को 'व्यंग्यार्थ' और उस प्रकट करने वाले शब्द को 'व्यंजक' कहते हैं। उदाहरणार्थ,

सूर्य अस्त हो गया।

इस वाक्य के कहने से जब वक्ता का अभिप्राय केवल यह बतलाना न हो कि सूर्य डूब गया है बल्कि उसका अभिप्राय यह बतलाना हो कि संध्योपासन करने वालों के लिए संध्योपासन का समय हो गया, गौएँ चराने वालों के लिए गौएँ घर वापस ले जाने का समय हो गया तथा चोरी करने वालों के लिए तैयार होने का समय हो गया तब यहाँ व्यंजना व्यापार का क्षेत्र माना जायगा।

व्यंजना के भेद—व्यंजना के दो भेद होते हैं—१ शाब्दी व्यंजना, २ आर्थी व्यंजना।

१ शाब्दी व्यंजना—जहाँ व्यंग्यार्थ किसी विशेष शब्द के प्रयोग पर आश्रित हो वहाँ व्यंजना शाब्दी होती है। अगर उस शब्द के स्थान पर उसका पर्यायवाची शब्द रख दिया जाय तो व्यंजना समाप्त हो जाती है।

उदाहरणार्थ—

चिरजीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गंभीर।
को घटि ये वृषभानुजा वे हलधर के बीर॥[2]

इस दोहे में श्रीकृष्ण और राधा के सम्बन्ध की उपयुक्तता कही गयी है। इस दोहे में 'वृषभानुजा' (राधा, गाय) और 'हलधर के बीर' (कृष्ण और बैल) इन दोनों में श्लेष है, अतः जब पाठक का ध्यान वृषभ अनुजा (बैल की बहन अर्थात् गाय) और हलधर के बीर (बैल)—इन अर्थों की ओर जाता है तब

---

१ साहित्यदर्पण, द्वितीय परिच्छेद, पृ० ७३
२ बिहारी बोधिनी, ८

सखी का छिपा हुआ परिहास भी व्यंजित होता है। अब अगर इन दोनों शब्दों के स्थान पर इनके पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग कर दिया जाय तो व्यंजना समाप्त हो जायगी, अतः यहाँ शाब्दी व्यंजना है।[1]

२ आर्थी व्यंजना—आर्थी व्यंजना किसी शब्द-विशेष पर आश्रित न रह-कर अर्थ पर आश्रित रहती है अर्थात् यदि एक शब्द का पर्यायवाची शब्द रख दिया जाय तो व्यंजना समाप्त नहीं होती। आर्थी व्यंजना के दो भेद हैं १ लक्षणामूला, २ अभिधामूला।

जिस व्यंजना में लक्ष्यार्थ के उपरान्त व्यंग्यार्थ पर पहुँचा जाता है वहाँ 'लक्षणामूला व्यंजना' होती है, यथा,

यह मनुष्य नहीं, उल्लू है।

इसमें 'उल्लू' शब्द के लक्ष्यार्थ (मूर्ख) के बोध के उपरान्त व्यंग्यार्थ (मूर्खता के आधिक्य) पर ध्यान जाता है, अतः यहाँ लक्षणामूला व्यंजना है।

'अभिधामूला व्यंजना' में मुख्यार्थ के बोध के पश्चात् व्यंग्यार्थ का बोध होना है, उदाहरण

रे कपि कौन तू? अक्ष को घातक दूत बली रघुनंदन जू को।
को रघुनंदन रे? त्रिशिरा-खर-दूषण-दूषण भूषण भू को॥
सागर कैसे तर्यो? जस गोपद, काज कहा? सिय चोरहि देखो।
कैसे बँधायो? जु सुन्दरि तेरी छुई दृग सोवत पातक लेखो॥[2]

यहाँ व्यंग्यार्थ है—जब राम का दूत अकेले ही अक्षयकुमार का संहार कर सकता है, समुद्र को बिना प्रयास पार कर सकता है तब भला राम कितने अधिक शक्तिशाली होंगे? किन्तु इससे भी अधिक चमत्कार अन्तिम पंक्ति के व्यंग्यार्थ में है। रावण के यह पूछने पर कि तू बंधन में कैसे आया, हनुमान् उत्तर देते हैं कि सीता को खोजते समय मेरी दृष्टि तुम्हारे भवन में सोती हुई स्त्रियों पर पड़ी, इस परस्त्री-दर्शन रूप पाप से मैं बन्धन में आया। किन्तु हे रावण, तुमने तो परस्त्री (सीता) का हरण किया है, तुम्हें उसका कितना भयंकर फल भोगना पड़ेगा। इस व्यंग्यार्थ पर हम सीधे वाच्यार्थ के पश्चात् ही पहुँच जाते हैं, अतः यहाँ अभिधामूला व्यंजना है।

---

१ सेठ कन्हैयालाल पोद्दार ने (रसमंजरी, पृ० ८२) शाब्दी व्यंजना के दो भेद माने हैं - १ अभिधामूला शाब्दी व्यंजना २ लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना और 'आर्थी व्यंजना' के वक्तृ, बोधव्य, काकु आदि १० भेद।

२ रामचंद्रिका, १६।१

अर्थ मे सक्रमण कर जाता है अथवा पूर्णरूपेण तिरस्कृत हो जाता है। इन दोनो ही रूपो मे वाच्यार्थ या मुख्यार्थ बाधित रहता है। इस दृष्टि से लक्षणामूला या अविवक्षित वाच्यध्वनि के मुख्य रूप से दो भेद हुए

१ अर्थान्तरसक्रमितवाच्य, २ अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य।[1]

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है प्रथम स्थिति मे वाच्यार्थ दूसरे अर्थ मे सक्रमण कर जाता या चला जाता है और दूसरी स्थिति मे उसका पूर्णतया तिरस्कार हो जाता है। इसीसे ये दो भेद हुए। लक्षणामूला ध्वनि के ये दोनो भेद लक्षणा के दो भेदो क्रमश उपादान लक्षणा और लक्षण लक्षणा पर आश्रित हैं। लक्षणामूला ध्वनि के ये दोनो भेद पदगत भी हो सकते हैं और वाक्यगत भी। इस प्रकार लक्षणामूला (अविवक्षितवाच्य) ध्वनि के ये चार भेद हुए

१ पदगत अर्थान्तरसक्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनि।
२ वाक्यगत अर्थान्तरसक्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनि।
३ पदगत अत्यन्ततिरस्कृत अविवक्षितवाच्य ध्वनि।
४ वाक्यगत अत्यन्ततिरस्कृत अविवक्षितवाच्य ध्वनि।

पदगत अर्थान्तरसक्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनि—जब मुख्यार्थ के बाधित होने पर वाचक शब्द का वाच्यार्थ लक्षणा द्वारा अपने दूसरे अर्थ मे सक्रमित कर जाय, तब वहाँ अर्थान्तरसक्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनि होती है। पद मे होने के कारण इसे पदगत कहते हैं, यथा

हसबंसु दसरथु जनकु राम लखन से भाइ।
जननी तूँ जननी भई विधि सन कछु न बसाइ॥[2]

यहाँ द्वितीय 'जननी' शब्द से कैकेयी की कठोरता व्यग्य है, अब हम शास्त्रीय शब्दावली मे कहेंगे कि द्वितीय 'जननी' शब्द का वाच्यार्थ (मातृत्व) दूसरे अर्थ (कठोरता) मे सक्रमित कर गया है, अत. यहाँ अर्थान्तरसक्रमित वाच्य ध्वनि है। यह पदगत है। इसी प्रकार माखनलाल चतुर्वेदी की 'जवानी' शीर्षक कविता की निम्नाकित पक्तियो मे यही ध्वनि है

चढा दे स्वातन्त्र्य-प्रभु पर अमर पानी।
विश्व माने—तू जवानी है, जवानी॥[3]

यहाँ प्रथम 'जवानी' शब्द से ध्वनि निकलती है कि 'यह समय सोच-विचार का नहीं, बलिदान का है।' इस प्रकार प्रसगविशेष के अर्थ मे प्रयुक्त

---

१ अर्थान्तरे सक्रमितमत्यन्त वा तिरस्कृतम्।
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्य द्विधा मतम्॥
—ध्वन्यालोक, का० २१, पृ० ८६

२ रामचरितमानस, २।१६०।६-१०

३. हिमकिरीटिनी, पृ० ११५

यश या उनके गुणों (शोभा, बलिदान की इच्छा आदि) के अर्थ में संक्रमित हो जाने से यहाँ 'पदगत अर्थान्तरसंक्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनि' है।

वाक्यगत अर्थान्तरसंक्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनि—मुख्यार्थ के बाधित हो जाने के कारण वाच्यार्थ की विवक्षा न होने पर जब वाक्य अपने दूसरे अर्थ में संक्रमण कर जाता है तब वहाँ 'वाक्यगत अर्थान्तरसंक्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनि' होती है, उदाहरणार्थ,

मेरा छिन्न, प्रपन्न छिन्न घर,
लाये ज्योति नवाही,
कैसे पूजूँ गुमराही को
मैं हूँ एक सिपाही ?[1]

यहाँ 'मैं हूँ एक सिपाही' इस वाक्य का वाच्यार्थ बाधित है। कवि के कहने का तात्पर्य यह है कि मैं साहसी, आत्माभिमानी देशप्रेमी तथा स्वाभिमानी वीर हूँ, अतः गुमराही की पूजा मैं कैसे करूँ? यहाँ वाक्य अपने मुख्यार्थ से बाधित होकर अर्थान्तर (व्यंग्यार्थ) में संक्रमित हो गया है अतः 'वाक्यगत अर्थान्तरसंक्रमित अविवक्षितवाच्य ध्वनि' है।

पदगत अत्यन्ततिरस्कृत अविवक्षितवाच्य ध्वनि—जब बाधित मुख्यार्थ सर्वथा तिरस्कृत होकर बिल्कुल भिन्न अर्थ का बोध कराता है, तब वहाँ 'अत्यन्ततिरस्कृत अविवक्षितवाच्य ध्वनि' हुआ करती है। पदगत होने से इसे 'पदगत अत्यन्त तिरस्कृत अविवक्षितवाच्य ध्वनि' कहते हैं। स्मरण रहे कि इस ध्वनि में बाधित मुख्यार्थ का अर्थान्तर में संक्रमण नहीं होता, प्रत्युत उसका सर्वथा भिन्न अर्थ ही हो जाता है। निम्नांकित उदाहरण से यह बात स्पष्ट है:

नीलोत्पल के बीच सजाये मोती से आँसू के बूँद।[2]

यहाँ 'नीलोत्पल' में मुख्यार्थ का बाध है। नीलोत्पल (नीलकमल) के बीच में आँसुओं का सजना असम्भव है, किन्तु 'आँसू' के प्रयोग से 'नीलोत्पल' से नेत्र का बोध होता है। यहाँ उपमेय (नेत्र) न व्यवहृत होकर उपमान (नीलोत्पल) से ही उसका बोध कराया गया है, इस प्रकार यहाँ नीलोत्पल के अर्थ का दूसरे अर्थ में संक्रमण नहीं हुआ, अपितु उसका सर्वथा तिरस्कार हुआ है—सर्वथा भिन्न अर्थ हुआ है, अतः 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि' है। यह एक पद (नीलोत्पल) में है, अतः पदगत है। इस प्रकार उपर्युक्त पंक्ति में 'पदगत अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि' है।

वाक्यगत अत्यन्ततिरस्कृत अविवक्षितवाच्य ध्वनि—जब बाधित मुख्यार्थ पदगत न होकर वाक्यगत होता है तथा सर्वथा भिन्न अर्थ का बोध कराता है तब वहाँ 'वाक्यगत अत्यन्ततिरस्कृत अविवक्षितवाच्य ध्वनि' हुआ करती है।

---

१. हिमकिरीटिनी, पृ० ५१
२. प्रसाद (काव्यदर्पण, पृ० २४८ पर उद्धृत)

निम्नांकित उद्धरण में यही ध्वनि है

सुनहु राम स्वामी सन चल न चातुरी मोरि।
प्रभु अजहूँ मैं पापी अन्तकाल गति तोरि।।[1]

यहाँ 'प्रभु अजहूँ मैं पापी' वाक्य के वाच्यार्थ का बाध है। इसका बिल्कुल भिन्न अर्थ है—अब मैं पापी नहीं हूँ।

अतः यहाँ 'वाक्यगत अत्यन्ततिरस्कृत अविवक्षितवाच्य ध्वनि' है।

अभिधामूला अथवा विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि—इस ध्वनि के मूल में अभिधा विद्यमान रहती है, अतः इसे अभिधामूला ध्वनि कहते हैं। इसका एक अन्य नाम 'विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि' है क्योंकि इसमें वाच्यार्थ विवक्षित रहता हुआ अन्यपर अर्थात् व्यंग्यार्थ का बोध कराता है। यह (वाच्यार्थ) न तो दूसरे अर्थ में संक्रमण करता है और न सर्वथा तिरस्कृत होता है। यह ध्वनि भी दो प्रकार की होती है[2]

१ असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य २ संलक्ष्यक्रमव्यंग्य।

असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि—जैसा कि नाम से ही प्रकट है इस ध्वनि में व्यंग्यार्थ का क्रम लक्षित नहीं होता अर्थात् व्यंग्यार्थ-प्रतीति में पौर्वापर्य (आगे-पीछे) का ज्ञान नहीं रहता कि कब वाच्यार्थ का बोध हुआ और कब व्यंग्यार्थ का। इसमें व्यंग्यरूप से रस, भाव, रसाभास, आदि ही ध्वनित होते हैं, अतः इसे रसध्वनि भी कहा जाता है।[3] इसके छह भेद काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में माने गए हैं

१. पदगत, २ पदांशगत, ३ वाक्यगत, ४ वर्णगत, ५ रचनागत, और ६ प्रबंधगत।

पदगत असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि—जब यह ध्वनि केवल एक पद पर आश्रित रहती है तब उसे पदगत असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि कहते हैं। यथा,

सखी सिखावति मानविधि, सैनन बरजति बाल।
हरे कहै मो हीय मों, बसत बिहारीलाल।।[4]

यहाँ 'हरे' पद से सम्भोग-शृंगार ध्वनित होता है। नायिका मान की शिक्षा देने वाली सखी से कहती है कि हे सखी, धीरे बोल! मेरे हृदय में बिहारीलाल निवास करते हैं। कहीं वे सुन न लें। उपर्युक्त दोहे में प्रयुक्त 'हरे' पद

---

१. रामचरितमानस, ८।६।११-१२
२ असंलक्ष्यक्रमोद्द्योतः, क्रमेण द्योतितः परः।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः।। —ध्वन्यालोक, का० २४
३. रसभाव-तदाभास-भावशान्त्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्माऽङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः।। —ध्वन्यालोक, का० २५
इसका विस्तृत विवरण अगले अध्याय (रस-प्रकरण) में देखिए।
४. बिहारी-बोधिनी, २०६

विलासोल्लास में अनुराग सूचित करता है। इस प्रकार यह 'पदगत असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनि' है।

पदांशगत असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि—यह ध्वनि पदांश पर आश्रित होती है। उदाहरण,

चिर दग्ध दुखी यह वसुधा
आलोक माँगती तब भी
तुम तुहिन बरस दो कन-कन
यह पगली सोये अब भी।[1]

यहाँ 'तब भी' पद के अंश 'भी' में असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि है। जिस आलोक के कारण यह पृथ्वी युग-युग से दग्ध होती रही है, उसी को फिर माँग रही है। इसलिए इस पर दया के तुहिनकणों की वर्षा कर दो जिससे यह सो ले। इस पद्य के 'भी' पदांश के द्वारा करुण रस ध्वनित होता है। अतः यहाँ 'पदांशगत असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य' है। सुमित्रानन्दन पंत के 'पल्लव' का एक उदाहरण और लीजिए

सिखा दो ना, हे मधुप कुमारि!
मुझे भी अपने मीठे गान,
कुसुम के चुने कटोरों से
करा दो ना, कुछ कुछ मधुपान![2]

यहाँ 'ना' पदांश से कवि के आन्तरिक भाव (प्रार्थना, दैन्य, अभिलाष आदि) ध्वनित हो रहे हैं।

वाक्यगत असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि—इस ध्वनि का एक सुन्दर उदाहरण 'पंचवटी' का निम्नांकित छन्द है:

अंगों पर थे बड़े बाल वे
बने अहो! आँतों के जाल,
फूलों की वह वरमाला भी
हुई मुण्डमाला सुविशाल![3]

उपर्युक्त उद्धरण के दोनों वाक्य भयानक रस का व्यंजन करते हैं। अतः यहाँ 'वाक्यगत रसध्वनि' है।

वर्णगत असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि—कभी-कभी किसी कविता के प्रत्येक वर्ण से रसध्वनि आती है। ऐसे स्थलों पर 'वर्णगत असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि' होती है। निम्नांकित दोहे में यही ध्वनि है:

---

१ आँसू (प्रसाद), पृ० ५५
२ पल्लव, पृ० ८०
३ पंचवटी, १२२

रस सिंगार मजन किये, कंजन भंजन दैन।
अंजन रंजन हू बिना, खजन गजन नैन ॥[1]

यहाँ माधुर्यव्यंजक वर्णों (मजन, कजन, भजन आदि) द्वारा रति भाव की वर्णगत ध्वनि है। इसी प्रकार निराला की निम्नांकित पंक्तियाँ 'उत्साह' का भाव ध्वनित कर रही हैं

तोड़ो, तोड़ो, तोड़ो कारा
पत्थर की, निकलो फिर,
गङ्गा-जल धारा!
गृह-गृह की पार्वती!
पुनः सत्य-सुन्दर शिव को सँवारती।
उर उर की बनो आरती!
भ्रान्तों की निश्चल ध्रुवतारा।
तोड़ो, तोड़ो, तोड़ो कारा![2]

यहाँ 'तोड़ो' शब्द के 'त' और 'ड' वर्णों पर आश्रित होने के कारण 'वर्णगत असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि' है।

रचनागत असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि—यह ध्वनि किसी एक पद या वाक्य से ध्वनित न होकर रसानुकूल असमस्तपदों वाली साधारण रचना द्वारा होती है। निम्नांकित दोहे में यह बात स्पष्ट है

जागत श्रोज मनोज कैं, परसि पिया के गात।
पापर होत पुरैनि के, चन्दन-पंकिल पात ॥[3]

प्रिय के गात्र का स्पर्श कर कामदेव की ज्वाला के कारण चन्दन लिप्त कमल-पत्र भी पापड़ बन जाते हैं। इस वाच्यार्थ बोध के साथ ही विप्रलंभ शृंगार ध्वनित होता है। यहाँ 'रचनागत असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि' है क्योंकि यह किसी एक पद या वाक्य पर आश्रित न होकर समस्त रचना पर आधारित है। रचनागत असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के उदाहरण के रूप में डॉ० रामकुमार वर्मा की निम्नांकित पंक्तियाँ ली जा सकती हैं :

मेरे दुःख में प्रकृति न देती
क्षण भर मेरा साथ
उठा शून्य में रह जाता है
मेरा भिक्षुक हाथ
मेरे निकट शिलायें पाकर
मेरे श्वास-प्रवाह

---

१ बिहारी-बोधिनी, ५०
२. अनामिका (मुक्ति), पृ० ७४१
३. मतिराम-सतसई, ५२२ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ४८४)

बड़ी देर तक गुंजित करती
रहती मेरी आह।
'मर मर' शब्दों में हँसकर पत्ते हो जाते मौन
भूल रहा हूँ स्वयं इस समय मैं जग में हूँ कौन।[1]

इस सम्पूर्ण रचना से 'दैन्य' भाव ध्वनित हो रहा है। इसी प्रकार 'प्रबन्धगत असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि' भी होती है।

संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि—अभिधामूला ध्वनि का दूसरा भेद 'संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि' है। इस ध्वनि में अभिधा द्वारा वाच्यार्थ का स्पष्ट बोध होने पर क्रम से व्यंग्यार्थ संलक्षित होता है। यहाँ व्यंग्यार्थ बोध के लिए वाच्यार्थ की विवक्षा रहती है अतः यह 'विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि' का दूसरा भेद है। इस ध्वनि के अन्तर्गत वस्तु और अलंकार की ध्वनियाँ आती हैं। इसके तीन भेद हैं—
१ शब्दशक्तिमूला २ अर्थशक्तिमूला और शब्दार्थोभयशक्तिमूला।

शब्दशक्तिमूला—जहाँ वाच्यार्थ बोध होने के बाद व्यंग्यार्थ का बोध जिस शब्द द्वारा होता है उसके बोध कराने की शक्ति केवल उसी शब्द में हो, उसके पर्यायवाची शब्द में न हो वहाँ शब्दशक्तिमूला संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि होती है। यह चार प्रकार की होती है—१ पदगत वस्तुध्वनि, २ वाक्यगत वस्तुध्वनि ३ पदगत अलंकारध्वनि, ४ वाक्यगत अलंकारध्वनि।

पदगत शब्दशक्तिमूलक संलक्ष्यक्रम वस्तुध्वनि

जो पहाड़ को तोड़-फोड़कर बाहर कढ़ता।
निर्मल जीवन वही सदा जो आगे बढ़ता॥[2]

इन दोनों पंक्तियों का वाच्यार्थ यह है कि पहाड़ को तोड़-फोड़कर उसके अन्तस्तल से निकलने वाला जल (जीवन) प्रवाहित होता हुआ ही निर्मल हुआ करता है। इसके पश्चात् 'जीवन' शब्द के प्रयोग द्वारा व्यंग्यार्थ यह निकलता है कि मनुष्य का वही जीवन पवित्र एवं गतिशील होता है जो पहाड़ जैसी विपत्तियों का सामना कर आगे बढ़ता है। यहाँ 'जीवन' पद में ध्वनि है अतः इसे पदगत ध्वनि कहेंगे। 'जीवन' शब्द से मनुष्य के जीवन का बोध होना वस्तुरूप ही है। इस प्रकार यह 'पदगत वस्तुध्वनि' का उदाहरण हुआ। इसी प्रकार निम्नांकित पंक्तियों में वस्तुध्वनि है

देख वसुधा का यौवन भार
गूँज उठता है जब मधुमास।
विधुर उर के से मृदु उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास॥[3]

---

१ रामकुमार वर्मा (आधुनिक हिन्दी कविता में ध्वनि, पृ० १६१ पर उद्धृत)

२ काव्यदर्पण, पृ० २६३

३ आधुनिक हिन्दी कविता में ध्वनि, पृ० २०३ पर उद्धृत।

यहाँ 'मधुमास' शब्द से प्रेम-व्यापार का भाव ध्वनित होता है। 'मधुमास' के स्थान पर 'मधुऋतु' या 'वसन्तऋतु' रखने से वह व्यंजना नहीं हो पाती। इसीलिए यह 'पदगत वस्तुध्वनि' का उदाहरण है।

पदगत अलंकार ध्वनि :

चढ मृत्यु-तरणि पर तूर्ण-चरण –
कह—"पितः, पूर्ण आलोक वरण
करती हूँ मैं, यह नहीं मरण,
'सरोज' का ज्योति:शरण—तरण।"[1]

ये पंक्तियाँ 'निराला' की कविता 'सरोज-स्मृति' की हैं। यहाँ 'सरोज' पद से दृष्टान्त अलंकार ध्वनित होता है। निराला की पुत्री का नाम 'सरोज' था। 'सरोज' का अर्थ 'कमल' भी है। जिस प्रकार सरोज (कमल) अपने प्रियतम सूर्य के प्रकाश में मिलकर तादात्म्य का अनुभव करता है, उसी प्रकार सरोज (निराला की पुत्री) अपने प्रियतम ब्रह्म से मिलने के लिए जा रही है। यह मृत्यु नहीं है। इस प्रकार दृष्टान्त एवं रूपक अलंकारों के माध्यम से यहाँ ध्वनि व्यक्त हुई है, अतः (सरोज) 'पदगत अलंकार ध्वनि' हुई।

वाक्यगत अलंकार ध्वनि :

चरन धरत चिंता करत भौर न भावे सोर।
सुबरन को ढूँढत फिरत कवि, व्यभिचारी, चोर॥[2]

यहाँ 'चरन', 'चिंता', 'भौर', 'सोर', 'सुबरन' शब्द श्लिष्ट हैं। कवि, व्यभिचारी और चोर सुबरन (सुन्दर वर्ण, सुन्दर रंग और स्वर्ण या सोना) ढूँढते रहते हैं। यहाँ उपमा अलंकार की ध्वनि है। यह ध्वनि सम्पूर्ण वाक्य में है, अतः यहाँ 'वाक्यगत अलंकार ध्वनि' हुई।

अर्थशक्तिमूला संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि—जब शब्दों के पर्यायवाची शब्दों के द्वारा भी व्यंग्यार्थ का बोध होता रहे तब वहाँ अर्थशक्तिमूला संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य ध्वनि होती है। इसके मुख्यतया तीन भेद हैं :

१ 'स्वतःसंभवी', २ 'कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध', ३ 'कविनिबद्धपात्र-प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध'। इनमें भी कहीं वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ दोनों ही वस्तुरूप में या अलंकाररूप में होते हैं और कहीं इनमें से एक वस्तुरूप में और दूसरा अलंकाररूप में होता है। इस प्रकार इनमें से प्रत्येक के चार भेद हुए

१ वस्तु से वस्तुध्वनि, २ वस्तु से अलंकारध्वनि, ३. अलंकार से वस्तुध्वनि, ४. अलंकार से अलंकारध्वनि। इस प्रकार कुल भेद १२ हुए। पुनः इन बारह भेदों में से प्रत्येक के पदगत, वाक्यगत और प्रबंधगत के भेद से ३६ भेद हुए। इस प्रकार अर्थशक्तिमूला संलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि के कुल मिलाकर ३६

---

१. अनामिका (सरोज-स्मृति), पृ० १२१
२. काव्यदर्पण, पृ० २४७ पर उद्धृत।

भेद हुए। इनमें से कुछ के उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं।

(१) स्वतःसम्भवी अर्थशक्तिमूला ध्वनि—जब वाच्य स्वतःसम्भवी हो तब यह ध्वनि होती है यथा—

पदगत वस्तु से वस्तुध्वनि

तू अकिंचन भिक्षुक है मधु का,
अलि तृप्ति कहाँ जब प्रीति नहीं।[1]

यहाँ 'अकिंचन' पद में भ्रमर का अनेक फूलों पर जा बैठने की वृत्ति, स्वार्थपरायणता एवम् असन्तोष आदि वस्तुएँ व्यंग्य हैं क्योंकि तृप्तिराहित्यभाव प्राणी को अकिंचन, कृपण अथवा तुच्छ बनाता है। इस प्रकार सन्तोष के अभाव के परिणामस्वरूप अकिंचनता की व्यंजना होने से एक वस्तु से दूसरी वस्तु ध्वनित हुई है। 'अकिंचन' पद पर आश्रित होने से यह 'पदगत वस्तुध्वनि है।'

वाक्यगत वस्तु से वस्तुध्वनि

कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे॥
सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुची सिय मन महुँ मुसुकानी॥[2]

रामचरितमानस के द्वितीय सोपान के अन्तर्गत वन-मार्ग की ग्रामवधुओं के प्रश्न के उत्तर में सीता के संकोच और मन्द हास से रामचन्द्र का पति होना व्यंजित है। यहाँ वाच्य और व्यंग्य दोनों अनलंकारित हैं और वाच्य स्वतः-सम्भवी है। इसे हम 'वाक्यगत स्वतःसम्भवी वस्तु से वस्तुध्वनि' का उदाहरण कह सकते हैं।

इसी प्रकार निम्नांकित पंक्तियों में 'वाक्यगत वस्तु से वस्तुध्वनि है

काँपता उधर दैन्य निरुपाय,
रज्जु सा, छिद्रों का कृश काय!
न उर में गृह का तनिक दुलार,
उदर ही में दानों का भार![3]

यहाँ तीसरी और चौथी पंक्ति में क्रमशः कष्टमय जीवन एवं दुर्बलता की पराकाष्ठा का चित्रण है। दीन व्यक्ति का परिवार की ओर से विमुख हो जाना तथा अन्न के थोड़े-से दाने भी उदर के लिए भारी प्रतीत होना—ये दोनों असाधारण अवस्थाएँ हैं तथा व्यक्ति की निर्धनता की चरम सीमा की द्योतक हैं। इस प्रकार दोनों वाक्यों में क्रिया द्वारा धर्म की व्यंजना हुई है। अस्तु, उपर्युक्त उदाहरण में 'स्वतःसम्भवी वाक्यगत वस्तु से वस्तुध्वनि' है।

वाक्यगत वस्तु से अलंकारध्वनि :

लिख एट पद पायो बडो भयो भोग लवलीन।
जग जस चाहयो तो यहा, जो न देत-रति दीन॥[4]

---

१ रश्मि (महादेवी वर्मा), पृ० ८५
२ रामचरितमानस २।११६।१-२
३ पल्लव (परिवर्तन), पृ० १५८-५९
४. काव्यदर्पण, पृ० ३८८ पर उद्धृत।

यहाँ 'पद पायो बड़ो' आदि वस्तुरूप वाच्यार्थ द्वारा इस व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है कि देशभक्ति के बिना ये सब उन्नतियाँ व्यर्थ हैं। अतः यहाँ 'वाक्यगत वस्तु से अलंकार (विनोक्ति) ध्वनि' है।

वाक्यगत अलंकार से वस्तुध्वनि

> झर पड़ता जीवन-डाली से मैं पतझड़ का-सा जीर्ण पात।
> केवल-केवल जग-आँगन में लाने फिर से मधु का प्रभात ॥[1]

इस दोहे में यह ध्वनित हो रहा है कि मृत्यु पुनर्जन्म द्वारा नवीन जीवन की उपलब्धि कराती है। यहाँ उपमा और रूपक का मेल हुआ है। इन अलंकारों के माध्यम से उपर्युक्त वस्तु ध्वनित हो रही है, अतः यहाँ 'वाक्यगत अलंकार से वस्तुध्वनि' है।

पदगत अलंकार से अलंकारध्वनि :

> दमकत दरपन दरप दरि दीप-सिखा-दुति देह।
> वह दृढ़ इक दिसि दिपत, यह मृदु दस दिसनि सनेह ॥[2]

इस दोहे में कहा गया है कि दर्पण का दर्प (अहङ्कार) दूर कर दीप-शिखा के समान कान्ति वाली देह अपनी दीप्ति को फैला रही है। कठोर दर्पण तो एक ही दिशा में चमकता है किन्तु यह कोमल शरीर दसों दिशाओं में चमकता है। यहाँ 'दीप-सिखा-दुति' में उपमा है जो दोहे के उत्तरार्द्ध में आये हुए व्यतिरेक अलंकार का व्यंजक है। इस प्रकार यहाँ 'पदगत अलंकार से अलंकार-ध्वनि' है।

वाक्यगत अलंकार से अलंकारध्वनि :

> देखती मुझे तू, हँसी मन्द,
> होठों में बिजली फँसी, स्पन्द
> उर में भर भूली छवि सुन्दर।[3]

'सरोज-स्मृति' की इन पंक्तियों में 'निराला' ने अपनी पुत्री सरोज की मन्द हँसी पर बिजली की आभा का आरोप किया है। इस प्रकार यहाँ वस्तूत्प्रेक्षा हुई। इससे आगे व्यंग्य यह है कि जब मन्द हँसी ही बिजली की समता कर सकती है, तब भला उन्मुक्त हँसी कितनी उज्ज्वल होगी। इस प्रकार यहाँ व्यतिरेक की व्यंजना हो रही है, अतः अलंकार से अलंकारध्वनि है। यह वाक्यगत है क्योंकि दोनों वाक्यों से ऐसा ध्वनित हो रहा है।

(२) कवि प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध—केवल कवियों की कल्पना-मात्र से सिद्ध (व्यावहारिक रूप में जिसकी प्रत्यक्ष सिद्धि न हो) वस्तु 'कवि प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध' कहलाती है। कामदेव के बाण फूल के हैं, यश का रंग उज्ज्वल और कलंक का

---

१. सुमित्रानन्दन पन्त (काव्यदर्पण, पृ० २४६ पर उद्धृत)
२. दुलारे दोहावली (काव्यदर्पण, पृ० २४६ पर उद्धृत)
३. अनामिका (सरोज-स्मृति), पृ० १३५

रंग काला होता है, आदि इसके उदाहरण हैं।

पदगत वस्तु से वस्तुध्वनि :

निठुर होकर डालेगा पीस
इसे अब सूनेपन का भार,
गला देगा पलकों में मूँद
इसे इन प्राणों का उद्गार;[1]

'सूनेपन का भार' किसी वस्तु को पीस डालने में सक्षम नहीं, क्योंकि वह कोई ठोस पदार्थ नहीं है, अतः यहाँ कविप्रौढोक्ति है। व्यंग्य यह है कि सूनेपन में (जब मैं अकेली होती हूँ) तुम्हारी याद और अधिक आती है। इसी बात को इस ढंग से कहा है कि 'सूनेपन का भार मेरे हृदय की अन्य सभी वृत्तियों का शमन कर देगा।' यहाँ 'सूनेपन का भार' इस समस्त पद से व्यंजना होने के कारण यह 'पदगत कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से वस्तुध्वनि' हुई।

वाक्यगत वस्तु से वस्तुध्वनि

सिय बियोग दुख केहि बिधि कहउँ बखानि।
फूल बान ते मनसिज बेधत आनि॥
सरद चाँदनी संचरत चहुँ दिसि आनि॥
बिधुहि जोरि कर बिनवति कुलगुरु जानि॥[2]

हनुमान् द्वारा राम के सम्मुख सीता के वियोग-वर्णन की इन पंक्तियों में कामदेव का पुष्पबाणों से सीता को बेधना, शरद-ज्योत्स्ना का चारों ओर फैलना और जलाना तथा चन्द्रमा को कुलगुरु मानकर उनसे प्रार्थना करना आदि कवि प्रौढोक्ति-मात्रसिद्ध वस्तुएँ हैं। इन्हीं कवि-कल्पित वस्तुओं से सीता की विरह-दशा तथा प्रेमाधिक्य रूप वस्तु ध्वनित होती है। अतः यहाँ 'वाक्यगत वस्तु से वस्तुध्वनिरूप कवि प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध ध्वनि' है।

पदगत वस्तु से अलंकारध्वनि :

बास चहत हर सयन हरि तापस चाहत स्नान।
जस लखि श्री रघुबीर को जग अभिलाष-वान॥[3]

श्री रघुबीर का उज्ज्वल यश देखकर संसार विभिन्न प्रकार की अभिलाषाएँ करता है। शंकर उसे कैलाश पर्वत समझकर निवास करना चाहते हैं, विष्णु उसे क्षीरसागर समझकर उसमें शयन करना चाहते हैं तथा तपस्वी लोग उसे गंगा समझकर उसमें स्नान करना चाहते हैं। यहाँ यश को उज्ज्वल बताना कविप्रौढोक्ति है। इस वर्णनीय वस्तु से भ्रान्तिमान् अलंकार ध्वनित हुआ है, और यह 'जग' पद से ही सम्भव हुआ है। अतः यहाँ 'पदगत कवि-

1 नीहार (याद), पृ० ७२
2 बरवै रामायण, ४०, ४१
3 काव्यदर्पण, पृ० २५०

प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से अलंकारध्वनि' है।

वाक्यगत वस्तु से अलंकारध्वनि :

इन ललचाई पलकों पर
पहरा जब था व्रीडा का,
साम्राज्य मुझे दे डाला
उस चितवन ने पीड़ा का!![1]

महादेवी वर्मा की इन पंक्तियों में प्रियतम से मिलन का आलंकारिक वर्णन है। प्रियतम के सामने आने पर लज्जा ने उन्हें जी भरकर न देखने दिया, यद्यपि आँखें यही चाहती थीं कि प्रियतम को जी भरकर देख लें। यहाँ 'ललचाई' पद आँखों की उत्कट अभिलाषा व्यक्त करता है तथा 'साम्राज्य' पद पीड़ा की व्यापकता की अभिव्यक्ति कर रहा है। 'चितवन द्वारा अभिषेक और पीड़ा का साम्राज्य' यह कवि-कल्पना है तथा अन्तिम दोनों पंक्तियों के वाक्य से ध्वनि की व्यंजना हुई है। कवयित्री और सम्राज्ञी में साम्राज्य का अधिकार रूप धर्म उभयनिष्ठ होने से उपमानोपमेय भाव है और इसीलिए उपमा अलंकार व्यंग्य है। इस प्रकार यहाँ 'वाक्यगत कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से अलंकारध्वनि' हुई।

पदगत अलंकार से वस्तुध्वनि :

वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव में लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है।[2]

कविवर 'निराला' की इन पंक्तियों में अनेक उपमाओं के माध्यम से भारत की विधवा नारी का वर्णन हुआ है। इन एकपदगत या अनेकपदगत उपमाओं से भारतीय विधवा की पवित्रता, तेजस्विता, दयनीयता तथा अस-हायावस्था रूप वस्तु की व्यंजना हुई है। अतः यहाँ 'पदगत कविप्रौढोक्तिमात्र-सिद्ध अलंकार से वस्तुध्वनि' है।

वाक्यगत अलंकार से वस्तुध्वनि :

अब छुटता नहीं छुड़ाये
रँग गया हृदय है ऐसा
आँसू से धुला निखरता
यह रँग अनोखा कैसा![3]

---

१. नीहार (मेरा राज्य), पृ० २०
२. परिमल (विधवा), पृ० ११६
३. आँसू (प्रसाद), पृ० ३७

'प्रसाद' के 'आँसू' की इन पंक्तियों में प्रेम के (लाल) रंग का वर्णन है। यहाँ प्रथम चरण में 'विशेषोक्ति' अलंकार तथा अन्तिम दो चरणों में पाँचवीं 'विभावना' है। इन दोनों अलंकारों से यह व्यंग्य है कि 'विरह काल में ही प्रेम उत्कटता को प्राप्त होता है।' इस प्रकार अलंकार से वस्तु की व्यञ्जना हुई। प्रेम का रंग लाल होता है, उससे हृदय पक्के रंग में रँग जाता है आदि उक्तियाँ कविपरम्परागत हैं। इस प्रकार इन पंक्तियों में 'वाक्यगत कवि प्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध अलंकार से वस्तुध्वनि' है।

पदगत अलंकार से अलंकारध्वनि

थी किस अनङ्ग के धनु की
वह शिथिल शिंजिनी दुहरी
अलबेली बाहुलता या
तनु छवि सर की नव लहरी ?[1]

'आँसू' की इन पंक्तियों में प्रिया की बाहों को कामदेव का धनुष कहा गया है। कामदेव और उसका धनुष काल्पनिक तथा कविपरम्परागत वस्तुएँ हैं, अतः यहाँ कविप्रौढ़ोक्ति हुई। बाहों के स्थान में शिंजिनी की स्थापना से 'अपह्नुति' तथा 'या तनु छवि सर की नव लहरी' में 'सन्देह' अलंकार है। इसके साथ ही साथ उपमेय (बाहुलता) की उपमान (शिंजिनी) से श्रेष्ठता ध्वनित होने से व्यतिरेक अलंकार व्यंग्य है क्योंकि शिंजिनी तो कसी होने पर ही काम करती है, किन्तु बाहुलता ढीली होने पर ही अपना काम कर रही है। इस प्रकार यहाँ अलंकार से अलंकार की व्यंजना हुई है। इस प्रकार इन पंक्तियों में 'पदगत कविप्रौढ़ोक्तिमात्रसिद्ध अलंकार से अलंकारध्वनि' है।

वाक्यगत अलंकार से अलंकारध्वनि

डूबे सिकता सागर में
वह नैया मेरे मन की
आँसू की धार बहा कर
खे चला प्रेम बेगुन की।[2]

'प्रसाद' की इन पंक्तियों में मन को नाव, रेतीले मैदान को सागर तथा प्रेम को नाविक कहा गया है, अतः यहाँ सांगरूपक है। इस सांगरूपक अलंकार में व्यतिरेक अलंकार व्यंग्य है क्योंकि प्रेमरूपी नाविक में सामान्य नाविक से अधिक विशेषता है। सामान्य नाविक रेतीले मैदान में बिना रस्सी के नाव नहीं खींच सकता किन्तु प्रेमरूपी नाविक में यह शक्ति है। इसीलिए 'व्यतिरेक' है। इस प्रकार यहाँ 'सांगरूपक' से 'व्यतिरेक' व्यंग्य माना जायगा। 'आँसू की धार' में कविप्रौढ़ोक्ति अभिव्यक्त होती है। इस प्रकार

---

१. आँसू (प्रसाद), पृ० २८
२. आँसू (प्रसाद), पृ० ४२

यहाँ 'वाक्यगत कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलंकार से अलंकारध्वनि' है।

इसी प्रकार प्रबन्धगत ध्वनि के उदाहरण भी ढूँढे जा सकते है।

(३) कवि-निबद्ध-पात्र-प्रौढोक्ति-मात्रसिद्ध ध्वनि—जहाँ कवि-कल्पित-पात्र की प्रौढ उक्ति द्वारा किसी वस्तु या अलंकार का व्यंग्य बोध हो, वहाँ यह ध्वनि होती है। यथा,

पदगत वस्तु से वस्तुध्वनि—जब किसी एक पद से कविनिबद्धपात्र की प्रौढोक्ति द्वारा वस्तु से वस्तु की व्यंजना हो तब वहाँ 'पदगत कविनिबद्धपात्र-प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से वस्तुध्वनि' होती है, जैसे .

यह हलचल यह भ्रान्ति अशुभ वह समय था
जब देखा था तुम्हें कहाँ के चलोगी
अरे रक्त-रंजित मतवाले नेत्र ये
और शिथिल यह देह रूप के भार से।[१]

गुरुपत्नी तारा से चन्द्रमा की इन उक्ति में यौवन की व्यंजना 'रक्त-रंजित नेत्र' और 'शिथिल देह' इन पदो मे हो रही है, अत यह पदगत ध्वनि हुई। वक्ता कविनिबद्धपात्र चन्द्रमा है जिसकी प्रौढोक्ति से यौवन रूप वस्तु की व्यंजना हुई है। इस प्रकार ये पक्तियाँ 'पदगत कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्ति-मात्रसिद्ध वस्तु से वस्तुध्वनि' का उदाहरण है।

वाक्यगत वस्तु से वस्तुध्वनि -

धूम धुआँरे, काजरकारे,
हम ही बिकरारे बादर,
मदनराज के बीर बहादर,
पावस के उडते फणिधर।।[२]

सुमित्रानन्दन पन्त की इन पक्तियो मे बादल के लिए 'मदनराज के बीर बहादुर', 'पावस के उडते फणिधर' आदि विशेषणो का प्रयोग कवि-निबद्ध-पात्र-प्रौढोक्तिसिद्ध है। इन कल्पित वस्तु रूप वाच्यार्थ से बादलो का 'कामो-द्दीपक', 'वियोगियो का सन्तापकारक' आदि होना ध्वनित होता है। अत यह 'कविनिबद्ध-पात्रप्रौढोक्तिसिद्ध ध्वनि' हुई। इस प्रकार यह 'वाक्यगत कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से वस्तुध्वनि' का उदाहरण हुआ।

पदगत वस्तु से अलंकारध्वनि :

मदन-बान की पंचता कीन्ही हाय अनन्त,
बिरहिन की अब पंचता दीन्ही आय बसंत।[३]

---

१ भगवतीचरण वर्मा (मधुकण, पृ० ६५)—आधुनिक हिन्दी कविता मे ध्वनि, पृ० ३४० पर उद्धृत।

२. पल्लव (सुमित्रानन्दन पन्त), पृ० १३४

३ काव्यकल्पद्रुम (प्रथम भाग—रसमंजरी), पृ० २७१

यह कविनिबद्ध नायिका की उक्ति है। नायिका कहती है—हे सखि, कामदेव के बाणों की पंचता (पाँच की संख्या—कामदेव के पाँच पुष्पबाण माने गये हैं) वसन्त ऋतु ने अतथ्य (असत्य) कर दी है, अर्थात् बाणों की पंचता छुटा दी किन्तु वियोगियों को पंचता (पंचत्व या मृत्यु) दे दी है। यह वस्तुरूप वाच्यार्थ है। इससे ध्वनित यह होता है कि वसन्त ने कामदेव के बाणों की पंचता को लेकर मानो वियोगियों को वह पंचता दे दी है। यह उत्प्रेक्षा अलंकार है। इस प्रकार यहाँ वस्तु से अलंकार व्यंग्य है। यह व्यंजना 'पंचता' पद पर आश्रित होने के कारण पदगत है। इस प्रकार इस दोहे में 'पदगत कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से अलंकारध्वनि' है।

वाक्यगत वस्तु से अलंकारध्वनि—जब किसी पद से न होकर किसी वाक्य के द्वारा कविनिबद्धप्रौढोक्ति के माध्यम से वस्तुरूप वाच्यार्थ से अलंकाररूप व्यंग्य व्यंजित हो तब वहाँ 'वाक्यगत कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से अलंकारध्वनि' होती है। उदाहरण,

सुरा सुरभिमय वदन अरुण वे
नयन भरे आलस अनुराग;
कल कपोल था जहाँ बिछलता
कल्पवृक्ष का पीत पराग।[1]

'कामायनी' की इन पंक्तियों में देव रमणियों के यौवन तथा उनके गौर वर्ण का वर्णन है। गौर वर्ण (उपमेय) का पराग उपमान प्रसिद्ध ही है; यदि वह पराग कल्पवृक्ष का हो तो उसकी स्निग्धता अनुपम होगी। ऐसा अनुपम पराग भी जिन कपोलों पर आकर बिछल जाय, उन (कपोलों) की स्निग्धता का क्या कहना। यहाँ उपमान (कल्पवृक्ष का पराग) से उपमेय (कपोलों का गौर वर्ण) को अधिक पिच्छल या स्निग्ध कहा गया है। इस प्रकार वस्तु से अलंकार (प्रतीप या व्यतिरेक) की व्यंजना हुई है। यह व्यंजना अन्तिम दो पंक्तियों के माध्यम से होने से यहाँ वाक्यगत वस्तु से अलंकारध्वनि है। इन पंक्तियों के वक्ता कविनिबद्धपात्र मनु हैं। अतः उपर्युक्त पंक्तियों में 'वाक्यगत कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तु से अलंकारध्वनि' है।

वाक्यगत अलंकार से वस्तुध्वनि :

मरिबे को साहस ककै, बढ़ै बिरह की पीर।
दौरति है समुहैं ससी, सरसिज सुरभि समीर॥[2]

कविनिबद्धपात्र दूती नायक से कहती है कि नायिका विरह की अधिकता के कारण मरने के लिए चन्द्रमा, सरसिज (कमल) और सुरभि-समीर के सम्मुख दौड़ती है। मरने के लिए उक्त वस्तुओं की ओर दौड़ना प्रकृति विरुद्ध

१. कामायनी (चिन्ता सर्ग), पृ० ११
२. बिहारी-बोधिनी, ४८६

है, अत यहाँ 'विचित्र' अलकार है। इसमे नायिका के विरहसन्ताप की अधिकता ध्वनित हुई है, अत यहाँ 'वाक्यगत कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलकार से वस्तुध्वनि' है।

पदगत अलंकार से अलकारध्वनि .

> बेटी, उठ, मैं भी तुझे छोड नही जाऊँगा।
> तेरे अश्रु लेकर ही मुक्ति-मुक्ता छोड़ूँगा।
> तेरे अर्थ ही तो मुझे उसकी अपेक्षा है।
> गोपा-बिना गौतम भी ग्राह्य नहीं मुझको ![1]

यह गोपा के प्रति शुद्धोदन की उक्ति है। गोपा पति की आज्ञा बिना घर छोडकर गौतम बुद्ध के दर्शनो के लिए जाने को तैयार नही। जब शुद्धोदन उसके इस निश्चय से अवगत होते हैं, तो वे कहते हैं कि 'मैं मुक्ति-प्राप्त अपने पुत्र को छोडने को तैयार हूँ, किन्तु अश्रुपूर्ण तुझे (गोपा को) छोडने को तैयार नही हूँ। वे कहते हैं, 'तेरे आँसुओ के आगे मुक्तिरूपी मोती भी तुच्छ हैं।' यहाँ अश्रु उपमेय है, मोती उपमान। उपमान को तुच्छ दिखाने मे यहाँ प्रतीप अलकार है जिसकी व्यजना 'मुक्ति-मुक्ता' पदरूप रूपक से हो रही है। इस प्रकार यहाँ अलकार से अलकारव्यग्य है। यह पदगत है। अत उपर्युक्त प्रथम दो पक्तियो मे 'पदगत कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलकार से अलकारध्वनि' है।

वाक्यगत अलकार से अलंकारध्वनि .

> नित ससौ हसौ बचत, मनहु सु यह अनुमान।
> बिरह अगिनि लपटनि सकत, झपटि न मीचु सिचान ॥[2]

यह कविनिबद्धपात्र सखी की उक्ति है। वह नायक से कहती है कि इस वियोगिनी के प्राणो के बचने मे मेरा अनुमान यह है कि मृत्युरूपी बाज इसकी विरहाग्नि की ज्वालाओ से डर कर इसके हस (प्राण, मराल) पर नही झपटता। यहाँ 'बिरह अगिनि' तथा 'मीचु सिचान' मे रूपक भी है और पात्रप्रौढोक्ति भी। न मरने के समर्थन से 'काव्यलिंग' अलकार भी है। इन दोनो से 'विशेषोक्ति' अलकार ध्वनित हो रहा है क्योंकि कारण रहते हुए भी कार्य नही होता। इस प्रकार इस दोहे मे 'वाक्यगत कविनिबद्धपात्रप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अलकार से अलकारध्वनि' है।

ये ध्वनियाँ भी पदगत, वाक्यगत तथा प्रबधगत तीनो प्रकार की होती हैं।

ध्वनि के उपर्युक्त ५१ भेद निम्नाकित वृक्ष से स्पष्ट हैं :

---

१ यशोधरा, पृ० १२६

२. बिहारी-बोधिनी, ५१५

ध्वनि (५१ भेद)
लक्षणामूला (अविवक्षितवाच्य) ध्वनि
अभिधामूला (विवक्षितान्यपरवाच्य) ध्वनि
अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य (पदगत, वाक्यगत)
अत्यन्ततिरस्कृत (पदगत, वाक्यगत)
४ भेद
असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य (भाव, रस आदि की ध्वनियाँ) पदगत, पदांशगत, वाक्यगत, प्रबन्धगत, वर्णगत, रचनागत
६ भेद
संलक्ष्यक्रमव्यंग्य (वस्तु, अलंकार की ध्वनियाँ)
शब्दशक्तिमूला
अर्थशक्तिमूला
शब्दार्थोभयशक्तिमूला
१ भेद

स्वत सम्भवी
कविप्रौढोक्ति-मात्रसिद्ध
कविनिबद्धपात्र प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध
वस्तु से वस्तुध्वनि
वस्तु से अलंकारध्वनि
अलंकार से वस्तुध्वनि
अलंकार से अलंकारध्वनि
पदगत वाक्यगत प्रबन्धगत पदगत वाक्यगत प्रबन्धगत पदगत वाक्यगत प्रबन्धगत पदगत वाक्यगत प्रबन्धगत
१२ भेद
वस्तु से वस्तुध्वनि
वस्तु से अलंकारध्वनि
अलंकार से वस्तुध्वनि
अलंकार से अलंकारध्वनि
पदगत वाक्यगत प्रबन्धगत पदगत वाक्यगत प्रबन्धगत पदगत वाक्यगत प्रबन्धगत पदगत वाक्यगत प्रबन्धगत
१२ भेद
वस्तु से वस्तुध्वनि
वस्तु से अलंकारध्वनि
अलंकार से वस्तुध्वनि
अलंकार से अलंकारध्वनि
पदगत वाक्यगत प्रबन्धगत पदगत वाक्यगत प्रबन्धगत पदगत वाक्यगत प्रबन्धगत पदगत वाक्यगत प्रबन्धगत
१२ भेद

ध्वनि के अवान्तर भेद भी गिनाये गए हैं। इस प्रकार मम्मट के अनुसार शुद्ध ५१[1]—मिश्रित १०४०४[2] मिलकर कुल १०४५५[3] भेद हुए।

गुणीभूत व्यंग्य—ऊपर दिए गए काव्य के भेदों में से ध्वनि के पश्चात् गुणीभूत (गुण—च्वि—भू+क्त)[4] काव्य का नाम आता है। यद्यपि यह ध्वनि के समान उत्कृष्ट कोटि का नहीं होता, फिर भी इसमें ध्वनि का तत्त्व विद्यमान रहता है। अतः प्रस्तुत निबन्ध में इसका समावेश अनिवार्य प्रतीत होता है। आचार्यों के अनुसार गुणीभूत व्यंग्य वहाँ होता है जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से उत्तम न होकर या तो वह वाच्यार्थ के समान ही होता है या उससे न्यून होता है। इसके सामान्यतया निम्नांकित आठ भेद माने जाते हैं

१ अगूढ़ व्यंग्य, २ अपराङ्ग व्यंग्य, ३ वाच्य-सिद्ध्यङ्ग व्यंग्य, ४ अस्फुट व्यंग्य, ५ संदिग्ध प्राधान्य व्यंग्य, ६ तुल्य प्राधान्य व्यंग्य, ७ काक्वाक्षिप्त व्यंग्य और ८ असुन्दर व्यंग्य।

१ अगूढ़ व्यंग्य जो व्यंग्य वाच्यार्थ के समान स्पष्ट रूप से प्रतीत हो उसे अगूढ़ व्यंग्य कहते हैं। यथा,

पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुपतिभगतु जासु सुतु होई॥[5]

इसका वाच्यार्थ यह है कि जिन युवतियों के पुत्र रामभक्त नहीं हैं उन युवतियों का पुत्रवती होना न होने के समान है। इसका व्यंग्यार्थ है रामभक्त-पुत्र वाली युवती जगत् में प्रशंसनीय है। यह व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के समान ही स्पष्ट है।

२ अपराङ्ग व्यंग्य—जो व्यंग्यार्थ किसी दूसरे अर्थ का अङ्ग हो जाता है वह अपराङ्ग व्यंग्य कहलाता है, यथा—

सपनो है संसार यह रहत न जाने कोय।
मिलि पिय मनमानी करौ काल कहाँ धौं होय॥[6]

यहाँ शान्त रस शृङ्गार रस के अङ्ग के रूप में आया है, अतः यहाँ शान्त रस अपराङ्ग हो गया है।

३ वाच्यसिद्ध्यङ्ग व्यंग्य—जहाँ अपेक्षित व्यंग्य से वाच्यसिद्धि होती है वहाँ वाच्यसिद्ध्यङ्ग व्यंग्य होता है, यथा—

---

१ भेदास्तदेकपञ्चाशत् (५१)। —काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, सू० ६२
२ वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः (१०४०४)।—काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, सू० ६४
३ शरेषुयुगखेन्दवः (१०४५५) —काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, सू० ६५
४ अगुणः गुणीभूत (गुण—च्वि+भू+क्त)—गौण या अप्रधान बनाया हुआ।
—संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० ३४७

अथवा

अगुणो गुणोभूतः। गुण+भू—क्त। अभूत तद्भावे च्वि। अप्रधानीभूत।
—शब्दकल्पद्रुम (द्वितीय काण्ड), पृ० ३३६
५ रामचरितमानस, २।७५।
६ काव्यदर्पण, पृ० २५७

करत प्रकाश सु दिसन को रही ज्योति अति जागि ।
है प्रताप तेरो नृपति ! बैरी-बंस-दवागि ॥[1]

यहाँ प्रताप को दावानल कहा गया है। वन की अग्नि को दावानल कहते हैं। वह बाँस के वृक्षो को जलाती है। यहाँ 'वंस' मे श्लेष है। यहाँ व्यग्य से शत्रु-कुल मे बाँस के जगल की प्रतीति होती है। अत यहाँ व्यग्य से प्रताप-दावानल रूप वाच्य की सिद्धि होती है। इसीलिए यह वाच्यसिध्यग नामक गुणीभूतव्यग्य है।

४ अस्फुट व्यग्य—जहाँ व्यग्य स्फुट रीति से नही बल्कि कठिनता से समझा जाये वहाँ अस्फुट व्यंग्य होता है। छायावादी कवियो की अनेक उक्तियो मे अस्फुट व्यग के दर्शन होते हैं, उदाहरणार्थ निराला की निम्नांकित पक्तियाँ लीजिये—

खिले नव पुष्प जग प्रथम सुगध के,
प्रथम वसंत मे गुच्छ-गुच्छ ।[2]

यहाँ वाच्यार्थ तो है प्रथम वसत मे पुष्पो का विकसित होना और व्यग्यार्थ है—यौवन के प्रथम चरण मे प्रेयसी की नयी-नयी अभिलाषाएँ उदित होना, जो कठिनता से जाना जाता है। अत यहाँ 'अस्फुट व्यग्य' है।

५ संदिग्ध-प्राधान्य व्यग्य—जब यह सदेह हो कि वाच्यार्थ प्रधान है या व्यग्यार्थ तो वहाँ सदिग्ध-प्राधान्य व्यग्य होता है, यथा—

थके नयन रघुपतिछवि देखें। पलकन्हिहूँ परिहरीं निमेषें ॥
अधिक सनेह देह भै भोरी। सरदससिहि जनु चितव चकोरी ॥[3]

रामचरितमानस के पुष्पवाटिका-प्रसग की इन पक्तियों मे कवि की उक्ति है कि राम की छवि देखते-देखते सीता स्नेहाधिक्य से वैसी ही विभोर हो गयी जैसे शरद् के चन्द्रमा को देखकर चकोरी विभोर हो जाती है। यहाँ वाच्यार्थ से उपमागत चमत्कार प्रकट होता है और व्यग्यार्थ से जडता वा सचारी भाव। इन दोनो मे से कौन प्रधान है, यह सन्देह होने के कारण यहाँ 'सन्दिग्ध-प्राधान्य व्यग्य' है।

६ तुल्य प्राधान्य व्यंग्य—इसमे वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ दोनो समान रूप से प्रधान होते हैं। यथा,

विप्रन को अपराध नहि करिबो ही कल्यानु,
परशुराम है मित्र पै दुर्मन ह्वै है जानु ॥[4]

रावणके प्रति परशुराम की इस उक्ति मे वाच्यार्थ (ब्राह्मणो का अपराध न

---

१ काव्य कल्पद्रुम (प्रथम भाग—रसमजरी), पृ० ३१५ पर उद्धृत।
२ अनामिका (निराला), पृ० १
३ रामचरितमानस, १।२३२।५-६
४ काव्यकल्पद्रुम (प्रथम भाग, रसमजरी), पृ० ३१७

करना ही तुम्हारे लिए श्रेयस्कर है) और व्यंग्यार्थ (यदि मैं तुम पर बिगड़ जाऊँगा तो सम्पूर्ण राक्षस कुल का सर्वनाश समझना) दोनों समानरूप से चमत्कारपूर्ण हैं, अतः यह तुल्य-प्राधान्य व्यंग्य का उदाहरण है।

७ काक्वाक्षिप्त व्यंग्य—जहाँ काकु (कण्ठध्वनि) द्वारा आक्षिप्त होकर व्यंग्य अभिव्यक्त होता है वहाँ काक्वाक्षिप्त व्यंग्य होता है। यथा,

जासु परसु सागर खर धारा। बूड़े नृप अगनित बहु बारा।
तासु गर्व जेहि देखत भागा। सो नर क्यों दससीस अभागा॥[1]

यहाँ व्यंग्यार्थ (राम मनुष्य नहीं हैं) काकु द्वारा अवगत होता है, अतः यहाँ काक्वाक्षिप्त व्यंग्य है।

८ असुन्दर व्यंग्य—जहाँ व्यंग्यार्थ से वाच्यार्थ अधिक चमत्कारपूर्ण होता है वहाँ 'असुन्दर व्यंग्य' होता है, यथा—

उड़े बिहग बन कुंज में वह धुनि सुनि ततकाल।
सिथलित तन बिकलित भई गृह-कारज-रत बाल॥[2]

इसमें वाच्यार्थ (समीप के वन-कुंज में पक्षियों के उड़ने के शब्द को सुनकर घर में काम में लगी नायिका व्याकुल हो गयी) व्यंग्यार्थ (प्रेमी कुंज में पहुँच गया किन्तु नायिका न जा सकी) से अधिक चमत्कारपूर्ण है।

---

१ रामचरितमानस, ६।२६।३-४

२. काव्यकल्पद्रुम (प्रथम भाग—रसमंजरी), पृ० ३२०

४ रस

परिभाषा

'रस' (रस् + अच्) शब्द के कोशगत अर्थ हैं सार (इक्षुरस, कुसुमरस आदि), जल, कटु, अम्ल, मधुर आदि छह रस, रसायन, पारद, वीर्य, विष, दूध, अमृत, स्वाद, आनन्द आदि आदि।[1] काव्यशास्त्रीय अर्थ में 'रस' का प्रयोग उस 'आनन्द' के अर्थ में होता है जो काव्य-श्रवण या नाट्य-दर्शन से आविर्भूत होता है। यह आनन्द लोकोत्तर तथा अनिर्वचनीय होता है। 'रस' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है

रस्यते आस्वाद्यते इति रसः।[2]

अर्थात् आस्वाद देने वाला 'रस' कहलाता है। तैत्तिरीय उपनिषद में रस को ब्रह्मानन्द का समानार्थी कहा गया है

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।[3]

रस का स्वरूप

साहित्यदर्पणकार ने रस के स्वरूप का निरूपण करते हुए उसे अखण्ड, स्वयप्रकाश, आनन्दस्वरूप, चिद्रूप, वेद्यान्तरस्पर्शशून्य, ब्रह्मानन्दसहोदर, लोकोत्तरचमत्कारप्राण आदि कहा है -

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥[4]

सत्त्व (मन का वह रूप जिसमें रजोगुण और तमोगुण का कोई स्पर्श न हो) के उद्रेक या प्राबल्य से सहृदयों को जिस रस का आस्वाद हुआ करता है वह रस 'अखण्डरूप' है। यद्यपि वह विभाव, अनुभाव और संचारियों के योग से

---

१. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ८४६
२. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ६९५
३. तैत्तिरीयोपनिषद्, २।७।१
४. साहित्यदर्पण, ३।२, ३

निष्पन्न होता है, किन्तु इन विभावादि का पृथक्-पृथक् अनुभव असम्भव है। रसास्वाद के पहले तो सहृदय यह ज्ञान करते हैं कि विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव का पृथक् पृथक् स्वरूप क्या है और कैसे इन्हें पृथक्-पृथक् रूप से रसोद्बोध का कारण माना जा सकता है, किन्तु जब ये तीनों परस्पर सवलित होकर रसरूप में आते हैं तब प्रपाणक रस की भाँति अखण्ड रूप में आनन्दात्मक अनुभूति प्रदान करते हैं। इस प्रकार रस का आस्वाद खण्डशः न होकर अखण्ड रूप में ही होता है। विभावादि के संवलित एवम् अखण्ड रूप का नाम रस है। इसकी अनुभूति निर्विघ्न दशा में ही अबाध रूप में होती है। इसीलिए इसे अखण्ड कहते हैं

प्रतीयमानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते।
ततः सम्वलितः सर्वो विभावादिः सचेतसाम्।
प्रपाणकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत्॥[1]

रस 'स्वयंप्रकाश' है। रस को प्रकाशित करने के लिए किसी अन्य तत्त्व की आवश्यकता नहीं होती। रस 'चिन्मय' है, अर्थात् वह सचेतन और प्राणवान् आनन्द है, जड़ नहीं। रस 'वेद्यान्तरस्पर्शशून्य' है, अर्थात् जिस समय रस-रूप आनन्द की अनुभूति होती है उस समय किसी अन्य प्रकार के ज्ञान का स्पर्श नहीं होता। रस में हम पूर्णरूपेण निमग्न हो जाते हैं।

रस ब्रह्मास्वादसहोदर अथवा ब्रह्मानन्दसहोदर है, अर्थात् ब्रह्मानन्द की कोटि का है, किन्तु ब्रह्मानन्द नहीं। रसास्वाद के समय सहृदय थोड़ी देर के लिए ही बाह्य सम्पर्कों से मुक्त होता है। रस में उत्पन्न रस 'लोकोत्तरचमत्कारप्राण' है और 'आनन्दमय' है, अर्थात् रस लौकिक या भौतिक आनन्द नहीं है, बल्कि असाधारण और अलौकिक आनन्द है। इसमें उत्पन्न होने वाला आनन्द बाह्येन्द्रियजन्य, अनुकूलसंवेदनाजन्य आनन्द से सर्वथा भिन्न प्रकार का है। यही चमत्कारपूर्ण आह्लाद है। यहाँ 'चमत्कार' या 'विस्मय' का अर्थ है 'चित्तविस्तार' अथवा 'मनोविकास'। वास्तव में चमत्कार ही रसरूप अनुभव का प्राणभूत है। इसका आस्वाद ही किया जा सकता है, 'आस्वाद्यत्वात् रसः'। इसकी अनुभूति को रसास्वाद, रसचर्वणा[2] आदि कहा गया है।

साहित्यदर्पणकार आचार्य विश्वनाथ ने आस्वादरूप रस और व्यञ्जना-वृत्ति में तादात्म्य का निरूपण किया है। उनके अनुसार

१ 'रस' कोई ज्ञाप्य वस्तु नहीं है। यह घट, पट आदि की भाँति ज्ञाप्य (ज्ञान द्वारा प्राप्य) नहीं, अनुभूति के अतिरिक्त इसकी कोई सत्ता नहीं है। इसीलिए 'साहित्यदर्पण' में कहा गया है :

---

१. साहित्यदर्पण, ३।१५, १६
२. चर्वणा आस्वादनम्। —साहित्यदर्पण, ३।२६ पर वृत्ति।

नायं ज्ञाप्यः स्वसत्तायां प्रतीत्यव्यभिचारतः ।[1]

२. 'रस' कार्य (कारणजन्य) रूप वस्तु नहीं। यह तो 'विभावादिसमूहालम्बनात्मक' अनुभव है, न कि विभावादि द्वारा उत्पन्न की गयी वस्तु। कारण-ज्ञान और कार्य-ज्ञान का एक समय में होना कदापि सम्भव नहीं। यदि विभावादि को कारण और रस को कार्य माना जाय तो दोनों की युगपत् उपस्थिति सम्भव नहीं क्योंकि कारण पूर्ववर्ती और कार्य परवर्ती हुआ करता है, किन्तु रस के सन्दर्भ में यह बात नहीं कही जा सकती क्योंकि दोनों एक साथ होते हैं। तभी तो आचार्य विश्वनाथ का यह कथन है

यस्मादेष विभावादिसमूहालम्बनात्मकः ॥
तस्मान्न कार्यः[2]

आचार्य विश्वनाथ का यह मत अभिनव भारती के रचयिता अभिनव गुप्त के निम्नांकित मत पर आधारित है

स च न कार्यः । विभावादिविनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसंगात् ।[3]

३. रस 'नित्य' वस्तु भी नहीं रस को नित्य नहीं कहा जा सकता क्योंकि विभावादि-परामर्श के पहले उसकी प्रतीति सम्भव नहीं, और जब कि प्रतीति के पहले रस का अस्तित्व ही नहीं, तब भला उसे नित्य कैसे माना जा सकता है? जो वस्तु नित्य होती है उसका अस्तित्व सदैव रहता है, चाहे उसका अनुभव हो रहा हो या नहीं। रस के विषय में ऐसा नहीं है। वह तो

—नो नित्यः पूर्वसंवेदनोज्झितः ।
असंवेदनकाले हि न भावोऽप्यस्य विद्यते ॥[4]

४. रस न तो निर्विकल्पक ज्ञान का विषय है और न सविकल्पक : निर्विकल्पक ज्ञान में ज्ञेय वस्तु के नाम, रूप, जाति आदि का विशिष्ट ज्ञान नहीं होता; किन्तु रस की प्रतीति में शृंगार, वीर, हास्य, करुण आदि रस विशेष रूप से आभासित होते हैं, अतः रस निर्विकल्पक ज्ञान का विषय नहीं है। सविकल्पक ज्ञान के विषय घट, पट आदि शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किये जाते हैं, किन्तु रस शब्द द्वारा नहीं कहा जा सकता, वह तो केवल अनुभूति का विषय है; अतः रस सविकल्पक ज्ञान का भी विषय नहीं हो सकता।

५. रस न तो प्रत्यक्ष है और न परोक्ष—रस प्रत्यक्ष पदार्थ नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष पदार्थ दृष्टिगोचर होता है, किन्तु रस दृष्टिगोचर नहीं होता, अतः वह प्रत्यक्ष नहीं है। रस परोक्ष (अतीन्द्रिय) भी नहीं, क्योंकि वह अनुभवगम्य है और इसलिए उसका साक्षात्कार होता है। इस प्रकार रस न परोक्ष है और न अपरोक्ष :

१. साहित्यदर्पण, ३।२०
२. साहित्यदर्पण, ३।२०, २१
३. अभिनवभारती (काव्यप्रकाश, पृ० ६२ पर उद्धृत)
४. साहित्यदर्पण, ३।२१

—साक्षात्तद्रसया न च।
परोक्षस्तत्प्रकाशो नापरोक्षः शब्दसम्भवात् ॥[1]

इस प्रकार रस एक अनिर्वचनीय तथा एकमात्र व्यंग्य तत्त्व है।

रसनिष्पत्ति

रस-निष्पत्ति-निरूपण का सर्वप्रथम प्रयास भरत के 'नाट्यशास्त्र' में उपलब्ध होता है। इस सम्बन्ध में भरत मुनि का सूत्र है

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः ।[2]

अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी (संचारी) भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस सूत्र में 'संयोग' और 'निष्पत्ति' दो शब्द ऐसे हैं जिनको विवादास्पद माना जाता है। इन दोनों शब्दों पर बड़ा शास्त्रार्थ हुआ है। इस शास्त्रार्थ में चार आचार्य ऐसे हैं जिनके नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वे हैं

१ भट्ट लोल्लट (नवीं श० ई० का पूर्वार्द्ध)
२ श्री शङ्कुक (नवीं श० ई० का उत्तरार्द्ध)
३ भट्टनायक (१०वीं श० ई० का मध्य)
४ अभिनवगुप्त (१०वीं या ११वीं श० ई०)

१ भट्टलोल्लट का उत्पत्तिवाद या आरोपवाद—भट्ट लोल्लट के मतानुसार आनन्दानुभूति की उत्पत्ति नायक, नायिका (दुष्यन्त, शकुन्तला) में होती है, किन्तु उनका अभिनय करने वाले पात्रों में सामाजिक लोग उन नायक या नायिका का आरोप कर लेते हैं। इस प्रकार सहृदय अभिनय करने वाले पात्रों को दुष्यन्त, शकुन्तला आदि न समझते हुए भी उनमें दुष्यन्त आदि का आरोप करके स्वयं रसानुभूति प्राप्त करते हैं। लोल्लट के अनुसार विभाव रस के कारणस्वरूप हैं। इनके द्वारा स्थायी भाव की 'उपचित' अवस्था का नाम 'रस' है। यह रस मूलतः अनुकार्य अर्थात् रामादि ऐतिहासिक पात्रों में ही होता है, किन्तु उनके रूपादि के अनुसन्धान से अनुकर्ता नट में भी विद्यमान होता है।[3]

---

१ साहित्यदर्पण, ३।२६

२ नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय, पृ० ८७

३ अभिनवभारती में उद्धृत भट्ट लोल्लट का रस निष्पत्ति-विषयक मत इस प्रकार है

विभावादिभिः संयोगोऽर्थात्स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्तिः। तत्र विभावश्चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्। अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षिता, तेषां रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात्। अपितु भावानामेव येऽनुभावाः। व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्त्यात्मकत्वात् यद्यपि न सहभाविनः स्थायिना, तथापि वासनात्मनेह तस्य विवक्षिता। दृष्टान्तेऽपि व्यञ्जनादिमध्ये कस्यचिद्वासनात्मकता स्थायिवत्, अन्यस्योद्भूतता व्यभिचारिवत्। तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायी त्वनुपचितः। स चोभयोरपि। मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये, अनुकर्तरि च नटे रामादिरूपतानुसन्धानबलादिति।

—हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४४२-४४३

इस प्रकार भट्ट लोल्लट के अनुसार—'निष्पत्ति' का अर्थ 'उत्पत्ति' है। इसी कारण उनके सिद्धान्त को 'उत्पत्तिवाद' की संज्ञा प्रदान की गयी है। भट्टलोल्लट ने 'संयोग' को तीन अर्थों में स्वीकार किया है—

१ स्थायी भाव विभाव के साथ उत्पाद्य-उत्पादक-सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं।

२ अनुभाव अनुमाप्य-अनुमापक-सम्बन्ध से उनकी अनुमिति कराते हैं। तथा

३ संचारी भाव पोष्य-पोषक-भाव-सम्बन्ध से उनकी रस-रूप में पुष्टि करते हैं।

इस रस की अवस्थिति यद्यपि मूल रूप में अनुकार्य में ही होती है, किन्तु अभिनेता के कौशलपूर्ण अभिनय के कारण दर्शक उसी पर अनुकार्य का आरोप करता है।

आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में भट्ट लोल्लट का मत उद्धृत करते हुए लिखा है—'विभावों (ललनादि आलम्बन और उद्यानादि उद्दीपन कारणों) से जो स्थायी रत्यादिक भाव उत्पन्न किया जाता है, अनुभावों (कटाक्ष, भुजा-क्षेप आदि कार्यों) से जो प्रतीति के योग्य किया जाता है तथा निर्वेदादि संचारी भावों की सहायता से जो पुष्ट किया जाता है और तात्त्विक सम्बन्ध से नाटक में राम, सीता आदि के रूप धारण करने वाले नट द्वारा उन्हीं के वेष-भूषा, वार्तालाप तथा चेष्टा आदि द्वारा व्यंजना व्यापार द्वारा प्रकट किया जाता है उसी स्थायी भाव को 'रस' कहते हैं।'[1]

भट्ट लोल्लट के रस-सिद्धान्त की आलोचना अनेक प्रकार से की गयी है। न्यायदर्शन के अनुसार कारण कार्य का पूर्ववर्ती है तथा कारण के नष्ट हो जाने पर भी कार्य का नाश नहीं होता। इस दृष्टि से विभाव और स्थायी भाव के बीच इस प्रकार का सम्बन्ध नहीं माना जा सकता, क्योंकि रस विभावादि के साथ ही स्थिर होता है और उसी के साथ नष्ट होता है। इस प्रकार 'निष्पत्ति' का अर्थ 'उत्पत्ति' नहीं हो सकता।

अब रही बात 'आरोप' की। आरोप में सदृश वस्तु के ज्ञान के साथ उस वस्तु का स्मरण भी अनिवार्य है, किन्तु पौराणिक, ऐतिहासिक तथा काल्पनिक अनुकार्यों से प्रेक्षक का परिचय सम्भव नहीं हो सकता। इस के साथ ही साथ अपरिचित स्वरूप भी प्रेक्षक नट पर उनका आरोप किस

---

१. "विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितः अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः व्यभिचारिभिः निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसन्धानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रसः" इति भट्टलोल्लटमतम्।

—काव्यप्रकाश (चतुर्थ उल्लास), पृ० ५५

प्रचार कर सकता है ? इसमें अतिरिक्त भावों का अनुकरण न होकर केवल बाह्य रूपादि का अनुकरण ही सम्भव है। प्रेक्षक द्वारा आरोप के माध्यम से विभावादि को अपना ही विभावादि समझना भी संगत नहीं है, पौराणिक अथवा ऐतिहासिक विभाव शक्ति और क्षमता-भेद के कारण प्रेक्षक के नहीं हो सकते। इसी प्रकार ऐतिहासिक तथा पौराणिक पात्रों के प्रति पूज्य भाव के कारण भी आरोप की स्थिति असंगत है। इस प्रकार भट्ट लोल्लट के 'उत्पत्तिवाद' और 'आरोपवाद' दोनों का ही खण्डन हो जाता है।

श्री शंकुक का अनुमितिवाद—भरत के रससूत्र के द्वितीय व्याख्याता आचार्य शंकुक हैं जिन्होंने न्यायदर्शन की कसौटी पर इस सूत्र को कसा है। उन्होंने न्यायदर्शन के अनुमान प्रमाण के आधार पर 'अनुमितिवाद' की स्थापना की है। उनका मत है कि भट्ट लोल्लट का आरोपवाद युक्तियुक्त नहीं, क्योंकि दुष्यन्त आदि में रहने वाले रस की अनुभूति सामाजिकों को नहीं हो सकती। सामाजिक तो दुष्यन्तादि से भी भिन्न हैं और नट आदि से भी। यदि आरोप-मात्र से ही रसानुभूति संभव हो तो शृंगारादि रस का नाम सुन लेने मात्र से ही तथा अर्थ समझने मात्र से ही रसानुभूति हो जाय, किन्तु ऐसा नहीं होता, अतः 'आरोपवाद' युक्तिसंगत नहीं।

अभिनवभारती में उद्धृत श्री शंकुक का मत इस प्रकार है—"विभावादि कारण, अनुभावादि कार्य, संचारी भावों द्वारा प्रयत्नपूर्वक अर्जित होने पर वास्तविक रामादिगत स्थायी भाव, अनुमान के बल से अनुकरणरूप में अनुकर्ता में कृत्रिम होकर भी मिथ्यारूप में अवभासित नहीं होते। विभावों का काव्य के द्वारा, अनुभावों का शिक्षा के द्वारा तथा व्यभिचारी भावों का अनुभवज्ञान के द्वारा अनुसन्धान (अर्थप्रतीति) होता है।"[1] आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में श्री शंकुक का मत उद्धृत करते हुए लिखा है : "नट के द्वारा प्रकट किये गये कारण, कार्य और सहचारी भाव जो नाट्यशास्त्र में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के नाम से प्रसिद्ध हैं, कृत्रिम होने पर भी मिथ्या प्रतीत नहीं होते। उन्हीं के संयोग द्वारा रस गम्यगमक भावरूप में अनुमित होता है और वस्तु की सुन्दरता के कारण आस्वादयोग्य होता है। सहृदय इसका अनुमान करते हैं। ये जो रति आदि स्थायी भाव हैं वे नट में न रहते हुए भी दर्शकों को

---

१ हेतुभिर्विभावाख्यैः, कार्यैरनुभावात्मभिः, सहचारिरूपैश्च व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैः, अनुकर्तृस्थत्वेन लिङ्गबलतः प्रतीयमानः स्थायिभावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूपः। अनुकरणरूपत्वादेव च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः। विभावा हि काव्यबलानुसन्धेयाः। अनुभावाः शिक्षातः। व्यभिचारिणः कृत्रिमनिजानुभावार्जनबलात्। स्थायी तु काव्यबलादपि नानुसन्धेयः।

—हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४४६

वासना (संस्कार) द्वारा चर्वित होते हैं। इसी भाव का नाम 'रस' है।'[1]

उपर्युक्त दोनों उद्धरणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि श्री शंकुक का मत है कि नट-नटी का मूल अनुकार्यों (दुष्यन्तादि) के साथ तादात्म्य और उनके विभाव, अनुभाव और संचारी भावों द्वारा गम्य-गमक अथवा अनुमाप्य-अनुमापक सम्बन्ध से रस की 'अनुमिति' होती है, अर्थात् विभाव (आलम्बन और उद्दीपन), अनुभाव और संचारी भाव—ये तीनों रस के 'अनुमापक' (अनुमान कराने वाले) हैं और उनके द्वारा रस 'अनुमेय' (अनुमान किया जाने वाला) होता है। जैसे धुआं देखकर हम अग्नि का अनुमान लगाते हैं, उसी प्रकार जहाँ विभावादि हों वहाँ रस होने का अनुमान लगा लिया जाता है। निष्कर्ष यह है कि रस मुख्यतया अनुकार्य (दुष्यन्तादि) में ही रहता है, किन्तु सामाजिकों को अभिनेता में रस का अनुमान होता है।

श्री शंकुक का यह मत भी सर्वथा निर्दोष नहीं है। इसीलिए परवर्ती आचार्यों ने इस मत का खण्डन किया है। उनका कहना है कि अनुमान तो वास्तविकता पर आधारित होता है, कृत्रिम विभावादि द्वारा इसकी सिद्धि कैसे हो सकती है।

भट्टनायक का भुक्तिवाद—रससूत्र के तीसरे व्याख्याता सांख्यमतानुयायी आचार्य भट्टनायक हैं। भट्टनायक ने अपने पूर्ववर्ती व्याख्याकारों के मतों का खण्डन किया है। अभिनवभारती में उद्धृत उनका मत इस प्रकार है: 'काव्य में दोष का अभाव, गुण तथा अलंकाररूप तथा नाटक में चतुर्विध अभिनयरूप विभावादि कारण के द्वारा अभिधार्थ से ग्रहण किये गये निविड निजत्व का मोह तथा संकट आदि को निवारण करने वाली भावकत्वरूप में शब्द की दूसरी शक्ति साधारणीकरण तथा अपने भावन-व्यापार से इस निजत्व के मोह को दूर करके रस को भावनावान् करती है और भावन योग्य बनाती है। फिर भोग शक्ति, जो अनुभव, स्मृति आदि से विलक्षण है, रजस् और तमस् के अनुवेध के वैचित्र्य के बल से बुद्धि, विकास तथा विस्ताररूप है, हृदय के विस्तार और विकास के लक्षण वाली है, सत्त्व गुण के उद्रेक के कारण प्रकाशमान आनन्द से संकल्प-विकल्प से भिन्न (विलक्षण) है, उससे ब्रह्मानंद

---

[1] इत्यादिकाव्यानुसन्धानबलाच्छिक्षाभ्यासनिर्वर्तितस्वकार्यप्रकटनेन च नटेनैव प्रकाशितैः कारणकार्यसहकारिभिः कृत्रिमैरपि तथानभिमन्यमानैर्विभावादिशब्दव्यपदेश्यैः 'संयोगात्' गम्यगमकभावरूपाद् अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलाद्रसनीयत्वेनान्यानुमीयमानविलक्षणः स्थायित्वेन सम्भाव्यमानो रत्यादिर्भावस्तत्रासन्नपि सामाजिकानां वासनया चर्व्यमाणो रस इति श्रीशंकुकः।

—काव्यप्रकाश (चतुर्थ उल्लास), पृ० ५७

के समान रस अनिर्वाच्य रूप से माना जाता है। मम्मट ने भी काव्यप्रकाश में इस मत को अत्यन्त संक्षेप में इस प्रकार उद्धृत किया है[2]—'न तो तटस्थ (उदासीन नट या दुष्यन्तादि नायक में) अथवा आत्मगत (सामाजिक दर्शक के सम्बन्ध में) रूप से रस की प्रतीति, उत्पत्ति या अभिव्यक्ति होती है, बल्कि काव्य और नाटक में अभिधा व्यापार से भिन्न किसी और भावकत्व नामक व्यापार द्वारा विभावादि के साधारणीकरण से भावकत्व व्यापार द्वारा साधारण भूत (भाव्यमान) स्थायी भाव सत्त्वगुण के प्रबल प्रकाश द्वारा परमानन्द ज्ञानस्वरूप और अन्य ज्ञानों को तिरोहित कर देने वाले भोजकत्व नामक व्यापार से आस्वादित होता है। इस स्थिति में रजस् और तमस् (मन की चंचलता और मूढ़ता) अभिभूत हो जाया करते हैं।

इन उद्धरणों के आधार पर भट्टनायक का मत संक्षेप में इस प्रकार है काव्य या नाटक सुनने और देखने वाले सामाजिकों में तीन क्रियाएँ होती हैं। पहले तो काव्य का अर्थ समझ में आता है फिर उसका अनुशीलन होता है। इस अनुशीलन की प्रक्रिया में साधारणीकरण होता है अर्थात् सामाजिकों में यह भेदबुद्धि नहीं रहती कि जो कुछ पढ़ा या देखा जा रहा है उसका किसी अन्य से सम्बन्ध है या वह हमारा ही है। तत्पश्चात् सत्त्वगुण के उद्रेक से रजोगुण और तमोगुण दब जाते हैं, जो भेदबुद्धि उत्पन्न करते हैं और फिर आत्मचैतन्य से प्रकाशित तथा साधारणीकृत स्थायी भावों का सामाजिक लोग अनुभव करने लगते हैं।

भट्टनायक की मौलिकता यह है कि उन्होंने रसनिष्पत्ति के लिए अभिधा के साथ 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' नामक दो नवीन शक्तियों की स्थापना

---

१ भट्टनायकस्त्वाह—रसो न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते। स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्वं स्यात्। न च सा प्रतीतिर्युक्ता। सीतादेरविभावत्वात्। स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्। देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात्। समुद्रलङ्घनादेरसाधारण्यात्। तस्मात्काव्ये दोषाभावगुणालङ्कार-मयत्वलक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निबिडनिजमोहसङ्कटतानिवा-रणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना, अभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसो अनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद् द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशा-नन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यते इति। —हिन्दी अभिनवभारती, पृ० ४६३, ४६४

२ न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते अपि तु काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भाव-कत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्ति-सत्त्वेन भोगेन भुज्यत इति भट्टनायकः।

—काव्यप्रकाश (चतुर्थ उल्लास) पृ० ४८

की है। उन्होंने 'निष्पत्ति' का अर्थ 'भुक्ति' या 'भोग' माना है तथा 'संयोग' का अर्थ 'भोज्य-भोजक-सम्बन्ध' माना है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भट्टनायक का मत पूर्वोक्त दोनों मतों से अधिक श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें सहृदय या सामाजिक को महत्त्व प्रदान किया गया है, किन्तु इस मत की सर्वाधिक आलोचना इसलिए की गयी है कि लक्षणा और व्यंजना के रहते हुए भी भावकत्व और भोजकत्व नामक दो नवीन शक्तियों की स्थापना क्यों की गयी। इस मत के आलोचकों ने भट्टनायक के भावकत्व व्यापार को व्यर्थ माना। उनका कथन है कि इसका कार्य लक्षणा से चल सकता है, किन्तु दूसरी ओर इस मत के समर्थकों का कहना है कि लक्षणा का व्यापार कठिन होता है जिसे सभी सामाजिक सरलता से नहीं ग्रहण कर सकते। लक्षणा से अर्थ ग्रहण करने के लिए कुशाग्रबुद्धि के अतिरिक्त काव्यानुशीलन की भी आवश्यकता है, इस प्रकार नाट्यकला के सर्वसाधारण के योग्य बनने में बाधा उपस्थित होती है। अतः काव्य के सहज रसास्वादन के लिए भावन तथा भोग की शक्तियाँ अधिक उपयुक्त हैं।[1] कुछ भी हो, भट्टनायक की सबसे बड़ी देन है 'साधारणीकरण' का सिद्धान्त जो आगे चलकर सर्वमान्य हुआ। यही नहीं, रसानुभूति को ब्रह्मास्वादसहोदर कहने की परम्परा भट्टनायक से ही चली।

अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद—रससूत्र के अन्तिम और सर्वमान्य व्याख्याता अभिनवगुप्त हैं और उनके सिद्धान्त का नाम 'व्यक्तिवाद' या 'अभिव्यक्तिवाद' है। यह सिद्धान्त प्रायः शैव दर्शन पर आधारित है। अभिनवगुप्त के अनुसार 'निष्पत्ति' का अर्थ 'अभिव्यक्ति' है और 'संयोग' का अर्थ है 'व्यंग्य-व्यंजक भाव'। इनका मत है कि स्थायी भाव और विभावादि में व्यंग्य-व्यंजक-सम्बन्ध है, अर्थात् विभावादि के संयोग से व्यंजना नाम की एक अलौकिक क्रिया उत्पन्न होती है, उसी के अलौकिक विभावन व्यापार अथवा साधारणीकरण द्वारा सहृदयों की वासना (संस्कार) जाग्रत हो जाती है। वही रस की अभिव्यक्ति है। वास्तव में प्रत्येक सहृदय में रति, क्रोध, शोक, आदि स्थायी भाव वासना या संस्कार रूप में विद्यमान रहते हैं जो अव्यक्त रहते हैं। विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से वे दबे हुए (अव्यक्त) स्थायी भाव व्यक्त हो जाते हैं। उन्हीं की आनन्दानुभूति 'रस' है।[2]

अभिनवगुप्त भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण को तो स्वीकार करते हैं किन्तु भावना और भोग नामक व्यापारों को स्वीकार नहीं करते। अभिनवगुप्त के मतानुसार भावना और भोग का काम व्यंजना द्वारा चल जाता है। अतः व्यंजना के रहते हुए इन दोनों व्यापारों की कल्पना निरर्थक है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि परवर्ती आचार्यों ने अभिनवगुप्त के 'अभिव्यक्तिवाद' को ही मान्यता प्रदान की है। अब यह मत सर्वमान्य हो गया है।

---

१. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ६२३
२. काव्यप्रकाश (चतुर्थ उल्लास), पृ० ६०

मम्मट (११वीं श० ई०), आचार्य विश्वनाथ (१४वीं श० ई० का पूर्वार्द्ध) और पण्डितराज जगन्नाथ (१७वीं १८वीं श० ई०) ने अभिनवगुप्त के मत की ही प्रतिष्ठा की है। जहाँ कि अभिनवगुप्त ने अपने मत को शैव दर्शन पर आधारित किया था, पण्डितराज जगन्नाथ ने इसे वेदान्त दर्शन का आधार प्रदान करने का प्रयत्न किया।

साधारणीकरण

'साधारणीकरण' (साधारण+च्वि+कृ+ल्युट्) का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है सामान्यीकरण अर्थात् असाधारण या असामान्य को साधारण या सामान्य बना देना।[1] काव्यशास्त्र में रस निष्पत्ति के सन्दर्भ में यह शब्द एक विशिष्ट अर्थ का द्योतन करता है। वहाँ उसका अर्थ है रस निष्पत्ति की वह स्थिति जिसमें दर्शक या पाठक कोई अभिनय देखकर या काव्य पढ़कर उसमें तादात्म्य स्थापित करता हुआ उसका पूरा पूरा रसास्वादन करता है।[2]

इस शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम आचार्य भट्टनायक (१०वीं श० ई० पूर्वार्द्ध) ने भरत के रससूत्र की व्याख्या के अन्तर्गत किया है। तभी से आचार्यों ने इस पर अनेक प्रकार से ऊहापोह किया है तथा इस रूप अब भी विवादास्पद कह सकते हैं। भट्टनायक ने भावकत्व व्यापार द्वारा साधारणीकरण माना है। उनका मत है कि काव्य या नाटक में अभिधा व्यापार द्वारा शब्दार्थ का बोध हो जाने के उपरान्त भावकत्व व्यापार द्वारा विभाव, अनुभाव और सचारी भावों का साधारणीकरण हो जाता है। इसके फलस्वरूप सहृदय अपने समस्त मोह ('मैं' और 'पर' का भाव) को दूर कर रसानुभूति प्राप्त करता है। इस प्रकार भट्टनायक के अनुसार रसास्वाद के लिए साधारणीकरण अनिवार्य है। अभिनवगुप्त के मतानुसार काव्य या नाटक में वर्णित देश, काल, प्रभाव आदि की विषय-सीमा का नाश हो जाता है तथा वे सभी प्रकार के भौतिक बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं। साधारणीकरण द्वारा पात्र विशिष्ट व्यक्ति न रहकर सामान्य प्राणी बन जाते हैं तथा सामाजिक भी अपने सासारिक बन्धनों से मुक्ति पा जाते हैं। इस प्रकार विभावादि के साधारणीकरण द्वारा सहृदय के ममत्व परत्व का बन्धन समाप्त हो जाता है और उसके हृदय का स्थायी भाव भी अपनी विशिष्टता का परित्याग कर सामान्य हो जाता है। यही रसानुभूति की स्थिति है।

इस प्रकार अभिनवगुप्त ने साधारणीकरण के दो स्तर माने हैं

१. विभावादि के व्यक्ति विशिष्ट सम्बन्ध का टूटना, और

२. सामाजिक के व्यक्ति-बन्धन का नष्ट होना।

---

१. असाधारणं साधारणं क्रियते इति साधारणीक्रियते तत साधारणीकरणम्। अभूततद्भाव च्वि। अष्टाध्यायी, ५।४।५० पर वार्तिक।

२. मानक हिन्दी कोश (पाँचवाँ खण्ड), पृ० ३३८

अर्थात् उनके अनुसार विभावादि के साथ स्थायी भाव का साधारणीकरण होता है तथा साथ ही सामाजिक की अनुभूति का साधारणीकरण होता है। यह साधारणीकरण सहृदयों के हृदयों में वासना (संस्कार) रूप में स्थित स्थायी भावों के आधार पर होता है। इस प्रकार अभिनवगुप्त का भट्टनायक द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण सिद्धान्त में एक मौलिक योगदान है। उन्होंने वासना (संस्कार) को स्वीकृति प्रदान कर स्थायी भाव का साधारणीकरण माना है।

आचार्य विश्वनाथ (१४वीं श० ई०) के मतानुसार विभावादि के साधारणीकरण के साथ ही काव्य या नाटक के पात्र के साथ सहृदय का भी तादात्म्य हो जाता है तथा उसमें ममत्व-परत्व का भेदभाव नहीं रह जाता। 'साहित्यदर्पण' में उन्होंने अपना मत इस प्रकार स्थापित किया है—'काव्य-नाट्य में वर्णित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों में साधारणीकरण (साधारणीकृति) की अलौकिक शक्ति विद्यमान रहती है। इस शक्ति की महिमा से प्रत्येक सामाजिक अपनी-अपनी वैयक्तिक सीमाओं से परे पहुँच जाता है और अपने आपको उन महावीर, राम आदि नायकों के समान, वस्तुतः उनसे अभिन्न मानने लग जाता है, जिनकी समुद्रसन्तरण, रावण-वध आदि आदि लीलाएँ लोक जीवन में अत्यन्त असाधारण या लोकोत्तर मानी गई हैं।

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः।
तत्प्रभावेण यस्यासन् पाथोधिप्लवनादयः॥
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते।[1]

विश्वनाथ के इस मत में विभावों के साधारणीकरण के साथ आश्रय के साथ सहृदय के तादात्म्य की बात भी आ जाती है। अर्थात् रसानुभूति में विभावादिकों के सम्बन्ध में ये मेरे हैं अथवा मेरे नहीं है, दूसरे के हैं अथवा दूसरे के नहीं हैं, इस प्रकार का विशेषीकरण नहीं होता। सच तो यह है कि काव्य-नाट्य-वर्णित समस्त वस्तुएँ 'स्वगत' और 'परगत' के भेदभाव से परे पहुँच कर सर्वसाधारण के समान अधिकार की वस्तुएँ बन जाती हैं—

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते॥[2]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार साधारणीकरण का अर्थ है 'आश्रय का सहृदय के साथ तादात्म्य' तथा 'आलम्बन के धर्म का साधारणीकरण'। इस विषय में उनका कथन है कि सामाजिक के मन में आलम्बनरूप व्यक्ति-विशेष रहता तो विशेष ही है, किन्तु उसमें एक ऐसे सामान्य धर्म की प्रतिष्ठा रहती है जिससे सभी सामाजिकों के मन में एक-सा ही भाव उदित होता है।

डॉ० नगेन्द्र सामाजिक का तादात्म्य आश्रय से न मानकर कविभावना या

---

१. साहित्यदर्पण, ३।६, १०
२. साहित्यदर्पण, ३।१२

अनुभूति से मानते हैं।

उपर्युक्त मतों के आधार पर हम कह सकते हैं कि साधारणीकरण वह व्यापार है जिसके द्वारा पाठक या दर्शक अपने ममत्व और परत्व आदि के मोह से मुक्त होकर सामान्य प्राणी बन जाता है अर्थात् उसके भाव प्राणिमात्र के भाव हो जाते हैं। साधारणीकरण का व्यापार विभाव के तीनों तत्त्वों (आश्रय, आलम्बन और उद्दीपन) तथा अनुभाव और संचारि भाव का सम्मिलित क्रिया-कलाप है। इनसे विभावादि का साधारणीकरण तथा पाठक का आश्रय से तादात्म्य होता है। कोई-कोई आचार्य कवि की अनुभूति का साधारणीकरण भी मानते हैं। साधारणीकरण रसास्वाद के लिए अनिवार्य है। जब तक साधारणीकरण का व्यापार नहीं हो जाता तब तक रसानुभूति सम्भव नहीं है। इस प्रकार साधारणीकरण रसानुभव की पृष्ठभूमि का कार्य करता है।

रससामग्री

रस-निष्पत्ति का विवेचन करते हुए यह कहा जा चुका है कि विभाव, अनुभाव और संचारियों के संयोग से स्थायी भाव रसास्वाद को प्राप्त करता है। ये विभाव, अनुभाव और संचारी या व्यभिचारी भाव क्या हैं तथा स्थायी भाव का क्या स्वरूप होता है, इनका विवेचन अपेक्षित है।

विभाव—'विभाव' (वि + भू + घञ्)[1] का अर्थ है कारण, निमित्त या हेतु। लोक में जो-जो पदार्थ लौकिक रत्यादि भावों के उद्बोधक हुआ करते हैं वे ही काव्य-नाट्य में निविष्ट होने पर 'विभाव' कहलाते हैं।

रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः।[2]

इनके द्वारा वाणी और अंगों के अभिनय आदि के आश्रित अनेक अर्थों का विभावन (विशेष रूप से ज्ञान या अनुभूति) होता है, इसीलिए उन्हें 'विभाव' की संज्ञा प्रदान की गयी है।[3]

विभाव दो प्रकार के होते हैं—१. आलम्बन, २. उद्दीपन।

(१) आलम्बन विभाव—'आलम्बन' (आ + लम्ब् + ल्युट्) का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है आधार या सहारा। जिनका आलम्बन लेकर रति आदि स्थायी भाव उत्तेजित या जाग्रत होते हैं, उन्हें आलम्बन विभाव कहते हैं। उदाहरणार्थ, शृंगार रस में रति स्थायी भाव के आलम्बन नायक या नायिका हैं। प्रत्येक रस के आलम्बन विभाव पृथक्-पृथक् होते हैं। इसी प्रसंग में 'आश्रय' को भी समझ लेना अच्छा होगा। जिसमें रस जाग्रत होता है उसे काव्यशास्त्र में 'आश्रय' कहा गया है। उदाहरणार्थ, यदि नायिका 'आलम्बन' है तो नायक 'आश्रय' होगा

१. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ९४५

२. साहित्यदर्पण, ३।२९

३. वागङ्गाभिनयसहिता रत्यादिस्थायिव्यभिचारिलक्षणाश्चित्तवृत्तयो विभाव्यन्ते विशिष्टतया ज्ञायन्ते यैस्ते विभावाः।—काव्यानुशासन (हेमचन्द्र), पृ० ९७

और यदि नायक 'आलम्बन' है तो नायिका 'आश्रय' कही जायगी।

(२) **उद्दीपन विभाव**—'उद्दीपन' (उद् + दीप्—जलाना + णिच् + ल्युट्)[1] का अर्थ है बढ़ाना। ये विभाव रति आदि स्थायी भावों को उद्दीप्त करते या बढ़ाते हैं, इसीलिए इन्हें 'उद्दीपन विभाव' कहा जाता है।[2] उदाहरणार्थ, आलम्बन की सुन्दर वेष-भूषा तथा उसकी चेष्टाएँ और उपवन, चन्द्रज्योत्स्ना, एकान्त स्थान, शीतल, मन्द, सुगन्ध समीर आदि ऐसे पदार्थ हैं[3] जो रतिभाव को उद्दीप्त करते या बढ़ाते हैं, उत्पन्न नहीं करते। किन्तु यह उद्दीप्त करना भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यदि उत्पन्न हुई वस्तु बढ़ने के अभाव में नष्ट हो जाय तो उस उत्पन्न होने का कोई महत्त्व नहीं। इसीलिए उद्दीपन विभावों का भी अपना विशेष महत्त्व है। ये उद्दीपन विभाव भी प्रत्येक रस के भिन्न-भिन्न होते हैं।

अनुभाव—'अनुभाव' [अनु + भू (होना) + णिच् + घञ्] के कोशगत अर्थ हैं महिमा, प्रभाव, दृढ़विश्वास, दृढ़संकल्प आदि।[4] साहित्यशास्त्र में स्थायी भावों का अनुभव कराने वाले भावों को 'अनुभाव' कहा जाता है।[5] लोकजीवन में जो रत्यादि भावों के 'कार्य' कहे जाते हैं, काव्य-नाट्य में उन्हें 'अनुभाव' कहा जाता है। ये रति आदि भावों को दूसरों पर प्रकाशित करते हैं

> उद्बुद्धं कारणं स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्।
> लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः ॥[6]

रसविशेष में आलम्बन (नायक, नायिका आदि) तथा उद्दीपन (चन्द्रोदय आदि) विभावों द्वारा आश्रय (नायिका, नायक आदि) के हृदय में उद्बुद्ध स्थायी भाव या मनोविकारविशेष को प्रकट करने वाली शारीरिक चेष्टाएँ 'अनुभाव' कहलाती हैं। यहाँ यह बात विशेष रूप से स्मरण रखने योग्य है कि आलम्बन की चेष्टाएँ तो 'उद्दीपन विभाव' कहलाती हैं तथा 'आश्रय' की चेष्टाएँ 'अनुभाव' के अन्तर्गत आती हैं। उदाहरणार्थ, शृंगार रस में नायिका (आलम्बन) की चेष्टाएँ (कटाक्ष, भ्रूक्षेप आदि) 'उद्दीपन विभाव' होंगी किन्तु नायक (आश्रय)

---

१. मानक हिन्दीकोश (पहला खण्ड), पृ० ३४८
२. उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये ॥ —साहित्यदर्पण, ३।१३१
३. आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा। —साहित्यदर्पण, ३।१३२
४. मानक हिन्दी कोश (पहला खण्ड), पृ० ११०
५. अनुभावयन्ति इति अनुभावाः। —रसगंगाधर, पृ० १३५
६. साहित्यदर्पण, ३।१३२, १३३
भरत ने नाट्यशास्त्र में अनुभाव का स्वरूप इस प्रकार प्रतिपादित किया है -

> वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते।
> वागङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः ॥ —नाट्यशास्त्र, ७।५

की चेष्टाएँ (कटाक्ष, भ्रूक्षेप, हस्तसंचालन आदि) अनुभाव कही जायेंगी। ये 'अनुभाव' भी भिन्न-भिन्न रसों में भिन्न-भिन्न होते हैं।

ये अनुभाव भी तीन प्रकार के होते हैं १ सात्त्विक २ कायिक, और ३ मानसिक। सात्त्विक अनुभाव शरीर की स्वाभाविक क्रिया के रूप में होते हैं। उनके ऊपर आश्रय का कोई वश नहीं रहता। ये व्यापार आप से आप हो जाते हैं, आश्रय इनके लिए कोई प्रयत्न नहीं करता। वह चाहे तो इन्हें रोक भी नहीं सकता। दूसरी ओर वे विकार या व्यापार जो अंगों की चेष्टाओं के रूप में होते हैं और जो आश्रय के अधीन होते हैं उन्हें 'कायिक' अनुभाव कहते हैं, यथा—भ्रू भंगिमा, कटाक्ष पात, झपटना, कूदना, मुट्ठी बाँधना आदि आदि। मन के द्वारा होने वाले प्रमोद आदि अनुभाव मानसिक हैं।[1]

सात्त्विक भाव—सात्त्विक (सत्त्व+ठञ्) भाव वे हैं जो सत्त्व से उत्पन्न होते हैं।[2] यह सत्त्व क्या है, इस पर आचार्यों के पृथक्-पृथक् मत हैं। भोज के अनुसार 'सत्त्व' का अर्थ है रजोगुण और तमोगुण से रहित मन, और उस सत्त्व से उत्पन्न होने वाले भाव सात्त्विक भाव कहलाते हैं।[3] आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार प्राण ही सत्त्व है, उनसे उत्पन्न भाव सात्त्विक कहलाते हैं।[4]

प्राण में जब पृथ्वी का भाग प्रधान होता है तब 'स्तम्भ', जल का भाग प्रधान होने पर 'अश्रु', तेज का भाग प्रधान होने पर 'वैवर्ण्य', तथा आकाश का भाग प्रधान होने पर 'प्रलय' की स्थिति होती है। इसी प्रकार अन्य सात्त्विक भावों की उत्पत्ति होती है।[5]

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार 'सत्त्व' अन्तःकरण का एक धर्मविशेष है जिसके कारण सामाजिक के हृदय में वासना (संस्कार) रूप से विराजमान रति आदि भावों का उद्बोधन हुआ करता है—

सत्त्वं नाम स्वात्मविश्रामप्रकाशकारी कश्चनान्तरो धर्मः।[6]

आचार्यों ने निम्नांकित आठ सात्त्विक भाव माने हैं—१ स्तम्भ, २ स्वेद,

---

१. काव्यांग-कौमुदी (तृतीय कला), पृ० ५८, ६२

२ सात्त्विक, त्रि, (सत्त्वेन निर्वृत्तः। तेन निर्वृत्तमिति ठञ्।) सत्त्वगुण-निष्पादितः। —शब्दकल्पद्रुम (पञ्चम काण्ड), पृ० ३२६

३ विकाराः सत्त्वसम्भूताः सात्त्विकाः परिकीर्तिताः ॥—साहित्यदर्पण, ३।१३४

४ रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते। —सरस्वतीकण्ठाभरण।

५ सीदत्यस्मिन्मनः इति व्युत्पत्तेः सत्त्वगुणोत्कर्षात्साधुत्वाच्च प्राणात्मकं वस्तु सत्त्वम्, तत्र भवाः सात्त्विकाः। —काव्यानुशासन, पृ० ११८

६ पृथ्वीभागप्रधाने प्राणे संक्रान्तचित्तवृत्तिगणः स्तम्भो विष्टब्धचेतनत्वम्। जलभागप्रधाने तु बाष्पः। तेजस्तु प्राणनैकट्यादुभयथा तीव्रातीव्रत्वेन प्राणानुग्रहं इति द्विधा स्वेदो वैवर्ण्यं च। आकाशानुग्रहे गतचेतनत्वं प्रलयः। —काव्यानुशासन (हेमचन्द्र), पृ० ११९-२०

७. साहित्यदर्पण, ३।१३४ पर वृत्ति

३ रोमांच, ४ स्वरभंग, ५ वेपथु (कम्प), ६ वैवर्ण्य, ७ अश्रु और ८ प्रलय

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभंगोऽथ वेपथुः ।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ॥[1]

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि यद्यपि सात्त्विक भाव एक प्रकार के अनुभाव ही हैं, किन्तु इनका पृथक् रूप से स्वतन्त्र महत्त्व है क्योंकि ये मनोविकार सत्त्व के उद्रेक से ही उत्पन्न हुआ करते हैं

सत्त्वमात्रोद्भवत्वात्ते भिन्ना अप्यनुभावतः ।[2]

आचार्यों ने इन आठों सात्त्विक भावों का पृथक्-पृथक् स्वरूप-लक्षण दिया है तथा उनके उदाहरण भी दिये हैं। नीचे हम इनका स्वरूप-निर्देश करते हुए इनके उदाहरण दे रहे हैं।

१. स्तम्भ—स्तम्भ (स्तम्भ्+अच्)[3] की उत्पत्ति हर्ष, भय, विस्मय, विषाद, रोष आदि से होती है। निस्संज्ञता, निष्कम्प, शून्यता, जडता आदि इसके अनुभाव हैं

हर्षभयरोगविस्मयविषादमदरोषसंभवः स्तम्भः ।
निश्चेष्टो निष्प्रकम्पश्च स्थितः शून्यजडाकृतिः ।
निःसंज्ञः स्तब्धगात्रश्च स्तम्भं त्वभिनयेद् बुधः ॥[4]

इसी लक्षण को आचार्य विश्वनाथ ने संक्षेप में इस प्रकार दिया है :

स्तम्भश्चेष्टाप्रतीघातो भयहर्षामयादिभिः ।[5]

'स्तम्भ' के उदाहरण के रूप में हम रामचरितमानस की निम्नांकित पंक्तियाँ उद्धृत कर सकते हैं

चतुर सखीं लखि कहा बुझाई। पहिरावहु जयमाल सुहाई ॥
सुनत जुगल कर माल उठाई। प्रेम बिबस पहिराइ न जाई ॥[6]

यहाँ अन्तिम अर्द्धाली में (सीता का प्रेमाधिक्य के कारण जयमाल न पहना सकना) 'स्तम्भ' की सफल अभिव्यंजना हुई है।

२. स्वेद—(स्विद्+भावे घञ्)[7] का अभिप्राय है शरीर में पसीने का आ जाना। यह रतिप्रसंग, धूप, परिश्रम, हर्ष, भय, क्रोध, दुःख आदि के कारण होता है तथा व्यजनग्रहण आदि अनुभावों द्वारा व्यक्त होता है।

---

१. साहित्यदर्पण, ३।१३५, १३६
२. साहित्यदर्पण, ३।१३५
३. संस्कृत-हिन्दी कोश (आप्टे), पृ० ११२५
४. नाट्यशास्त्र, ७।९६, १०१
५. साहित्यदर्पण, ३।१३६
६. रामचरितमानस, १।२६४।५, ६
७. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ११६१

व्यायामबलमधर्मात् स्वेद सपीडनाच्चैव ।
व्यजनग्रहणाच्चापि स्वेदापनयनेन च ।
स्वेदस्याभिनयो योग्यस्तया वाताभिलाषत ॥[1]

आचार्य विश्वनाथ का लक्षण है

वपुर्जलोद्गम स्वेदो रतिघर्मश्रमादिभि ।[2]

रामचरितमानस के षष्ठ सोपान (लकाकाड) के अन्तर्गत राम-कुम्भकरण-युद्ध-विषयक निम्नाकित पक्तियो मे क्रोध के कारण राम के कमलमुख पर पसीने की बूंदो की आजाना 'स्वेद' की ही अभिव्यक्ति कही जायगी

सग्रामभूमि बिराज रघुपति अतुलबल कोसलधनी ।
श्रमबिंदु मुख राजीव लोचन अरुन तन सोनितकनी ॥[3]

३ रोमाच—रोमाच [र—मनिन्—रोमन् + अच्—रोमाच][4] का अर्थ है शरीर का पुलकित होना अर्थात रोगटो का खडा होना । यह हर्ष, विस्मय, भय आदि के कारण होता है

हर्षाद्भुतभयादिभ्यो रोमाचो रोमविक्रिया ॥[5]

भरत ने इसके विभावो और अनुभावो का वर्णन करते हुए लिखा है कि इसकी उत्पत्ति स्पर्श, भय, शीत, हर्ष, क्रोध, रोग आदि से होती है और बारम्बार रोगटो का खडा होना, आनन्द, हर्ष, गात्रस्पर्श आदि अनुभावो द्वारा इसकी अभिव्यक्ति होती है

स्पर्शभयशीतहर्षात् क्रोधाद्रोगाच्च रोमाच ।
मुहु कण्टकितत्वेन तथोल्लुकसनेन च ॥
रोमाचस्त्वभिनेयोऽसौ गात्रसस्पर्शनेन च ॥[6]

उदाहरण,

मगल समय सनेहबस सोचु परिहरिअ तात ।
आयेसु देइअ हरषि हिय कहि पुलके प्रभुगात ॥[7]

वन जाने के लिए प्रस्तुत राम अपने पिता दशरथ से वन जाने की आज्ञा माँग रहे हैं । उनके अनुसार यह समय अत्यन्त मगलमय है; अत वे पिता से आग्रह कर रहे हैं "शोक का परित्याग कर प्रसन्न मन से वनगमन की आज्ञा दीजिए ।" ऐसा कहते कहते राम पुलकायमान हो गए । यहाँ 'पुलके प्रभुगात'

---

१. नाट्यशास्त्र, ७।६५, १०२
२ साहित्यदर्पण, ३।१३७
३ रामचरितमानस, ६।७१।१३-१४
४ सस्कृत हिन्दी कोश, पृ० ८६३, मानक हिन्दी कोश (चौथा खण्ड), पृ० ५३३
५. साहित्यदर्पण, ३।१३५
६ नाट्यशास्त्र, ७।६८, १०३
७ रामचरितमानस, २।४५।६-१०

से 'रोमाच' नामक सात्विक भाव की अभिव्यक्ति हो रही है।

४ स्वरभंग—स्वर (स्वर्+अच् या स्वृ+अप्)[1] के भग (भञ्ज्+घञ्)[2] हो जाने का अर्थ है गले का रुँध जाना, यह मद्यपान, हर्ष, पीडा आदि के कारण होता है

मदसमदपीडाद्यैर्वैस्वर्यं गद्गदं विदुः ।[3]

भरत ने मद के अतिरिक्त भय, हर्ष, क्रोध, ज्वर और रोग की भी गणना विभावो के अन्तर्गत की है तथा अनुभावो के अन्तर्गत स्वरभेद तथा टूटे हुए शब्दो का मुख से निकलना माना है :

स्वरसादो भयहर्षक्रोधज्वररोगमदजनित ।
स्वरभेदं तथा चैव भिन्नगद्गदविस्वरै. ।।[4]

'उद्धवशतक' के निम्नांकित कवित्त के तृतीय चरण मे इस अनुभाव की व्यजना द्रष्टव्य है

बिरह-बिथा की कथा अकथ अथाह महा
कहत बनै न जो प्रबीन सुकबीनि सौं ।
कहै रतनाकर बुझावन लगे ज्यौं कान्ह
ऊधो कौं कहन-हेत ब्रज-जुवतीनि सौं ।।
गहबरि आयौ गरौ भभरि अचानक त्यौं,
प्रेम पर्यौ चपल चुचाइ पुतरीनि सौं ।
नैकु कही बैननि, अनेक कही नैननि सौं,
रही-सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सौं ।।[5]

५ वेपथु—'वेपथु' (वेप्+अथुच्)[6] का अर्थ है 'शरीर का कांपना', यह अनुराग, द्वेष, परिश्रम, भय आदि के कारण होता है

रागद्वेषश्रमादिभ्य· कम्पो गात्रस्य वेपथुः ।[7]

भरत ने शीत, भय, हर्ष, रोष और वृद्धावस्था को 'कम्प' का विभाव माना है। उन्होंने इसके अनुभाव के रूप मे कंपकंपी, स्फुरण (शरीर के अगो का फडकना) तथा कम्पन को माना है -

शीतभयहर्षरोषस्पर्शजरासम्भवः कम्प ।
वेपनात् स्फुरणात् कम्पाद् वेपथुं सप्रयोजयेत् ।।[8]

उदाहरण -

१. सस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ११५८
२ सस्कृत-हिन्दी कोश, ७२७
३ साहित्यदर्पण, ३।१३८
४. नाट्यशास्त्र, ७।९९, १०४
५. उद्धवशतक, ५
६ सस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ९७७
७ साहित्यदर्पण, ३।१३८
८. नाट्यशास्त्र, ७।९९, १०४

अश्रु नीत्रोद्भवं वारि क्रोधदुःखप्रहर्षजम् ।।[1]

उदाहरण,

रामहि चितइ रहेउ नरनाहू । चला बिलोचन बारिप्रबाहू ।।[2]

इस अर्द्धाली में राजा दशरथ की दयनीय दशा तथा तज्जन्य 'अश्रु' नामक सात्त्विक अनुभाव की सम्यक् व्यंजना हुई है।

८ प्रलय—प्रलय (प्र+ली+अच्)[3] का अर्थ है चेष्टाशून्यता या ज्ञानशून्यता। यह सुख अथवा दुःख के अतिरेक में होता है

प्रलयः सुखदुःखाभ्यां चेष्टाज्ञाननिराकृतिः[4]

आचार्यों ने इसकी उत्पत्ति श्रम, मोह, मद, मूर्च्छा, निद्रा, चोट आदि से मानी है तथा इसके अनुभावों के अन्तर्गत लीन होना, निश्चेष्ट होना, अपनत्व भूल जाना, पृथ्वी पर लोट जाना आदि माना है :

श्रममूर्च्छामदनिद्राभिघातमोहादिभिः प्रलयः ।
निश्चेष्टो निष्प्रकम्पत्वादव्यक्तश्वसितादपि ।
मेदिनीपतनाच्चापि प्रलयाभिनयो भवेत् ।।[5]

उदाहरण,

बरबस लिए उठाइ उर लाये कृपानिधान ।
भरत राम की मिलनि लखि बिसरे सबहि अपान ।।[6]

चित्रकूट में राम-भरत-मिलन-प्रसंग है। राम ने चरणों पर पड़े हुए भरत को बरबस उठाकर हृदय से लगा लिया है। इस प्रकार दोनों भाइयों के मिलन को देखकर सभी लोग अपनत्व भूल गये हैं। यहाँ 'बिसरे सबहि अपान' में 'प्रलय' नामक सात्त्विक अनुभाव है।

उपर्युक्त आठों सात्त्विक अनुभावों की अभिव्यक्ति के लिए लछिराम कवि का निम्नांकित छंद द्रष्टव्य है

ह्वै रही अडोल, यहरात गात बोले नाँहि बदलि गयो है छटा बदन सँवारे की।
भरि भरि आवै नीर लोचन दुहूँन बीच सराबोर स्वेदमे सारी रंग तारे की।
पुलकि उठे हैं रोम, कछुक अचेत फेरि कवि 'लछिराम' कौन जुगुत बिचारे की।
बानक सो डगर अचानक मिल्यो है लगी नजर तिरीछी कहूँ पीत पटवारे की।[7]

---

१. साहित्यदर्पण, ३।१३९
२. रामचरितमानस, २।४४।८
३. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ६३२
४. साहित्यदर्पण, ३।१४०
५. नाट्यशास्त्र, ७।६६, १०६
६. रामचरितमानस, २।२३९।१९-२०
७. लछिराम (काव्यदर्पण, पृ० ६५ पर उद्धृत)

इसमें क्रमशः स्तम्भ, कम्प (वेपथु), स्वरभंग, वैवर्ण्य, अश्रु, स्वेद, रोमांच और प्रलय नामक सात्त्विक भावों की व्यञ्जना हुई है।*

कायिक अनुभाव—कायिक अनुभावों के अन्तर्गत शरीर के अंगों की कृत्रिम चेष्टाओं की गणना की जाती है। बरवै रामायण के निम्नांकित छंद में शूर्पणखा के नाक कान काटने के लिए दिया गया राम का लक्ष्मण को संकेत इसी के अन्तर्गत आयेगा—

वेद नाम कहि अंगुरिन खंडि अकास।
पठयो सूपनखाहि लखन के पास॥[1]

इसी प्रकार अन्य कायिक अनुभाव हुआ करते हैं।

मानसिक अनुभाव—मानसिक अनुभावों के अन्तर्गत प्रमोद आदि की गणना की जाती है।[2] निम्नांकित दोहे में इसकी व्यंजना हुई है—

सब सिसु एहि मिस प्रेमबस परसि मनोहर गात।
तन पुलकहिं अति हरषु हियँ देखि देखि दोउ भ्रात॥[3]

आचार्यों ने नायिकाओं के अंगज (हाव, भाव, हेला), अयत्नज (शोभा, कान्ति दीप्ति आदि) और स्वभावज[4] (लीला विलास, विच्छित्ति आदि) अलंकारों को भी अनुभाव कहा है[5], किन्तु इनमें से कुछ की गणना उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत भी की जा सकती है क्योंकि ये आलम्बन की चेष्टाएँ होती हैं।[6]

व्यभिचारी या संचारी भाव

यहाँ व्यभिचारी [वि+अभि+चर्+घञ्=व्यभिचार+इनि=व्यभिचारिन्[7] अथवा वि+अभि+चर्+णिनि=व्यभिचारिन्][8] और संचारी (सम्+चर्+णिनि=सञ्चारिन्)[9] दोनों समानार्थी शब्द हैं। ये भाव स्थायी भाव (रस) के सहकारी कारण होते हैं तथा सभी रसों में संचरण करते रहते हैं, इसीलिए इनकी संज्ञा संचारी या व्यभिचारी है। जिस प्रकार स्थायी भाव रस की परिपक्वावस्था तक विद्यमान रहता है उस प्रकार ये भाव रस की सिद्धि तक

---

*उपर्युक्त आठ सात्त्विक भावों के अतिरिक्त 'जृम्भा' (जम्हाई) नामक सात्त्विक भाव की भी गणना की जाती है।

१ बरवै रामायण, २८
२ काव्यांग-कौमुदी (तृतीय कला), पृ० ६२
३ रामचरितमानस, १।२२४।६-१०
४ साहित्यदर्पण, ३।८९-९२
५ साहित्यदर्पण, ३।१३३, १३४
६ काव्यांग कौमुदी (तृतीय कला), पृ० ६२
७ मानक हिन्दी कोश, पृ० ६८५-८६
८ शब्दकल्पद्रुम (चतुर्थ काण्ड), पृ० ४३२
९ सम्पूर्ण हिन्दी कोश, पृ० १०६०

स्थिर नहीं रहते। ये तो अवस्थाविशेष में उत्पन्न होते हैं तथा अपना प्रयोजन पूरा कर अर्थात् स्थायी भाव को उचित सहायता प्रदान कर लुप्त हो जाते हैं। ये पानी के बुलबुलों के समान प्रकट होकर शीघ्र ही लुप्त हो जाते है। साहित्य-दर्पणकार ने व्यभिचारी भावों का स्वरूप-निर्देश करते हुए लिखा है

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः॥[1]

अर्थात् व्यभिचारी भाव विशेष उत्कटता अथवा अनुकूलता से रत्यादि स्थायी भावों को रसास्वाद में परिणत करते हैं तथा स्थायी भावों के समुद्र में बुलबुले की भाँति डूबते-उतराते दिखायी देते हैं। परम्परागत इनकी संख्या ३३ है

निर्वेदावेगदैन्यश्रममदजडता औग्र्यमोहौ विबोधः
स्वप्नापस्मारगर्वाः मरणमलसतामर्षनिद्रावहित्थाः।
औत्सुक्योन्मादशंकाः स्मृतिमतिसहिता व्याधिसंत्रासलज्जा
हर्षासूयाविषादाः सधृतिचपलता ग्लानिचिन्तावितर्काः॥[2]

इनका पृथक्-पृथक् स्वरूप-निर्देश करते हुए आचार्यों ने इनके उदाहरण गिनाये हैं। यहाँ यह बात भी विशेष रूप से लक्ष्य करने योग्य है कि कभी-कभी ये संचारी भाव स्थायी भाव के सहायक न होकर स्वतन्त्र रूप से भी आते हैं। ऐसी स्थिति में केवल 'भाव' मात्र का वर्णन होता है, रस-परिपाक नहीं होता। इसके अतिरिक्त जब देवादिविषयक रति अथवा उद्बुद्धमात्र रत्यादि रूप स्थायी भाव की अभिव्यक्ति होती है तब भी 'भाव' दशा ही कहलाती है। 'भाव' की इस स्थिति का निरूपण करते हुए साहित्यदर्पणकार ने ठीक ही कहा है

सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः।
उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते॥[3]

अर्थात् जब व्यभिचारी भाव प्रधान रूप से प्रतीयमान हों अथवा देवादि-विषयक रति का वर्णन हो या कोई स्थायी भाव केवल उद्बुद्ध मात्र हो, रस की परिपक्वावस्था को न प्राप्त कर सका हो, तब 'भाव' की अभिव्यक्ति कही जाती है। साहित्य में ऐसे सहस्रशः उदाहरण उपलब्ध होते हैं जहाँ व्यभिचारी भाव प्रधान रूप से प्रतीयमान हुए हैं, अतः हम उपर्युक्त व्यभिचारी भावों के स्वरूप-निर्देश के साथ ही साथ ऐसे उदाहरण भी दे रहे हैं जिनमें व्यभिचारी भाव स्वतन्त्र रूप में आते हैं, स्थायी भाव के सहायक के रूप में नहीं।

१. निर्वेद—यहाँ निर्वेद (निर्+विद्+घञ्)[4] का अर्थ है 'स्वावमानन'

१. साहित्यदर्पण, ३।१४०
२. साहित्यदर्पण, ३।१४१
३. साहित्यदर्पण, ३।२६०, २६१
४. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ५३९

(अपने आपको धिक्कारना)। यह निर्वेद स्थायी भाव (जो शान्त रस मे परि-पक्व होता है) से भिन्न है। इसके कई निमित्त हो सकते हैं, जैसे कि तत्वज्ञान (शरीर सुख अथवा विषयभोग की हेयता का अनुभव), आपत्ति, ईर्ष्या आदि-आदि। इसके फलस्वरूप दीनता, चिन्ता, अश्रु, निःश्वास, विवर्णता, उच्छ्वास आदि उत्पन्न हुआ करते हैं

तत्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम्।
दैन्यचिन्ताश्रुनिःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वसितादिकृत्॥[1]

भरत ने दारिद्र्य, अधिक्षेप, क्रोध, ताडन, इष्टजन-वियोग, तत्वज्ञानादि को इसका विभाव माना है तथा अनुभावों के अन्तर्गत रोना, निःश्वास, उच्छ्वास, सम्प्रधारण (उचित अनुचित का निश्चय करना) आदि की गणना की है

तत्र निर्वेदो नाम दारिद्र्योपगमाधिक्षेपाक्रुष्टक्रोधताडनेष्टजनवियोग-तत्वज्ञानादिभिर्विभावैरुत्पद्यते स्त्रीनीचप्रकृतीनाम्। तमभिनयेत् रुदितविनि-श्वसितोच्छ्वसितसम्प्रधारणादिभिरनुभावैः।[2]

उदाहरणार्थ,

कोउ नृप होउ हमहि का हानी। चेरि छाडि अब होब कि रानी॥[3]

रामचरितमानस की मन्थरा की इस उक्ति मे 'निर्वेद' नामक सचारी भाव की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति है।

२ आवेग—'आवेग' (आ+विज्+घञ्)[4] का अर्थ है 'सम्भ्रम' या 'घब-डाहट'। हर्ष, भय या अन्य किसी भाव की अकस्मात् प्राप्त अधिकता 'आवेग' होती है। इष्टजन्य आवेग मे हर्ष और अनिष्टजन्य मे शोक होता है; हर्षावेग शरीर को सकुचित तथा शोकावेग या उत्पातज आवेग शरीर के अगो को शिथिल कर देता है

आवेगः संभ्रमस्तत्र हर्षजे पिण्डिताङ्गता।
उत्पातजे स्रस्तताङ्गे, धूमाद्याकुलताग्निजे॥[5]

इसकी अभिव्यक्ति विस्मय, स्तम्भ, स्वेद, शीघ्रगमन, वैवर्ण्य, कम्प आदि अनुभावो द्वारा होती है।

भयजन्य 'आवेग' का एक सुन्दर उदाहरण हमे 'कवितावली' की निम्नाकित पंक्तियो मे उपलब्ध होता है जहाँ हनुमान् द्वारा लका मे आग लगाये जाने पर लकानिवासियो की घबराहट की सफल अभिव्यक्ति हुई है :

---

१ साहित्यदर्पण, ३।१४२
२ नाट्यशास्त्र, पृ० ६७
३ रामचरितमानस, २।१६।६
४. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० १६३
५ साहित्यदर्पण, ३।१४३

लागि लागि आगि, भागि भागि चले जहाँ तहाँ,
धीय को न माय, बाप पूत न सँभारही।
छूटे बार, बसन उघारे, धूम-धुन्ध-अन्ध,
कहैं बारे बूढ़े 'बारि बारि' बार-बार हौं ॥[1]

३ दैन्य—दैन्य [दी+क्त=दीन, तस्य न [2], दीन+अण् अथवा ष्यञ्= दैनम् या दैन्यम्[3]] का अर्थ है ओजस्विता का अभाव। यह दुःख, दारिद्र्य, मनस्ताप, दुर्गति आदि से उत्पन्न होता है तथा मलिनता, उदासी आदि इसके अनुभाव होते हैं

दैन्यं नाम दौर्गत्यमनस्तापादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्याधृतिशिरोरोग-गात्रस्तम्भमृजापरिवर्जनादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।[4]

साहित्यदर्पणकार ने 'दैन्य' का लक्षण देते हुए लिखा है

दौर्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं मलिनतादिकृत्।[5]

अर्थात् दुर्गति आदि के कारण उत्पन्न निस्तेजस्विता 'दैन्य' है। इसके फलस्वरूप मुखमालिन्य आदि अनुभाव हुआ करते है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने दैन्य, मद, जडता, चपलता आदि मानसिक अवस्थाओं के दो प्रकार माने है १ प्रकृतिगत, २ आगन्तुक। उनके अनुसार ये आगन्तुक रूप मे ही सचारी होती हैं क्योकि उनका किसी 'भाव' के कारण प्रकट होना स्पष्ट रहता है।[6] 'सुदामाचरित' की निम्नांकित पंक्तियों मे दारिद्र्य-दशा-जनित दैन्य की अच्छी व्यंजना हुई है

कोदो सवाँ जुरतो भरि पेट, न चाहति हौं दधि दूध मिठौती।
सीत बितीत भयौ सिसियातहि, हौं हठती पै तुम्हैं न हठौती॥
जो जनती न हितू हरि-सौं, तौ काहे को द्वारिका पेलि पठौती।
या घर ते कबहूँ न गयो पिय, टूटो तवो अरु फूटी कठौती॥[7]

४ श्रम—श्रम (श्रम्+घञ्, न वृद्धि [8]) का अर्थ है थकावट। मार्ग चलने, व्यायाम आदि करने, सम्भोग, जागरण आदि से उत्पन्न थकावट को 'श्रम' कहते हैं। मुख सूख जाना, अँगड़ाई एवं जँभाई लेना तथा निःश्वास आदि इसके

१. कवितावली, ५।१५
२. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० ४६१
३. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ४७५
४. नाट्यशास्त्र, पृ० १००
५ साहित्यदर्पण, ३।१४५
६. रस-मीमांसा, पृ० २१६
७. सुदामाचरित, १३
८. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० १०३५

अनुभाव होते हैं

अध्वगतिव्यायामैर्नरस्य संजायते श्रमो नाम ।
निःश्वासखेदगमनैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥[1]

इसी के आधार पर धनंजय ने भी लिखा

श्रमः खेदोऽध्वरत्यादेः स्वेदोऽस्मिन्मर्दनादयः ।[2]

अर्थात् मार्गगमन, रति आदि से श्रम उत्पन्न होता है तथा स्वेद, मर्दन आदि इसके अनुभाव होते हैं।

उपर्युक्त लक्षणों के आधार पर ही आचार्य विश्वनाथ ने श्रम का स्वरूप-निर्धारण इस प्रकार किया है

खेदो रत्यध्वगत्यादेः श्वासनिद्रादिकृच्छ्रमः ।[3]

अर्थात् रति-प्रसंग, मार्ग गमन आदि कारणों से उत्पन्न खेद का नाम 'श्रम' है। इसके कारण श्वास (श्वास का चढ़ना), निद्रा आदि की उत्पत्ति और वृद्धि होती है।

'श्रम' के उदाहरण के रूप में कवितावली की निम्नांकित पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं

पुर तें निकसीं रघुबीर-बधू धरि धीर दए मग में डग द्वै ।
झलकीं भरि भाल कनी जल की, पुट सूखि गए मधुराधर वै ॥
फिरि बूझति हैं 'चलनो अब केतिक, पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै ?'
तिय की लखि आतुरता पिय की अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै ॥[4]

यहाँ वनवासिनी सीता के 'श्रम' की व्यंजना है।

५. मद—मद (मद्+अच्)[5] की अवस्था में सम्मोह (बेहोशी) और आनंद का सम्मिश्रण होता है। यह अवस्था मद्य आदि के सेवन से उत्पन्न होती है। इस अवस्था में उत्तम प्रकृति के लोग सोते हैं, मध्यम प्रकृति के हँसते या गाते हैं तथा नीच प्रकृति के लोग कठोर भाषण करते हैं या रोते हैं।

सम्मोहानन्दसम्भेदो मदो मद्योपयोगजः ॥
अमुना चोत्तमः शेते मध्यो हसति गायति ।
अधमप्रकृतिश्चापि परुषं वक्ति रोदिति ॥[6]

यह उल्लेखनीय है कि दशरूपककार धनंजय ने मद्यपान से प्रादुर्भूत हर्ष को 'मद' कहा है जिसमें अंग, वचन और गति का स्खलन होता है

---

१ नाट्यशास्त्र, ७।४७
२ दशरूपक, ४।१२
३ साहित्यदर्पण, ३।१४६
४. कवितावली, २।११
५ संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० ७६६
६. साहित्यदर्पण, ३।१४६, १४७

हर्षोत्कर्षो मद. पानात्स्खलदङ्गवचोगति ।[1]

'मद' के उदाहरण के रूप मे हम कविवर बिहारी का निम्नांकित दोहा उद्धृत कर सकते हैं

खलित बचन अधखुलित दृग, ललित स्वेद-कन-जोति ।
अरुन बदन छबि मद छकी, खरी छबीली होति ।।[2]

नायिका मद मे छकी है । उसके अर्द्धस्पष्ट वचन, अधखुले नेत्र, लाल मुख आदि से मद का भाव प्रकट हो रहा है ।

६ जडता—जडता [जल् + अच् = जड, लस्य ड , जड + तल् + टाप् = जडता][3] का अर्थ है 'निश्चेष्टता' । इष्ट और अनिष्ट को देखने और सुनने तथा व्याधि से उत्पन्न किंकर्तव्यविमूढावस्था का नाम 'जडता' है । निर्निमेष होकर देखना, चुप रहना आदि इसके अनुभाव हैं

जडता नाम सर्वकार्याप्रतिपत्ति इष्टानिष्टश्रवणदर्शनव्याध्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तामभिनयेदकथनाभाषणतूष्णींभावानिमेषनिरीक्षणपरवशत्वादिभिरनुभावै. ।।[4]

इसी के आधार पर धनजय तथा विश्वनाथ ने दशरूपक एव साहित्यदर्पण मे जडता का लक्षण निरूपित करते हुए लिखा है

अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभि. ।
अनिमिषनयननिरीक्षणतूष्णींभावादयस्तत्र ।।[5]

रामचरितमानस की सीता-स्वयवर-विषयक निम्नांकित पक्तियो मे इष्ट-दर्शन-जन्य जडता का भाव है

सखिन्ह मध्य सिय सोहति कैसे । छबिगन मध्य महाछबि जैसे ।।
कर सरोज जयमाल सुहाई । बिस्वबिजय सोभा जेहि छाई ।।
तन सकोचु मन परम उछाहू । गूढ प्रेम लखि परै न काहू ।।
जाइ समीप रामछबि देखी । रहि जनु कुअँरि चित्र अवरेखी ।।[6]

राम की शोभा का दर्शन कर सीता किंकर्तव्यविमूढावस्था को प्राप्त हो गयी हैं । राम के गले मे जयमाला डालने के लिए उनका हाथ नही उठता । वे जड-वत् हैं । यहाँ अतिम पक्ति से जडता का भाव स्पष्ट है ।

७. उग्रता—उग्रता [उच + रक् = उग्र, गश्चान्तादेश ।[7] अथवा उच् +

---

१. दशरूपक, ४।२१
२ बिहारी-बोधिनी, २६०
३. सस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ३६४
४. नाट्यशास्त्र, पृ० १०४
५. दशरूपक, ४।१३, साहित्यदर्पण, ३।१४७, १४८
६. रामचरितमानस, १।२६४।१-४
७. शब्दकल्पद्रुम, (प्रथम काण्ड), पृ० २१८

रन्=उग्र गश्चान्नादश[1]। उग्र—तल्—टाप् उग्रता[2]] अथवा औग्र्य [उग्र—ष्यञ्][3] का अर्थ है निन्दा, अपमान, अपराध, अपकार आदि से उत्पन्न 'निर्दयता'। स्वेद, शिर कम्पन, तर्जन, ताडन आदि इसके अनुभाव होते हैं

शौर्यापराधादिभवं भवेच्चण्डत्वमुग्रता।
तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥[4]

भरत के अनुसार चोरी में पकड़े जाने, राजा के प्रति अपराध करने, झूठ बोलने आदि से यह भाव उद्बुद्ध होता है तथा वध, बन्धन, मारना पीटना, तर्जना करना आदि अनुभावों द्वारा इसकी अभिव्यक्ति होती है

अथोग्रता नाम चौर्याभिग्रहनृपापराधासत्प्रलापादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।
तां च वधबन्धनताडननिर्भर्त्सनादिभिरनुभावैरभिनयेत् ॥[5]

रामचरितमानस के लक्ष्मण-परशुराम-संवाद के अन्तर्गत परशुराम की निम्नांकित उक्ति में उग्रता की सफल अभिव्यंजना हुई है

मातु पितहि जनि सोचबस करसि महीसकिसोर।
गर्भन्ह के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर ॥[6]

८. **मोह**—मोह (मुह्+घञ्)[7] का अर्थ है चित्त की विकलता। इसकी उत्पत्ति भय, दुःख, आवेग, अत्यन्त चिन्तन आदि कारणों से होती है, तथा मूर्च्छा, अज्ञान, पतन (गिर पड़ना), चक्कर आना, कुछ दिखाई न पड़ना आदि इसके अनुभाव होते हैं

मोहो विचित्तता भीतिदुःखावेगानुचिन्तनैः।
मूर्च्छनाज्ञानपतनभ्रमणादर्शनादिकृत् ॥[8]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'मोह' और 'जड़ता' ये दोनों मिलती-जुलती अवस्थाएँ हैं। 'जड़ता' है एकदम ठक हो जाना जिसमें मनुष्य की शारीरिक और मानसिक दोनों क्रियाएँ एक क्षण के लिए बंद सी हो जाती हैं। यह अवस्था इष्ट और अनिष्ट दोनों के दर्शन और श्रवण से हो सकती है। इसमें चित्त की व्याकुलता नहीं रहती। 'मोह' दुःखावेग के कारण ही होता है और उसमें चित्त की व्याकुलता और मूर्च्छा होती है। प्रिय को सामने पाकर कभी-कभी भावातिरेक के कारण कुछ क्षण तक न तो मुँह से कोई बात निकलती है, न पैर आगे बढ़ते हैं, टकटकी लगाकर ताकने के सिवा उनसे कुछ नहीं बन

१ संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० १८१
२ मानक हिन्दी कोश (पहला खंड), पृ० ३२०
३ संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० २३२
४ साहित्यदर्पण ३।१४९
५ नाट्यशास्त्र, पृ० १०३
६ रामचरितमानस, १।२७२।९-१०
७ शब्दकल्पद्रुम (तृतीय काण्ड) पृ० ७८८
८ साहित्यदर्पण, ३।१५०, दशरूपक, ४।२६

पड़ता। यह अवस्था जडता है जो अचिंतित अथवा अद्भुत विषय के अकस्मात् सामने आने पर भी होती है। पति का मरण सुनने पर रति को मूर्च्छा आ जाने से क्षण भर के लिए सुख दुःख का कुछ भी ज्ञान नहीं रह गया। यह अवस्था मोह की है।"[1]

आचार्य शुक्ल की उपर्युक्त समीक्षा के आधार पर दोनो मे अन्तर यह है कि 'मोह' केवल दुःखावेग के कारण होता है किन्तु 'जडता' इष्ट और अनिष्ट दोनो के दर्शन और श्रवण से हो सकती है। किन्तु आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार 'मोह' सुखजन्य भी हो सकता है

'सुखजन्मापि मोहो भवति'।[2]

यहाँ हम आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की मान्यता के अनुसार (केवल दुःखावेग के कारण 'मोह' की स्थिति का) उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं

"कहती हुई वह भाँति यों ही भारती करुणामई,
फिर भी हुई मूर्च्छित अहो! वह दुःखिनी विधवा नई।
कुछ देर को फिर शोक उसका सो गया मानो वहाँ,
हतचेत होना भी विपद् मे लाभकारी है महा॥"[3]

पति अभिमन्यु के शोक मे उत्तरा की हत-चेतना से यहाँ 'मोह' की व्यंजना है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'साहित्यदर्पण' के आधार पर अपनी मान्यता निर्धारित की है। उनके मत से

राम को रूप निहारति जानकि कंकन के नग की परछाहीं।
यातें सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही पल टारति नाहीं॥[4]

मे 'जडता' होनी चाहिए, 'मोह' नही जैसा कि अनेक विद्वानो ने उदाहरण देते हुए अपना मत व्यक्त किया है।[5]

९ विबोध—विबोध (वि+बुध्+घञ्)[6] का अर्थ है 'चेतना की पुनः प्राप्ति' जो निद्रा के पश्चात् अथवा अविद्या के पश्चात् होती है। नाट्यशास्त्र के

---

१ रस-मीमासा, पृ० २२३
२ काव्यानुशासन, पृ० ११३
३ काव्यकल्पद्रुम (प्रथम भाग—रसमंजरी), पृ० १२१ पर उद्धृत
४. कवितावली, १।१७
५. हिन्दी साहित्य कोश (पृ० ६०६), काव्यदर्पण (प० रामदहिन मिश्र), पृ० ७४, काव्य-कल्पद्रुम (प्रथम भाग—रसमंजरी), पृ० १२२ मे कवितावली की उपर्युक्त पंक्तियो को 'मोह' के उदाहरण के रूप मे उद्धृत किया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (साहित्यदर्पण के आधार पर) के अनुसार यह 'जडता' का उदाहरण है, 'मोह' का नहीं।
६ संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ६४४

अनुसार निद्राभंग होना, भोजन का कुपरिणाम, दु स्वप्न, तीव्र स्पर्श अथवा शब्द-श्रवण इत्यादि विभावों से यह भाव उत्पन्न होता है। जँभाई लेना, आँखो को मलना, शयनावस्था से उठ खड़ा होना इत्यादि इसके अनुभाव है

विबोधो नाम निद्राच्छेदाहारविपरिणामदु स्वप्नतीव्रशब्दस्पर्शादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। त जृम्भणाक्षिमर्दनशयनमोक्षादिभिरनुभावैरभिनयेत्।[1]

साहित्यदर्पण के अनुसार नींद के दूर करने वाले कारणों से उत्पन्न चेतना की पुन प्राप्ति 'विबोध' है और इसके होने पर जँभाई, अँगड़ाई, आँख मीचना, अगों का देखना आदि हुआ करते हैं

निद्रापगमहेतुभ्यो विबोधश्चेतनागम ।
जृम्भाङ्गभङ्गनयनमीलनाङ्गावलोककृत् ॥[2]

'विबोध' के दोनों ही प्रकार के उदाहरण साहित्य में उपलब्ध होते हैं निद्रानाश के पश्चात् चैतन्यप्राप्ति के तथा अविद्या या अज्ञान के नाश के पश्चात् चैतन्य-लाभ के ।

निद्रा के पश्चात् चेतनाप्राप्ति का उदाहरण

लखि लखि अँखियन अधखुलिन, आँग मोरि अँगराय ।
आधिक उठि लेटत लटकि, आलस भरी जँभाय ॥[3]

अज्ञानजन्य अविद्या नाश के पश्चात् चैतन्य लाभ का उदाहरण

तव प्रसाद सब मोह मिटि भो स्वरूप को ज्ञान ।
गत-संसय गोविंद ! तव करिहौं बचन प्रमान ॥[4]

अज्ञान-जन्य अविद्या के नष्ट हो जाने पर तथा ज्ञान प्राप्त हो जाने पर अर्जुन की इस उक्ति में 'विबोध' की व्यंजना है।

१०. स्वप्न—स्वप्न (स्वप्+नक्),[5] सुप्त (स्वप्+क्त)[6] अथवा सुप्ति (स्वप्+क्तिन्)[7] का अर्थ है 'निद्रा में निमग्न होने पर विषयानुभव'।

भरत और धनंजय ने इसे 'सुप्त' नाम दिया तथा इसे निद्रा से उद्भूत बताया। उनके अनुसार उच्छ्वास, नि श्वास, शिथिलगात्र, आँखें बन्द होना, इन्द्रियों का सम्मोह एवं स्वप्न में बोलना आदि इसके अनुभाव हैं :

---

१. नाट्यशास्त्र, पृ० १०६
२ साहित्यदर्पण, ३।१५१
३ बिहारी-बोधिनी, ३७१
४ काव्यकल्पद्रुम (प्रथम भाग—रसमञ्जरी), पृ०१४१ पर उद्धृत
५ संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ११५८
६ संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० ११११५
७. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० ११११५

निद्राभिभवेन्द्रियोपगमनमोहनं भवेत् सुप्तम् ।
अक्षिनिमीलोच्छ्वसनैः स्वप्नायितजल्पितैः कार्यं ॥
सोच्छ्वासैर्निःश्वासैर्मन्दाक्षिनिमीलनेन निश्चेष्टः ।
सर्वेन्द्रियसंमोहात्सुप्तं स्वप्नैः प्रयुञ्जीत ॥[1]

भरत के उपर्युक्त स्वरूप-लक्षण को सक्षेप से धनजय ने इस प्रकार कहा

सुप्तं निद्रोद्भवं तत्र श्वासोच्छ्वासक्रियापरम् ।[2]

शारदातनय ने इसे 'सुप्ति' कहा है। किन्तु कालान्तर मे इसका नाम 'स्वप्न' पड गया तथा अधिकाश परवर्ती आचार्यों ने इसे 'स्वप्न' ही कहा। विश्वनाथ ने इसे 'स्वप्न' की सज्ञा प्रदान करते हुए इसका स्वरूप-निरूपण इस प्रकार किया है

स्वप्नो निद्रामुपेतस्य विषयानुभवस्तु य ।
कोपावेगभयग्लानिसुखदु खादिकारक. ॥[3]

अर्थात् 'स्वप्न' का अभिप्राय है निद्रा मे निमग्न होने पर विषयानुभव, कोप, आवेग, भय, ग्लानि, सुख, दु ख आदि के द्वारा इस भाव की अभिव्यक्ति होती है।

यहाँ लक्ष्य करने योग्य है कि दिवा-स्वप्नों को भी हम इसी भाव की परिधि मे रखते हैं।[4]

'स्वप्न' के उदाहरण के रूप मे कविवर सुमित्रानदन पत की 'स्वप्न' शीर्षक कविता की कुछ पक्तियाँ देना उपयुक्त होगा

मुकुलित पलकों के प्यालों मे
किस स्वप्निल मदिरा का राग
इन्द्रजाल सा गूँथ रहा नव,
किन पुष्पों का स्वर्ण पराग ?

किन इच्छाओं के पखों मे
उड़ उड़ मै आँखें अनजान
मधु बालों सी, छाया-वन की
कलियों का मधु करतीं पान ?[5]

---

१. नाट्यशास्त्र, ७।७५-७६
२. दशरूपक, ४।२२
३. साहित्यदर्पण, ३।१५२
४. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ८७३
५. पल्लव, पृ० ६५

११ अपस्मार : अपस्मार (अप+स्मृ—करणे घञ्)[1] चित्त की वह वृत्ति है जिसमें मृगी रोग का सा लक्षण लक्षित होता है। भरत के अनुसार ग्रह, भूत-प्रेत, वेदना, आघात आदि के आवेश से इसकी उत्पत्ति होती है तथा इसके होने पर पृथ्वी पर लोट पड़ना, कँपकँपी, पसीने का आ जाना, मुँह में झाग का आना, लार टपकना आदि हुआ करते हैं

भूतपिशाचग्रहणानुस्मरणोच्छिष्टशून्यगृहगमनात् ।
कालान्तरातिपातादशुचेश्च भवेद् अपस्मारः ॥
सहसा भूमौ पतनं प्रकम्पनं वदनफेनमोक्षश्च ।
निःसंज्ञस्योत्थानं रूपाण्येतान्यपस्मारे ॥[2]

साहित्यदर्पणकार ने भी यही लक्षण संक्षेप में इस प्रकार दिया है

मनःक्षेपस्त्वपस्मारो ग्रहाद्यावेशनादिजः ।
भूपातकम्पप्रस्वेदफेनलालादिकारकः ॥[3]

अपस्मार की निरुक्ति देते हुए भावप्रकाशनकार ने लिखा है

अपस्मारोऽनुभूतेषु पदार्थेष्वन्यथास्मृतिः ।
अन्यथास्मृतिरेव स्यात् पदार्थास्मृतिरेव वा ॥[4]

अर्थात् स्मृति का अपगम 'अपस्मार' है। स्मृति का यह अपगम दो प्रकार से हो सकता है १ अन्यथास्मृति, २ अस्मृति।

यद्यपि 'अपस्मार' एक व्याधि है, किन्तु भयादि से उत्पन्न होने के कारण बीभत्स और भयानक रस में यह संचारी होता है।[5] निम्नांकित उदाहरण में कामपीडिता नायिका की स्थिति का वर्णन है। यहाँ 'अपस्मार' की व्यञ्जना है :

जा छिन तें सुनु साँवरे रावरे लागे कटाच्छ कछू अनियारे।
त्यों पदमाकर ता छिन तें, तिय सों अँग अंग न जात सम्हारे ॥
ह्वै हिय हायल घायल सी, घन घूमि गिरी परी प्रेम तिहारे।
नैन गये फिरि फेन बहे मुख, चैन रह्यो नहिं मैन के मारे ॥[6]

१२ गर्व—गर्व (गर्व्+घञ्)[7] अथवा गर्व्+भावे अप् अथवा गॄ निगरणे+व)[8] का अर्थ है मद या अहंकार। अग्निपुराणकार ने इसका लक्षण निरूपित करते हुए कहा है :

---

१ शब्दकल्पद्रुम (प्रथम काण्ड), पृ० ६६
२ नाट्यशास्त्र, ७।७३-७४
३. साहित्यदर्पण, ३।१४३
४. भावप्रकाशन, अधिकार २ (साहित्यदर्पण, पृ० २१३ पर उद्धृत)
५ अपस्मारस्तु बीभत्स भयानकयो (संचारी)।—हिन्दी नाट्यदर्पण, पृ० ३४२
६ जगद्विनोद (पद्माकर), पृ० १२४
७ मानक हिन्दी कोश (दूसरा खंड), पृ० ८२
८ शब्दकल्पद्रुम (द्वितीय काण्ड), पृ० ३११

गर्वः परेष्ववज्ञानमात्मन्युत्कर्षभावना ।[1]

अर्थात् अपने उत्कर्ष की भावना से दूसरे की अवज्ञा (अपमान) करना 'गर्व' है। भरत के अनुसार इसके विभाव हैं वैभव, उच्चकुल, सुन्दर रूप, युवावस्था, विद्या-प्रवीणता, बल अथवा धन का लाभ। इसकी अभिव्यक्ति अविनय, उपेक्षा-वृत्ति, कठोरवचन, सभाषण, दूसरो के अनादर आदि से होती है

गर्वो नाम ऐश्वर्यकुलरूपयौवनविद्याबलधनलाभादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्यावज्ञाधर्षणानुत्तरदानासंभाषणासावलोकनविभ्रमापहसनपारुष्यगुर्वतिक्रमाणाधिक्षेपादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।[2]

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने इसका स्वरूप-निरूपण इस प्रकार किया है

गर्वो मद प्रभावश्रीविद्यासत्कुलतादिज ।
अवज्ञासविलासाङ्गदर्शनाविनयादिकृत् ॥[3]

अर्थात् प्रभाव, ऐश्वर्य, विद्या, कुलीनता आदि से उत्पन्न होने वाला मद 'गर्व' कहलाता है। दूसरो की अवज्ञा (अपमान), दूसरो को नीचा दिखाने के लिए अँगूठे आदि का दिखाना, अविनयपूर्ण व्यवहार आदि इसके अनुभाव होते हैं।

'गर्व' के उदाहरण के रूप मे हम रावण-अगद सवाद की निम्नाकित पक्तियाँ उद्धृत कर सकते हैं

मम भुज सागर बल जल पूरा। जहँ बूडे बहु सुर नर सूरा।
बीस पयोधि अगाध अपारा। को अस बीर जो पाइहि पारा ॥[4]

यहाँ रावण की इस उक्ति मे कि 'कौन वीर मेरी भुजाओ के बल का पार पा सकता है,' 'गर्व' की व्यजना है।

१३ मरण मरण (मृ + भावे ल्युट)[5] का अर्थ है मृत्यु या मरना, किन्तु सचारी भाव के रूप मे इसका अर्थ है 'मरणासन्न अवस्था'। यह अवस्था व्याधि, अभिघात आदि कारणो से उत्पन्न होती है।[6]

आचार्य विश्वनाथ मरण का अर्थ वास्तविक प्राणत्याग मानते हैं जो शरादि द्वारा सभव है

शराद्यैर्मरणं जीवत्यागोऽङ्गपतनादिकृत् ।[7]

धनजय ने अमागलिक समझकर इसकी परिभाषा नही की

---

१. अग्निपुराण, ३३९।२९
२ नाट्यशास्त्र, (सप्तम अध्याय), पृ० १०४
३ साहित्यदर्पण, ३।१५४
४. रामचरितमानस, ६।२८।२, ४
५. सस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ७७३
६. मरण नाम व्याधिजमभिघातज च। —नाट्यशास्त्र, पृ० १०८
७ साहित्यदर्पण, ३।१५५

मरणं सुप्रसिद्धत्वादनर्थत्वाच्च नोच्यते ।[1]

कुछ आचार्यों ने वास्तविक मृत्यु के रूप में इसे लिया है, किन्तु वास्तविक मृत्यु का वर्णन अमांगलिक माना जाता है, अतः यहाँ 'मरण' का अभिप्राय 'मरण के पूर्व जैसी दशा' होना चाहिए। इसी के अनुरूप हम निम्नांकित उदाहरण दे रहे हैं जिसमें राधा की 'मरणासन्न अवस्था' का वर्णन है

राधा की बाढ़ी वियोग की बाधा, सु 'देव' अबोल अडोल डरी रही ।
लोगन की वृषभानु के भौन में, भोरते भारिये भीर भरी रही ॥
वाके निदान ते प्रान रहे कढ़ि, औषधि मूरि करोरि करी रही ।
चेति मरु करिके चितई जब, चार घड़ी लौं मरीये परी रही ॥[2]

१४ अलसता—अलसता [न(अ)—लस्—अच् = अलस [3] अलसस्य भाव —अलस — तल्—टाप्) या आलस्य (अलस —ष्यञ्)[4] का अर्थ है 'कार्य-विरति'। भरत के अनुसार प्रकृति, वाहिली, बीमारी, तृप्ति तथा गर्भ आदि के कारण उत्पन्न भाव अकर्मण्यता, बैठे या लेटे रहने, जँभाई लेने तथा सोने आदि अनुभावों द्वारा व्यक्त होता है

आलस्य नाम स्वभावखेदव्याधिसौहित्यगर्भादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते स्त्री-नीचानाम्। तदभिनयेत् सर्वकर्मप्रद्वेषशयनासनतन्द्रानिद्रासेवनादिभिरनुभावैः ।[5]

इसी परंपरा का पालन करते हुए धनंजय ने 'दशरूपक' में इसका लक्षण देते हुए लिखा है, 'श्रम, गर्भ आदि से उत्पन्न होने वाले 'जाड्य' को 'आलस्य' कहते हैं। जँभाई लेना, एक जगह बैठे रहना आदि इसके अनुभाव हैं

आलस्यं श्रमगर्भादेर्जाड्यं जृम्भासितादिमत् ।[6]

आचार्य विश्वनाथ ने शब्दों के कुछ हेर फेर से इसी लक्षण को इस प्रकार लिखा है

आलस्यं श्रमगर्भाद्यैर्जाड्यं जृम्भासितादिकृत् ॥[7]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'आलस्य' को किसी भाव का संचारी न मानकर स्वतन्त्र मानना ही उचित समझते हैं। उनका कथन है कि जब तक किसी भाव के साथ उसका सीधा लगाव न हो तब तक वह संचारी कैसा ?[8] किन्तु साहित्य

१ दशरूपक, ४।२९
२ देव (काव्यदर्पण, पृ० ८३ पर उद्धृत)
३ संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० १०३
४ संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० १६१
५ नाट्यशास्त्र, पृ० १००
६ दशरूपक, ४।२३
७ साहित्यदर्पण, ३।१५५
८. रस-मीमांसा, पृ० २२८-२९

में कुछ उदाहरण ऐसे मिल जाते हैं जिनके कारण हम इसे अन्य भाव का पोषक मानने को बाध्य होते हैं। निम्नांकित उदाहरण हमारे इस कथन का समर्थन करता है

गोकुल में गोपिन गुविन्द संग खेलो फाग,
राति भरी आलस में ऐसी छबि छलकें।
देह भरी आलस कपोल रस रोरी भरे,
नींद भरे नयन कछूक अर्ध झलकें ॥[1]

यहां निश्चय ही 'आलस्य' रतिभाव के पोषक के रूप में आया है। इसी प्रकार बिहारी के निम्नांकित दोहे में भी 'आलस्य' रतिभाव का पोषक होकर आया है

नींठि नींठि उठि बैठि कैं, प्यौ प्यारी परभात।
दोऊ नींद भरे खरे, गरे लागि गिरजात ॥[2]

१५ अमर्ष—अमर्ष [न (अ) मृष्—सहना + घञ्][3] का अर्थ है असहिष्णुता, क्रोध या रोष। निन्दा, आक्षेप, अपमान आदि के कारण उत्पन्न असहिष्णुता को 'अमर्ष' कहते हैं। इसमें आँखें लाल हो जाती हैं, सिर काँपने लगता है, भौंहें चढ़ जाती हैं आदि आदि

अधिक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता।
तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥[4]

आचार्यों ने 'अमर्ष' की दो स्थितियां मानी हैं १. क्रोध की पूर्वावस्था, २ उस क्रोध से अभिभूत प्रतीकार की इच्छा। इनमें से दूसरी अवस्था को अनुभाव मानना ही युक्तिसंगत है।

'अमर्ष' और 'उग्रता' में विशेष अन्तर यह है कि 'उग्रता' का मनोभाव किसी अपराधी, क्रूर और दुष्ट व्यक्ति के प्रति ही व्यक्त होता है तथा उसमें निर्दयता का समावेश अनिवार्यतः होता है, किन्तु 'अमर्ष' किसी भी व्यक्ति के प्रति अपमान के कारण उत्पन्न हो सकता है।

'अमर्ष' के उदाहरण के रूप में हम परशुराम की निम्नांकित उक्ति उद्धृत कर सकते हैं

रे नृपबालक कालबस बोलत तोहि न संभार।
धनुही सम तिपुरारिधनु बिदित सकल ससार ॥[5]

लक्ष्मण ने शिवधनुष को 'धनुही' कहकर उसका अपमान किया। परशुराम

---

१. जगद्विनोद (पद्माकर), पृ० ११४
२. बिहारी बोधिनी, ३७२
३. मानक हिन्दी कोश (पहला खंड), पृ० १६३
४. दशरूपक, ४।१८
५. रामचरितमानस, १।२७२।९-१०

इस अपमान को न सहन कर सके। उन्होंने लक्ष्मण को डाँटते हुए उपर्युक्त बात कही। उनकी इस उक्ति में अमर्ष का भाव है।

१६ निद्रा निद्रा (निन्द – रक – टाप नलोप)[1] का अर्थ है सुप्तावस्था या नींद। संचारी भाव के रूप में निद्रा का अर्थ है वह स्थिति जब इन्द्रियाँ अपने विषयों का ग्रहण नहीं कर पाती।[2] नाट्यशास्त्र में दुर्बलता, परिश्रम, मदिरा आदि के पान, आलस्य, चिन्ता, अधिक आहार आदि विभावों से इसकी उत्पत्ति मानी गयी है तथा इसके अनुभावों के अन्तर्गत मुँह भारी होना, अंगों को मरोड़ना, आँखों के विलोलन, जँभाई, उच्छ्वास आदि की गणना की गयी है

> आलस्याद् दौर्बल्यात्क्लमाच्छ्रमाच्चिन्तनात् स्वभावाच्च।
> रात्रौ जागरणादपि निद्रा पुरुषस्य सम्भवति॥
> ताः मुखगौरवगात्रपरिलोटननयननिमीलनजडत्वैः।
> जृम्भणगात्रविमर्दैरनुभावैरभिनयेत् प्राज्ञ.॥[3]

दशरूपककार[4] एवं साहित्यदर्पणकार ने इसी का अनुसरण करते हुए संक्षेप में इस भाव का स्वरूपनिरूपण करते हुए लिखा है 'परिश्रम, मन्द, मदपान आदि से उत्पन्न चित्त की निश्चलता (बाह्य विषयों से निवृत्ति) को 'निद्रा' कहते हैं। इसमें जँभाई लेना, आँखें मीचना, उच्छ्वास, अँगड़ाई आदि आदि हुआ करते हैं

> चेतःसंमीलनं निद्रा श्रमक्लममदादिजा।
> जृम्भाक्षिमीलनोच्छ्वासगात्रभङ्गादिकारणम्॥[5]

वास्तव में यहाँ 'निद्रा' का अभिप्राय वास्तविक निद्रा (शारीरिक अवस्था) न होकर वह आलस्यपूर्ण स्थिति है जब इन्द्रियाँ अपने विषयों का ग्रहण नहीं कर पाती। इस दृष्टि से निम्नांकित पंक्तियाँ इस भाव के उपयुक्त उदाहरण के रूप में उद्धृत की जा सकती हैं

> चिन्तामग्न राजा घूमता है उपवन में
> होकर विदेह-सा विसार आत्मचेतना
> बंद हुई आँखें—हुआ शिथिल शरीर भी।[6]

यहाँ जयन्द की 'निद्रा' व्यंजित है।

---

१. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ५०७
२ इन्द्रियाव्यापृतिर्निद्रा—हिन्दी नाट्यदर्पण, ३।३६ (पृ० ३८०)
३ नाट्यशास्त्र, ७।३१ ३२
४ मनःसंमीलनं निद्रा चिन्तालस्यक्लमादिभिः।
तत्र जृम्भाङ्गभङ्गाक्षिमीलनोच्छ्वसनादयः॥ —दशरूपक ४।२३
५ साहित्यदर्पण, ३।१५३
६. काव्यदर्पण, पृ० ७२ पर उद्धृत

१७ अवहित्था—अवहित्था [अव (व) हित्था स्थम् (न वहि तिष्ठति इति—स्था+क पृषो०)][1] का कोशगत अर्थ है 'पाखण्ड' या 'आन्तरिक भाव गोपन'। काव्यशास्त्रीय ग्रंथो मे इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार बतायी गयी है 'न वहिस्थ चित्त येनेति'[2] अर्थात् चित्त का अन्तर्गत भाव बाहर व्यक्त न होने से 'अवहित्था' होती है। नाट्यशास्त्र के अनुसार आकारप्रच्छादनात्मक 'अवहित्था' का भाव लज्जा, भय, पराजय की महत्ता एव वञ्चना इत्यादि विभावो से उद्‌बुद्ध होता है। इसके अनुभाव है किसी दूसरी बात की चर्चा न करना, अन्य दिशाओ मे देखना, बीच मे बात काटना, कृत्रिम धैर्य का प्रदर्शन करना आदि

अवहित्थं नाम आकारप्रच्छादनात्मकम्। तच्च लज्जाभयापजयगौरव-जैह्म्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्यान्यथाकथनावलोकितकथाभङ्गकृतकधैर्यादि-भिरनुभावैरभिनय प्रयोक्तव्य।[3]

दशरूपककार ने अवहित्था का लक्षण प्रतिपादित करते हुए सक्षेप मे कहा है

लज्जाद्यैर्विक्रियागुप्ताववहित्थाङ्गविक्रिया।[4]

विश्वनाथ ने इसको कुछ अधिक विस्तृत रूप मे कहा

भयगौरवलज्जादेर्हर्षाद्याकारगुप्तिरवहित्था।
व्यापारान्तरसक्त्यन्यथावभाषणविलोकनादिकरी॥[5]

अर्थात् भय, गौरव, लज्जा आदि के कारण उद्‌बुद्ध हुए प्रसन्न मुद्रा, काम-मुद्रा आदि के भाव को छिपाना 'अवहित्था' है। व्यापारान्तर (जिस काम मे लगा हो उसे छोडकर दूसरे काम मे लग जाना), अन्यथावभाषण (इधर-उधर की बातें करना), दूसरी ओर लग जाना आदि इसके अनुभाव होते हैं। उदाह-रण -

देखन मिस मृग बिहग तरु फिरइ बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीर छबि बाढ़इ प्रीति न थोरि॥[6]

सीता के मन मे राम को देखते रहने की उत्कट अभिलाषा है, किन्तु लज्जा के कारण वे इस भाव को छिपा रही हैं और हरिण, पक्षी, वृक्ष आदि को देखने के बहाने राम की शोभा का दर्शन कर रही है। इस प्रकार यहां 'अवहित्था' का भाव व्यजित है।

---

१ संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ११५
२. काव्यानुशासन (हेमचन्द्र), पृ० १०८
३ नाट्यशास्त्र (सप्तम अध्याय), पृ० १०७
४. दशरूपक, ४।२६
५. साहित्यदर्पण, ३।१५८
६. रामचरितमानस, १।२३४।६-१०

१८ औत्सुक्य—औत्सुक्य [उद्+सू+क्विप्+कन् ह्रस्व =उत्सुकः[1], उत्सुक+ष्यञ् =औत्सुक्यम्[2]] का अर्थ है मन की वह तरल (अस्थिर) अवस्था जो इष्ट की प्राप्ति की इच्छा के कारण हो

औत्सुक्यमीप्सिताप्राप्तेर्वाञ्छया तरला स्थितिः ॥[3]

भरत के अनुसार प्रियजन के वियोग में उसके स्मरण और उद्यान आदि उद्दीपनों के दर्शन से यह भाव जाग्रत होता है तथा दीर्घनिश्वास, चिन्ताग्रस्त अधोमुख, निद्रा एवं शयन की अभिलाषा से यह भाव अभिव्यक्त होता है

औत्सुक्यं नाम इष्टजनवियोगानुस्मरणोद्यानदर्शनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य दीर्घनिःश्वसिताधोमुखविचिन्तननिद्रातन्द्रीशयनाभिलाषादिभिरभिनयः प्रयोक्तव्यः।[4]

दशरूपक के रचयिता ने इस परिभाषा में कुछ परिवर्तन कर कहा

कालाक्षमत्वमौत्सुक्यं रम्येच्छारतिसंभ्रमैः ।
तत्रोच्छ्वासत्वरा श्वासहृत्तापस्वेदविभ्रमाः ॥[5]

अर्थात् मनोहारी इच्छा, सम्भोग या संभ्रम के कारण वांछित वस्तु की प्राप्ति में विलम्ब को सहन करने की क्षमता का अभाव ही 'औत्सुक्य' है। उच्छ्वास, श्वास, हृदय में सन्ताप, स्वेदकण या भ्रम इस भाव के अनुभाव हैं। विश्वनाथ ने भी दशरूपक का अनुसरण करते हुए कालविलम्ब के न सहन कर सकने को 'औत्सुक्य' कहा है

इष्टानवाप्तेरौत्सुक्यं कालक्षेपासहिष्णुता ।[6]

'औत्सुक्य' के उदाहरण के रूप में 'प्रियप्रवास' के प्रथम सर्ग की निम्नांकित पंक्तियाँ उद्धरणीय हैं

दिन-समस्त समाकुल से रहे।
सकल मानव गोकुल ग्राम के ।
अब दिनान्त विलोकित हो बढ़ी।
व्रज - विभूषण - दर्शन-लालसा ॥
सुन पड़ा स्वर ज्यों कल-वेणु का।
सकल ग्राम समुत्सुक हो उठा ।
हृदय-यंत्र निनादित हो गया।
तुरत ही अनियंत्रित भाव से ॥

१ संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० १६१
२ संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० २२२
३ अग्निपुराण, ३३१।२०
४ नाट्यशास्त्र (सप्तम अध्याय), पृ० १०४
५ दशरूपक, ४।३२
६ साहित्यदर्पण, ३।१४६

वय-वती युवती वहु-बालिका ।
सकल बालक वृद्ध वयस्क भी ।
विवश से निकले निज गेह से ।
स्वदृग का दुख-मोचन के लिये ॥[1]

यहाँ वन से आते हुए श्रीकृष्ण को देखने के लिए गोकुलवासियों का उत्सुकता अभिव्यक्त हुई है ।

१९ उन्माद—उन्माद (उद्+मद्+घञ्[2]) का अर्थ है पागलपन या विक्षिप्ति । भरत के अनुसार प्रियजन के विरह, सम्पत्ति आदि के नाश, वात, पित्त, कफ आदि के प्रकोप से उत्पन्न चित्त का विप्लव 'उन्माद' है । अकारण हँसना, रोना, चिल्लाना, कभी लेटना कभी बैठना आदि अनेक अनुभावों द्वारा इस भाव की अभिव्यक्ति होती है .

इष्टजनविभवनाशादभिघाताद्वातपित्तकफकोपात् ।
विविधाच्चित्तविकारादुन्मादो नाम सभवति ॥
अनिमित्तहसितरुदितोपविष्टगतिप्रधावितोत्क्रुष्टैः ।
अन्यैश्च विकारकृतैरुन्मादं सप्रयुञ्जीत ॥[3]

विश्वनाथ के मतानुसार काम, शोक, भय आदि के कारण उत्पन्न चित्त की व्यामूढता को 'उन्माद' कहते है । अकारण हँसना, अकारण रोना, अकारण गाने लगना, प्रलाप करना आदि इसके अनुभाव होते हैं

चित्तसंमोह उन्माद कामशोकभयादिभिः ।
अस्थानहासरुदितगीतप्रलपनादिकृत् ॥[4]

नाट्यदर्पण के अनुसार यह भाव उत्तम प्रकृति के व्यक्तियों मे विप्रलम्भ की अवस्था मे और अधम प्रकृति के व्यक्तियों मे करुण की अवस्था मे सचारी होता है । नाट्यदर्पणकार ने 'अपस्मार' और 'उन्माद' का अन्तर बताते हुए कहा है कि 'मन की विकलता' 'अपस्मार' है तथा 'मन की अस्थिरता' 'उन्माद' है ।[5] साहित्य मे 'उन्माद' के उदाहरण अधिकाशत विप्रलम्भ शृगार मे ही उपलब्ध होते हैं । इस दृष्टि से निम्नाकित उदाहरण इसका एक युक्तिसगत उदाहरण होगा .

---

१. प्रियप्रवास, १।२१-१३
२ सस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० २०१
३. नाट्यशास्त्र, ७।८४-८५ (पृ० १०८)
४. साहित्यदर्पण, ३।१६०
५ अय चोत्तमस्य विप्रलम्भे, अधमस्य करुणे व्यभिचारी । अपस्मारस्तु बीभत्स-भयानकयो । स च मनोवैकल्यम्, अयन्तु मनोऽनवस्थितिरिति भेद इति ।
—(हिन्दी) नाट्यदर्पण, पृ० २४२

आपुहि आपु पै हँसि रही, कबहूँ पुनि आपु ही आपु मनावै।
त्यौं 'पदमाकर' ताकै तमालनु भेंटिबे को कबहूँ उठि धावै॥
जो हरि रावरो चित्र लखै तौ कहूँ कबहूँ हँसि हेरि बुलावै।
व्याकुल बाल सुआलिन सौं, कह्यौ चाहै कछू तौ कछू कहि आवै॥[1]

२० शङ्का—शङ्का (शङ्क्+अ+टाप्[2]) का अर्थ है 'अनर्थ-चिन्तन'। नाट्यशास्त्र के अनुसार चोरी, राजा के प्रति अपराध आदि इसके कारण होते हैं तथा एकटक देखना, शङ्कित चाल, ओठ चाटना, मुँह का रंग बदलना, कम्पन, स्वरभंग आदि अनुभावों द्वारा इसकी अभिव्यक्ति होती है

शङ्का नाम सन्देहात्मिका स्त्रीनीचाना चौर्याद्यभिग्रहणनृपापराधपापकर्मकरणादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। सा च मुहुर्मुहुरवलोकनावकुण्ठितमुखशोषणजिह्वापरिलेहनमुखवैवर्ण्यवेपनशुष्कोष्ठकण्ठावसादादिभिरनुभावैरभिनीयते।[3]

विश्वनाथ के अनुसार दूसरे के क्रूर आचरण, आत्मदोष आदि के कारण अनर्थ का चिन्तन 'शंका' है। वैवर्ण्य, कम्प, स्वरभंग, इधर-उधर देखना, मुँह सूखना आदि इसके अनुभाव होते हैं

परक्रौर्यात्मदोषाद्यैः शङ्काऽनर्थस्य तर्कणम्।
वैवर्ण्यकम्पवैस्वर्यपार्श्वालोकास्यशोषकृत्॥[4]

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों ने इसी के आधार पर लक्षण दिये हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने शंका को भय का वितर्क-प्रधान रूप कहा है, जो आलम्बन के दूरस्थ होने पर प्रकट होता है। इसमें वेग नहीं होता। 'वितर्क' और 'शंका' में भेद यह है कि वितर्क में अनुमान का व्यभिचार इष्ट और अनिष्ट दोनों पक्षों में बारी-बारी से हो सकता है, पर 'शंका' में 'भय' के लेश के कारण अनुमान अनिष्ट पक्ष में ही जाया करता है।[5]

उदाहरण

(१) रघुपति अनुजहि आवत देखी। बाहिज चिंता कीन्हि बिसेषी॥
जनकसुता परिहरिहु अकेली। आएहु तात बचन मम पेली॥
निसिचरनिकर फिरहिं बन माहीं। मम मन सीता आश्रम नाहीं॥[6]

(२) चौंकि चौंकि चकता कहत चहुँधा ते यारो,
लेत रहो खबरि कहाँ लौं सिवराज है।[7]

---

१. जगद्विनोद (पद्माकर), पृ० १२६
२. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ९९८
३. नाट्यशास्त्र (अध्याय ७), पृ० ९८
४. साहित्यदर्पण, ३।१६१
५. रस-मीमांसा, पृ० २१८
६. रामचरितमानस, ३।३०।१-२
७. शिवाबावनी, ३३ (भूषणग्रन्थावली, पृ० १२०)

२१ स्मृति—'स्मृति' (स्मृ + क्तिन्[1]) का अर्थ है भूतकाल में अनुभूत विषय का स्मरण। भरत के अनुसार दुःख अथवा सुख की स्थिति का स्मरण 'स्मृति' है। इसका सम्बन्ध रोग, अनिद्रा, नतमुख होकर देखने या सोचने से है। नतमुख होना, नीचे देखना, भौंहें चढ़ाना आदि इसके अनुभाव हैं

सुखदु:खमतिक्रान्तं तया मतिविभावितम्।
विस्मृतं च यथावृत्तं स्मरेद् य स्मृतिमानसौ॥
स्वास्थ्यान्याससमुत्था श्रुतिदर्शनसंभवा स्मृतिर्निपुणैः।
शिरउद्वाहनकम्पैर्भ्रूविक्षेपैः साभिनेतव्या॥[2]

दशरूपककार[3] एवं साहित्यदर्पणकार के अनुसार पहले अनुभव की गयी किसी वस्तु के पुनर्ज्ञान का नाम 'स्मृति' है। सदृश वस्तु के अनुभव अथवा चिन्तन से इसकी उत्पत्ति होती है तथा भौंहें चढ़ना आदि विकृतियों द्वारा इसकी अभिव्यक्ति होती है :

सदृशज्ञानचिन्ताद्यैर्भ्रूसमुन्नयनादिकृत्।
स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषयज्ञानमुच्यते॥[4]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'स्मृति' को अंतःकरण की वृत्ति माना है, जो धारणा, बुद्धि आदि का व्यापार है, रागात्मिका नहीं। उनके अनुसार काव्य में इसका ग्रहण वहीं तक समझना चाहिए जहाँ तक वह प्रत्यक्ष रूप में भावों के द्वारा प्रेरित प्रतीत होती हो।[5] 'स्मृति' के उदाहरण के रूप में उन्होंने बिहारी के दोहों को उद्धृत किया है। उनमें से एक दोहा यहाँ दिया जा रहा है :

जहाँ जहाँ ठाढ़ो लख्यो स्याम सुभग-सिरमौर।
उनहूँ बिन छिन गहि रहत दृगनि अजहूँ वह ठौर॥[6]

२२ मति—'मति' (मन् + क्तिन्[7]) का अर्थ है बुद्धि, समझदारी आदि। भरत ने इसके विभावों और अनुभावों का वर्णन करते हुए लिखा है कि अनेक शास्त्रों के मनन, पक्ष एवं विपक्ष का निरीक्षण करने से मति उत्पन्न होती है तथा शिष्यों को उपदेश, विचार एवं संशय दूर करने से इसकी अभिव्यक्ति होती है -

---

१. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ११५२
२. नाट्यशास्त्र, ७।५४, ५५
३. सदृशज्ञानचिन्ताद्यैः संस्कारात्स्मृतिरत्र च।
ज्ञातत्वेनार्थभासिन्या भ्रूसमुन्नयनादयः॥ —दशरूपक, ४।२०
४. साहित्यदर्पण, ३।१६२
५. रस-मीमांसा, पृ० २११
६. बिहारी-बोधिनी, ७
७. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ७६४

२३ व्याधि—व्याधि (वि + आ + √धा + कि[1]) का शाब्दिक अर्थ है रोग या अस्वस्थता। भरत के नाट्यशास्त्र में शारीरिक स्वास्थ्याभाव को 'व्याधि' कहा गया है तथा वात, पित्त और कफ के सन्निपात से उसकी उत्पत्ति बतायी गयी है। इसका प्रमुख स्वरूप ज्वर है जो सशीत एवं सदाह के भेद से दो प्रकार का होता है :

व्याधिर्नाम वातपित्तकफसंनिपातप्रभवः। तस्य ज्वरादयो विशेषाः। ज्वरस्तु खलु द्विविधः सशीतः सदाहश्च॥[2]

किन्तु इतने से ही इसकी गणना संचारियों में नहीं हो सकती। इसीलिए परवर्ती आचार्यों ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की कि इसे मन की स्थिति के रूप में प्रतिपादित किया, केवल शारीरिक स्थिति के रूप में ही नहीं। धनंजय ने इसकी गणना संचारियों में तो कर ली, किन्तु स्पष्ट रूप से कह दिया कि इसका सम्बन्ध आयुर्वेद से है

व्याधयः सन्निपाताद्यास्तेषामन्यत्र विस्तरः।[3]

आचार्य विश्वनाथ ने भी

व्याधिर्ज्वरादिर्वाताद्यैर्भूमीच्छोत्कम्पनादिकृत्।[4]

कहकर इसे एक शारीरिक अवस्था माना।

किन्तु अग्निपुराणकार ने 'व्याधिर्मनोवपुरवग्रहः'[5] (मन एवं शरीर की अस्वस्थता), नाट्यदर्पणकार ने 'अगमन क्लेश'[6] और प्रतापरुद्रयशोभूषण ने 'मनस्ताप'[7] कहकर इसकी स्थिति स्पष्ट कर दी और संचारियों के अन्तर्गत इसकी गणना करने में कोई कठिनाई न रह गयी। वास्तव में इसे शारीरिक एवं मानसिक अवस्थाओं का सम्मिश्रण ही मानना चाहिए। इसीलिए इसे रोग, वियोग आदि से उत्पन्न मन का सन्ताप कहा गया है। स्वेद, ताप, कम्पन आदि इसके अनुभाव होते हैं। उदाहरण के रूप में हम 'साकेत' के नवम सर्ग का निम्नांकित दोहा उद्धृत कर सकते हैं। इसमें उर्मिला की विरहजन्य 'व्याधि' की व्यंजना है

मानस-मन्दिर में सती, पति की प्रतिमा थाप,
जलती-सी उस विरह में, बनी आरती आप![8]

---

१. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ६८६
२. नाट्यशास्त्र (सप्तम अध्याय), पृ० १०७
३. दशरूपक, ४।२६
४. साहित्यदर्पण, ३।१६४
५. अग्निपुराण, ३३९।३३
६. दोषेभ्योऽङ्गमनःक्लेशो व्याधिः स्वनितकम्पवान्।
—(हिन्दी) नाट्यदर्पण, सूत्र १६४ (पृ० ३३७)
७. मनस्तापादभिभवाज्ज्वरादिर्व्याधिरिष्यते।—प्रतापरुद्रयशोभूषण, पृ० २८५
८. साकेत (नवम सर्ग), पृ० २६८

२४ त्रास—त्रास (त्रस्+घञ्[1]) का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है भय, डर या आतंक। काव्यशास्त्रीय अर्थ में आकस्मिक भय से उत्पन्न 'चित्तक्षोभ' को त्रास कहते हैं

आकस्मिकभयाच्चित्तक्षोभस्त्रासः प्रकीर्त्यते ।[2]

भरत के अनुसार इसकी उत्पत्ति वज्रपात, उल्कापात, मेघगर्जन, भयानक वस्तु अथवा पशु के दर्शन से होती है। अल्पकम्पन, रोमांच, गद्गद वाणी आदि इसके अनुभाव होते हैं

त्रासो नाम विद्युदुल्काशनिपातनिर्घाताम्बुधरमहासत्त्वदर्शनपशुरावादिभि-र्विभावैरुत्पद्यते। संक्षिप्ताङ्गोत्कम्पनवेपथुस्तम्भरोमाञ्चगद्गदप्रलापादिभिरनु-भावैरभिनयेत् ।[3]

नाट्यदर्पण के अनुसार विद्युत्पात, महाभैरवनाद, भयानक प्राणियों तथा शव इत्यादि के दर्शन से जो आकस्मिक उद्वेगकारी मनःक्षोभ होता है वह 'त्रास' है, किन्तु अनर्थ की सम्भावना से उत्साहरहित होना 'भय' है। इस प्रकार एक (त्रास) आकस्मिक तथा दूसरा (भय) पूर्वापर के विचार से उत्पन्न होता है।[4]

दशरूपककार ने 'मनःक्षोभ' को 'त्रास' कहा है, जो गर्जन आदि से होता है तथा कम्पन आदि से अभिव्यक्त होता है

गर्जितादेर्मनःक्षोभस्त्रासोऽत्रोत्कम्पितादयः ।[5]

आचार्य विश्वनाथ का लक्षण भी इसी पर आश्रित है, यद्यपि उन्होंने 'मनःक्षोभ' या उसके किसी समानार्थी शब्द का प्रयोग नहीं किया।

निर्घातविद्युदुल्काद्यैस्त्रासः कम्पादिकारकः ।[6]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किसी शब्द या रूप के गोचर होने पर एक-बारगी कँपा या झोंका देने वाले वेग को 'त्रास' कहा है। उनके अनुसार इसमें न तो विषय की स्फुट धारणा रहती है, न लक्ष्य-साधन की ओर गति। यह तो भय का प्रत्यय-बोध-शून्य आदिम वासनात्मक रूप है जो पूर्ण समुन्नत अन्तःकरण न रखने वाले क्षुद्र जन्तुओं में होता है और मनुष्य आदि उन्नत प्राणियों में भी किसी-किसी अवसर पर देखा जाता है।[7]

नीचे वज्रनिर्घातजन्य त्रास का एक उदाहरण दिया जा रहा है :

---

१. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ८३६
२ प्रतापरुद्रयशोभूषण, पृ० १८६
३. नाट्यशास्त्र (सप्तम अध्याय), पृ० १०६
४. (हिन्दी) नाट्यदर्पण, सूत्र २०८ पर वृत्ति (पृ० ३४३)
५ दशरूपक, ४।१६
६ साहित्यदर्पण, ३।१६४
७ रस-मीमांसा, पृ० २०६

चहुँ ओर मरोर सों नेह परे घनघोर-घटा घनी छाइ गई सी,
तरराय परी बिजरी कितहूँ दसहू दिसि मानहु ज्वाल बई सी।
कवि 'ग्वाल' चमंक अचानक की लखतें ललना मुरझाय गई सी,
थहराइ गई, हहराइ गई, पुलकाइ गई, पल स्याम गई सी।[1]

२५. लज्जा—(लज्ज्+अ+टाप्[2]) अथवा व्रीडा (व्रीड्+अ+टाप[3]) चित्त की वह 'वृत्ति' है जिसमें चित्त का संकोच होता है

अकार्यकरणनामगुरुव्यतिक्रमप्रतिज्ञाभङ्गादेश्चेत संकोचो व्रीडा।[4]

भरत का मत है कि इसके मूल में कोई अनुचित कार्य रहता है। गुरुजनों की आज्ञा का उल्लंघन, उनके अनादर तथा प्रतिज्ञा न पूरी करने से उत्पन्न पश्चात्ताप और अपमान इसके विभाव होते हैं तथा मुख छिपाना, मुख नीचा करके सोचना, भूमि पर रेखा बनाना, वस्त्रों को अथवा अँगूठी को छूना, नाखून काटना आदि इसके अनुभाव होते हैं

किञ्चिदकार्यं कुर्वन् यो हि नरो दृश्यते शुचिभिरन्यैः।
पश्चात्तापेन युतो व्रीडित इति वेदितव्योऽसौ॥
लज्जानिगूढवदनो भूमिं विलिखन् नखांश्च विनिकृन्तन्।
वस्त्राङ्गुलीयकानां संस्पर्शं व्रीडितः कुर्यात्॥[5]

दशरूपक के अनुसार दुराचार आदि के कारण उत्पन्न धृष्टता को 'व्रीडा' कहते हैं। इसमें विवर्णता, सिर का नीचा होना, अंगों का छिपाना आदि अनुभाव होते हैं

दुराचारादिभिर्व्रीडा धार्ष्ट्याभावस्तमुन्नयेत्।
साचीकृताङ्गावरणवैवर्ण्याधोमुखादिभिः॥[6]

साहित्यदर्पणकार ने इसी को संक्षिप्त रूप में इस प्रकार कहा है

धार्ष्ट्याभावो व्रीडा वदनानमनादिकृद् दुराचारात्।[7]

अर्थात् धृष्टता के अभाव को 'व्रीडा' कहते हैं। यह किसी दुराचरण के कारण हुआ करती है। सिर नीचा होना आदि इसके विकार होते हैं।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लज्जा या व्रीडा की गणना स्वतंत्र विषय वाले भावों के अन्तर्गत की है,[8] किन्तु यह भी संचारी तभी होता है जब किसी

१. काव्यकल्पद्रुम, प्रथम भाग (रसमंजरी), पृ० १४८ पर उद्धृत।
२. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ८९६
३. मानक हिन्दी कोश (पाँचवाँ खण्ड), पृ० १३५
४. काव्यानुशासन (हेमचन्द्र), पृ० १०५
५. नाट्यशास्त्र, ७।५८-५९
६. दशरूपक, ४।२४
७. साहित्यदर्पण, ३।१६९
८. रस-मीमांसा, पृ० २०७

स्थायी भाव के पोषक के रूप में अभिव्यक्त हो। इस भाव का एक सुन्दर उदाहरण हमें गोस्वामी तुलसीदास के रामचरितमानस के द्वितीय सोपान (अयोध्याकाण्ड) में उपलब्ध होता है। राम, लक्ष्मण और सीता वन को जा रहे हैं। मार्ग में ग्रामवासिनी स्त्रियाँ सीता से राम का परिचय पूछती हैं। सीता लज्जित होकर अत्यन्त स्त्रीसुलभ कोमलता के साथ अपने पति राम का परिचय देती हैं। सम्पूर्ण प्रसंग इस प्रकार है

कोटि मनोज लजावनिहारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे॥
सुनि सनेहमय मंजुल बानी। सकुची सिय मन महुँ मुसुकानी॥
तिन्हहि बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सँकोच सकुचति बरबरनी॥
सकुचि सप्रेम बाल मृग नयनी। बोली मधुर बचन पिक बयनी॥
सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लखनु लघु देवर मोरे॥
बहुरि बदनु बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥
खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहि सिय सयननि॥[1]

यहाँ अन्तिम पंक्तियों में 'व्रीडा' या 'लज्जा' का भाव स्पष्ट है।

२६ हर्ष—हर्ष (हृष्+घञ्[2]) का अर्थ है 'मन की प्रसन्नता'। भरत ने इसके विभावों में इच्छित वस्तु की प्राप्ति, प्रिय व्यक्ति से मिलन, मानसिक सन्तोष, देवताओं, स्वामी तथा राजा की कृपा आदि को तथा अनुभावों में प्रसन्न मुद्रा, मुख और नेत्रों की चमक, मधुर वचन, आलिंगन, कम्प, अश्रु तथा प्रस्वेद आदि को माना है

प्राप्ये वा प्राप्ये वा लब्धेऽर्थे प्रियसमागमे वापि।
हृदयमनोरथलाभे हर्षः संजायते पुंसाम्॥
नयनवदनप्रसादप्रियभाषालिङ्गनैश्च रोमाञ्चैः।
ललितैश्चाङ्गविहारैः स्वेदाद्यैरभिनयस्तस्य॥[3]

'दशरूपक' के अनुसार उत्सवादि से उत्पन्न प्रसत्ति (प्रसाद या प्रसन्नता) का नाम 'हर्ष' है। अश्रु, स्वेद, गद्गद स्वर आदि इसके अनुभाव होते हैं :

प्रसत्तिरुत्सवादिभ्यो हर्षोऽश्रुस्वेदगद्गदाः।[4]

साहित्यदर्पणकार ने अभीष्ट पदार्थ की प्राप्ति से उत्पन्न मनःप्रसाद (मन की प्रसन्नता) को 'हर्ष' कहा है। अश्रु, गद्गद स्वर आदि से इसकी अभिव्यक्ति होती है :

हर्षस्त्विष्टावाप्तेर्मनःप्रसादोऽश्रुगद्गदादिकरः।[5]

---

१. रामचरितमानस, २।११६।१-७
२. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ११६३
३. नाट्यशास्त्र, ७।६१, ६२
४. दशरूपक, ४।१४
५. साहित्यदर्पण, ३।१६५

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार 'हर्ष' के मूल में व्यक्त या अव्यक्त रूप में 'रति' का भाव रहता है क्योंकि इष्ट या प्रिय की प्राप्ति से ही हर्ष का सम्बन्ध रहता है। उनका कथन है कि 'राग' के साथ 'हर्ष' का अगांगि-भाव-सम्बन्ध है, कार्य-कारण-सम्बन्ध नहीं, अर्थात् 'हर्ष' 'रति' का ही अवयव है।

'हर्ष' के उदाहरण के रूप में हम रामचरितमानस का निम्नांकित दोहा उद्धृत कर सकते हैं

नव गयंदु रघुबीरमनु राजु अलान समान।
छूट जानि बनगवनु सुनि उर अनदु अधिकान ॥[1]

राम पिता की आज्ञा से वन जा रहे हैं। उनके मन में माता (कैकेयी) और पिता (दशरथ) के आज्ञापालन से उत्पन्न प्रसन्नता है, जो उपर्युक्त दोहे में प्रस्फुटित हुई है।

२७. असूया—असूया (असूय्+अङ्+टाप्[2]) का अर्थ है 'दूसरे की समृद्धि को न सहन कर सकना'। भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में इसके विभावों और अनुभावों का वर्णन करते हुए लिखा है

परसौभाग्येश्वरतामेधालीलासमुच्छ्रय दृष्ट्वा।
उत्पद्यते ह्यसूया कृतापराधो भवेद्यश्च ॥
भ्रुकुटिकुटिलोत्कटमुखैः सेर्ष्याक्रोधपरिवृत्तवक्त्राद्यैः।
गुणनाशनविद्वेषैरस्याभिनयः प्रयोक्तव्य ॥[3]

अर्थात् दूसरे के सौभाग्य, समृद्धि, विद्या आदि के उत्कर्ष देखने से उत्पन्न जलन-रूप चित्तवृत्ति का नाम 'असूया' है। भौंहों का टेढ़ा होना, ईर्ष्या-क्रोध-पूर्ण वाक्य कहना, दूसरे के दोषों को कहना आदि इसके अनुभाव होते हैं। धनंजय और विश्वनाथ ने भी इसी के आधार पर विभावों का वर्णन किया है। दशरूपक का लक्षण है :

परोत्कर्षाक्षमासूया गर्वदौर्जन्यमन्युजा।
दोषोक्त्यवज्ञे भ्रुकुटिमन्युक्रोधेङ्गितानि च ॥[4]

अर्थात् दूसरे की उन्नति को न सहन कर सकना 'असूया' है। यह गर्व, दुर्जनता तथा क्रोध से उत्पन्न होती है। इसमें (दूसरे का) दोष-कथन, अनादर, भौंहें चढ़ाना, मन्यु (अहंकार) तथा क्रोध की चेष्टाएँ आदि अनुभाव होते हैं। इसी परंपरा का पालन करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में लिखा है :

---

१. रामचरितमानस, २।५१।६-१०
२ संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० १२१
३. नाट्यशास्त्र, ७।३६-३७
४ दशरूपक, ४।१७

असूयान्यगुणर्द्धीनामौद्धत्यादसहिष्णुता ।
दोषोद्घोषभ्रूविभेदावज्ञाक्रोधेङ्गितादिकृत् ।[1]

अर्थात् स्वभाव की उद्धतता के कारण दूसरे की गुण समृद्धि को न सहन कर सकना 'असूया' है। परदोषोद्घोष, भ्रू भंग, अवज्ञा तथा क्रोधपूर्ण चेष्टाएं आदि इसके विकार होते हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'गर्व' और 'लज्जा' के साथ 'असूया' को भी स्वतन्त्र विषय वाला भाव माना है। उनका मत है कि लज्जा, ईर्ष्या और गर्व के यद्यपि स्वतन्त्र विषय होते हैं पर उनकी ओर उतना ध्यान नहीं रहता जितना कारणों की ओर रहता है। इस प्रकार इनके विषय या आलम्बन 'भाव' के कारण नहीं हैं। जिससे हम ईर्ष्या करते हैं वह हुआ विषय या आलम्बन, उसके गुण धन, वैभव आदि हैं कारण। इसमें आलम्बन की ओर ध्यान न जाकर कारणों की ओर जाता है।[2] इस भाव को हम संचारी तभी मानेंगे जब यह किसी स्थायी भाव का पोषक होकर आये।

इस भाव के उदाहरण के रूप में हम रामचरितमानस के द्वितीय सोपान (अयोध्याकांड) के अन्तर्गत कैकयी-मन्थरा संवाद की निम्नांकित पंक्तियाँ उद्धृत कर सकते हैं। इनमें मन्थरा की 'असूया' व्यंजित है

रामहि तिलकु कालि जौं भयेऊ। तुम्ह कहुँ बिपतिबीजु बिधि बयेऊ ॥
रेख खँचाइ कहउँ बलु भाषी। भामिनि भइहु दूध कइ माखी ॥
जौं सुत सहित करहु सेवकाई। तौ घर रहहु न आन उपाई ॥
कद्रूँ बिनतहि दीन्ह दुखु तुम्हहि कौसिलाँ देब ।
भरतु बंदिगृह सेइहहिं लखनु राम के नेब ॥[3]

२८ विषाद—विषाद (वि—सद्—घञ्[4]) का अर्थ है दुःख। नाट्यशास्त्र के अनुसार प्रारब्ध कार्य में असफलता तथा दैवयोग-दुर्घटना से इस भाव की उत्पत्ति होती है। उत्तम वर्ग के लोग सहायकों की खोज एवं सफलता के साधनों के चिन्तन से तथा मध्यम कोटि के लोग उत्साहभंग, मनस्ताप तथा निःश्वास द्वारा इस भाव की अभिव्यक्ति करते हैं। अधम कोटि के लोग परिधावन, अवलोकन, मुखशोषण, निद्रा, दीर्घश्वास, विचारमग्नता आदि द्वारा इस भाव की अभिव्यक्ति करते हैं

विषादो नाम कार्यारम्भानिस्तरणदैवव्यापत्तिसमुत्थः। तमभिनयेत् सहायान्वेषणोपायचिन्तनोत्साहविघातवैमनस्यनिःश्वसितादिभिरनुभावैरुत्तममध्यमानाम्। अधमानां तु परिधावनावलोकनमुखशोषणसृक्वपरिलेहननिद्राश्वसितध्यानादिभिरनुभावैः।[5]

---

१ साहित्यदर्पण, ३।१६६
२ रस-मीमांसा, पृ० २०३
३ रामचरितमानस, २।१६।६ १०
४. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० ६६१
५ नाट्यशास्त्र (सप्तम अध्याय), पृ० १०४

दशरूपककार ने उत्तम, मध्यम और अधम की कोटियों का उल्लेख न कर अत्यन्त संक्षेप में इस भाव का लक्षण प्रतिपादित करते हुए कहा है कि सत्त्व-सक्षय (पौरुषहानि) ही 'विषाद' है जो अनर्थ के निवारक उपायों के अभाव में उत्पन्न होता है तथा निःश्वास, उच्छ्वास, हृदय का सताप, सहायक की खोज आदि अनुभावों द्वारा अभिव्यक्त होता है

प्रारब्धकार्यासिद्ध्यादेर्विषाद सत्त्वसक्षय ।
निःश्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत् ॥[1]

आचार्य विश्वनाथ ने दशरूपक का ही पूर्णतया अनुसरण करते हुए बहुत कुछ उसी शब्दावली में 'विषाद' का लक्षण निरूपित करते हुए लिखा है

उपायाभावजन्मा तु विषाद सत्त्वसक्षय ।
निःश्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत् ॥[2]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार मन का यह वेग (विषाद) शोक का ही आलम्बन-निरपेक्ष तथा लक्ष्य या सकल्पविहीन अवयव है जो कभी तो प्रधान भाव के साथ सचारी रूप में आता है और कभी स्वतन्त्र रूप में। उन्होंने इसके स्वरूप का निर्धारण करते हुए लिखा है कि 'जिस वेग की प्रेरणा से लोग एकबारगी कर्त्तव्यशून्य होकर हार मानकर बैठ जाते हैं वह 'विषाद' है।···प्राय. ऐसा होता है कि इस आलम्बन-निरपेक्ष वेग के उदय के पीछे आलम्बन-प्रधान भाव 'शोक' स्फुरित होता है।[3]

इस भाव के उदाहरण के रूप में रामचरितमानस के राम वनगमन-प्रसग की वे पक्तियाँ दी जा सकती हैं जिनसे अयोध्या के नागरिकों की विषाद-व्यजना ध्वनित हो रही है :

का सुनाइ बिधि काह सुनावा । का देखाइ चह काह देखावा ॥[4]

२९, धृति—धृति (धृ + क्तिन्[5]) का अर्थ है 'धैर्य'। धनजय के अनुसार ज्ञान, शक्ति आदि से उत्पन्न होने वाला सन्तोष 'धृति' कहलाता है, व्यग्रतारहित भोग उसका अनुभाव है.

सन्तोषो ज्ञानशक्त्यादेर्धृतिरव्यग्रभोगकृत् ।[6]

भरत ने 'धृति' का स्पष्ट अर्थ तो नहीं किया, किन्तु उसके विभावों और अनुभावों का वर्णन करते हुए लिखा है ·

धृतिर्नाम शौर्यविज्ञानश्रुतिविभवशौचाचारगुरुभक्त्यधिकार्थलाभक्रीडादिभि-

१. दशरूपक, ४।३१
२. साहित्यदर्पण, ३।१६७
३ रस-मीमांसा, पृ० २०८-२०९
४. रामचरितमानस, २।४८।१
५. सस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ५०१
६. दशरूपक, ४।१२

विभावैरुत्पद्यते । तामभिनयेत प्राप्तानां विषयाणामुपभोगाद् अप्राप्तानीतोपहृत विनष्टानामननुशोचनादिभिरनुभावैः ।[१]

अर्थात् वीरता, आध्यात्मिक ज्ञान, ऐश्वर्य, पवित्रता, बड़ों के प्रति आदर भाव तथा क्रीडा का आनन्द आदि इसके विभाव हैं तथा तृप्ति, सन्तोष आदि अनुभाव हैं।

आचार्य विश्वनाथ ने यथार्थ ज्ञान और अभीष्ट लाभ आदि से उत्पन्न 'इच्छाओं की पूर्ति' को 'धृति' कहा है जिसके परिणामस्वरूप तृप्तियुक्त बोलचाल, उल्लास, हास अथवा बुद्धिविलास आदि विकार होते हैं

ज्ञानाभीष्टागमाद्यैस्तु संपूर्णस्पृहता धृतिः ।
सौहित्यवचनोल्लाससहासप्रतिभादिकृत् ।।[२]

हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों ने अधिकांशतः आचार्य विश्वनाथ का ही अनुसरण किया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार बड़े बड़े विघ्न उपस्थित होने पर भी अपने व्यवसाय से अविचलित रहने वाली मानसिक अवस्था का नाम धैर्य (या धृति) है। इन्होंने 'धैर्य' ही को 'धृति' माना है। इनका कथन है कि वीर रस में धैर्य प्रायः संचारी होकर आता है। यद्यपि आचार्य शुक्ल तत्त्वज्ञान-जन्य सन्ताप को संचारी नहीं मानते,[३] किन्तु यह कहा जा सकता है कि जब तत्त्व-ज्ञानजन्य निर्वेद संचारी हो सकता है तब तत्त्वज्ञानजन्य धृति संचारी क्यों नहीं हो सकती।[४] यहाँ हम युद्धवीरजन्य धृति तथा तत्त्वज्ञानजन्य धृति दोनों के ही उदाहरण दे रहे हैं

(१) युद्धवीरजन्य धृति का उदाहरण

चले चंदवान घनवान औ कुहूकवान
चलत कमान धूम आसमान छ्वै रह्यो ।
चली जमडाढ़ें बाढ़वारें तरवारें जहाँ,
लोह आँच जेठ के तरनि मान वै रह्यो ।।
ऐसे समै फौजें विचलाईं छत्रसालसिंह,
अरि के चलाये पायँ वीररस च्वै रह्यो ।
हय चले हाथी चले संग छोड़ि साथी चले,
ऐसी चलाचली में अचल हाड़ा ह्वै रह्यो।।[५]

---

१ नाट्यशास्त्र (सप्तम अध्याय), पृ० १०२
२ साहित्यदर्पण, ३।१६८
३ रस मीमांसा, पृ० २२६-२२७
४ हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ३४५
५ भूषण-ग्रन्थावली (श्री ब्रजमोहन दत्त), पृ० १०८

सत्वज्ञानजन्य धृति का उदाहरण

(२) या जग जीवन को है यहै फल, जो छल छाँडि भजै रघुराई।
सोधि कै सन्त महन्तन हू पदमाकर बात यहै ठहराई॥
ह्वै रही होनी प्रयास बिना, अनहोनी न ह्वै सकै कोटि उपाई।
जो विधि भाल मे लीक लिखी, बढ़ु ढाई बढ़ै न घटै न घटाई॥[1]

३० चपलता—चपलता [चुप्+कल्=चपल—उकारस्य अकार, चपल+तल्—टाप्[2]] का अर्थ है 'मन की अस्थिरता'। भरत के अनुसार इसके विभाव राग, द्वेष, मात्सर्य, अमर्ष, ईर्ष्या, विरोध आदि हैं तथा कठोर वचन, प्रतारणा, पीटना, मारना, बांधना आदि इसके अनुभाव हैं

चपलता नाम रागद्वेषमात्सर्यामर्षेर्ष्याप्रतिकूलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्याश्च वाक्पारुष्यनिर्भर्त्सनसम्प्रहारवधबन्धताडनादिभिरनुभावैरभिनय: प्रयोक्तव्य:।[3]

धनंजय तथा विश्वनाथ ने भी भरत का अनुसरण करते हुए मात्सर्य, द्वेष, राग आदि से उत्पन्न 'चित्त की अस्थिरता' को 'चपलता' माना है जिसकी अभिव्यक्ति भर्त्सना, कठोर वचन, उच्छृङ्खल आचरण आदि द्वारा होती है

मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापल्यं त्वनवस्थिति:।
तत्र भर्त्सनपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादय॥[4]

आचार्य रामचद्र शुक्ल के अनुसार दैन्य, मद, जड़ता आदि के समान चपलता भी दो प्रकार की होती है १ प्रकृतिगत, २ आगन्तुक। आगन्तुक रूप मे ही चपलता सचारी हो सकती है, क्योंकि इसी का सीधा सम्बन्ध किसी स्थायी भाव से होता है।[5]

नीचे की पंक्ति मे रागजन्य चपलता का एक उत्तम उदाहरण उपलब्ध होता है :

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गये नृपकिसोर मनु चिता॥[6]

यहाँ सीता की रागजन्य चपलता की सुन्दर व्यजना हुई है।

३१ ग्लानि—ग्लानि (ग्लै+नि[7]) का अर्थ है 'निष्प्राणता' या 'शारीरिक दुर्बलता' (ग्लानिर्निष्प्राणता[8]) अथवा 'बल का अपचय' (ग्लानिर्बलस्यापचय[9])।

---

१. जगद्विनोद, पृ० ११४
२. मानक हिन्दी कोश (दूसरा खंड), पृ० २०५
३ नाट्यशास्त्र, पृ० १०२
४ दशरूपक, ४।३३, साहित्यदर्पण, ३।१६६
५ रस-मीमांसा, पृ० २१६
६ रामचरितमानस, १।२३२।१
७ संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ३६०
८ दशरूपक, ४।१०; साहित्यदर्पण, ३।१७०
९ प्रतापरुद्रीय, पृ० १७४

नाट्यदर्पणकार ने 'पीडा' को 'ग्लानि' कहा है (ग्लानि पीडा जराद्यासैः[1]) भरत ने इसकी उत्पत्ति वमन, रेचन, रोग, उपवास, मानसिक चिन्ता, मदपान, प्यास तथा निद्रा आदि से मानी है। इसके अनुभाव निर्बल वाणी, कान्तिहीन दृष्टि, पीला चेहरा, मन्दगति, निर्बलता आदि होते हैं :

वान्तविरिक्तव्याधिषु तपसा जरसा च जायते ग्लानिः ।
कार्श्येन साभिनेया मन्दक्रमणानुकम्पेन ॥
गदितै क्षामक्षामैर्नेत्रविकारैश्च दीनसञ्चारैः ।
श्लथभावाच्चाङ्गानां मुहुर्मुहुर्निर्दिशेद् ग्लानिम् ॥[2]

धनञ्जय के अनुसार रतिश्रम, अन्यविध श्रम, मनस्ताप, भूख, प्यास आदि से उत्पन्न शारीरिक दुर्बलता का नाम 'ग्लानि' है। विवर्णता, कम्पन, अनुत्साह (काम मे जी न लगना) आदि अनुभावो द्वारा इसकी अभिव्यक्ति होती है :

रत्याद्यायासतृट्क्षुद्भिर्ग्लानिर्निष्प्राणतेह च ।
वैवर्ण्यकम्पानुत्साहक्षामाङ्गवचनक्रिया ॥[3]

आचार्य विश्वनाथ का स्वरूप-निरूपण इसी पर आधारित है। आचार्य रामचद्र शुक्ल के अनुसार 'किसी भाव के वेग के कारण जो मानसिक शैथिल्य होता है उसे 'ग्लानि' कहते हैं।' उनका मत है कि दुःख और मनस्ताप से उत्पन्न शिथिलता ही सचारी के रूप मे कही जा सकती है, 'अग-ग्लानि' तो 'श्रम' से कुछ भिन्न नहीं प्रतीत होती।[4] उदाहरण

आवेगों से विपुल विकला शीर्णकायाकृशाङ्गी ।
चिंतादग्धा व्यथितहृदया शुष्क-ओष्ठा अधीरा ॥
आसीना थी निकट पति के अश्रुनेत्रा यशोदा ।
खिन्ना दीना विनतवदना मोहमग्ना मलीना ॥[5]

३२ चिन्ता—(चिन्त्+णिच्+अङ्+टाप्[6]) का अर्थ है 'मानसी पीडा' जो इष्ट की अप्राप्ति अथवा अनिष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न होती है (आधि-श्चिन्ता प्रियानाप्तेः[7])। दशरूपककार एव साहित्यदर्पणकार ने 'अभीष्ट की अप्राप्ति से उत्पन्न ध्यान' को 'चिन्ता' कहा है, जिसके शून्यता, श्वास, ताप आदि अनुभाव होते हैं .

---

१. (हिन्दी) नाट्यदर्पण, ३।१८४ सूत्र (पृ० २२२)
२ नाट्यशास्त्र, ७।३१-३२
३. दशरूपक, ४।१०
४. रस-मीमासा, पृ० २२५
५. प्रियप्रवास, १०।६
६ संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ३८३, मानक हिन्दी कोश (दूसरा खण्ड), पृ० २३८
७. (हिन्दी) नाट्यदर्पण, तृतीय विवेक, सूत्र १६० (पृ० ३३५)

ध्याने चिन्ता हितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृत् ।[1]

भरत ने इसके विभावों एवम् अनुभावों का विस्तृत वर्णन करते हुए लिखा है :

चिन्ता नाम ऐश्वर्यभ्रंशेष्टद्रव्यापहारदारिद्र्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । तामभिनयेत् निश्वसितोच्छ्वसितसन्तापध्यानाधोमुखचिन्तनतनुकार्श्यादिभिरनुभावैः ।[2]

अर्थात् 'चिन्ता' धनहानि, प्रिय वस्तु का अपहरण, निर्धनता आदि विभावों से उत्पन्न होती है और उच्छ्वास, सन्ताप, मनन, नतमुख होना, चिन्तन तथा दुर्बलता आदि अनुभावों द्वारा अभिव्यक्त होती है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'चिन्ता' की गणना अन्तःकरण की उन वृत्तियों के अन्तर्गत की है जो रागात्मिका नहीं हैं। यह धारणा, बुद्धि आदि का व्यापार है; अतः इसका काव्य में ग्रहण वहीं तक समझना चाहिए जहाँ तक यह प्रत्यक्ष रूप में भाव द्वारा प्रेरित हो।[3] उदाहरण

जब तें इत तें घनश्याम सुजान अचानक ह्वै बल लग सिधारे।
कर पै मुख-चंद धरे सजनी नित सोचति है तू कहा मन मारे ॥[4]

२३. वितर्क—वितर्क (वि+तर्क्+अच्[5]) या तर्क (तर्क्+अच्[6]) का अर्थ है 'सन्देह के कारण उत्पन्न विचार'; भौंहों का सिकुड़ना, सिर हिलना, अंगुलियों का उठना आदि इसके विकार हैं

तर्को विचारः संदेहाद् भ्रूशिरोऽङ्गुलिनर्तकः ।[7]

नाट्यदर्पणकार ने 'वाद आदि के द्वारा एक पक्ष की संभावना' को 'तर्क' कहा है, जिसका अनुभाव है 'अंगों का नचाना'।

एकसम्भावनं तर्को वादादेरङ्गनर्तकः ।[8]

भरत के अनुसार इसके विभाव हैं : सन्देह, विमर्श और विप्रतिपत्ति (परस्पर सम्बद्ध ऊहापोह) तथा अनुभाव हैं विविध विचार के प्रश्न, सिर एवं भौंहों का कम्पन आदि

वितर्को नाम सन्देहविमर्शविप्रत्ययादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । तमभिनयेत् विविधविचारितप्रश्नसंप्रधारणमंत्रसंगूहनादिभिरनुभावैः ।[9]

---

१. दशरूपक, ४।१६; साहित्यदर्पण, ३।१७१
२. नाट्यशास्त्र (सप्तम अध्याय), पृ० १०१
३. रस-मीमांसा, पृ० २११
४. रस-मीमांसा, पृ० २१२ पर उद्धृत।
५. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ९३३
६. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ४२३
७. दशरूपक, ४।२६; साहित्यदर्पण, ३।१७१
८. (हिन्दी) नाट्यदर्पण, तृतीय विवेक, सूत्र १०६ (पृ० ३४४)
९. नाट्यशास्त्र (सप्तम अध्याय), पृ० १०६-११०

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस अंतःकरण की वह वृत्ति माना है जो रागात्मिका नहीं है। उनका कथन है कि तर्क वितर्क करना मन का वेग नहीं है, धारणा, बुद्धि आदि का व्यापार है जो वेदपाठियों, तार्किकों, मीमांसकों आदि में पूर्ण रूप में देखा जाता है। काव्य में इसका ग्रहण वहीं तक समझना चाहिए जहाँ तक यह प्रत्यक्ष रूप में भावों द्वारा प्रेरित हो।[1]

कवि के आत्मगत ऊहापोह के वितर्क के उदाहरण के रूप में महादेवी वर्मा की निम्नांकित पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं:

दुख का युग हूँ या सुख का पल,
करुणा का घन या मरु निर्जन,
जीवन क्या है मिला कहाँ
सुधि भूली आज समूल।[2]

स्थायी भाव

स्थायी (स्था+णिनि युक्=स्थायिन्[3]) का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है—टिकने वाला या स्थिर रहने वाला। काव्यशास्त्र के सन्दर्भ में स्थायी भाव का अर्थ है वह मूल भाव जो चित्त में चिरकाल तक वासना या संस्कार रूप में स्थिर रहता है तथा जिसे विरुद्ध (विजातीय) या अविरुद्ध (सजातीय) भाव दबा या छिपा नहीं सकते और जिसमें रस के अंकुरण की मूलशक्ति विद्यमान रहती है:

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः॥[4]

यही (स्थायी) भाव विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी या संचारी भावों के संयोग से रसावस्था को प्राप्त करता है:

विभावानुभावयुतो ह्यङ्गवस्तुसमाश्रयः।
संचारिभिस्तु संयुक्तः स्थाय्येव तु रसो भवेत्॥[5]

भरत के अनुगामी आचार्य धनंजय ने भी यही बात कही है:

विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः॥[6]

भरत ने अन्य भावों की तुलना में स्थायी भाव की श्रेष्ठता प्रतिपादित

---

१. रस-मीमांसा, पृ० २११
२. महादेवी वर्मा (काव्यदर्पण, पृ० ८३ पर उद्धृत)
३. संस्कृत हिंदी कोश, पृ० ११४३
४. साहित्यदर्पण, ३।१७४
५. नाट्यशास्त्र ७।१२१
६. दशरूपक ४।१

करते हुए कहा है कि जैसे सामान्य मनुष्यों से नरेन्द्र श्रेष्ठ है तथा शिष्यों में गुरु श्रेष्ठ है, वैसे ही स्थायी भाव अन्य भावों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली होते हैं :

यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः ।
एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह ॥[1]

आचार्यों ने स्थायी भाव की ये विशेषताएं प्रतिपादित की हैं : १ आस्वाद्यत्व अथवा रमणीयता, २ उत्कटत्व, ३ सर्वजनसुलभत्व, ४ पुरुषार्थोपयोगिता और ५ उचितविषयनिष्ठत्व या औचित्य । इन्हीं विशेषताओं के आधार पर आचार्यों ने रति, हास, शोक आदि नौ स्थायी भाव माने हैं ।

व्यभिचारी या संचारी भाव स्थायी भावों के अनुचर होते हैं । वे (संचारी भाव) अपने विरोधी या अनुकूल भावों में घटते-बढ़ते रहते हैं अथवा उत्पन्न और विनष्ट होते रहते हैं, किन्तु स्थायी भाव विकृत नहीं होते, इसीलिए उनकी संज्ञा 'स्थायी' है । संचारी भावों की स्थिति क्षणिक अथवा अस्थिर होती है किन्तु स्थायी भावों की स्थिति सदैव स्थिर बनी रहती है, यही दोनों में अन्तर है ।

परम्परा से नौ स्थायी भाव माने जाते रहे हैं । भरत ने आठ स्थायी भाव ही माने थे किन्तु परवर्ती आचार्यों ने 'शम' को जोड़कर उनकी संख्या नौ कर दी । भरत द्वारा गिनाये गये आठ स्थायी भाव हैं : १ रति, २ हास, ३ शोक, ४. क्रोध, ५. उत्साह, ६. भय, ७. जुगुप्सा और ८ विस्मय :

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ॥[2]

धनंजय ने 'दशरूपक' में इन आठ स्थायी भावों की गणना करते हुए कहा कि कोई-कोई 'शम' की भी गणना स्थायी भावों में करते हैं, किन्तु इसकी पुष्टि नाटकों में नहीं होती :

रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः ।
शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ॥[3]

धनंजय का अनुसरण करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में भरत द्वारा गिनाये गये आठ स्थायी भावों के साथ 'शम' का भी उल्लेख किया है :

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्यमष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपि च ॥[4]

जब 'वात्सल्य रस' और 'भक्तिरस' की रसों में गणना की जाने लगी तब

---

१. नाट्यशास्त्र, ७।८
२. नाट्यशास्त्र, ६।१७
३. दशरूपक, ४।३५
४. साहित्यदर्पण, ३।१७५

'वत्सल' और 'भक्तिभाव' को भी स्थायी भाव के रूप में मान्यता प्राप्त हो गयी। इस प्रकार अब ११ स्थायी भाव माने जाने लगे हैं। इनका पृथक्-पृथक् स्वरूप निरूपण अपेक्षित है। वास्तविक स्थायी भावों के उदाहरण तो रस की परिपक्वावस्था में ही मिलेंगे, यहाँ हम प्रत्येक स्थायी भाव के स्वरूप-निरूपण के पश्चात् उन उदाहरणों को दे रहे हैं जो भाव अवस्था के हैं।

१ रति—रति (रम् + क्तिन्[1]) का अर्थ है कामदेव की पत्नी, प्रीति, प्रेम या अनुराग। काव्यशास्त्रीय अर्थ में 'रति' 'हृदय की वह उत्कट उन्मुखता है जो प्रिय वस्तु के प्रति हुआ करती है'

रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्।[2]

भरत ने 'रति' के विभावों और अनुभावों का उल्लेख करते हुए लिखा है :

रतिर्नाम आमोदात्मको भावः ऋतुमाल्यानुलेपनाभरण-प्रियजनवरभवनानुभवनाप्रतिकूल्यादिभिर्विभावैः समुत्पद्यते। तामभिनयेत् स्मितमधुरवचनभ्रूक्षेपकटाक्षादिभिरनुभावैः।[3]

अर्थात् आमोदात्मक भाव 'रति' की उत्पत्ति ऋतु (वसन्त ऋतु आदि), माला, सुगंधित लेप, आभूषण आदि विभावों से होती है तथा मुस्कराहट, मधुर वचन, भौंहों की भंगिमा, कटाक्ष आदि उसके अनुभाव होते हैं।

हेमचन्द्र ने परस्पर आस्था के बन्धन को रति (परस्परास्थाबन्धात्मिका रति[4]) तथा पण्डितराज जगन्नाथ ने स्त्री-पुरुष की एक-दूसरे के विषय में प्रेम नामक चित्तवृत्ति को 'रति' कहा है

स्त्रीपुंसयोरन्योन्यालम्बनः प्रेमाख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो रतिः स्थायिभावः।[5]

यह 'शृंगार रस' का स्थायी भाव है।

'रति' के उदाहरण के रूप में हम रामचरितमानस के पुष्पवाटिका-प्रसंग की निम्नांकित पंक्तियाँ ले सकते हैं :

जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मनु छोभा॥
सो सबु कारन जान बिधाता। फरकहिं सुभद अंग सुनु भ्राता॥[6]

राम अपने छोटे भाई लक्ष्मण से कह रहे हैं "जिसकी (सीता की) अनुपम सुन्दरता को देखकर मेरा पवित्र मन भी क्षुब्ध हो उठा है; मेरे शुभ अंग फड़क रहे हैं, कारण परमात्मा जाने।' कहने की आवश्यकता नहीं कि राम के मन का यह क्षोभ और कुछ नहीं रति भाव ही है जिसकी आलम्बन सीता हैं।

---

१. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ८४६
२. साहित्यदर्पण, ३।१७६
३. नाट्यशास्त्र (सप्तम अध्याय), पृ० ८४
४. काव्यानुशासन, पृ० १०१
५. रसगंगाधर (प्रथम आनन), पृ० १२६
६. रामचरितमानस, १।२३१।३-४

अत. हम कह सकते हैं कि सीता को देखकर राम के मन मे 'रतिभाव' जाग्रत हुआ है। यह 'रतिभाव' भाव की अवस्था तक ही सीमित है, परिपक्वावस्था को नहीं प्राप्त कर सका।

२ हास—हास (हस्+घञ्[1]) का अर्थ है 'चित्त का विकास' (चेतसो विकासो हास[2]) जो वाणी, रूप आदि की विकृतियो के दर्शन से उत्पन्न होता है[3] :

वागादिवैकृतैश्चेतोविकासो हास इष्यते।[4]

भरत का कथन है कि दूसरे की चेष्टाओ के अनुकरण से 'हास' की उत्पत्ति होती है तथा यह स्मित, हास एवम् अतिहसित के द्वारा व्यजित होता है

परचेष्टानुकरणाद्धासः समुपजायते।
स्मितहासातिहसितैरभिनेयः स पण्डितैः।[5]

यह 'हास्य' रस का स्थायी भाव है।

'हास' के उदाहरण के रूप मे निम्नाकित पक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं :

टूट चाप नहि जुरिहि रिसाने। बैठिअ होइहिं पाय पिराने॥
जौ अति प्रिय तौ करिअ उपाई। जोरिअ कोउ बड गुनी बोलाई॥[6]

लक्ष्मण-परशुराम-सवाद के अन्तर्गत लक्ष्मण की इस उक्ति मे 'हास' की झलकमात्र है, 'हास्य रस' का परिपाक नहीं हो सका।

३. शोक—शोक (शुच्+घञ्[7]) चित्त की वह विकलता है जो इष्टनाश आदि से उत्पन्न होती है :

इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं शोकशब्दभाक्।[8]

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इष्टजन की मृत्यु से शोक और केवल वियोग

---

१. सस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ११७२
२. काव्यानुशासन (हेमचन्द्र), पृ० १०१
३. वागङ्गादिविकारदर्शनजन्मा विकासाख्यो हास।
—रसगगाधर (प्रथम आनन), पृ० १३३
४. साहित्यदर्पण, ३।१७६
५. नाट्यशास्त्र, ७।१०
६. रामचरितमानस, १।२७८।२-३
७ सस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० १०३१
८. साहित्यदर्पण, ३।१७७
(i) इष्टजनवियोगादिनात्मनि दु खातिभूमि शोक।
—प्रतापरुद्रीय, पृ० १६५
(ii) पुत्रादिवियोग—मरणादिजन्मा वैक्लव्याख्यश्चित्तवृत्तिविशेष शोक।
—रसगगाधर (प्रथम आनन), पृ० १३०

(जिनका पर्यवसान मिलन में हो) से रति का भाव होता है, जो विप्रलम्भ शृंगार का स्थायी भाव होता है। यह दोनों का अन्तर है। इसीलिए रसतरंगिणीकार भानुदत्त ने शोक का लक्षण देते हुए स्पष्ट लिखा है :

इष्टविश्लेषजनितो रत्यनालिङ्गित पर्यन्तो मनोविकारः शोकः।[1]

कदाचित् इसीलिए हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' में 'वैधुर्यं शोक.'[2] कहकर शोक के लक्षण का प्रतिपादन किया था, 'वियोग' शब्द का प्रयोग नहीं किया था।

यह 'करुण रस' का स्थायी भाव है।

इस भाव के उदाहरण के रूप में हरिकृष्ण प्रेमी की ये पंक्तियाँ उद्धृत की जा सकती हैं

दुख की दीवारों का कहीं निरख सका न सुखी जीवन।
सुख के मादक स्वप्नों तक से बनी रही मेरी अनबन॥[3]

४ क्रोध—क्रोध (क्रुध्—घञ्[4]) वह मनोविकार है जो [illegible] अपराध, विवाद, उत्तेजनापूर्ण अपमान आदि से उत्पन्न होता है।[5] 'साहित्यदर्पण' के अनुसार विरोधियों के प्रति हृदय में उत्पन्न तीक्ष्णता (प्रतिशोध-भावना) ही 'क्रोध' है

प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्यावबोधः क्रोध इष्यते।[6]

पण्डितराज जगन्नाथ के मतानुसार गुरु अथवा बन्धु की हत्या आदि परम ([illegible]) अपराध से उत्पन्न होने वाली प्रज्वलन (जलन) नामक चित्तवृत्ति 'क्रोध' कहलाती है

गुरुबन्धुवधादि—परमापराधजन्मा प्रज्वलनाख्यः क्रोधः।[7]

भरत ने आधर्षण (चोट पहुँचाना या सताना), कलह, विवाद आदि इसके विभाव माने हैं तथा अनुभावों के अन्तर्गत नथुने फूलना, ओठों का फूलना, कनपटी का फड़कना (गण्डस्फुरण) आदि की गणना की है।

क्रोधो नाम आधर्षणाक्रुष्टकलहविवादप्रतिकूलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्याभिनयेद् उत्फुल्लनासापुटोद्वृत्तनयनसंदष्टोष्ठपुटगण्डस्फुरणादिभिरनुभावैः।[8]

यह 'रौद्र रस' का स्थायी भाव है।

---

१ रसतरंगिणी (हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ७२५ पर उद्धृत)
२. काव्यानुशासन, पृ० १०१
३. हरिकृष्ण प्रेमी (काव्यदर्पण, पृ० ६६ पर उद्धृत)
४ मानक हिन्दी कोश, पृ० ३१३
५ काव्यदर्पण, पृ० ६६
६ साहित्यदर्पण, ३।१७७
७ रसगंगाधर (प्रथम आनन), पृ० १२७
८ नाट्यशास्त्र (सप्तम अध्याय), पृ० ६५

उदाहरण

तोरौं छत्रकदंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।
जौं न करौं प्रभुपद सपथ कर न धरौं धनु भाथ॥[1]

लक्ष्मण की इस उक्ति में 'क्रोध' की व्यंजना हुई है, रौद्र रस का परिपाक नहीं हो सका।

५. उत्साह (उत्+सह्+घञ्[2]) 'मन की वह प्रयत्नमूलक उल्लासपूर्ण वृत्ति है जिसके द्वारा मनुष्य उत्कट आवेश के साथ किसी कार्य को करने में प्रवृत्त होता है तथा जिसकी अभिव्यक्ति शक्ति, शौर्य एवं धैर्य के प्रदर्शन में होती है'।[3]

भरत के अनुसार उत्साह उत्तम प्रकृति के व्यक्तियों से सम्बद्ध है। यह अविषाद (विषाद का अभाव), शक्ति, धैर्य, शौर्य, त्याग (दानशीलता) आदि विभावों से उत्पन्न होता है तथा धैर्य, दानशीलता, किसी कार्य के आरम्भ की प्रगल्भता इत्यादि अनुभावों में व्यक्त होता है

उत्साहो नाम उत्तमप्रकृतिः। स चाविषादशक्तिधैर्यशौर्यादिभिर्विभावै-रुत्पद्यते। तस्य धैर्यत्यागारम्भवैशारद्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः।[4]

आचार्य विश्वनाथ ने 'कार्यों के आरम्भ में होने वाले स्थैर्यशाली हृदय के आवेग अथवा उद्योग' को 'उत्साह' कहा है :

कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते।[5]

पंडितराज जगन्नाथ का लक्षण है

परपराक्रम—दानादिस्मृतिजन्मा औन्नत्याख्य उत्साहः।[6]

अर्थात् दूसरे के पराक्रम तथा दानादि के स्मरण से उत्पन्न होने वाली उन्नतता नामक चित्तवृत्ति 'उत्साह' है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'उत्साह' को सुखात्मक भावों की कोटि में रखा है। वे उत्साह को 'साहसपूर्ण आनन्द की उमंग' मानते हैं।[7]

यह 'वीर रस' का स्थायी भाव है।

उदाहरण

जौं तुम्हारि अनुसासन पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं।
काचे घट जिमि डारौं फोरी। सकौं मेरु मूलक जिमि तोरी॥[8]

---

१ रामचरितमानस, १।२५३।९-१०
२. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० १९१
३. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० १३५
४ नाट्यशास्त्र (सप्तम अध्याय), पृ० ९५
५ साहित्यदर्पण, ३।१७८
६ रसगंगाधर (प्रथम आनन), पृ० १३२
७. चिन्तामणि (पहला भाग), पृ० ९
८. रामचरितमानस, १।२५३।४-५

लक्ष्मण की इस उक्ति में 'उत्साह' की व्यंजना है, वीर रस का परिपाक नहीं।

६ भय—भय (भी—अपादाने अच्[1]) का अर्थ है 'चित्त की वह विकलता जो किसी भीषण वस्तु की विभीषिका-शक्ति से उत्पन्न होती है':

रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यं भयम्।[2]

भरत के अनुसार गुरु या राजा के प्रति अपराध से, भीषण वस्तु के दर्शन से, घोर वस्तुओं के श्रवण से तथा मोह से इसकी उत्पत्ति होती है तथा शरीर-कम्पन, मुख का सूखना, घबड़ाहट, आँख फाड़-फाड़ कर देखना आदि क्रियाओं द्वारा इसकी अभिव्यक्ति होती है

गुरुराजापराधेन रौद्राणान्चापि दर्शनात्।
श्रवणादपि घोराणां भयं मोहेन जायते॥
गात्रादिकम्पविन्यासैः वक्त्रशोषणसम्भ्रमैः।
विस्फारितेक्षणैः कार्यमभिनेयं क्रियागुणैः॥[3]

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसे 'दु:खात्मक भाव' माना है।

उदाहरण

तीनि पैग पुहुमी दई, अवनिहिं परम पुनीत।
बहुरि बढ़त लखि वामनै, भे बलि कछुक सभीत॥[4]

यहाँ 'कछुक सभीत' में 'भय' की व्यंजना है, 'भयानक रस' का परिपाक नहीं हुआ।

७ जुगुप्सा—जुगुप्सा (गुप्+सन्+अ+टाप्[5]) का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है निन्दा, घृणा, बीभत्सा आदि। काव्यशास्त्रीय अर्थ में यह विस्मयजनित घृणा का वह भाव है जो किसी घृणास्पद वस्तु के दोष-दर्शन आदि से उत्पन्न होता है

दोषेक्षणादिभिर्गर्हा जुगुप्सा विस्मयोद्भवा।[6]

वास्तव में जुगुप्सा चित्तवृत्ति का वह संकोच है जो किसी अरुचिकर वस्तु के दर्शन के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है।

भरत ने इसे 'स्त्रीनीचप्रकृतिका' कहा है। यह भाव अरुचिकर वस्तु के श्रवण, दर्शन आदि विभावों से उत्पन्न होता है तथा इसकी अभिव्यक्ति अंग-संकोच, थूकना, मुँह फेरना आदि अनुभावों द्वारा होती है:

---

१. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ७३०
२. साहित्यदर्पण, ३।१७८
३. नाट्यशास्त्र, ७।२२-२३
४ जगद्विनोद, पृ० १३३
५ संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ४०७
६. साहित्यदर्पण, ३।१७६

जुगुप्सा नाम स्त्रीनीचप्रकृतिका । सा चाहृद्यश्रवणदर्शनादिभिर्विभावै-रुत्पद्यते । तस्याः सर्वाङ्गसंकोचननिष्ठीवनमुखविकूणनहृल्लेखादिभिरनुभावै-रभिनयः प्रयोक्तव्यः ।[1]

यह एक दुःखात्मक भाव है तथा 'बीभत्स रस' का स्थायी भाव है।

उदाहरण

सूपनखा को रूप लखि स्रवत रुधिर विकराल,
निय-सुभाव सिय हठि कछुक मुख फेर्‌यो तिहि काल ॥

यहाँ 'कछुक मुख फेर्‌यो' आदि शब्दों से 'जुगुप्सा' का भाव व्यक्त हो रहा है, इसका रस-परिपाक नहीं हो सका।

८. विस्मय—विस्मय (वि+स्मि+अच्[2]) का अर्थ है आश्चर्य, अचम्भा, अचरज आदि। साहित्यशास्त्र के सन्दर्भ में अलौकिक वस्तुओं के दर्शन से उत्पन्न चित्त का विस्तार ही 'विस्मय' है

अपूर्वार्थसंदर्शनाच्चित्तविस्तारो विस्मयः ।[3]

भरत ने इसके विभावों और अनुभावों का विस्तृत वर्णन करते हुए लिखा है कि माया, इन्द्रजाल, असाधारण कर्म, उत्कृष्ट चित्रों तथा अन्य कलाकृतियों आदि विभावों द्वारा इसकी उत्पत्ति होती है तथा नेत्रविस्तार, निर्निमेष प्रेक्षण, भ्रूक्षेप, रोमाञ्च, साधुवाद आदि अनुभावों द्वारा इसकी अभिव्यक्ति होती है

विस्मयो नाम मायेन्द्रजालमानुषकर्मातिशयविद्याचित्रपुस्तच्छिल्पातिशयादि-विभावैरुत्पद्यते । तस्य नयनविस्तारानिमिषप्रेक्षणभ्रूक्षेपणरोमहर्षसाधुवादादि-भिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः ।[4]

आचार्य विश्वनाथ ने इसी को संक्षिप्त एवं व्यवस्थित रूप में कहा है कि नानाविध अलौकिक पदार्थों के दर्शनादि से संभूत चित्त का विस्तार ही 'विस्मय' है :

विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु ।
विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः ॥[5]

यह सुखात्मक भाव[6] 'अद्भुत रस' का स्थायी भाव है।

नीचे की पंक्तियाँ इस भाव के उदाहरण के रूप में उद्धृत की जा सकती हैं

---

१. नाट्यशास्त्र (सप्तम अध्याय), पृ० ८६
२. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ९६४
३. प्रतापरुद्रीय, पृ० १६८
४. नाट्यशास्त्र (सप्तम अध्याय), पृ० ८६
५. साहित्यदर्पण, ३।१७९-८०
६. रस-मीमांसा, पृ० १६४

तब देखी मुद्रिका मनोहर। रामनाम अंकित अति सुन्दर॥
चकित चितव मुदरी पहिचानी। हरष विषाद हृदय अकुलानी॥[1]

यहाँ हनुमान द्वारा लाई गयी रामनामांकित मुद्रिका को देखकर सीता के मन में विस्मय या आश्चर्य का भाव उदित हुआ है, किन्तु उसका रस में परिपाक नहीं हो पाया, वह तो भाव की अवस्था तक ही सीमित है।

९. शम—शम (शम् + घञ्[2]) का अर्थ है शान्ति, विश्राम या निवृत्ति। काव्यशास्त्र में यह 'शान्त' रस का स्थायी भाव माना गया है। इसका लक्षण निरूपित करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है

शमो निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम्।[3]

अर्थात् निस्पृहता की अवस्था में आत्मा के विश्राम से उत्पन्न सुख को 'शम' कहते हैं। आचार्य मम्मट, पंडितराज जगन्नाथ आदि ने इसे 'निर्वेद' की संज्ञा प्रदान की है। मम्मट ने 'निर्वेद' को शान्त रस का स्थायी भाव माना है

निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।[4]

पंडितराज जगन्नाथ ने 'निर्वेद' का लक्षण निरूपित करते हुए लिखा है कि नित्य (ब्रह्म) और अनित्य (जगत्) वस्तुओं के विचार करने से जिसकी उत्पत्ति होती है, उस विषय-विरक्ति नामक चित्तवृत्ति को 'निर्वेद' कहते हैं :

नित्यानित्यवस्तुविचारजन्मा विषयविरागाख्यो निर्वेदः।[5]

यह उल्लेखनीय है कि सम्भवतः नाटकों में शान्त रस के परिपाक की असम्भावना को ध्यान में रखकर भरत ने इसे स्थायी भाव नहीं माना था; किन्तु परवर्ती आचार्यों ने इसे मान्यता प्रदान की। इस प्रकार शान्तरस की गणना भी रसों में होने लगी।

स्मरणीय है कि 'निर्वेद' संचारी भाव भी है। आचार्यों ने 'निर्वेद' स्थायी और 'निर्वेद' संचारी का अन्तर स्पष्ट करते हुए कहा है कि तत्त्वज्ञानजन्य निर्वेद शान्त रस का स्थायी भाव है तथा दारिद्र्य, व्याधि, क्रोध, इष्टजन-वियोग आदि से उत्पन्न होने वाला निर्वेद संचारी है। इस दृष्टि से शारदातनय का यह वचन महत्त्वपूर्ण है :

स्थायी स्याद्विषयेष्वेव तत्त्वज्ञानोद्भवो यदि।
इष्टानिष्टवियोगाप्तिकृतस्तु व्यभिचार्यसौ॥[6]

---

१. रामचरितमानस, ५।१३।१-२
२. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० १००३
३. साहित्यदर्पण, ३।१८०
४. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, सू० ४७
५. रसगंगाधर (प्रथम आनन), पृ० १३२
६. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ४१७

'शम' या 'निर्वेद' के उदाहरण के रूप मे हम निम्नांकित दोहा उद्धृत कर सकते हैं

सबहि सुलभ नित विषय-सुख क्यो तू करतु प्रयास।
दुर्लभ यह नर-तन समुझि करहु न वृथा विनास ॥[1]

यहाँ वैराग्य का उपदेश है, अत 'निर्वेद' भावमात्र है, शान्त रस की पुष्टि नही हो सकी।

१० वत्सल या वात्सल्य वत्स (वद्+स[2]) का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है बछड़ा, पुत्र आदि तथा वत्सल (वत्स+ला+क[3]) का अर्थ है 'बच्चो को प्यार करने वाला' अथवा स्नेहशील, और वात्सल्य (वत्सल+ष्यञ्[4]) का अर्थ है बच्चो के प्रति स्नेह। काव्यशास्त्र के सन्दर्भ मे 'वात्सल्य' या 'वत्सलता' 'वत्सल' रस का स्थायी भाव है[5]

स्फुटं चमत्कारितया वत्सल च रस विदु ।
स्थायी वत्सलता स्नेहः पुत्राद्यालम्बन मतम् ॥[6]

स्मरण रहे कि मम्मट आदि सम्कृत के प्राचीन आचार्यो ने देवादिविषयक रति को केवल 'भाव' ठहराया है तथा वात्सल्य को भी इसी प्रकार की 'रति' माना है, जो स्थायी भाव के तुल्य, उनकी दृष्टि मे, चर्वणीय या आस्वाद्य नही है,[7] किन्तु अन्य आचार्यो ने (जिनमे भोज और विश्वनाथ प्रमुख हैं) इसकी सत्ता का प्राधान्य स्वीकार किया है। भोजकृत 'शृ गारप्रकाश' के निम्नांकित श्लोक से स्पष्ट है कि उस समय तक 'वत्सल' रस को मान्यता प्राप्त हो चुकी थी :

शृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य-
बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्न. ।
आम्नासिपुर्दश रसान्सुधियो वयं तु
शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनाम ॥[8]

सूरदास की निम्नांकित पंक्तियो मे इसी भाव की व्यजना हुई है

अब हौं बलि बलि जाउँ हरी।
निसि दिन रहति विलोकति हरि-मुख छांड़ि सकति नहिं एक घरी।[9]

१. काव्यकल्पद्रुम (प्रथम भाग—रसमजरी), पृ० १५६
२ सस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ८६२
३. सस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ८६३
४. सस्कृत-हिन्दी कोश पृ० ६१६
५. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ७०७
६. साहित्यदर्पण, ३।२५१
७ काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, सू० ४८ और उस पर वृत्ति।
८ शृङ्गार प्रकाश, १।६
६. सूरसागर, १०।८० (पृ० २८८)

यहाँ केवल भावमात्र की व्यंजना है रस का परिपाक नहीं हो पाया।

११ भक्ति : भक्ति (भज्+क्तिन्[1]) का अर्थ है 'ईश्वरविषयक रति'। जब से 'भक्ति रस' को रसों में मान्यता मिली है तब से सभी इसे भक्तिरस का स्थायी भाव स्वीकार करने लगे हैं। प्राचीन आचार्यों ने भगवद्विषयक रति अथवा देवादिविषयक रति को केवल भावरूप में ही स्वीकार किया था। उन्होंने इसे रस की कोटि में मानने से इनकार किया था। इस प्रसंग में मम्मटाचार्य की स्पष्ट उक्ति है

रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जित. ॥
भाव प्रोक्त [2]

अर्थात् देवता आदि के विषय में उत्पन्न होने वाली रति (प्रीति) 'भाव' कही गयी है।

आचार्य विश्वनाथ ने भी देवादिविषया रति की गणना 'भाव' के अन्तर्गत की है

सञ्चारिण प्रधानानि देवादिविषया रति ॥
उद्बुद्धमात्र स्थायी च भाव इत्यभिधीयते।[3]

किन्तु कालान्तर में भक्ति के प्रबल उद्गारों से भरी हुई कविताओं को देखकर आचार्यों ने भक्तिरस को मान्यता प्रदान की। मैथिलीशरण गुप्त की निम्नांकित पंक्तियों में भक्ति-भाव की व्यंजना है

जो जन तुम्हारे पद-कमल के असल मधु को जानते।
वे मुक्ति को भी कर अनिच्छा तुच्छ उसको मानते ॥[4]

यहाँ भक्ति-रस का परिपाक नहीं हो सका, केवल भाव अवस्था तक सीमित 'भक्ति' है।

रस-भेद

भरत ने आठ रस गिनाये थे। उन्होंने शान्त रस को नाटक के उपयुक्त न समझकर उसकी गणना रसों में करना उचित न समझा था। भरत द्वारा गिनाये गये आठ रस हैं - १. शृंगार २ हास्य, ३ करुण, ४ रौद्र, ५. वीर, ६ भयानक, ७ बीभत्स और ८. अद्भुत।

नाट्यशास्त्र की निम्नांकित कारिका में ये आठ रस ही हैं :

शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानका।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसा स्मृता. ॥[5]

---

१ संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ७२६
२ काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, सू० ४८
३. साहित्यदर्पण, ३।२६०, ६१
४. काव्यदर्पण, पृ० १०२ पर उद्धृत
५ नाट्यशास्त्र, ६।१५

भरत के अनुसरणकर्ता धनंजय ने उपर्युक्त आठ रसों के आठ स्थायी भावों का उल्लेख करते हुए यह कहा कि कोई-कोई आचार्य 'शम' को भी स्थायी भाव मानते हैं, किन्तु उसकी पुष्टि नाटकों में नहीं होती

> रत्युत्साहजुगुप्साः क्रोधो हासः स्मयो भयं शोकः ।
> शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य ॥[1]

इससे स्पष्ट है कि दशरूपककार ने भी आठ ही रस माने। उन्होंने शान्त रस को नाटक के उपयुक्त नहीं समझा। किन्तु आगे चलकर आचार्यों ने सम्पूर्ण वाङ्मय की व्यापकता को दृष्टि में रखते हुए 'शम' या 'निर्वेद' को स्थायी भाव तथा उनसे सम्बद्ध शान्त रस को मान्यता प्रदान की। कालान्तर में 'वात्सल्य' और 'भक्ति' रस की रसों में गणना हो जाने से रसों की कुल संख्या ११ हो गयी। इस प्रकार अब साहित्य में कुल ये ११ रस माने जाते हैं १. शृंगार, २. हास्य, ३. करुण, ४. रौद्र, ५. वीर, ६. भयानक, ७. बीभत्स, ८. अद्भुत, ९. शान्त, १०. वात्सल्य और ११. भक्ति।

अब हम उपर्युक्त ११ रसों का सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

१. शृंगार रस

शृंगार (शृङ्ग पूर्वक ऋ धातु + अण्[2]) शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है—शृंग + आर। शृंग का अर्थ है 'कामोद्रेक' अथवा 'काम की वृद्धि', तथा 'आर' (गत्यर्थक 'ऋ' धातु + अण्) का अर्थ है 'प्राप्ति'। इस प्रकार 'शृंगार' शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है 'कामवृद्धि की प्राप्ति'[3]।

भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में कहा है 'शृंगार रस रति स्थायी भाव से उद्भूत होता है। वह उज्ज्वल वेश वाला है। संसार में जो कुछ पवित्र, उज्ज्वल एवं दर्शनीय है, वह शृंगार रस से उपमित होता है। उज्ज्वल वेश वाला शृंगारवान् कहा जाता है। जैसे पुरुषों के नाम गोत्र, कुल तथा आचार से उत्पन्न एवम् आप्तोपदेश से सिद्ध हुआ करते हैं, उसी प्रकार इन रसों, भावों तथा नाट्याश्रित पदार्थों के नाम भी आप्तोपदेश से सिद्ध तथा आचार से बनते हैं। इसी प्रकार मनोहर तथा उज्ज्वल वेश होने से इस रस का नाम शृंगार पड़ा है। यह स्त्री-पुरुष के माध्यम से उत्पन्न होता है तथा उत्तम

---

१ दशरूपक, ४।३५

२. शब्दकल्पद्रुम (जि० ५), पृ० १३४

३. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ७३०

यौवन की प्रकृति के अनुकूल है।"[1]

आचार्य विश्वनाथ का कथन है कि 'काम के अंकुरित होने को शृंग कहते हैं। उसकी उत्पत्ति का कारण, अधिकांश उत्तम प्रकृति से युक्त, रस शृंगार कहलाता है'

> शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।
> उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृङ्गार इष्यते॥[2]

दशरूपक के लक्षण में शृंगार रस के विभावों एवम् अनुभावों का उल्लेख किया गया है

> रम्यदेशकलाकालवेषभोगादिसेवनैः।
> प्रमोदात्मा रतिः सैव यूनोरन्योन्यरक्तयोः।
> प्रहृष्यमाणः शृङ्गारो मधुराङ्गविचेष्टितैः॥[3]

अर्थात् रमणीय देश, काल, वेष तथा भोग आदि के सेवन के द्वारा परस्पर अनुरक्त युवक-युवती को जो प्रमोद होता है वह रति भाव कहलाता है, वही मधुर अंग चेष्टाओं से पुष्ट होकर (प्रहृष्यमाण) शृंगार रस कहा जाता है।

यहाँ 'रति' को प्रमोदात्मा कहा गया है। रमणीय देश आदि यहाँ शृंगार के उद्दीपन विभाव हैं। युवक-युवती (नायक-नायिका) आलम्बन विभाव हैं। मधुर अंग चेष्टाएँ इसके अनुभाव हैं।

शृंगार रस के आलम्बन नायक, नायिका, चन्द्र-ज्योत्स्ना, चन्दन का लेप, भ्रमर झंकार आदि उद्दीपन विभाव, भ्रू-भंगिमा, कटाक्ष आदि अनुभाव तथा उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा को छोड़कर सभी व्यभिचारी भाव इसके पोषक हुआ करते हैं। 'रति' इसका स्थायी भाव होता है। इसका वर्ण श्याम तथा विष्णु भगवान् इसके अभिमान देव हैं

> आलम्बनं नायिका स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायकाः।
> चन्द्रचन्दनरोलम्बरुताद्युद्दीपनं मतम्।
> भ्रूविक्षेपकटाक्षादिरनुभावः प्रकीर्तितः॥

---

१ तत्र शृङ्गारो नाम रतिस्थायिभावप्रभव उज्ज्वलवेषात्मकः। यथा—यत्किञ्चिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृङ्गारेणोपमीयते। यस्तावदुज्ज्वलवेषः स शृङ्गारवानित्युच्यते। यथा च गोत्रकुलाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि पुंसां नामानि भवन्ति तथैवैषां रसानां भावानां च नाट्याश्रितानां चार्थानामाचारोत्पन्नान्याप्तोपदेशसिद्धानि नामानि। एवमेष आचारसिद्धो हृद्योज्ज्वलवेषात्मकत्वाच्छृङ्गारो रसः। स च स्त्रीपुरुषहेतुक उत्तमयुवप्रकृतिः। —नाट्यशास्त्र (षष्ठ अध्याय), पृ० ८४-८५

२ साहित्यदर्पण, ३।१८३

३. दशरूपक, ४।४८

त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्यजुगुप्सा व्यभिचारिण ।
स्थायिभावो रति. श्यामवर्णोऽय विष्णुदैवत ॥[1]

शृ गार रस के भेद

दशरूपककार धनजय (१०वी श० ई० का उत्तरार्द्ध) और भावप्रकाशन-कार शारदातनय (१३वी श० ई० का मध्य भाग) को छोडकर सभी आचार्यों ने शृ गार के दो भेद माने हैं १ सभोग या सयोग, २ विप्रलम्भ या वियोग ।

नाट्यशास्त्रकार भरत ने 'तस्य द्वे अधिष्ठाने सम्भोगो विप्रलम्भश्च'[2] कहकर दो भेदो का उल्लेख किया है । काव्यानुशासन के रचयिता हेमचन्द्र[3] (१०८८ ई०—११७२ ई०) तथा नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्र (१२वी श० ई० का मध्यकाल) ने 'सम्भोग-विप्रलम्भात्मा शृ गार'[4] कहकर, तथा प्रतापरुद्रीय के रचयिता विद्यानाथ (१३वी श० ई० का उत्तरार्द्ध तथा १४वी श० ई० का पूर्वार्द्ध) ने

अथ शृगारः । स द्विविधः । सभोगो विप्रलम्भश्चेति ।[5]

कहकर शृ गार के दो भेदो को मान्यता दी है । इसी परपरा का पालन करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने कहा

विप्रलम्भोऽथ संभोग इत्येष द्विविधो मतः ।[6]

इस से भिन्न परंपरा है उन आचार्यों की जिन्होंने शृ गार के तीन भेद माने - १ अयोग, २ विप्रयोग और ३ सभोग ।

धनजय ने शृ गार रस के यही तीन भेद बताये

अयोगो विप्रयोगश्च संभोगश्चेति स त्रिधा ।[7]

शारदातनय ने भी इसी मत का समर्थन किया है । उनके अनुसार भी शृ गार के तीन भेद हैं :

वियोगायोगसभोगैः शृगारो भिद्यते त्रिधा ।[8]

किन्तु इस मत को मान्यता नहीं प्राप्त हो सकी । अब शृ गार के दो भेद (सयोग और वियोग) ही सर्वमान्य है ।

१ सभोग *या* सयोग *शृंगार*—सभोग (सम् पूर्वक भुज्+घञ्[9]) अथवा

---

१. साहित्यदर्पण, ३।१८४-१८६
२ नाट्यशास्त्र (षष्ठ अध्याय), पृ० ८५
३ काव्यानुशासन, पृ० ८२
४ (हिन्दी) नाट्यदर्पण, पृ० ३०६
५. प्रतापरुद्रीय, पृ० १९९
६. साहित्यदर्पण, ३।१८६
७. दशरूपक, ४।५०
८. भावप्रकाशन, पृ० ८५
९. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ७५४ (भुज्+घञ्=भोग)

संयोग (सम् + भुज् + घञ्[1]) शृंगार वह आनन्दपूर्ण अवस्था है जहाँ अनुकूल विलासी एक-दूसरे के दर्शन स्पर्शन इत्यादि का उपभोग करते हैं

अनुकूलौ निषेवेते यत्रान्योन्यं विलासिनौ ।
दर्शनस्पर्शनादीनि स सम्भोगो मुदान्वितः ॥[2]

'दशरूपक' के इसी लक्षण को आधार बनाकर आचार्य विश्वनाथ ने यही बात कुछ हेर-फेर से कही

दर्शनस्पर्शनादीनि निषेवेते विलासिनौ ।
यत्रानुरक्तावन्योन्यं सम्भोगोऽयमुदाहृतः ॥[3]

भरत ने सम्भोग शृंगार के विभावों और अनुभावों का विस्तृत वर्णन करते हुए कहा है कि 'ऋतुरम्यता, माल्य, अनुलेपन, अलंकार, इष्टजनों का स्मरण, इन्द्रियों के विषय, रम्य भवन, उपवनगमन, प्रिय के वचनों का श्रवण, उसका दर्शन, उसके साथ क्रीडा लीला आदि विभावों से इसकी उत्पत्ति होती है, तथा नयनचातुर्य, भ्रूविक्षेप, कटाक्ष, ललित एवं मधुर अंगचेष्टाएँ, आकर्षक वचन इत्यादि अनुभावों से इसकी अभिव्यक्ति होती है। त्रास, आलस्य, उग्रता और जुगुप्सा को छोड़कर अन्य सभी व्यभिचारी इसमें आ सकते हैं।'[4]

यह उल्लेखनीय है कि कुछ आचार्य सम्भोग और संयोग दोनों को भिन्न-भिन्न मानते हैं, किन्तु दोनों को पृथक् मानने का कोई प्रबल आधार नहीं है। अधिकांश आचार्य दोनों को एक ही मानते हैं।

सम्भोग शृंगार की सामग्री—संयोग शृंगार के आलम्बन नायक या नायिका होते हैं, एकान्त या मनोहारी दृश्य उद्दीपन विभाव का कार्य करते हैं। अध-मिची आँखों से देखना अनुभाव तथा व्रीडा, औत्सुक्य आदि संचारी भाव होते हैं। इन सभी से पुष्ट 'रति' स्थायी भाव संयोग शृंगार में व्यक्त होता है। इस रस के उदाहरण के रूप में हम रामचरितमानस के पुष्पवाटिकाप्रसंग की निम्नांकित पंक्तियाँ ले सकते हैं:

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि । कहत लखन सन राम हृदय गुनि ॥
मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही । मनसा बिस्वबिजय कहँ कीन्ही ॥
अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा । सियमुख ससि भये नयन चकोरा ॥

---

१. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० १०४६
२. दशरूपक, ४।६६
३. साहित्यदर्पण, ३।२१०
४. तत्र सम्भोगस्तावद् ऋतुमाल्यानुलेपनालङ्कारेष्टजनविषयवरभवनोपभोगोपवनगमनानुभवनश्रवणदर्शनक्रीडालीलादिभिर्विभावैरुत्पद्यते । तस्य नयनचातुर्यभ्रूविक्षेपकटाक्षसञ्चारललितमधुराङ्गहारवाक्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः । व्यभिचारिणश्चास्यालस्यौग्र्यजुगुप्सावर्ज्याः ।
—नाट्यशास्त्र (षष्ठ अध्याय), पृ० ८५

भये बिलोचन चारु अचंचल । मनहु सकुचि निमि तजे दिगंचल ॥
देखि सीयसोभा सुखु पावा । हृदय सराहत बचनु न आवा ॥[1]

यहाँ राम आश्रय, सीता आलम्बन विभाव, कंकन, किंकिनि और नूपुर की ध्वनि उद्दीपन विभाव, निर्निमेष नेत्रों से देखना अनुभाव तथा हर्ष, औत्सुक्य आदि संचारी भाव हैं । इन सभी के संयोग से राम की सीताविषयक रति शृंगार रस में अभिव्यक्त हुई है ।

विप्रलम्भ या वियोग शृंगार

विप्रलम्भ (वि+प्र+लभ्+घञ्[2]) का शाब्दिक अर्थ है धोखा या छल । काव्यशास्त्रीय अर्थ में जब नायक-नायिका का परस्पर अनुराग तो प्रगाढ़ हो, किन्तु परस्पर मिलन न हो तब वहाँ 'विप्रलम्भ' या 'वियोग' शृंगार होता है । इसका भी स्थायी भाव 'रति' है

यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ ।[3]

यही लक्षण भोजदेव ने 'सरस्वतीकंठाभरण' में दिया है ।[4] पण्डितराज जगन्नाथ का मत है कि प्रेम की वर्तमानता ही प्रधान है । उनका कथन है कि मानसिक संयोग सम्पन्न होने पर सम्भोग शृंगार तथा मानसिक वियोग होने पर विप्रलम्भ शृंगार होता है ।[5]

विप्रलम्भ शृंगार के भेद—भोजदेव ने विप्रलम्भ शृंगार के चार भेद माने हैं १ पूर्वानुराग, २ मान, ३. प्रवास और ४ करुण । आचार्य विश्वनाथ ने भोजदेव का अनुसरण करते हुए यही चार भेद माने हैं

स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकश्चतुर्धा स्यात् ॥[6]

किन्तु मम्मट ने विप्रलम्भ के पाँच प्रकार बताये हैं . १. अभिलाषहेतुक, २. विरहहेतुक, ३ ईर्ष्याहेतुक, ४ प्रवासहेतुक और ५ शापहेतुक

अपरस्तु अभिलाषविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पञ्चविध ।[7]

हिन्दी के आचार्यों में कुछ ने 'काव्यप्रकाश' का अनुसरण किया है और कुछ ने 'साहित्यदर्पण' का । मतिराम और 'हरिऔध' ने पूर्वानुराग मान और प्रवास ये तीन भेद ही माने हैं ।[8] हम 'साहित्यदर्पण' का अनुसरण करते हुए

---

१. रामचरितमानस, १।२३०।१-५
२ संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ६४३
३ साहित्यदर्पण, ३।१८७
४ सरस्वतीकंठाभरण, ५।४५
५ रसगंगाधर (प्रथम आनन), पृ० १३८
६ साहित्यदर्पण, ३।१८७
७ काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, पृ० ६७
८ हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ७१६

विप्रलम्भ शृंगार के इन चार भेदों का विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं

१ पूर्वराग, २ मान, ३ प्रवास और ४ करुण।

१ पूर्वराग—रूप सौन्दर्य आदि के श्रवण अथवा दर्शन से परस्पर अनुरक्त नायक नायिका की वह दशा जो उनके समागम के पूर्व हुआ करती है, 'पूर्वराग विप्रलम्भ' कहलाती है

श्रवणाद्दर्शनाद्वापि मिथ सरूढरागयो।
दशाविशेषो योऽप्राप्तौ पूर्वराग स उच्यते ॥[1]

रूप सौन्दर्य आदि का श्रवण दूत, बन्दी, सखी आदि के मुख से सभव होता है तथा दर्शन सभव है इन्द्रजाल, चित्र, स्वप्न म अथवा साक्षात्

श्रवण तु भवेत्तत्र दूतबन्दीसखीमुखात्।
इन्द्रजाले च चित्रे च साक्षात्स्वप्ने च दर्शनम् ॥[2]

इसमे १ अभिलाषा, २ चिन्ता, ३ स्मृति, ४ गुण कथन, ५ उद्वेग, ६ सप्रलाप, ७ उन्माद, ८ व्याधि, ९ जडता और १० मति (मरण) ये दस कामदशाएँ होती हैं

अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसप्रलापाश्च।
उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशा ॥[3]

'साहित्य दर्पण' मे पूर्वराग के तीन भेद कहे गये हैं

(१) नीली राग, (२) कुसुम्भ राग और (३) मञ्जिष्ठा राग।

नीली कुसुम्भ मञ्जिष्ठा पूर्वरागोऽपि च त्रिधा ॥[4]

(१) नीली-राग—जो अनुराग बाहर म न दिखाई पडे, किन्तु हृदय मे कूट कूटकर भरा हो, उसे नीली-राग कहते हैं जैसे राम और सीता का प्रेम।

न चातिशोभते यन्नापैति प्रेम मनोगतम्।
तन्नीलीरागमाख्यात यथा श्रीरामसीतयो ॥[5]

उदाहरण के लिए रामचरितमानस की निम्नाकित पक्तियाँ लो जा सकती हैं

तासु बचन अति सियहि सोहाने। दरस लागि लोचन अकुलाने ॥
चली अग्र करि प्रिय सखि सोई। प्रीति पुरातन लखै न कोई ॥
सुमिरि सीय नारदबचन उपजी प्रीति पुनीत।
चकित बिलोकति सकल दिसि जनु सिसु मृगी सभीत ॥[6]

---

१ साहित्यदर्पण, ३।१८८
२ साहित्यदर्पण, ३।१८९
३. साहित्यदर्पण, ३।१९०
४. साहित्यदर्पण, ३।१९५
५ साहित्यदर्पण, ३।१९६
६. रामचरितमानस, १।२२९।३ १०

सखी के मुख से राम के रूप-सौन्दर्य को सुनकर सीता के हृदय में राम के दर्शन की अभिलाषा जाग्रत हुई है। इसे 'अभिलाषहेतुक' वियोग शृंगार भी कह सकते हैं। यहाँ सीता आश्रय, राम आलम्बन, सखी के मुख से राम के सौन्दर्य का वर्णन सुनना उद्दीपन विभाव, 'चकित बिलोकति' आदि अनुभाव तथा औत्सुक्य, हर्ष, स्मृति, चपलता आदि सचारी भाव हैं। इस प्रकार यहाँ 'पूर्वराग' या 'अभिलाषहेतुक' विप्रलम्भ शृंगार है। 'प्रीति पुरातन लखै न कोई' से 'नीलीराग विप्रलम्भ' की व्यंजना हो रही है।

(२) कुसुम्भ राग—जो अनुराग बाहरी चमक-दमक वाला हो, किन्तु वास्तविक न हो उसे 'कुसुम्भराग' कहते हैं

कुसुम्भराग तत्प्राहुर्यदपैति च शोभते।[1]

(३) मंजिष्ठाराग—जो हृदय में भी हो और बाहरी दिखावे में भी आये उसे 'मंजिष्ठाराग' कहते हैं

मंजिष्ठारागमाहुस्तद् यन्नापैत्यतिशोभते।[2]

इनके उदाहरण भी साहित्य में ढूंढे जा सकते हैं।

२. मान-विप्रलम्भ—प्रणयमान और ईर्ष्या-मान के कारण नायक-नायिका के वियोग को 'मान-विप्रलम्भ' कहते हैं। इस प्रकार 'मान-विप्रलम्भ' प्रणय-मान और ईर्ष्यामान के भेद से दो प्रकार का होता है

मानः कोपः स तु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्भवः।[3]

(१) प्रणयमान—प्रणयमान कहते हैं अकारण कोप को। जब प्रेमी-प्रेमिका के हृदय में प्रेम भरा हुआ हो, और वे अकारण एक दूसरे पर कोप करें, तब वहाँ 'प्रणयमान विप्रलम्भ शृंगार' होता है

द्वयोः प्रणयमानः स्यात् प्रमोदे सुमहत्यपि।
प्रेम्णः कुटिलगामित्वात् कोपो यः कारणं बिना॥[4]

उदाहरण

बोलौ हँसौ त्रिहँसौ न बिलोकौ, तू मौन भई यह कौन सयान है,
चूक परी सो बताय न दीजिए दीजिए आपुन को हमैं आन है।
प्रानप्रिया ! बिन कारन ही यह लखिबो 'बेनी प्रबीन' प्रयान है;
ह्वै निरमूल बिलोकिए राधिके अबर-बेल भौ रावरौ मान है।[5]

यहाँ राधा का प्रणयमान वर्णित है।

(२) ईर्ष्यामान—जब कोई प्रेमिका अपने प्रेमी की आसक्ति किसी अन्य

---

१. साहित्यदर्पण, ३।१६७
२. साहित्यदर्पण, ३।१६७
३. साहित्यदर्पण, ३।१६८
४. साहित्यदर्पण, ३।१६८, ६६
५. काव्यकल्पद्रुम (प्रथम भाग—रसमंजरी), पृ० १६४ पर उद्धृत।

प्रेमिका में देखकर सुनकर या अनुमान करके प्रणय-कोप करे तब उसे 'ईर्ष्या-समुद्भव मान' कहते हैं। यह भी तीन प्रकार का हो सकता है

१ उत्स्वप्नायितजन्य (स्वप्न में नायक द्वारा अन्य प्रेमिका की बातों के बड़बड़ाने से उत्पन्न)

२ भोगाङ्कजन्य (नायक के शरीर पर अन्य नायिका के संभोग चिह्नों को देखकर उत्पन्न)

३ गोत्रस्खलनजन्य (अकस्मात् नायक के मुख से अन्य नायिका का नाम निकल पड़ने से उत्पन्न)

पत्युरन्यप्रियासङ्गे दृष्टेऽथानुमिते श्रुते ॥
ईर्ष्यामानो भवेत्स्त्रीणां तत्र त्वनुमितिस्त्रिधा ।
उत्स्वप्नायितभोगाङ्कगोत्रस्खलनसम्भवा ॥[1]

भोगाङ्कजन्य ईर्ष्यामान का उदाहरण

सुरँग महावर सौति पग, निरखि रही अनखाय ।
पिय अँगुरिन लाली लखैं, खरी उठी लगि लाय ।[2]

गोत्रस्खलनजन्य ईर्ष्यामान का उदाहरण

दोऊ अनंद सों आँगन माँझ बिराजैं असाढ़ की साँझ सुहाई;
प्यारी को बूझत और तिया को अचानक नाँउ लियो रसिकाई ।
आयी उनै मुँह मैं हँसी, कोपि तिया सुर-चाप-सी भौंह चढ़ाई;
आँखिन तें गिरे आँसू के बूँद, सुहासु गयो उड़ि हंस की नाईं ॥[3]

इसी प्रकार 'उत्स्वप्नायितजन्य ईर्ष्यामान' का उदाहरण भी साहित्य में ढूँढा जा सकता है।

३. प्रवास विप्रलम्भ—कार्यवश, शापवश अथवा सम्भ्रमवश नायक का देशान्तरगमन 'प्रवास' कहलाता है। उससे उत्पन्न वियोग को 'प्रवास-विप्रलम्भ' कहते हैं

प्रवासो भिन्नदेशित्वं कार्याच्छापाच्च सम्भ्रमात् ।[4]

इसमें अङ्ग मालिन्य, वस्त्रमालिन्य, एकवेणीधारण, निःश्वास उच्छ्वास, रोदन, भूमिपतन आदि नायिकागत चेष्टाएँ होती हैं :

तत्राङ्गचेलमालिन्यमेकवेणीधरं शिरः ।
निःश्वासोच्छ्वासरुदितभूमिपातादि जायते ॥[5]

तथा अङ्गों का असौष्ठव, सन्ताप, पाण्डुता, कृशता, अरुचि, अधीरता,

---

१ साहित्यदर्पण, ३।१९९, २००

२ बिहारी-बोधिनी, ६०३

३. रसराज, ३९० (मतिराम ग्रंथावली, पृ० ३३६)

४ साहित्यदर्पण, ३।२०४

५ साहित्यदर्पण, ३।२०४, २०५

अनालम्बनता, तन्मयता, उन्माद और मूर्च्छा ये दस कामदशाएँ होती हैं। मरण (मरणासन्न अवस्था) भी एक दशा होती है

अङ्गेष्वसौष्ठवं तापः पाण्डुता कृशताऽरुचि ॥
अधृतिः स्यादनालम्बस्तन्मयोन्मादमूर्च्छना. ।
मृतिश्चेति क्रमाज्ज्ञेया दश स्मरदशा इह ॥[3]

शाप हेतुक प्रवास-विप्रलम्भ का उदाहरण

गेरू से मैं लिखकर तुझे मानिनी को शिला पै;
ज्यों लौं चाहौं तव पद-गिरा हा ! मुझे भी लिखा मैं।
रोके दृष्टी बढ़कर महा अश्रुधारा असह्य,
है धाता को अहह ! अपना संग यों भी न सह्य ॥[4]

यहां कुबेर के शाप के कारण यक्ष-दम्पति के वियोग का वर्णन है।

प्रवास विप्रलम्भ का एक और उदाहरण

नाना-चिन्ता सहित दिन को राधिका यों बिताती।
आँखों को यों सजल रखतीं उन्मना थीं दिखाती।
शोभा वाले जलद-वपु की हो रही चातकी थीं।
उत्कण्ठा थी परम प्रबला वेदना वर्द्धिता थी ॥[1]

यहां राधा आश्रय; श्रीकृष्ण आलम्बन विभाव, श्रीकृष्ण का मेघवत् श्याम शरीर (जलद-वपु) जिसकी स्मृति करके राधिका दुःखी हो रही है, उद्दीपन विभाव; अश्रुपूर्ण नेत्र तथा उन्मन रहना आदि अनुभाव तथा चिन्ता, उत्कण्ठा (औत्सुक्य), विषाद, स्मृति, व्याधि (परम प्रबला वेदना वर्द्धिता) आदि संचारी भाव हैं। इन सभी के संयोग से राधा की कृष्णविषयक रति वियोग शृंगार में पर्यवसित हुई है। इसी प्रकार 'साकेत' की निम्नांकित पंक्तियों में 'प्रवास-विप्रलम्भ' है :

मानस-मन्दिर में सती, पति की प्रतिमा थाप,
जलती-सी उस विरह में, बनी आरती आप !
आँखों में प्रिय-मूर्ति थी, भूले थे सब भोग,
हुआ योग से भी अधिक उसका विषम-वियोग !
आठ पहर चौंसठ घड़ी स्वामी का ही ध्यान,
छूट गया पीछे स्वयं उससे आत्मज्ञान ![2]

यहाँ उर्मिला आश्रय; प्रवासगत (वनवासी) लक्ष्मण आलम्बन विभाव, आँखों में प्रियतम (लक्ष्मण) की मूर्ति उद्दीपन विभाव; भोगों का परित्याग

---

३. साहित्यदर्पण, ३।२०५, २०६
४. मेघदूत (अनूदित)—रसमंजरी (पोद्दार), पृ० १९८ पर उद्धृत
१. प्रियप्रवास, ९।२६
२. साकेत (मैथिलीशरण गुप्त), नवम सर्ग, पृ० २६८, ६६

करना तथा स्वामी का ध्यान करना अनुभाव और स्मृति, जड़ता, औत्सुक्य आदि संचारी हैं। इन सभी के संयोग से उर्मिला का लक्ष्मणविषयक रति-भाव प्रवास विप्रलम्भ में परिणत हुआ है।

४ करुण विप्रलम्भ—करुण विप्रलम्भ वहाँ होता है जहाँ प्रेमी या प्रेमिका में से किसी एक के दिवंगत हो जाने किन्तु पुनरुज्जीवित हो सकने की अवस्था में, जीवित बचे दूसरे के हृदय में शोकसम्वलित रति भाव की अभिव्यक्ति होती है

यूनोरेकतरस्मिन्गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत्करुणविप्रलम्भाख्यः॥[1]

करुण विप्रलम्भ और करुण रस में अन्तर यह है कि 'करुण रस' में मिलन की संभावना समाप्त हो जाती है किन्तु 'करुण विप्रलम्भ' में मिलन की आशा बनी रहती है। करुण विप्रलम्भ का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण 'कादम्बरी' में महाश्वेता वृत्तान्त के अन्तर्गत उपलब्ध होता है। पुण्डरीक की मृत्यु पर महाश्वेता को सर्वप्रथम करुण रस की ही अनुभूति हुई थी किन्तु आकाश-वाणी सुनने के पश्चात् प्रियमिलन की आशा अंकुरित हो जाने पर 'करुण विप्रलम्भ' माना जायगा।

जहाँ भी प्रिय जीवित है और प्रियमिलन की भौतिक संभावना सर्वथा विलुप्त नहीं हुई वहाँ विप्रलम्भ ही माना जायगा।[2]

मम्मट द्वारा निर्दिष्ट विप्रलम्भ शृंगार के पाँच भेद[3] ऊपर निरूपित किये गये विश्वनाथ के चार भेदों के समान ही हैं। मम्मट का 'अभिलाष-हेतुक विप्रलम्भ' विश्वनाथ का 'पूर्वराग' या 'पूर्वानुराग' ही है। मम्मट के 'ईर्ष्याहेतुक' का सम्बन्ध विश्वनाथ के 'मान विप्रलम्भ' से है। 'प्रवास' दोनों में समान है। 'शाप' का अन्तर्भाव 'प्रवास' के अन्तर्गत हो जाता है। 'करुण' का अन्तर्भाव भी प्रवास के अन्तर्गत हो सकता है। हाँ, मम्मट का 'विरह-हेतुक विप्रलम्भ' अवश्य ऐसा है जो मौलिक कहा जा सकता है। समीप रहने पर भी जब गुरुजनों की लज्जा आदि के कारण समागम न हो, तब 'विरह-हेतुक' कहा जाता है। इसके सुन्दर उदाहरण हिन्दी में मिलते हैं, विशेषकर सतसई ग्रन्थों में।[4] बिहारी का निम्नांकित दोहा 'विरहहेतुक विप्रलम्भ' का एक सुन्दर उदाहरण है

१ साहित्यदर्पण, ३।२०६
२ हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ७१६
३ अपरस्तु (विप्रलम्भस्तु) अभिलाषविरहेर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पञ्चविधः।—काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, पृ० ९७
४ हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ७१६

इन दुखिया अँखियान को, सुख सिरजोई नाँहि ।
देखत बनें न देखते, बिन देखे अकुलाँहि ॥[1]

२. हास्य रस

हास्य (हस्+ण्यत्[2]) रस की सामग्री इस प्रकार है

स्थायी भाव—हास ।

आलम्बन विभाव—विकृत आकार, वाणी, वेश-भूषा वाला व्यक्ति ।

उद्दीपन विभाव—आलम्बन की हास्यजनक चेष्टाएँ ।

अनुभाव—ओष्ठ, नासिका और कपोलों का स्फुरण, आँखों का मिचना, मुख का विकसित होना, व्यंग्यपूर्ण वाक्य आदि ।

सञ्चारी भाव—आलस्य, निद्रा, अवहित्था, तन्द्रा, स्वप्न, प्रबोध, असूया, अश्रु, हर्ष, चपलता आदि ।

इसका वर्ण श्वेत माना गया है। प्रमथगण इस रस के अधिष्ठातृ देवता हैं ।[3]

हास्य रस के भेद कई आधारों से किये गये हैं। आश्रय के आधार पर इसके दो भेद हैं १. आत्मस्थ, २ परस्थ । जब कोई स्वयं हँसे तो वह 'आत्मस्थ' हास्य होगा और जब वह दूसरे को हँसाये तो उसे 'परस्थ' हास्य कहा जायगा

द्विविधश्चायमात्मस्थः परस्थश्च । यदा स्वयं हसति तदात्मस्थः । यदा-परं हासयति तदा परस्थः ।[4]

भाव के विकास-क्रम अथवा तारतम्य के आधार पर हास्य के छह भेद किये गये हैं। ये भेद प्रकृति की दृष्टि से उत्तम, मध्यम और अधम इन तीन कोटियों में इस प्रकार रखे गये हैं

उत्तम १. स्मित, २. हसित ।
मध्यम ३ विहसित, ४. उपहसित ।
अधम ५. अपहसित, ६ अतिहसित ।

---

१ बिहारी-बोधिनी, २४८

२. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ११३२

३. विकृताकारवाग्वेषचेष्टादेः कुहकाद्भवेत् ।
हास्यो हासस्थायिभावः श्वेतः प्रमथदैवतः ॥
विकृताकारवाक्चेष्टं यमालोक्य हसेज्जनः ।
तमत्रालम्बनं प्राहुस्तच्चेष्टोद्दीपनं मतम् ॥
अनुभावोऽक्षिसंकोचवदनस्मेरतादयः ।
निद्रालस्यावहित्थाद्या अत्र स्युर्व्यभिचारिणः ॥
—साहित्यदर्पण, ३।२१४-१६

४. नाट्यशास्त्र (षष्ठ अध्याय), पृ० ८६

विषाद, जड़ता, उन्माद, चिन्ता आदि ।[1]

इसका वर्ण कपोत रंग का तथा यम इस रस के देवता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि संस्कृत आचार्यों ने यम को इस रस का देवता माना है किन्तु हिन्दी के आचार्यों ने वरुण को मान्यता प्रदान की है।[2]

करुण और विप्रलम्भ में मुख्य अन्तर यह है कि करुण में 'शोक' स्थायी भाव होता है और विप्रलम्भ में 'रति'। विप्रलम्भ में पुनर्मिलन की आशा रहती है, किन्तु करुण में इस प्रकार की आशा का सर्वथा अभाव होता है

शोकस्थायितया भिन्नो विप्रलम्भादयं रसः ।
विप्रलम्भे रतिः स्थायी पुनः सम्भोगहेतुकः ।।[3]

'करुण रस' के उदाहरण के रूप में हम 'साकेत' के दशरथ-मरण-प्रसंग की निम्नांकित पंक्तियाँ ले सकते हैं

बस, यहीं दीप-निर्वाण हुआ,
सुत-विरह वायु का बाण हुआ।
धुँधला पड़ गया चन्द्र ऊपर,
कुछ दिखलाई न दिया भू पर।
अति भीषण हाहाकार हुआ,
सूना-सा सब संसार हुआ।
अर्द्धांग रानियाँ शोककृता,
मूर्च्छिता हुईं या अर्द्ध-मृता ?
हाथों से नेत्र बन्द करके,
सहसा यह दृश्य देख डरके,
'हा स्वामी !' कह ऊँचे रव से,
दहके सुमन्त्र मानो दव से।

१. इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत् ।
धीरैः कपोतवर्णोऽयं कथितो यमदैवतः ।।
शोकोऽत्र स्थायिभावः स्याच्छोच्यमालम्बनं मतम् ।
तस्य दाहादिकावस्था भवेदुद्दीपनं पुनः ।।
अनुभावा दैवनिन्दाभूपातक्रन्दितादयः ।
वैवर्ण्योच्छ्वासनिःश्वासस्तम्भप्रलपनानि च ।।
निर्वेदमोहापस्मारव्याधिग्लानिस्मृतिश्रमाः ।
विषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः ।।
—साहित्यदर्पण, ३।२२२-२५

२ हिन्दी साहित्य कोश, पृ० १६६

३ साहित्यदर्पण, ३।२२६

अनुचर अनाथ-से रोते थे,
जो थे अधीर सब होते थे।[1]

यहाँ दशरथ (विनष्ट प्रिय व्यक्ति) आलम्बन विभाव उनका मृत शरीर और भीषण हाहाकार उद्दीपन विभाव, विलाप करना, मूर्च्छित होना, तड़पना, नेत्र बन्द करना, रोना आदि अनुभाव तथा निर्वेद, जड़ता, विषाद, अधैर्य या चपलता, त्रास आदि संचारी भाव हैं। इन सभी के संयोग से 'शोक' नामक स्थायी भाव का परिपाक 'करुण रस' में हुआ है।

४ रौद्र रस

रौद्र (रुद् + रक् = रुद्र[2], रुद्र + अण् = रौद्र[3]) रस की उत्पत्ति गुरुजन-निन्दा, अपमान, अपकार या शत्रु की चेष्टाओं आदि से होती है। रौद्र रस की सम्पूर्ण सामग्री यह है

स्थायी भाव क्रोध।

आलम्बन विभाव शत्रु अथवा उसके पक्ष वाले।

उद्दीपन विभाव शत्रु द्वारा किये गये अनिष्ट कार्य अथवा शत्रु द्वारा प्रयुक्त कठोर शब्द।

अनुभाव नेत्रों का लाल होना, भौंहों का टेढ़ा होना, दाँत किटकिटाना, होंठों का चबाना, कठोर भाषण, शस्त्रों को उठाना, तर्जन, कम्प, रोमांच आदि।

संचारी भाव उग्रता, मोह, मद, स्मृति, गर्व, चपलता, अमर्ष, असूया, आवेग, उद्वेग, श्रम आदि।

इसका वर्ण रक्त एवं इसके देवता रुद्र हैं।[4]

---

१. साकेत (मैथिलीशरण गुप्त), पृ० १७८-७९

२. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ८५६

३. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ८६२

४. रौद्रः क्रोधस्थायिभावो रक्तो रुद्राधिदैवतः।
आलम्बनमरिस्तत्र तच्चेष्टोद्दीपनं मतम्॥
मुष्टिप्रहारपातनविकृतच्छेदावदारणैश्चैव।
संग्रामसंभ्रमाद्यैरस्योद्दीप्तिर्भवेत् प्रौढा॥
भ्रूविभङ्गोष्ठनिर्दंशबाहुस्फोटनतर्जनाः।
आत्मावदानकथनमायुधोत्क्षेपणानि च॥
अनुभावास्तथाक्षेपक्रूरसंदर्शनादयः।
उग्रतावेगरोमाञ्चस्वेदवेपथवो मदः॥
मोहामर्षादयस्तत्र भावाः स्युर्व्यभिचारिणः।
—साहित्यदर्पण, ३।२२७-२३१

इस रस के उदाहरण के रूप में हम 'जयद्रथ-वध' की निम्नांकित पंक्तियाँ ले सकते है

> श्रीकृष्ण के सुन वचन अर्जुन क्रोध से जलने लगे,
> सब शोक अपना भूलकर करतल युगल मलने लगे।
> "संसार देखे अब हमारे शत्रु रण मे मृत पडे,"
> करते हुए यह घोषणा वे हो गये उठकर खडे।
> उस काल मारे क्रोध के तनु काँपने उनका लगा,
> मानो हवा के जोर से सोता हुआ सागर जगा।
> मुख बाल रवि-सम लाल होकर ज्वाल-सा बोधित हुआ,
> प्रलयार्थ उनके मिस वहाँ क्या काल ही क्रोधित हुआ ?[1]

यहाँ अभिमन्यु की मृत्यु एव उसके फलस्वरूप कौरवो का हर्ष मनाना आलम्बन विभाव, श्रीकृष्ण के प्रेरक वचन (जिनके उत्तर मे अर्जुन की यह उक्ति है) उद्दीपन विभाव, अर्जुन के वाक्य, उनका दोनो हाथो को मलना, उठकर खडे हो जाना, शरीर का काँपने लगना तथा मुख का लाल होना आदि अनुभाव तथा अमर्ष, उग्रता, गर्व आदि सचारी भाव है। इन सभी के सयोग से 'क्रोध' नामक स्थायी भाव 'रौद्र रस' मे परिवर्तित हुआ है।

५ वीर रस

वीर (अज्+रक्, वी—आदेश, अथवा वीर्+अच्[2]) रस की परिभाषा भानुदत्त ने 'रसतरंगिणी' मे इस प्रकार दी है 'परिपूर्ण उत्साह सर्वेन्द्रियाणा प्रहर्षो वा वीर'। अर्थात पूर्णतया परिस्फुट 'उत्साह' अथवा सपूर्ण इन्द्रियो का प्रहर्ष या प्रफुल्लता 'वीर रस' है।

इस रस के आश्रय उत्तम प्रकृति के व्यक्ति होते हैं। इसकी सम्पूर्ण रस-सामग्री निम्नांकित है

स्थायी भाव : उत्साह।

आलम्बन विभाव - शत्रु, दीन, याचक, तीर्थ, पर्व आदि।

उद्दीपन विभाव शत्रु का पराक्रम, याचक की दीन दशा आदि।

अनुभाव रोमाञ्च, गर्वीली वाणी, आदर सत्कार, दया के शब्द आदि।

सचारी भाव गर्व, धृति, स्मृति, दया, हर्ष, मति, असूया, अमर्ष, उग्रता, आवेग, रोमाच आदि।

---

१. जयद्रथ-वध, पृ० ३६

२. मानक हिन्दी कोश (पाँचवाँ खण्ड), पृ० १०४

इसका वर्ण स्वर्ण अथवा गौर तथा इसके देवता इन्द्र माने गये हैं।[1]

वीर रस के भेद—भरत ने वीर रस के तीन भेद माने थे
१. दानवीर, २. धर्मवीर और ३. युद्धवीर।

> दानवीरं धर्मवीरं युद्धवीरं तथैव च।
> रसं वीरमपि प्राह ब्रह्मा त्रिविधमेव हि ॥[2]

धनञ्जय ने धर्मवीर के स्थान पर दयावीर को मान्यता दी

> स च दयारणदानयोगात्त्रेधा।[3]

भोजदेव तथा भानुदत्त ने भी ये ही तीन भेद माने। अन्त में आचार्य विश्वनाथ ने 'धर्मवीर' को सन्निविष्ट कर इनकी संख्या चार कर दी १. दानवीर २. धर्मवीर, ३. युद्धवीर और ४. दयावीर।

> स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात्।[4]

पण्डितराज जगन्नाथ ने इन चार भेदों के अतिरिक्त 'सत्यवीर', 'पाण्डित्यवीर', 'क्षमावीर' 'बलवीर' आदि की सम्भाव्यता का भी निर्देश किया है।[5]

हिन्दी के अधिकांश आचार्यों ने आचार्य विश्वनाथ का अनुसरण करते हुए वीर रस के ये चार भेद माने हैं १. दानवीर २. धर्मवीर, ३. युद्धवीर और ४. दयावीर। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन्हीं चार को सबसे अधिक मान्यता प्राप्त हुई है। अत हम इन चारों भेदों का पृथक्-पृथक्

---

१. (i) अथ वीरो नाम उत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मकः। स च असम्मोहाध्यवसाय-नयविनयबलपराक्रमशक्तिप्रतापप्रभावादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य स्थैर्यशौर्यधैर्यत्यागवैशारद्यादिभिरनुभावैरभिनयः प्रयोक्तव्यः। सञ्चारिभावाश्चास्य धृतिमतिगर्वावेगौग्र्यामर्षस्मृतिरोमाञ्चादयः।
—नाट्यशास्त्र (षष्ठ अध्याय), पृ० ८८

(ii) उत्तमप्रकृतिर्वीर उत्साहस्थायिभावकः।
महेन्द्रदैवतो हेमवर्णोऽयं समुदाहृतः॥
आलम्बनविभावास्तु विजेतव्यादयो मताः।
विजेतव्यादिचेष्टाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः।
अनुभावास्तु तत्र स्युः सहायान्वेषणादयः॥
सञ्चारिणस्तु धृतिमतिगर्वस्मृतितर्करोमाञ्चाः।
साहित्यदर्पण, ३।२३२-३४

२. नाट्यशास्त्र, ६।७६
३. दशरूपक, ४।७२
४. साहित्यदर्पण, ३।२३४
५. रसगंगाधर (प्रथम आनन), पृ० १९१-९३

सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत करेंगे।

(१) दानवीर—'दानवीर' की रस-सामग्री इस प्रकार है :

स्थायी भाव : त्याग और दान देने का उत्साह।

आलम्बन विभाव याचक, दान-योग्य पात्र।

उद्दीपन विभाव अन्य दाताओं के दान, दानपात्र द्वारा की गयी प्रशंसा आदि।

अनुभाव याचक का आदर-सत्कार, मुक्तहस्त से दान।

संचारी भाव स्मृति, हर्ष, गर्व आदि।

इस रस के उदाहरण के रूप में रामचरितमानस के पंचम सोपान (सुन्दर काण्ड) के 'विभीषण-शरणागति-प्रसंग' का निम्नांकित दोहा उद्धृत किया जा सकता है :

> जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिएँ दस माथ।
> सोइ संपदा बिभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ ॥[1]

यहाँ राम आश्रय; विभीषण आलम्बन, शिव के दान का स्मरण उद्दीपन विभाव, राम का दान देना तथा अपने बड़प्पन के अनुरूप दान की तुच्छता के कारण संकोच का अनुभव करना अनुभाव और स्मृति, धृति, गर्व, औत्सुक्य आदि संचारी भाव हैं। इन सभी के संयोग से दान देने का उत्साह रूप स्थायी भाव 'दानवीर रस' के रूप में अभिव्यक्त हुआ है।

(२) धर्मवीर—'धर्मवीर' की रस-सामग्री इस प्रकार है :

स्थायी भाव—धर्म-स्थापना का उत्साह।

आलम्बन विभाव—धर्म-ग्रंथ आदि।

उद्दीपन विभाव—सत्संग, धर्मफल, शास्त्रवचन, प्रशंसा आदि।

अनुभाव : धर्माचरण, मुखमण्डल पर कान्ति और धैर्य के चिह्न, रोमांच, अश्रु आदि।

संचारी भाव—हर्ष, धैर्य, मति, विबोध आदि।

उदाहरण :

> धीर जे टेक धरी मन माँहि न छाँडिहौं कोऊ करौ बहुतेरौ,
> धाक यही है युधिष्ठिर की धन-धाम तजौं पै न बोलन फेरौ।
> मातु सहोदर औ' सुत नारि जु सत्य बिना तिहि होय न नेरौ,
> हाथी तुरंगम औ' बसुधा सम जीवहु धर्म के काज है मेरौ।[2]

यहाँ युधिष्ठिर का धर्मविषयक दृढ उत्साह स्थायी भाव है, धर्म-ग्रंथों में सत्य और धर्म की महत्ता का श्रवण करना आदि (जिसका हम अध्याहार कर सकते हैं) आलम्बन विभाव; दूसरे सत्यवादी धर्मात्माओं द्वारा अपनी टेक

---

१. रामचरितमानस, ५।४९।१३-१४

२. काव्यकल्पद्रुम (प्रथम भाग—रसमंजरी) पृ० ११५ पर उद्धृत।

(प्रजा) का पालन उद्दीपन विभाव, युधिष्ठिर के ये वाक्य अनुभाव तथा गर्व, हर्ष, धृति, मति आदि सचारी भाव हैं। इन सबों के संयोग से 'उत्साह' नामक स्थायी भाव 'धर्मवीर' नामक रस में परिपक्व हुआ है।

(३) युद्ध वीर—'युद्धवीर' की रसविषयक सामग्री यह है :

स्थायी भाव—शत्रुनाश का उत्साह।

आलम्बन विभाव—शत्रु।

उद्दीपन विभाव—शत्रु के कार्य या उसकी गर्वोक्तियाँ, सेना, रणवाद्य आदि।

अनुभाव—गर्वोक्ति, शस्त्रसचालन, भुजाओं का फड़कना, रोमाच आदि।

सचारी भाव—गर्व, उग्रता, हर्ष, औत्सुक्य, धृति, स्मृति, आवेग, असूया, वितर्क आदि।

उदाहरण

> मैं सत्य कहता हूँ, सखे! सुकुमार मत मानो मुझे,
> यमराज से भी युद्ध को प्रस्तुत सदा जानो मुझे!
> है और की तो बात ही क्या, गर्व मैं करता नहीं,
> मामा तथा निज तात से भी समर मे डरता नहीं॥[1]

चक्रव्यूहभेदन के लिए उद्यत अभिमन्यु की यह उक्ति अपने सारथी के प्रति है। यहाँ कौरव आलम्बन विभाव, द्रोणाचार्य द्वारा चक्रव्यूह-रचना तथा अर्जुन की अनुपस्थिति उद्दीपन विभाव, अभिमन्यु के ये वाक्य अनुभाव तथा गर्व, औत्सुक्य, हर्ष, धृति आदि सचारी भाव हैं। इन सबों के संयोग से 'उत्साह' नामक स्थायी भाव 'वीर रस' में परिपक्व हुआ है।

(४) दयावीर—इसकी सम्पूर्ण सामग्री यह है

स्थायी भाव दीन के दुःख का नाश रूप उत्साह।

आलम्बन विभाव दीन, भयकातर प्राणी, दया का पात्र।

उद्दीपन विभाव दयापात्र की दीन दशा, उसके दुःख का वर्णन, क्रन्दन आदि।

अनुभाव : सान्त्वना के शब्द।

सचारी भाव : धृति, हर्ष, मति, औत्सुक्य आदि।

उदाहरण :

> ऐसे बेहाल बिवाइन सों पग कंटक जाल लगे पुनि जोये,
> हाय महा दुख पायो सखा, तुम आये इतै न कितै दिन खोये।
> देखि सुदामा की दीन दसा करुना करिकै करुनानिधि रोये,
> पानी परात को हाथ छुयो नहि नैनन के जल सों पग धोये॥[2]

---

१. जयद्रथ-वध (मैथिलीशरण गुप्त), पृ० ८

२. सुदामा-चरित (नरोत्तमदास), ४३

यहाँ श्रीकृष्ण आश्रय, सुदामा आलम्बन विभाव, सुदामा की दीन दशा (पग कटक जाल लगे आदि) उद्दीपन विभाव, कृष्ण के वचन, उनका रोना, पैर धोना, अश्रु आदि अनुभाव तथा विषाद, औत्सुक्य आदि सचारी भाव हैं। इन सभी के सयोग से दीन सुदामा के दु ख का नाश रूप उत्साह 'दयावीर' नामक रस मे परिपक्व हुआ है।

६ भयानक रस

भयानक (भी+आनक[1]) रस की उत्पत्ति बलवान् के अपराध करने पर अथवा भयकर वस्तु के देखने से होती है। भानुदत्त के अनुसार 'भय का परिपोष' अथवा 'सम्पूर्ण इन्द्रियो का विक्षोभ' भयानक रस है।[2] इस रस की सामग्री निम्नाकित है

स्थायी भाव भय।

आलम्बन विभाव व्याघ्र, सर्प आदि हिंसक जीव, बीहड तथा निर्जन स्थान, श्मशान, बलवान् शत्रु, भूत-प्रेत की आशका आदि।

उद्दीपन विभाव शत्रु, हिंसक जीव आदि की भयकर चेष्टाएँ, निस्सहाय होना, भयानक स्थान की निर्जनता, भयोत्पादक ध्वनि आदि।

अनुभाव स्वेद, रोमाञ्च, कम्प, वैवर्ण्य, रोना, चिल्लाना, स्वरभग, विभिन्न दिशाओ की ओर देखना आदि।

संचारी भाव - त्रास, चिन्ता, आवेग, अपस्मार, शका, ग्लानि, दीनता, जुगुप्सा आदि।

इसका वर्ण कृष्ण या श्याम तथा देवता कालदेव या यम हैं। इसके आश्रय स्त्रियाँ अथवा नीच प्रकृति के लोग होते हैं।[3]

उदाहरण

लागि लागि आगि, भागि भागि चले जहाँ तहाँ,
धीय को न माय, बाप पूत न सँभारहीं।

---

१. सस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ७३०

२. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ५३३

३. भयानको भयस्थायिभावो भूताधिदैवत।
स्त्रीनीचप्रकृति कृष्णो मतस्तत्त्वविशारदै॥
यस्मादुत्पद्यते भीतिस्तदत्रालम्बन मतम्।
चेष्टा घोरतरास्तस्य भवेदुद्दीपन पुन॥
अनुभावोऽत्र वैवर्ण्यगद्गदस्वरभाषणम्।
प्रलयस्वेदरोमाञ्चकम्पदिक्प्रेक्षणादय॥
जुगुप्सावेगसमोहसत्रासग्लानिदीनता।
शङ्कापस्मारसम्भ्रान्तिमृत्य्वाद्या व्यभिचारिण॥
—साहित्यदर्पण, ३।२३५-२८

टूटे बार, बसन उघारे, धूम-धुंध-अंध,
कहैं बारे बूढ़े 'बारि बारि' बार बारहीं।
हय हिहिनात भागे जात, घहरात गज,
भारी भीर ठेलि पेलि रौंदि खौंदि डारहीं।
नाम लै चिलात, बिललात अकुलात अति,
'तात तात ! तौंसियत झौंसियत झारहीं।'[1]

हनुमान् द्वारा लंका-दहन प्रसंग की इन पंक्तियों में अग्नि की ज्वालायें आलम्बन विभाव, लंका निवासी आश्रय, लोगों की असहाय अवस्था उद्दीपन विभाव, लोगों का भागना, चिल्लाना, बालों का बिखर जाना, कपड़ों का शरीर से हट जाना आदि अनुभाव तथा त्रास, आवेग, दीनता, शंका, चपलता, सम्मोह, संभ्रम आदि संचारी हैं। इन सभी के संयोग से 'भय' नामक स्थायी भाव 'भयानक रस' में परिपक्वावस्था को प्राप्त हुआ है।

भयानक रस का एक और उदाहरण लीजिए

गरजि गड़गड़ान्यो खम्भ फाट्यो चरचराय,
निकस्यो नर नाहर को रूप अति भयानो है।
कटकि कटकटावैं डाढ़ें, दसन लपलपावैं जीभ,
अधर फरफरावैं मुच्छ व्योम व्यापमानो है।
भभरि भरभराने लोग, डरि डरपाने धाम,
थथरि थरथराने अंग, जिनै चाहत खानो है।
कहत 'रघुनाथ' कोपि गरजे नृसिंह जबै,
प्रलै को पयोधि मानो तड़पि तड़तड़ानो है।[2]

यहाँ नृसिंह का भयानक रूप आलम्बन विभाव, खम्भे का गड़गड़ाकर फटना, नृसिंह का दाँत कटकटाना, जीभ लपलपाना, ओंठ फड़फड़ाना आदि उद्दीपन विभाव, लोगों का भागना, उनके अंगों का थरथराना (काँपना) आदि अनुभाव तथा त्रास, विषाद, आवेग, संभ्रम, सम्मोह, दीनता आदि संचारी भाव हैं। इन सभी के संयोग से 'भय' स्थायी भाव 'भयानक रस' में परिपक्व हुआ है। इसी प्रकार नीचे के दोहे में भी 'भयानक रस' है।

एक ओर अजगरहिं लखि एक ओर मृगराइ।
बिकल बटोही बीच हीं परयो मूरछा खाइ॥[3]

यहाँ अजगर और सिंह आलम्बन विभाव, उनकी चेष्टाएँ उद्दीपन विभाव, मूर्छा अनुभाव तथा त्रास, विषाद आदि संचारी हैं। इन सभी के संयोग से 'भय' नामक स्थायी भाव 'भयानक रस' में परिपक्वावस्था को प्राप्त हुआ है।

---

1 कवितावली (तुलसीदास), ५।१५
2 रस, छंद और अलंकार (कृष्णदेव शर्मा), पृ० ४८-४६ पर उद्धृत।
3 जगद्विनोद, पृ० १५१

७. बीभत्स रस

बीभत्स (बध्+सन्+घञ्[1]) रस की उत्पत्ति रुधिर, मज्जा, पीब, हड्डी, मास या अन्य गन्दी तथा घृणित वस्तुओं के देखने से होती है। इस रस की पूर्ण सामग्री इस प्रकार है

स्थायी भाव जुगुप्सा या घृणा।

आलम्बन विभाव श्मशान, शव, रुधिर, मज्जा, पीव, मास, दुर्गन्धयुक्त पदार्थ तथा घृणा उत्पन्न करने वाली वस्तुएँ।

उद्दीपन विभाव घृणास्पद व्यक्ति की चेष्टाएँ, दुर्गन्ध, मक्खियों का भिनभिनाना, गिद्धों का मास नोचना, कीड़े मकोड़ों का बिलबिलाना आदि।

अनुभाव आँखें मीचना, मुँह फेर लेना, थूकना, नाक सिकोड़ना, रोमाच, कम्प आदि।

सचारी भाव मोह, अपस्मार, आवेग, व्याधि, ग्लानि, जड़ता, चिन्ता, दैन्य, वैवर्ण्य, उन्माद आदि।

इसका वर्ण नीला तथा इसके देवता महाकाल हैं।[2]

उदाहरण :

कहुँ सुलगति कोउ चिता कहूँ कोउ जाति बुझाई।
एक लगाई जाति एक की राख बहाई॥
विविध रंग की उठति ज्वाल दुर्गन्धनि महकति।
कहुँ चरबी सौं चटचटाति कहुँ दह दह दहकति॥

× × ×

---

१. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ७१८

२ (i) अथ बीभत्सो नाम जुगुप्सास्थायिभावात्मक। स चाहृद्याप्रिय-चोक्षानिष्टश्रवणदर्शनपरिकीर्तनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते। तस्य सर्वाङ्गसहारमुखनेत्रविकूणनोल्लेखननिष्ठीवनोद्वेजनादिभिरनुभावैर-भिनय प्रयोक्तव्य। व्यभिचारिभावाश्चास्यापस्मारावेगमोह-व्याधिमरणादय। —नाट्यशास्त्र (षष्ठ अध्याय), पृ० ८९

(ii) जुगुप्सास्थायिभावस्तु बीभत्सः कथ्यते रस।
नीलवर्णो महाकालदैवतोऽयमुदाहृत॥
दुर्गन्धमांसरुधिरमेदांस्यालम्बन मतम्।
तत्रैव कृमिपाताद्यमुद्दीपनमुदाहृतम्॥
निष्ठीवनास्यवलननेत्रसकोचनादय।
अनुभावास्तत्र मतास्तथा स्युर्व्यभिचारिण॥
मोहोऽपस्मार आवेगो व्याधिश्च मरणादय॥
—साहित्यदर्पण, ३।२३९-४२

कहुँ शृगाल कोउ मृतक अंग पर ताक लगावत।
कहुँ कोउ शव पर बैठि गिद्ध चट चोंच चलावत॥
जहँ तहँ मज्जा माँस रुधिर लखि परत बगारे।
जित तित छिटके हाड़ स्वेत कहुँ कहुँ रतनारे॥[1]
सोचत भूप यह सान मनहिं मन करत गुनावन।
परयौ हाय ! आजन्म धर्म यह करन अपावन॥

यहाँ श्मशान का दृश्य आलम्बन विभाव, विविध रंग की ज्वाला, दुर्गंध, चर्बी, मांस, रुधिर, हड्डियाँ आदि उद्दीपन विभाव, राजा हरिश्चन्द्र का अपने भाग्य को बुरा भला कहना अनुभाव तथा विषाद, ग्लानि आदि संचारी भाव हैं। इन सभी के संयोग से 'जुगुप्सा या घृणा' नामक स्थायी भाव 'बीभत्स रस' में परिपक्व हुआ है।

८ अद्भुत रस

अद्भुत (अद् + भू + डुतच्[2]) रस का लक्षण देते हुए भानुदत्त ने 'रस-तरंगिणी' में कहा है कि 'विस्मय की सम्यक् समृद्धि अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियों की तटस्थता 'अद्भुत रस' है।[3] इसकी उत्पत्ति आश्चर्यजनक विचित्र या अलौकिक वस्तुओं के देखने से होती है। 'विस्मय' इसका स्थायी भाव होता है, जिसकी परिभाषा देते हुए भोजदेव ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में कहा है :

विस्मयश्चित्तविस्तारः पदार्थातिशयादिभिः।[4]

अर्थात् किसी अलौकिक पदार्थ के गोचरीकरण से उत्पन्न चित्त का विस्तार 'विस्मय' है। आचार्य विश्वनाथ ने इसी लक्षण को दूसरे शब्दों में दुहराते हुए कहा

चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः।[5]

अर्थात् (सहृदय सामाजिक का) चित्तविस्तार अथवा मनोविकास ही विस्मय का समानार्थी 'चमत्कार' है। इस रस की सम्पूर्ण सामग्री इस प्रकार है :

स्थायी भाव : विस्मय या आश्चर्य।

आलम्बन विभाव : अलौकिक अथवा असाधारण वस्तुएँ अथवा दृश्य।

उद्दीपन विभाव : इन अलौकिक वस्तुओं अथवा दृश्यों को देखना या उनकी महिमा की विवेचना सुनना।

---

१ हरिश्चन्द्र (रत्नाकर), ४।२,४ (पृ० ७५)
२. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० २३
३. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० १६
४ सरस्वतीकण्ठाभरण, ५।१८०क (पृ० ७५३)
५ साहित्यदर्पण, ३।३ पर वृत्ति (पृ० १०६)

अनुभाव : निर्निमेष देखना, दाँतों तले उँगली दबाना, मुख खोले रह जाना, स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभंग आदि ।

संचारी भाव : वितर्क, आवेग, हर्ष, भ्रान्ति, शंका, चिन्ता, चपलता, औत्सुक्य, जड़ता, दैन्य, वितर्क आदि ।

इसका वर्ण पीत तथा इसके देवता गन्धर्व हैं ।[1] भरत के अनुसार ब्रह्म-देवता इसके अधिष्ठातृ देवता हैं ।[2]

उदाहरण :

एक बार जननी अन्हवाए । करि सिंगार पलना पौढाए ॥
निज कुल इष्ट देव भगवाना । पूजाहेतु कीन्ह अस्नाना ॥
करि पूजा नैवेद्य चढ़ावा । आपु गई जहँ पाक बनावा ॥
बहुरि मातु तहवाँ चलि आई । भोजन करत देखि सुत जाई ॥
गै जननी सिसु पहिं भयभीता । देखा बाल तहाँ पुनि सूता ॥
बहुरि आइ देखा सुत सोई । हृदयँ कंप मन धीर न होई ॥
इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा । मतिभ्रम मोर कि आन बिसेषा ॥
देखि राम जननी अकुलानी । प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसुकानी ॥
देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड ।
रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मण्ड ॥
अगनित रबि ससि सिव चतुरानन । बहु गिरि सरित सिंधु महि कानन ॥

× × ×

तन पुलकित मुख बचन न आवा । नयन मूँदि चरननि सिरु नावा ॥
बिसमयवंत देखि महतारी । भए बहुरि सिसुरूप खरारी ॥[3]

यहाँ कौशल्या आश्रय, बालक राम आलम्बन विभाव, बालक राम का एक ही समय पालने पर सोते हुए और पूजा-गृह में नैवेद्य खाते हुए दिखाई पड़ना तथा कौशल्या को करोड़ों ब्रह्माण्डों, असंख्य सूर्य, चन्द्र, पर्वत, नदियों एवं समुद्रों के दर्शन उद्दीपन विभाव, कौशल्या का भयभीत होना, कंपित होना, रोमांच (तन पुलकित), मुख से बचन न निकलना, नेत्रों का बंद करना और

---

१. अद्भुतो विस्मयस्थायिभावो गन्धर्वदैवतः ॥
पीतवर्णो वस्तु लोकातिगमालम्बनं मतम् ।
गुणानां तस्य महिमा भवेदुद्दीपनं पुनः ॥
स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चगद्गदस्वरसम्भ्रमाः ।
तथा नेत्रविकासाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः ॥
वितर्कावेगसम्भ्रान्तिहर्षाद्या व्यभिचारिणः ।
—साहित्यदर्पण, ३।२४२-४५

२. अद्भुतो ब्रह्मदैवतः । —नाट्यशास्त्र, ६।४५

३. रामचरितमानस, १।२०१।१-१०; १।२०२। १, ५, ६

चरणों पर सिर झुकाना आदि अनुभाव तथा त्रास, भ्रान्ति, जड़ता, वितर्क, अधीरता या चपलता, विषाद या आकुलता आदि संचारी भाव हैं। इनके संयोग से 'विस्मय' नामक स्थायी भाव 'अद्भुत रस' में परिणत हुआ है। एक उदाहरण और

अखिल भुवन चर अचर सब हरिमुख में लखि मातु।
चकित भई गद्गद वचन, विकसित दृग पुलकातु ॥[1]

यहाँ माता आश्रय, हरिमुख आलम्बन विभाव, उसमें चर, अचर सहित सम्पूर्ण भुवनों का दर्शन उद्दीपन विभाव, चकित होना, गद्गदवचन, नेत्र-विस्तार तथा रोमांच (पुलकावली) अनुभाव और हर्ष, औत्सुक्य आदि संचारी भाव हैं। इन सभी के संयोग से 'विस्मय' नामक स्थायीभाव 'अद्भुत रस' में परिणत हुआ है।

९. शान्त रस

शान्त (शम्+क्त[2]) रस की उत्पत्ति तत्त्वज्ञान और वैराग्य से होती है। इसे नवम रस माना गया है

निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः ।[3]

इसकी सम्पूर्ण रस-सामग्री निम्नलिखित है

स्थायी भाव : निर्वेद या शम।

आलम्बन विभाव : जगत् की निस्सारता और नश्वरता का बोध, परमात्मतत्त्व का ज्ञान।

उद्दीपन विभाव : तीर्थस्थान, साधुओं का सत्संग, ऋषि-मुनियों के आश्रम, तीर्थाटन, शास्त्र-ग्रन्थों का अध्ययन, सांसारिक झंझटें, एकान्त स्थान आदि।

अनुभाव : संसार के दुःख को देखकर दुःखी होना, सांसारिक झंझटों से तंग आकर सर्वस्व-त्याग की तत्परता, पुलक, अश्रु, रोमांच आदि।

संचारी भाव : धृति, हर्ष, मति, विबोध, ग्लानि, दैन्य, उद्वेग, असूया, निर्वेद, जड़ता आदि।

इसका वर्ण श्वेत तथा इसके देवता श्रीभगवान् नारायण हैं।[4]

---

1. रस, छन्द और अलंकार, पृ० ३८ पर उद्धृत
2. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० १०११
3. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, सू० ४७ (पृ० ७४)
4. शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः ॥
कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्रीनारायणदैवतः ।
अनित्यत्वादिनाऽशेषवस्तुनिःसारता तु या ॥
परमात्मस्वरूपं वा तस्यालम्बनमिष्यते ।
पुण्याश्रमहरिक्षेत्रतीर्थरम्यवनादयः ॥
महापुरुषसङ्गाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः ।
रोमाञ्चाद्याश्चानुभावास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः ॥
निर्वेदहर्षस्मरणमतिभूतदयादयः ।
—साहित्यदर्पण, ३।२४५-४९

उदाहरण :

प्रच्छन्न रोग हैं, प्रकट भोग;
संयोग मात्र भावी वियोग !
हा ! लोभ-मोह में लीन लोग,
भूले हैं अपना अपरिणाम !
ओ क्षणभंगुर भव, राम राम ।[1]

'यशोधरा' की इन पंक्तियों में शान्त रस की पूर्ण सामग्री विद्यमान है। संसार की क्षणभंगुरता का ज्ञान ही यहाँ आलम्बन विभाव है, लोगों का लोभ और मोह में लीन होना तथा अपरिणाम (कुपरिणाम) भूलना उद्दीपन विभाव, सिद्धार्थ के 'ओ क्षणभंगुर भव राम राम' आदि शब्द अनुभाव तथा निर्वेद, स्मृति, मति आदि संचारी भाव हैं। इनके संयोग से 'निर्वेद' या 'शम' नामक स्थायी भाव 'शान्त रस' में परिणत हुआ है।

१० वात्सल्य रस

वत्सल या वात्सल्य रस का स्थायी भाव अपत्य-स्नेह है जो माता-पिता का अपने पुत्रादि पर नैसर्गिक रूप से होता है। इसकी रससामग्री अधोलिखित है

स्थायी भाव वत्सलता, वात्सल्य या अपत्य-स्नेह।

आलम्बन विभाव - बालक या शिशु।

उद्दीपन विभाव शिशु या बालक की चेष्टाएँ—जैसे, तोतली बोली, गिरते पड़ते चलना, उसकी वस्तुएँ, उसके कार्य आदि।

अनुभाव स्नेहपूर्वक देखना, हँसना, तिनके तोडना, आलिङ्गन करना, चुम्बन लेना, गोद में लेना, रोना, विलाप करना, आह भरना आदि।

संचारी भाव हर्ष, गर्व, स्मृति, औत्सुक्य, मोह, अनिष्ट-शंका, आवेग, जड़ता, विषाद, उन्माद आदि।

'पद्मगर्भ छवि' (शुभ्र-पीत) इसका वर्ण तथा गौरी आदि षोडश मातृचक्र इसके देवता हैं।[2]

---

१. यशोधरा (मैथिलीशरण गुप्त), पृ० १७

२ स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः ।
स्थायी वत्सलता स्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम् ॥
उद्दीपनानि तच्चेष्टा विद्याशौर्यदयादयः ।
आलिङ्गनाङ्गसंस्पर्शशिरश्चुम्बनमीक्षणम् ॥
पुलकानन्दबाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः ।
सञ्चारिणोऽनिष्टशङ्काहर्षगर्वादयो मताः ॥
पद्मगर्भच्छविर्वर्णो दैवतं लोकमातरः ॥

—साहित्यदर्पण, ३।२५१-५४

इसके दो भेद माने गये हैं १ संयोग और २ वियोग।

संयोग वात्सल्य (वत्सल) रस का उदाहरण

जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावैं, दुलराइ मल्हावैं, जोइ-सोइ कछु गावैं।
मेरे लाल कौं आउ निंदरिया, काहे न आनि सुवावैं।
तू काहैं नहिं बेगिहिं आवैं तोकों कान्ह बुलावै।
कबहुं पलक हरि मूंदि लेत हैं कबहुं अधर फरकावैं।
सोवत जानि मौन ह्वै कै रहि, करि-करि सैन बतावैं।
इहिं अन्तर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरै गावैं।
जो सुख सूर अमर-मुनि दुरलभ, सो नंद-भामिनि पावै॥[1]

यहाँ यशोदा आश्रय शिशु कृष्ण आलम्बन विभाव, शिशु कृष्ण का पलक मूंदना, अधर फड़फड़ाना, अकुलाकर उठना उद्दीपन विभाव, यशोदा का हलराना, दुलारना, मल्हाना, श्रीकृष्ण को सोता हुआ जान कर चुप रहना तथा संकेत से बातें करना आदि अनुभाव तथा हर्ष संचारी भाव है। इन सभी के संयोग से यशोदा का शिशु कृष्ण के प्रति वत्सलता या वात्सल्य रूप स्थायी भाव 'वत्सल रस' में परिपक्व हुआ है।

वियोग-वात्सल्य (वत्सल) का उदाहरण

जब जब भवन बिलोकति सूनो।
तब तब बिकल होति कौसल्या, दिनदिन प्रति दुख दूनो॥
सुमिरत बाल-बिनोद राम के सुन्दर मुनि-मन-हारी।
होत हृदय अति सूल समुझि पदपंकज अजिर-बिहारी॥
को अब प्रात कलेऊ मांगत रूठि चलैगो माई!
स्याम-तामरस-नैन स्रवत जल काहि लेउँ उर लाई॥[2]

यहाँ कौशल्या आश्रय, वन को गये हुए राम आलम्बन विभाव, सूने भवन को देखना तथा राम के सुन्दर बाल-विनोद का स्मरण करना उद्दीपन विभाव, कौशल्या के ये वचन (अन्तिम दो चरण) अनुभाव तथा विषाद, स्मृति, चिन्ता आदि संचारी भाव हैं। इनके संयोग से वात्सल्य या वत्सलता नामक स्थायी भाव 'वियोग वात्सल्य' में परिपक्वावस्था को प्राप्त हुआ है।

११. भक्ति रस

अब भक्ति रस को स्वतन्त्र रस माना जाने लगा है। इसकी रस-सामग्री यह है:

स्थायी भाव : ईश्वर-विषयक प्रेम।

---

१. सूरसागर (परमा गद्ट), १०।४३ (पृ० २७६)

२. गीतावली (गोस्वामी तुलसीदास), २।५४

आलम्बन विभाव : ईश्वर, राम, कृष्ण, अवतार आदि।

उद्दीपन विभाव : भक्तों का सत्संग, सगुण रूपों का सौन्दर्य, ईश्वर के अद्भुत कार्य, उनके अद्वितीय गुण आदि।

अनुभाव : नेत्रों का विकसित हो जाना, गद्गद वचन, रोमांच आदि।

संचारी भाव : हर्ष, औत्सुक्य, मति, निर्वेद, गर्व आदि।

उदाहरण :

> मैं तो सांवरे के रंग राची।
> साजि सिंगार बांधि पग घुंघरू, लोकलाज तजि नाची।
> गई कुमति लई साधु की संगति, भगतरूप भई सांची।
> गाय गाय हरि के गुन निसदिन, काल व्याल सूं बाची।
> उण बिन सब जग खारो लागत, और बात सब कांची॥
> मीरां श्री गिरधरनलाल सूं, भगति रसीली जांची॥[1]

यहाँ मीरा आश्रय, श्रीकृष्ण आलंबन विभाव, श्रीकृष्ण का सांवला-सलोना रूप उद्दीपन विभाव; नाचना, हरि के गुण गाना, भक्ति की याचना करना आदि अनुभाव तथा मति, निर्वेद, हर्ष आदि संचारी भाव हैं। इन सभी के संयोग से मीरा का श्रीकृष्णविषयक प्रेम 'भक्ति रस' में परिणत हुआ है। इसी प्रकार निम्नांकित दोहे में भी भक्ति रस की सफल व्यंजना हुई है

> राम नाम मनिदीप धरु जीह देहरीं द्वार।
> तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर॥[2]

यहाँ तुलसीदास (अथवा सामान्य भक्त) आश्रय, रामनाम आलंबन विभाव; ज्ञानरूपी प्रकाश अथवा मन निर्मलता की आकांक्षा उद्दीपन विभाव; रामनाम-स्मरण अनुभाव तथा मति, धृति, औत्सुक्य आदि संचारी भाव हैं। इन सभी के संयोग से रामविषयक प्रेम 'भक्ति रस' में परिपक्व हुआ है।

रसों का पारस्परिक सम्बन्ध

रस-मैत्री—वीर, अद्भुत तथा रौद्र रस परस्पर मित्र हैं। शृंगार और हास्य, शृंगार और अद्भुत तथा भयानक और बीभत्स में भी परस्पर मित्रता है। शान्त रस का बीभत्स रस सहायक हुआ करता है। इन परस्पर मित्रता वाले रसों का एक साथ वर्णन उचित माना गया है। जिन रसों की एक साथ अवस्थिति उचित नहीं मानी जाती, उन्हें परस्पर विरोधी रस कहा जाता है।

रस-विरोध—ऊपर जिन ११ रसों का निरूपण हुआ है उनमें से परस्पर विरोधी रस भी हैं। उदाहरणार्थ,

---

१. मीरांबाई की पदावली (परशुराम चतुर्वेदी), १६ (पृ० ६, ७)
२. दोहावली, ६

(१) शृंगार के विरोधी रस हैं - करुण, वीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक।
(२) हास्य के विरोधी रस हैं भयानक और करुण।
(३) करुण के विरोधी रस हैं हास्य और शृंगार।
(४) रौद्र रस का विरोध हास्य, शृंगार और भयानक रस से है।
(५) वीररस का विरोध भयानक और शान्त रस से है।
(६) भयानक रस से विरोध शृंगार, वीर, रौद्र, हास्य और शान्त रस का है।
(७) शान्त रस का विरोध वीर, शृंगार, रौद्र, हास्य और भयानक रस से है।
(८) वीभत्स रस का विरोधी शृंगार रस है।[1]

रसात्मक उक्तियाँ

ऊपर जिन रसों का सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत किया गया है, उनके अतिरिक्त कुछ और भी रसात्मक उक्तियाँ हैं, जैसे १. रसाभास, २. भावाभास, ३. भावशान्ति, ४ भावोदय, ५ भावसन्धि और ६ भावशबलता :

रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ।
सन्धि शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसाः॥[2]

रसाभास : समाज ने कुछ मर्यादाएं निर्धारित की हैं। उन मर्यादाओं का उल्लंघन 'अनौचित्य' कहलाता है। 'रसाभास' पर विचार करते समय इसी अनौचित्य को ध्यान में रखना होगा। किसी व्यक्ति या वस्तु के प्रति जो भाव रखना या प्रकट करना धर्म, सामाजिक व्यवस्था या लोक-मर्यादा की दृष्टि से उचित नहीं माना जाता उसका वर्णन करना अनुचित कहा जाता है। उदाहरणार्थ, पूज्य गुरुजनों, माता, पिता आदि पर क्रोध; गुरुपत्नी, विमाता आदि पूज्य-भाव की अधिकारिणी नारियों के प्रति प्रेम, पूजनीय व्यक्तियों के प्रति

---

१. आद्यः करुणबीभत्सरौद्रवीरभयानकैः।
भयानकेन करुणेनापि हास्यो विरोधभाक्॥
करुणो हास्यशृङ्गाररसाभ्यामपि तादृशः।
रौद्रस्तु हास्यशृंगारभयानकरसैरपि॥
भयानकेन शान्तेन तथा वीररसः स्मृतः।
शृंगारवीररौद्राख्यहास्यशान्तैर्भयानकः॥
शान्तस्तु वीरशृंगाररौद्रहास्यभयानकैः।
शृंगारेण तु बीभत्स इत्याख्याता विरोधिता॥
—साहित्यदर्पण, ३।२५४-२५८

२. साहित्यदर्पण, ३।२५९, ६०

उपहास का भाव आदि अनौचित्य की सीमा मे आते है। यदि साहित्य मे इस प्रकार का अनुचित वर्णन होता है, तो वह रसाभास की कोटि मे आयेगा।

अनौचित्यप्रवृत्तत्व आभासो रसभावयो ।[1]

यह रसाभास निम्न रूपो मे हो सकता है

१ शृङ्गाराभास

(१) नायक के स्थान मे उपनायक के प्रति रति-भाव की अभिव्यजना।

(२) गुरुपत्नी, मुनिपत्नी आदि पूज्या नारियो के प्रति रति-भाव की अभिव्यक्ति।

(३) बहुनायक-विषयक रतिभाव की व्यजना।

(४) केवल नायकविषयक या केवल नायिकाविषयक रतिभाव का वर्णन, अर्थात् एकागी रति-भाव का होना।

(५) प्रतिनायकविषयक नायिकानिष्ठ रतिभाव का अभिव्यजन।

(६) अधमप्रकृतिविषयक रतिभाव की अभिव्यजना अर्थात् नायिका का किसी नीच पात्र मे आसक्त होना।

(७) पशु-पक्षि-निष्ठ रतिभाव की अभिव्यक्ति अर्थात् पशुपक्षियो आदि का परस्पर प्रेम-वर्णन।

उपनायकसस्थाया मुनिगुरुपत्नीगतायां च ।
बहुनायकविषयाया रतौ तथानुभयनिष्ठायाम् ॥
प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्रतिर्यगादिगते ।
शृगारेऽनौचित्य[2]

२ रौद्र रसाभास गुरु, पिता आदि पूज्य जनो के प्रति क्रोध करने पर रौद्राभास होगा

रौद्रे गुर्वादिगतकोपे ।[3]

३ शान्त रसाभास : नीच पुरुष मे 'शम' या 'निर्वेद' की स्थिति की अभिव्यक्ति .

शान्ते च हीननिष्ठे ।[4]

४. हास्य रसाभास गुरु आदि पूज्य जनो का उपहास करने पर 'हास्याभास' होगा

गुर्वाद्यालम्बने हास्ये ।[5]

५. वीर रसाभास : ब्राह्मण-वध आदि मे उत्साह की अभिव्यक्ति अथवा

---

१. साहित्यदर्पण, ३।२६२
२. साहित्यदर्पण, ३।२६३, ६४
३. साहित्यदर्पण, ३।२६४
४. साहित्यदर्पण, ३।२६५
५ साहित्यदर्पण, ३।२६५

अधमपात्रनिष्ठ उन्माद की अभिव्यक्ति

बह्वपायादुन्मादेऽधमपात्रगते तथा धीरे ।[1]

६ भयानक रसाभास उत्तमप्रकृतिगत भय की अभिव्यंजना ।

उत्तमपात्रगतत्वे भयानके ।[2]

कुछ उदाहरण निम्नांकित हैं

शृंगार रसाभास के उदाहरण

(१) केसव केसनि अस करी, बैरिहु जस न कराहिं ।
चन्द्रवदनि मृगलोचनी 'बाबा' कहि-कहि जाहिं ।[3]

यहाँ वृद्ध केशवदास का परनायिका में अनुराग वर्णित होने से 'शृंगार रसाभास' है ।

(२) मृगियों ने चंचल अवलोकन,
औ' चकोर ने निशाभिसार,
सारस ने मृदु ग्रीवालिंगन,
हंसों ने गति, वारि विहार,[4]

यहाँ हरिणियों, चकोरों, सारसों, हंसों आदि तिर्यग् योनि वालों का सर्वांग-वर्णन होने से शृंगार रसाभास है ।

हास्य रसाभास का उदाहरण

करहिं कूटि नारदहि सुनाई । नीकि दीन्हि हरि सुन्दरताई ॥
रीझिहि राजकुअँरि छवि देखी । इन्हहि बरिहि हरि जानि बिसेषी ॥[5]

यहाँ शंकर के गणों द्वारा देवर्षि (पूज्य) नारद की हँसी उड़ाने से 'हास्य रसाभास' है ।

रौद्र रसाभास का उदाहरण

पहले वचन देकर समय पर पालते हैं जो नहीं ।
वे हैं प्रतिज्ञा घातकारी निन्दनीय सभी कहीं ।
मैं जानता जो पाण्डवों पर प्रीति ऐसी आपकी,
आते नहीं तो यह कभी वेला विकट संताप की ।[6]

यहाँ पूज्य द्रोणाचार्य के प्रति दुर्योधन के क्रोध की अभिव्यक्ति होने से रौद्र रसाभास है । इसी प्रकार 'साकेत' की निम्नांकित पंक्तियों में 'रौद्राभास' है :

---

१. साहित्यदर्पण, ३।२६५
२. साहित्यदर्पण, ३।२६६
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास (रामचंद्र शुक्ल), पृ० २१३ पर उद्धृत
४. पल्लव ([illegible]—सुमित्रानन्दन पंत), पृ० ८५
५. रामचरितमानस, १।१३४।३-४
६. काव्यकल्पद्रुम (द्वितीय भाग—रसमंजरी), पृ० २४८ पर उद्धृत

अरे, मातृत्व तू अब भी जताती;
ठसक किसको भरत की है बताती?
भरत को मार डालूँ और तुझको,
नरक में भी न रक्खूँ ठौर तुझको।[1]

यहाँ माता कैकेयी के प्रति लक्ष्मण के क्रोध की अभिव्यक्ति 'रौद्राभास' कही जायेगी।

भावाभास : जिस प्रकार रस के अनौचित्यपूर्ण वर्णन में रसाभास होता है, उसी प्रकार भाव के अनौचित्यपूर्ण वर्णन में 'भावाभास' होता है। उदाहरण

दरपन में निज छाँह सँग, लखि प्रीतम की छाँह।
खरी ललाई रोस की, ल्याई अँखियन माँह॥[2]

यहाँ क्रोध का सामान्य कारण होने से 'भावाभास' है। जो क्रोध का कारण यहाँ वर्णित है, वह क्रोध का कारण नहीं होता।

भावशान्ति : जहाँ एक भाव की शान्ति के पश्चात् दूसरे भाव का उदय हो और उसी शान्ति में चमत्कार हो, तब वहाँ 'भावशान्ति' होती है। जैसे :

प्रभु-प्रलाप सुनि कान बिकल भए बानरनिकर।
आइ गएउ हनुमान जिमि करुना महु बीररस॥[3]

लक्ष्मण-मूर्च्छा के इस प्रसंग में हनुमान् के आगमन से राम के विलाप से उत्पन्न विषाद भाव की शांति हुई है और इसमें चमत्कार भी है; अतः यह 'भावशान्ति' का एक सुन्दर उदाहरण है।

भावोदय : जब एक भाव के सहसा शान्त होते ही दूसरे भाव का चमत्कारपूर्ण ढंग से उदय हो, तब 'भावोदय' होता है। यथा

हाथ जोड़ बोला साश्रुनयन महीप यों—
मातृभूमि इस तुच्छ जन को क्षमा करो।
आज तक खेयी तरी मैंने पापसिन्धु में,
अब खेऊँगा उसे धार में कृपाण की॥[4]

जयचंद की इस उक्ति में 'विषाद' भाव की शान्ति और 'उत्साह' का चमत्कारपूर्ण उदय है, अतः इसे 'भावोदय' का उदाहरण कहा जायगा।

भावसन्धि : जब दो भावों का एक साथ वर्णन हो और दोनों में समान चमत्कार हो, तो वहाँ 'भावसन्धि' होती है। जैसे

प्रभुहि चितइ पुनि चितव महि राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिजमीन जुग जनु बिधुमंडल डोल॥[5]

---

१. साकेत (मैथिलीशरण गुप्त), तृतीय सर्ग, पृ० ७६
२. काव्य दर्पण (रामदहिन मिश्र), पृ० २३६ पर उद्धृत
३. रामचरितमानस, ६।६१।१९-२०
४. आर्यावर्त (काव्य-दर्पण, पृ० २३७ पर उद्धृत)
५. रामचरितमानस, १।२५८।९-१०

यहाँ औत्सुक्य और व्रीडा दोनों भावों की सन्धि है।

भावशबलता जहाँ एक के पश्चात् दूसरा और दूसरे के पश्चात् तीसरा भाव आये और ये सभी समान रूप से चमत्कारपूर्ण हों, वहाँ 'भावशबलता' होती है। उदाहरण

> ऋषिहि देखि हरषै हियो राम देखि कुम्हिलाय।
> धनुष देखि डरपै महा, चिन्ता चित्त डोलाय॥[1]

यहाँ जनक के हृदय में क्रमशः हर्ष, व्याकुलता, भय और चिन्ता का त्वरित संचार होने से 'भावशबलता' है।

---

१. रामचन्द्रिका, ५।४०

५ गुण, वृत्ति और रीति

गुण

गुण का स्वरूप

गुण (गुण्+अच्) शब्द के कोशगत अर्थ हैं—धर्म, स्वभाव, विशिष्टता, लाभ, प्रभाव, धागा या डोरी, प्रकृति के तीन गुण (सत्त्व, रजस् और तमस्), इन्द्रियजन्य विषय और साहित्यशास्त्र के गुण (माधुर्यादि)।[1] प्रस्तुत सन्दर्भ में हमारा प्रयोजन इसी अन्तिम अर्थ से है।

काव्यशास्त्र के आद्याचार्य भरत मुनि ने गुण का लक्षण देते हुए लिखा है

गुणा विपर्ययादेषां माधुर्यौदार्यलक्षणाः ॥[2]

अर्थात् दोषों के विपर्ययरूप गुण माधुर्य, औदार्य आदि हैं। भरत के इस लक्षण से ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने गुण को एक अभावात्मक तत्त्व माना है, किन्तु उनके द्वारा दिये गये गुणों के लक्षणों से स्पष्ट है कि कुछ गुणों को छोड़कर शेष सभी भावात्मक हैं।

भामह ने माधुर्य, ओज और प्रसाद का नामोल्लेख करते हुए यह कहा है कि माधुर्य और प्रसाद के इच्छुक कवि समासबहुलता का प्रयोग नहीं करते, ओज के अभिलाषी कवि समासों का प्रयोग करते हैं :

माधुर्यमभिवाञ्छन्तः प्रसादञ्च सुमेधसः ।
समासवन्ति भूयांसि न पदानि प्रयुञ्जते ॥
केचिदोजोऽभिधित्सन्तः समस्यन्ति बहून्यपि ॥[3]

दण्डी ने यद्यपि स्पष्ट रूप से गुण का लक्षण नहीं दिया, किन्तु उन्होंने अलंकारों की जो परिभाषा दी है, उसमें यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है

---

१. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० २४६
२. नाट्यशास्त्र, १७।९४
३. काव्यालंकार, २।१, २

कि उनकी अलंकारविषयक परिभाषा में गुण का अन्तर्भाव हो जाता है। उन्होंने

इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः ।[1]

कहकर गुण को काव्य का प्राण माना है।

आचार्य वामन ने गुण को एक भावात्मक तत्त्व माना तथा उसकी स्वतन्त्र रूप में प्रतिष्ठापना की। उन्होंने गुण की परिभाषा की

काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः ।[2]

अर्थात् गुण काव्य की शोभा (मूलभूत सौन्दर्य) के तत्त्व हैं। इस प्रकार गुण शब्द और अर्थ के धर्म हैं तथा काव्य के अनिवार्य तत्त्व हैं।

आनन्दवर्धन ने गुणों को रसाश्रित माना तथा उनकी स्वतन्त्र सत्ता मानने से इनकार किया। उनका गुणविषयक लक्षण है

तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।[3]

आचार्य मम्मट ने गुणों को रस का अंगरूप धर्म माना, जो रस के उत्कर्ष के कारणरूप होते हैं और जिनकी रस में अचल स्थिति होती है

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः ।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः ॥[4]

आचार्य विश्वनाथ ने भी गुणों को काव्य-शरीर में सारभूत तत्त्व (रस) के धर्म के रूप में स्वीकार किया है

रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा ।
गुणाः[5]

पण्डितराज जगन्नाथ ने गुणों को काव्य के आत्मारूप रस का धर्म न मानकर शब्द और अर्थ का धर्म माना है।

गुणों की संख्या

भरत मुनि ने १० गुण माने हैं : १. श्लेष, २. प्रसाद, ३. समता, ४. समाधि, ५. माधुर्य, ६. ओज, ७. पदसौकुमार्य, ८. अर्थव्यक्ति, ९. उदारता और १०. कान्ति।

श्लेषः प्रसादः समता समाधिर्माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम् ।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते ॥[6]

---

१. काव्यादर्श, १।४२
२. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३।१।१
३. ध्वन्यालोक, २।६
४. काव्यप्रकाश (अष्टम उल्लास), सू० १
५. साहित्यदर्पण, ८।१
६. नाट्यशास्त्र, १७।९५

आचार्य भामह ने केवल तीन गुण माने १ माधुर्य, २ प्रसाद और ३ ओज।[1]

आचार्य दण्डी ने भरत द्वारा गिनाये गये १० गुणों को मान्यता दी किन्तु समाधि, कान्ति आदि कुछ गुणों के लक्षणों को लेकर उनका भरत से मतभेद है। उन्होंने श्लेष, प्रसाद आदि दस गुणों का उल्लेख करते हुए उन्हें वैदर्भ-मार्ग का प्राण कहा है

श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः॥
इति वैदर्भमार्गस्य प्राणा दशगुणाः स्मृताः।[2]

वामन ने भी इन्हीं दस गुणों को स्वीकृति प्रदान की, किन्तु उन्होंने शब्द-गुण और अर्थगुण के भेद से इनकी संख्या २० कर दी। लक्षणों में भी वामन ने पर्याप्त भिन्नता दिखायी।

आनन्दवर्धन ने चित्त की तीन अवस्थाओं (द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्व) के आधार पर केवल तीन गुणों (माधुर्य, ओज और प्रसाद) को स्वीकार किया, जिसका अनुसरण आगे चलकर मम्मट, विश्वनाथ आदि ने किया।

कुन्तक ने औचित्य और सौभाग्य ये दो तो सामान्य गुण[3] माने तथा चार विशिष्ट गुण। ये चार विशिष्ट गुण हैं १ माधुर्य, २ प्रसाद, ३ लावण्य, और ४ आभिजात्य।[4]

भोजराज ने २४ गुण माने जो बाह्य, आभ्यन्तर और वैशेषिक के भेद से ७२ होते हैं। उन्होंने परंपरा से आये हुए (भरत, दण्डी आदि द्वारा गिनाये गये) १० गुणों के अतिरिक्त १४ गुणों को मान्यता प्रदान की। ये १४ गुण हैं। १. उदाहरण, २ ओजत्व, ३ प्रेयस्, ४ सुशब्दता, ५ सौक्ष्म्य, ६ गाम्भीर्य, ७. विस्तार, ८ संक्षेप, ९ सम्मितत्व, १० भाविक, ११. गति, १२ रीति, १३ उक्ति और १४ प्रौढि।

अग्निपुराण में शब्दगुण, अर्थगुण और उभयगुण के भेद से अठारह गुणों का उल्लेख है। इनमें से छह शब्द गुण हैं : १ श्लेष, २ लालित्य, ३. गाम्भीर्य, ४ सुकुमारता, ५. औदार्य और ६ ओजस्। छह अर्थगुण हैं १. माधुर्य, २ संविधान, ३. कोमलता, ४ उदारता, ५. प्रौढि और ६ सामयिकता। छह उभयगुण हैं : १. प्रसाद २ सौभाग्य, ३ यथासंख्य, ४. प्राशस्त्य, ५ पाक और ६. राग।[5]

---

1. काव्यालंकार, २।१-२
2. काव्यादर्श, १।४१, ४२
3. वक्रोक्तिजीवितम्, १।५३-५५
4. वक्रोक्तिजीवितम्, १।३०-३३
5. अग्निपुराण, ३४६।५-२४

परवर्ती आचार्यों ने गुणों की संख्या में कमी की। मम्मट ने भामह और आनन्दवर्धन की परम्परा का पोषण करते हुए तीन गुण (माधुर्य, ओज और प्रसाद) माने

माधुर्यौजःप्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश।[1]

आचार्य विश्वनाथ ने भी तीन गुणों को ही स्वीकृति प्रदान की

माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा।[2]

नीचे हम भरत, दण्डी, वामन आदि द्वारा गिनाये गये १० गुणों का विवेचन प्रस्तुत करते हुए यह दिखलाने का प्रयत्न करेंगे कि इन सभी का तीन गुणों (माधुर्य, ओज और प्रसाद) में किस प्रकार अन्तर्भाव हो सकता है। इन दस गुणों को हम शब्दगुण और अर्थगुण के रूप में (आचार्य वामन का अनुसरण करते हुए) पृथक्-पृथक् सोदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। इनका क्रम हमने आचार्य दण्डी के 'काव्यादर्श'[3] के अनुसार रखा है।

शब्दगुण

१ श्लेष श्लेष (श्लिष्+घञ्)[4] के कोशगत अर्थ हैं—आलिंगन, मिलाप, मिलन आदि। शब्दगुण के रूप में वामन ने श्लेष का अर्थ किया है मसृणत्व, और मसृणत्व की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि जिस रचना में अनेक पद एकवद् भासित हों वहाँ 'श्लेष' होता है।

मसृणत्वं श्लेषः ॥ मसृणत्वं नाम यस्मिन्सति बहून्यपि पदान्येकवद्भासन्ते।[5]

पण्डितराज जगन्नाथ ने वामन के इस लक्षण की व्याख्या करते हुए लिखा 'भिन्न भिन्न पद वाले शब्दों की उस विशिष्ट योजना को 'श्लेष' कहते हैं, जो एकजातीय वर्णों से युक्त हो और अत्यन्त सन्निकर्ष के कारण एक ही तरह के शब्दों से बनी हुई प्रतीत हो। इसका दूसरा नाम 'गाढत्व' भी है।'[6]

उदाहरण

मनभट-मुकुट-दसकंध-साहस सइल
सृंग बिद्दरनि जनु बज्र-टाँकी।[7]

---

१ काव्यप्रकाश (अष्टम उल्लास), सू० ८९ (पृ० ३८९)
२ साहित्यदर्पण ८।१
३. काव्यादर्श, १।४१-४२
४. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० १०४०
५ काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, ३।१।११ और उस पर वृत्ति।
६ शब्दानां भिन्नानामप्येकत्वप्रतिभानप्रयोजकः संहितयैकजातीयवर्णविन्यासविशेषो गाढत्वापरपर्यायः श्लेषः।—रसगङ्गाधर (प्रथम आनन), पृ० ७०६
७. कवितावली, ६।४८

२ प्रसाद : प्रसाद (प्र + सद् + घञ्)[1] का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है—अनुग्रह, कृपा आदि। प्रस्तुत सन्दर्भ में वामन के अनुसार 'प्रसाद' का लक्षण है 'शैथिल्य' :

शैथिल्यं प्रसादः।[2]

यहाँ 'शैथिल्य' से वामन का अभिप्राय बन्धगाढत्व के विपरीत रूप अथवा असमस्त पदावली से है। वामन की इस परिभाषा की व्याख्या करते हुए रसगंगाधरकार ने लिखा है रचना में गाढता (भिन्न पदों का एक जैसा लगना) और शिथिलता (पदों का भिन्न-जैसा प्रतीत होना) का विपरीत क्रम से मिश्रण अर्थात् रचना का पहले शिथिल और बाद में गाढ होना 'प्रसाद' गुण कहलाता है :

गाढत्व-शैथिल्याभ्यां व्युत्क्रमेण मिश्रणं बन्धस्य प्रसाद।[3]

उदाहरण :

रवि हुआ अस्त : ज्योति के पत्र में लिखा अमर
रह गया राम-रावण का अपराजेय समर
आज का, तीक्ष्ण-शर-विधृत-क्षिप्र-कर, वेग-प्रखर,
शतशेलसम्वरणशील, नील नभ गर्ज्जित-स्वर,
प्रतिपल - परिवर्तित - व्यूह,—भेद-कौशल - समूह,
राक्षस - विरुद्ध प्रत्यूह,—क्रुद्ध-कपि - विषम-हूह।[4]

'राम की शक्ति-पूजा' की इन पंक्तियों में पहले शैथिल्य, तत्पश्चात् बन्धगाढत्व है, अत इन्हें हम आचार्य वामन और पंडितराज जगन्नाथ की परिभाषाओं के अनुसार 'प्रसाद' गुण का उदाहरण मान सकते हैं।

३ समता—समता (सम + तल् + टाप्)[5] का कोशगत अर्थ है समानता या एकरूपता। शब्दगुण के रूप में भी इसका बहुत कुछ यही अर्थ है क्योंकि वामनाचार्य के अनुसार प्रारम्भ से अन्त तक एक ही मार्ग या रीति के निर्वाह को समता कहते हैं -

मार्गाभेद. समता।[6]

पंडितराज जगन्नाथ ने इसी को दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा है

उपक्रमादासमाप्ते रीत्यभेदः समता।[7]

---

१. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ६७६
२. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३।१।६
३ रसगंगाधर (प्रथम आनन), पृ० २१०
४. अनामिका (राम की शक्ति-पूजा), पृ० १५२
५. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० १०७३
६. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३।१।१२
७ रसगंगाधर (प्रथम आनन), पृ० २११

उदाहरण -

यह सच है
तुमने जो दिया दान—दान वह,
हिन्दी के हित का अभिमान वह,
जनता का जन-ताका ज्ञान वह,
सच्चा कल्याण वह अथच है—
यह सच है !
बार बार हार हार मैं गया,
खोजा जो हार क्षार में नया
उड़ी धूल, तन सारा भर गया।
नहीं फूल, जीवन अविकच है—
यह सच है।[1]

४ माधुर्य—माधुर्य (मधुर+ष्यञ्) का अर्थ है मिठास[2]। प्रस्तुत सन्दर्भ में इस शब्दगुण का अर्थ है सन्धि-समास-रहित रचना का होना, क्योंकि आचार्य वामन ने इसका लक्षण देते हुए लिखा है

पृथक्पदत्वं माधुर्यम् ॥[3]

अर्थात् संयुक्त वर्णों, सन्धि और बड़े-बड़े समासों से रहित रचना में 'माधुर्य' गुण होता है। पण्डितराज जगन्नाथ ने आचार्य वामन के लक्षण को व्याख्यात्मक रूप देते हुए लिखा है

संयोगपरह्रस्वातिरिक्तवर्णघटितत्वे सति पृथक्पदत्वं माधुर्यम्।[4]

उदाहरण -

कितनी वे रातें
स्नेह की बातें
रक्खे निज हृदय में
आज जो है मौन यहाँ—
लीन निज ध्यान में।
यमुना की कल ध्वनि
आज भी सुनाती है विगत सुहाग-गाथा।[5]

५. सौकुमार्य—सौकुमार्य (सुकुमार+ष्यञ्) का अर्थ है मृदुता या कोम-

---

१. अनामिका (सच है), पृ० ८८
२. संक्षिप्त हिन्दी कोश, पृ० ७६३
३. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३।१।२१
४. रसगंगाधर (प्रथम आनन), पृ० २१२
५ अनामिका (वही), पृ० ३८-३९

लता।[1] शब्दगुण के रूप में आचार्य वामन ने 'सौकुमार्य' का अर्थ किया है 'बन्ध (रचना) का अजरठत्व या अपारुष्य' (कठोर वर्णों से भिन्न अर्थात् कोमल वर्णों से रचित रचना)

अजरठत्वं सौकुमार्यम्।[2]

अथवा

अपरुषवर्णघटितत्वं सुकुमारता।[3]

उदाहरण

जला है जीवन यह
आतप में दीर्घकाल,
सूखी भूमि, सूखे तरु,
सूखे सिक्त आलबाल,
बन्द हुआ गुंज, धूलि-
धूसर हो गये कुंज,
किन्तु पड़ी व्योम-उर
बन्धु, नील मेघ-माल।[4]

६ अर्थव्यक्ति—यहाँ 'अर्थव्यक्ति' का अर्थ है 'अर्थ की स्फुट प्रतीति'। अर्थात् जहाँ रचना मे व्यवहृत पदों के अन्वय एवम् अर्थ का शीघ्र ज्ञान हो जाय वहाँ 'अर्थव्यक्ति' नामक शब्दगुण होता है

अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्ति.।[5]

अथवा

झगिति प्रतीयमानार्थान्वयकत्वमर्थव्यक्ति.।[6]

उदाहरण

वह तोडती पत्थर।
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर
वह तोडती पत्थर।

कोई न छायादार
पेड वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार,
श्याम तन, भर बंधा यौवन,
नत नयन, प्रिय-कर्म-रत मन।[7]

---

१. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ११२६
२. काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, ३।१।२२
३ रसगंगाधर (प्रथम आनन), पृ० २१३
४. अनामिका (उक्ति), पृ० १६४
५ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३।१।२४
६ रसगंगाधर (प्रथम आनन), पृ० २१३
७. अनामिका (तोडती पत्थर), पृ० ८१

७ उदारता—'उदारता' नामक शब्दगुण का अर्थ (वामन तथा पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार) है 'विकटत्व' अर्थात् रचना का टवर्ग आदि कठोर वर्णों से युक्त होना।

विकटत्वमुदारता ।[1]

अथवा

कठिनवर्णघटनारूपविकटत्वलक्षणोदारता ।[2]

उदाहरण :

विद्धाङ्ग—बद्ध-कोदण्ड-मुष्टि—खर रुधिर-स्राव,
रावण-प्रहार-दुर्वार-विकल-वानर-दल-बल,
मूर्च्छित-सुग्रीवाङ्गद भीषण-गवाक्ष-गय-नल,
वारित-सौमित्रि भल्लपति—अगणित-मल्ल-रोध,
गर्जित-प्रलयाब्धि-क्षुब्ध-हनुमत्-केवल प्रबोध ।[3]

८ ओज—ओजस् (उब्ज + असुन् बलोप, गुणश्च) के कोशगत अर्थ हैं—शारीरिक सामर्थ्य, बल, शक्ति, वीर्य, आभा आदि ।[4] शब्दगुण के रूप में इसका लक्षण है

गाढबन्धत्वमोजः ।[5]

अथवा

संयोगपरह्रस्वप्राचुर्यस्य गाढत्वमोजः ।[6]

अर्थात् संयुक्त अक्षरों से युक्त समासबहुल और टवर्गबहुल रचना।

उदाहरण

लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षःस्थल पर!
शत शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अंबर!
मृत्यु तुम्हारा गरल दंत, कंचुक कल्पान्तर,
अखिल विश्व ही विवर,
वक्र कुण्डल
दिङ्मण्डल ।[7]

---

१. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३।१।२२
२. रसगंगाधर (प्रथम आनन), पृ० २१८
३. अनामिका (राम की शक्ति पूजा), पृ० १५२
४. संस्कृत हिंदी कोश, पृ० २३१
५. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३।१।५
६. रसगंगाधर (प्रथम आनन), पृ० २१५
७. पल्लव (परिवर्तन), पृ० १५०

९ कान्ति—कान्ति (कम्+क्तिन्) का अर्थ है चमक या आभा।[1] शब्दगुण के रूप में इसका अर्थ है कमनीयता या उज्ज्वलता

औज्ज्वल्यं कान्तिः ॥[2]

आचार्य वामन के इस सूत्र की व्याख्या करते हुए पंडितराज जगन्नाथ ने कहा है कि सहृदयों के प्रयोग करने योग्य पदों में जो एक अलौकिक शोभा होती है, जिसको उज्ज्वलता भी कहते हैं, उसी को 'कान्ति' नामक शब्दगुण से अभिहित किया गया है

अविदग्धवैदिकादिप्रयोगयोग्यानां पदानां परिहारेण प्रयुज्यमानेषु पदेषु लोकोत्तरशोभारूपमौज्ज्वल्यं कान्तिः।[3]

यह गुण वहाँ होता है जहाँ लौकिक अर्थ का अतिक्रमण न हो अर्थात् काव्य में पदों या अर्थ का सन्निवेश स्वाभाविक रूप से हो,

उदाहरण

सीता लखन सहित रघुराई। गाँव निकट जब निकसहिं जाई॥
सुनि सब बाल वृद्ध नर नारी। चलहिं तुरत गृहकाज बिसारी॥
राम लखन सिय रूप निहारी। पाइ नयनफलु होहिं सुखारी॥[4]

इन पंक्तियों में स्वाभाविकता है, अतः यहाँ 'कान्ति' गुण है।

१०. समाधि—समाधि (सम्+आ+धा+कि) का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है—मन को एकाग्र करना, भावचिन्तन, निस्तब्धता आदि।[5] गुण के रूप में दण्डी ने इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की है

सम्यक् आधीयते (उपचर्यते) यत्र स समाधिः।[6]

अर्थात् जिस गुण में किसी धर्म का दूसरी वस्तु में सम्यक् आधान या उपचार हो, वह 'समाधि' नामक गुण है। इस दृष्टि से लाक्षणिक या औपचारिक प्रयोग 'समाधि' गुण के अन्तर्गत आएँगे। इसीलिए दण्डी ने इन प्रयोगों को महत्त्वपूर्ण बतलाते हुए 'समाधि' को काव्य-सर्वस्व कहा है

तदेतत्काव्यसर्वस्वं समाधिर्नाम यो गुणः।[7]

वामन ने रचना में क्रम से आरोह और अवरोह को 'समाधि' माना है

आरोहावरोहक्रमः समाधिः।[8]

---

१ संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० २६४
२ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३।१।२५
३ रसगंगाधर (प्रथम आनन), पृ० २१६
४. रामचरितमानस, २।११३।१-३
५ संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० १०७६
६. काव्यादर्श, १।९३
७ काव्यादर्श, १।१००
८. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३।१।१२

यहाँ एक नायिका को छोड़ चतुरता से दूसरी नायिका के उरोजों का स्पर्श करना और उसे प्रकट न होने देना आदि क्रिया-परम्परा का वर्णन है, अतः अर्थगुणरूप 'श्लेष' है।

२ प्रसाद—यहाँ 'प्रसाद' का अर्थ है अर्थवैमल्य (अर्थवैमल्य प्रसादः[1]), अर्थात् जितने शब्द अर्थ-विशेष के लिए आवश्यक हों, उतने ही शब्दों का प्रयोग :

यावदर्थकपदत्वरूपमर्थवैमल्यं प्रसादः।[2]

उदाहरण :

चौथें पन पाएउँ सुत चारी। बिप्र बचन नहिं कहेउ बिचारी॥
मांगहु भूमि धेनु धन कोसा। सर्बस देउँ आजु सहरोसा॥
देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एक माहीं॥
सब सुत प्रीय प्रान की नाईं। राम देत नहिं बनै गोसाईं॥[3]

'रामचरितमानस' के दशरथ की इस उक्ति में 'प्रसाद' गुण है।

३ समता—यहाँ 'समता' का अभिप्राय अवैषम्य से है :

अवैषम्यं समता।[4]

यह अवैषम्य दो रूपों में दृष्टिगत होता है १. वन्धैकरूपता, आरम्भ से अन्त तक एक ही क्रम का निर्वाह,[5] २. सुगमत्व अर्थात् सरलता से अर्थ की प्रतीति।[6] उदाहरण :

वह आता—
दो टूक कलेजे के करता पछताता
पथ पर आता।
पेट-पीठ दोनों मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को—भूख मिटाने को
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता—
दो टूक कलेजे को करता पछताता पथ पर आता।[7]

---

१. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३।२।३
२. रसगंगाधर (प्रथम आनन), पृ० २१६
३. रामचरितमानस, १।२०८।२-५
४ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३।२।५
५ अवैषम्य अक्रमाभेद समता॥ —काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३।२।५ पर वृत्ति
अक्रमाऽभंगेनार्थघटनात्मकमवैषम्य समता।
—रसगंगाधर (प्रथम आनन), पृ० २२०
६. सुगमत्व वा अवैषम्यमिति॥—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३।२।६
७ परिमल (भिक्षुक—निराला), पृ० १२५

कहाँ रहति, काकी है बेटी, देखी नहीं कहूँ ब्रज-खोरी ॥
काहे कौं हम ब्रज-तन आवतिं, खेलति रहहिं आपनी पौरी ।
सुनत रहतिं स्रवननि नँद-ढोटा, करत फिरत माखनदधि-चोरी ॥
तुम्हरौ कहा चोरि हम लैंहैं, खेलन चलौ संग मिलि जोरी ।
सूरदास प्रभु रसिक-सिरोमनि, बातनि भुरइ राधिका भोरी ॥[1]

सूरदास के इस पद मे कृष्ण और राधा के संवाद का स्वाभाविक स्फुट वर्णन है, अत यहाँ 'अर्थव्यक्ति' नामक अर्थगुण है ।

७. औदार्य—यहाँ 'औदार्य' का अर्थ है 'ग्राम्यत्व या अश्लीलत्व का अभाव' .

अग्राम्यत्वमुदारता ।[2]

उदाहरण :

तुम्ह सम पुरुष न मो सम नारी । येह संजोग बिधि रचा बिचारी ॥
मम अनुरूप पुरुष जग माहीं । देखिउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं ॥
ता तें अब लगि रहिउँ कुमारी । मनु माना कछु तुम्हहि निहारी ॥[3]

यह कामार्ता शूर्पणखा की राम के प्रति उक्ति है । अश्लील प्रसंग होने पर भी यहाँ अश्लील शब्दावली का परिहार किया गया है, अत- 'औदार्य' गुण है ।

८. ओज—अर्थ की प्रौढता का नाम 'ओज' है .

अर्थस्य प्रौढिरोजः ।[4]

आचार्यों ने इसके निम्नलिखित पांच भेद माने हैं

१. एक पद से कहने योग्य अर्थ का अनेक पदो द्वारा कथन ।
२ अनेक पदो से कहने योग्य अर्थ का एक पद द्वारा कथन ।
३. एक वाक्य से कहने योग्य अर्थ का अनेक वाक्यो द्वारा प्रतिपादन ।
४ अनेक वाक्यो द्वारा प्रतिपादन-योग्य अर्थ का एक वाक्य द्वारा प्रतिपादन ।
५ विशेषणो का सप्रयोजन प्रयोग ।[5]

इनके क्रमशः उदाहरण हैं

(१) निसि अँधियारी नील पट पहिरि चली पिय गेह ।[6]

---

१. सूरसागर, १०।६७३ (पहला खण्ड, पृ० ४६७)
२. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३।२।१३
३. रामचरितमानस, ३।१७।८-१०
४ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३।२।२
५. एकस्य पदार्थस्य बहुभि पदैरभिधानम्, बहूना चैकेन, तथैकस्य वाक्यार्थस्य बहुभिर्वाक्यैः, बहुवाक्यार्थस्यैकवाक्येनाभिधानम्, विशेषणाना साभिप्रायत्व चेति पञ्चविधमोज' । —रसगगाधर (प्रथम आनन), पृ० २२३
६. बिहारी-बोधिनी, २१२

यहाँ 'कृष्णाभिसारिका' एक शब्द के स्थान पर अनेक पदों का प्रयोग हुआ है, अतः यहाँ 'ओज' गुण का प्रथम भेद है।

(२) उठि ठक ठक एतो कहा, पावस के अभिसार।
जानि परैगी देखियो, दामिनि घन अँधियार॥[१]

यहाँ 'प्रियतम-मिलन हेतु यात्रा' इन अनेक पदों के स्थान पर केवल एक पद 'अभिसार' का प्रयोग हुआ है, अतः यहाँ 'ओज' गुण का द्वितीय भेद है।

(३) सुन्दरि सुनु मैं उन्ह कर दासा। पराधीन नहिं तोर सुपासा।
प्रभु समर्थ कोसलपुर राजा। जो कछु करहिं उन्हहि सब छाजा॥[२]

यह कामार्ता शूर्पणखा के प्रति लक्ष्मण की उक्ति है। शूर्पणखा द्वारा प्रणय-प्रस्ताव के उत्तर में लक्ष्मण कहना चाहते हैं, 'मैं तुम्हारे योग्य नहीं हूँ।' इसी एक वाक्य के लिए वे उपर्युक्त अनेक वाक्यों का प्रयोग करते हैं, अतः यहाँ 'ओज' गुण का तृतीय भेद है।

(४) लछिमन अति लाघव सो नाक कान बिनु कीन्हि।[३]

यहाँ विस्तृत-वर्णन-योग्य घटना का केवल एक वाक्य द्वारा प्रतिपादन हुआ है, अतः 'ओज' का चतुर्थ भेद है।

(५) जम-करि मुख तरहरि परो, यह धरि हरि चितलाय।
विषय तृषा परिहरि अजौं, नरहरि के गुन गाय॥[४]

यहाँ 'नरहरि' का प्रयोग साभिप्राय है। हाथी और यमराज के रूपक के कारण इसकी सप्रयोजनता असंदिग्ध है।

९ कान्ति—'कान्ति' का पारिभाषिक अर्थ है 'दीप्तरसत्व'.

दीप्तरसत्वं कान्तिः।[५]

और 'दीप्तरसत्व' का अर्थ है रस का स्पष्टतया तथा शीघ्रतया प्रतीत होना

तच्च स्फुटप्रतीयमानरसत्वम्।[६]

उदाहरण

मारि डारि डारौं कुम्भकर्णहि बिदारि डारौं,
मारौं मेघनादै आजु यों बल अनन्त हौं।
कहै पदमाकर त्रिकूट ही को ढाय डारौं,
डारत करेई यातुधानन को अन्त हौं॥

१ बिहारी-बोधिनी, ५७७
२ रामचरितमानस, ३।१७।१३-१४
३ रामचरितमानस, ३।१७।२१
४. बिहारी-बोधिनी, ६७८
५ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३।१।१४
६ रसगंगाधर (प्रथम आनन), पृ० २२७

अच्छ को निरच्छ कपि स्वच्छ ह्वै उचारौं इमि,
तोसे तिच्छ तुच्छन को कच्छुवै न गन्त हौं।
जारि डारौं लकहि उजारि डारौं उपवन,
फारि डारौं रावन को तौ मैं हनुमन्त हौं॥[1]

यहाँ (रौद्र) रस की स्पष्ट एवं शीघ्र प्रतीति हो रही है, अत यहाँ 'कान्ति' नामक अर्थगुण है।

१० समाधि—प्रस्तुत सन्दर्भ मे 'समाधि' का अर्थ है 'अर्थ का दर्शन':

अर्थदृष्टि समाधि ॥[2]

इसके दो भेद माने गये हैं १ मौलिक (अवर्णितपूर्व) रचना, २. पूर्ववर्ती कवि की रचना की छाया (पूर्ववर्णितच्छाया)

अवर्णितपूर्वोऽयमर्थः पूर्ववर्णितच्छायो वेति कवेरालोचन समाधि·।[3]

क्रमश उदाहरण

(१) वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव मे लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है।[4]

'निराला' की 'विधवा' शीर्षक रचना की ये पंक्तियाँ कवि की मौलिक कल्पना है, अत यहाँ 'समाधि' नामक गुण का प्रथम भेद है।

(२) होत प्रातु मुनिवेषु धरि जौं न रामु बन जाहिं।
मोर मरनु राउर अजसु नृप समुझिअ मन माहिं॥[5]

'रामचरितमानस' का यह दोहा 'अध्यात्मरामायण' के निम्नांकित श्लोक की छाया है

वनं न गच्छेद्यदि रामचन्द्रः प्रभातकालेऽजिनचीरयुक्तः।
उद्बन्धनं वा विषभक्षणं वा कृत्वा मरिष्ये पुरतस्तवाहम्॥[6]

अत आचार्य वामन की परिभाषा के अनुसार यहाँ भी 'समाधि' गुण है।

अब हम आचार्य मम्मट तथा आचार्य विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित गुणों का विवेचन प्रस्तुत कर आचार्य वामन द्वारा प्रतिपादित १० शब्दगुणों और १० अर्थगुणों से उनकी तुलना करेंगे।

ऊपर कहा जा चुका है कि भामह, आनन्दवर्धन, मम्मट और विश्वनाथ ने

---

१. जगद्विनोद (पद्माकर), पृ० १४६-४७
२ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ३।२।७
३ रसगंगाधर (प्रथम आनन), पृ० २२७
४. परिमल (विधवा—निराला), पृ० ११६
५. रामचरितमानस, २।३३।६-१०
६. अध्यात्मरामायण, २।३।३१

केवल तीन गुणों (माधुर्य, ओज और प्रसाद) को मान्यता दी। इन आचार्यों के अनुसार इन गुणों का स्वरूप यह है

१ माधुर्य—आचार्य मम्मट के अनुसार माधुर्य उस गुण का नाम है जो चित्त को प्रसन्न कर देता है और सभोग शृंगार रस में चित्त को पानी-पानी कर देता है

आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ॥[1]

यह माधुर्य गुण करुण, विप्रलम्भ शृंगार और शान्त रस के प्रकरण में चित्त को अत्यन्त विगलित कर देने के कारण प्रकृष्ट उत्कर्षयुक्त होता है

करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्।[2]

आचार्य विश्वनाथ ने माधुर्य गुण का निरूपण करते हुए कहा है कि सहृदय के हृदय को द्रवीभूत करने वाला गुण 'माधुर्य' कहलाता है

चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते।[3]

इस गुण का क्षेत्र सभोग शृंगार, करुण, विप्रलम्भ और शान्त रस है, तथा इनमें भी यह क्रमशः उत्तरोत्तर मधुर लगा करता है

सभोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात् ॥[4]

'माधुर्य' के व्यंजक निमित्त ये हैं

(१) कर्णवर्ग वर्गों (ट, ठ, ड और ढ) को छोड़कर शेष सभी वर्गों के वर्ण अपने अपने वर्गों के अन्त्याक्षरों के साथ सयुक्त होकर श्रुतिमधुर ध्वनि की सृष्टि करते हैं।

(२) असमस्त रचना।

(३) अल्पसमासवती रचना और

(४) मधुर पद-योजना।[5]

उदाहरण

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि॥
मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्वबिजय कहँ कीन्ही॥[6]

२. ओज—चित्त को उत्तेजित करने वाले गुण का नाम 'ओजस्' है और

---

१. काव्यप्रकाश, अष्टम उल्लास, सू० ९० (पृ० २९०)
२. काव्यप्रकाश, अष्टम उल्लास, सू० ९१ (पृ० २९०)
३. साहित्यदर्पण, ८।२
४. साहित्यदर्पण, ८।२
५. मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टठडढान्विना।
रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः॥
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा।
—साहित्यदर्पण, ८।३,४
६. रामचरितमानस, १।२३०।१-२

यह वीर, वीभत्स और रौद्र रसों में क्रमशः उत्तरोत्तर उत्कर्ष को प्राप्त करता है :

ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ।
वीरवीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु ॥[1]

इस गुण के अभिव्यंजन-साधन निम्नांकित हैं :

(१) वर्गों के प्रथम और तृतीय तथा द्वितीय और चतुर्थ वर्णों के संयुक्ताक्षर, किसी वर्ण के साथ संयुक्त रेफ और ट, ठ, ड, ढ, श और ष आदि वर्ण ।
(२) दीर्घसमासवती रचना और
(३) औद्धत्यपूर्ण पदयोजना ।[2]

उदाहरण :

क्रुद्धे कृतान्त समान कपि तन स्रवत सोनित राजहीं ।
मर्दहिं निसाचरकटक भट बलवंत घन जिमि गाजहीं ॥
मारहिं चपेटन्हि डाटि दातन्ह काटि लातन्ह मीजहीं ।
चिक्करहिं मर्कट भालु छल बल करहिं जेहि खल छीजहीं ॥[3]

३. प्रसाद—माधुर्य और ओज के अतिरिक्त सम्पूर्ण रचना प्रसादयुक्त कहलाती है । यह गुण सभी रसों और सभी रचनाओं में व्याप्त होता है । यह सहृदय के हृदय की वह निर्मलता है जो चित्त में उसी प्रकार व्याप्त होती है जैसे सूखी लकड़ी में आग :

चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ।
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ॥[4]

इस गुण के अभिव्यंजक-साधन वे सभी शब्द हैं जिनके अर्थ उनके श्रवण-मात्र से ही झलक उठते हैं :

शब्दास्तद्व्यञ्जका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः ॥[5]

---

१. साहित्यदर्पण, ८।४,५
और भी देखिए—
काव्यप्रकाश, अष्टम उल्लास, सू० ६२, ६३

२. वर्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ ।
उपर्यधो द्वयोर्वा सरेफौ टठडढैः सह ॥
शकारश्च षकारश्च तस्य व्यंजकतां गताः ।
तथा समासो बहुलो घटनौद्धत्यशालिनी ॥
—साहित्यदर्पण, ८।५-७

३. रामचरितमानस, ६।८१।६-१२
४. साहित्यदर्पण, ८।७, ८
५. साहित्यदर्पण, ८।८

उदाहरण

एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा।
मंगलभवन अमंगलहारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी॥
भनिति बिचित्र सुकबिकृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥
बिधुबदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी॥[1]

गुणों के उपर्युक्त विवेचन तथा तुलनात्मक अनुशीलन के पश्चात् हम आचार्य विश्वनाथ के स्वर में स्वर मिलाकर यह कह सकते हैं कि आचार्य वामन द्वारा गिनाये गये सभी गुणों का अन्तर्भाव इन तीन गुणों (माधुर्य, ओज और प्रसाद) में हो जाता है। साहित्यदर्पणकार का यह मत सर्वथा उपयुक्त है कि वामन द्वारा प्रतिपादित श्लेष, समाधि, उदारता और प्रसाद का अन्तर्भाव ओज में हो जाता है

श्लेषः समाधिरौदार्यं प्रसाद इति ये पुनः।
गुणाश्चिरन्तनैरुक्ता ओजस्यन्तर्भवन्ति ते॥[2]

इसी प्रकार वामन के पृथक्पदत्वरूप माधुर्य का आचार्य मम्मट आदि के माधुर्य गुण में अन्तर्भाव समझना चाहिए

माधुर्यव्यञ्जकत्वं यदसमासस्य दर्शितम्।
पृथक्पदत्वं माधुर्यं तेनैवाङ्गीकृतं पुनः॥[3]

'अर्थव्यक्ति' का अन्तर्भाव प्रसाद गुण में समझना चाहिए क्योंकि अर्थव्यक्ति का स्वरूप है अनायास अर्थबोधन जो प्रसाद गुण का मुख्य लक्षण है। आचार्य विश्वनाथ के शब्दों में

अर्थव्यक्तेः प्रसादाख्यगुणेनैव परिग्रहः।
अर्थव्यक्तिः पदानां हि झटित्यर्थसमर्पणम्॥[4]

आचार्य विश्वनाथ ने 'कान्ति' और 'सुकुमारता' को क्रमशः 'ग्राम्यत्व' और 'दुःश्रवत्व' नामक दोषों के परिहार रूप में ही स्वीकार किया है, गुण रूप में नहीं।

ग्राम्यदुःश्रवतात्यागात्कान्तिश्च सुकुमारता।[5]

'समता' नामक शब्दगुण का अन्तर्भाव तीन में से किसी में हो सकता है।[6] ओज, प्रसाद, माधुर्य, सुकुमारता, उदारता आदि अर्थगुण भी दोषाभाव

---

१ रामचरितमानस, १।१०।१-४
२ साहित्यदर्पण, ८।९,१०
३ साहित्यदर्पण, ८।१०,११
४ साहित्यदर्पण, ८।११,१२
५ साहित्यदर्पण, ८।१२
६ साहित्यदर्पण, ८।१३

रूप हैं, गुणरूप नहीं।[1] अर्थव्यक्ति स्वभावोक्ति नामक अलंकार का ही एक रूप है।[2] 'समाधि' नामक गुण को गुण मानना उपयुक्त नहीं।[3] इस प्रकार वामन के सभी गुणों का अन्तर्भाव माधुर्य, ओज और प्रसाद में हो जाता है। साहित्यदर्पणकार की यह उक्ति सारगर्भित है कि अर्थगुण पृथक् नहीं है

तेन नार्थगुणा पृथक्।[4]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि मम्मट का यह कथन सर्वथा समीचीन है कि गुण तीन ही हैं—माधुर्य, ओज और प्रसाद, दस नहीं

माधुर्यौज प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश।[5]

वृत्ति

वृत्ति—वृत्ति (वृत्+क्तिन्) के कोशगत अर्थ हैं—अस्तित्व, सत्ता, स्वभाव, विशेष स्थिति, कार्य, आचरण, जीविका, भाष्य या टीका, पहिये की परिधि, शब्दशक्ति, रचना की शैली आदि।[6] प्रस्तुत सन्दर्भ में हमारा प्रयोजन अन्तिम दो अर्थों से है।

नाट्यशास्त्र में 'वृत्ति' का प्रयोग भारती, सात्त्वती आदि नाट्यवृत्तियों के अर्थ में हुआ है। भरत ने 'वृत्ति' और 'प्रवृत्ति' को भिन्न-भिन्न मानते हुए भारती, सात्त्वती, कैशिकी और आरभटी को नाट्य की आधारभूता वृत्तियाँ तथा आवन्ती, दाक्षिणात्या, उड्रमागधी, पाञ्चाली और मध्यमा को नाट्य-प्रवृत्तियाँ कहा है -

भारती सात्त्वती चैव कैशिक्यारभटी तथा।
चतस्रो वृत्तयो ह्येता यासु नाट्यं प्रतिष्ठितम्॥
आवन्ती दाक्षिणात्या च तथा चैवोड्रमागधी।
पाञ्चाली मध्यमा चैव ज्ञेया नाट्यप्रवृत्तयः॥[7]

वास्तव में भारती, सात्त्वती, कैशिकी और आरभटी ये चार नाट्यवृत्तियाँ हैं तथा आवन्ती, दाक्षिणात्या आदि पाँच नाट्यप्रवृत्तियाँ।

साहित्यदर्पणकार ने भारती, सात्त्वती आदि चार वृत्तियों को अभिनय-मात्र की जननी कहा है। इनमें से 'सात्त्वती' वीर रस की अभिव्यक्ति से,

---

१ साहित्यदर्पण, ८।१४
२ साहित्यदर्पण, ८।१५
३. न गुणत्व समाधेश्च—साहित्यदर्पण, ८।१६
४ साहित्यदर्पण, ८।१६
५. काव्यप्रकाश, अष्टम उल्लास, सू० ८९ (पृ० ३८९)
६ संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ९७१
७. नाट्यशास्त्र, ६।२४-२६

'कैशिकी' शृंगार रस के अभिव्यंजन से, 'आरभटी' रौद्र और बीभत्स रस के प्रतिपादन से तथा 'भारती' सभी रसों की अभिव्यंजना से सम्बद्ध है .

शृङ्गारे कैशिकी वीरे सात्वत्यारभटी पुन
रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्ति सर्वत्र भारती ॥
चतस्रो वृत्तयो ह्येता· सर्वनाट्यस्य मातृका ।[1]

भरत ने वृत्ति को व्यवहार का पुरुषार्थसाधक व्यापार कहा है। उन्होंने वृत्ति को काव्य की माता मानते हुए लिखा है

सर्वेषामेव काव्याना वृत्तयो मातृका स्मृताः ।[2]

आनन्दवर्धन ने नाट्यवृत्तियों को अर्थवृत्तियाँ माना तथा अन्य प्रचलित वृत्तियों (उपनागरिका, परुषा और कोमला) को शब्दवृत्ति कहा। अब 'वृत्ति' शब्द इन्हीं तीन वृत्तियों (उपनागरिका, परुषा और कोमला) के लिए व्यवहृत होने लगा है।

इन वृत्तियों की उद्भावना सर्वप्रथम उद्भट (८ वीं श० ई० का उत्तरार्ध) ने की। उन्होंने 'अलकारसारसग्रह' में इन वृत्तियों को 'अनुप्रासजाति' कहा है। उनके अनुसार इनमें वर्णव्यवहार की प्रधानता होती है, पदसघटना का विचार नहीं किया जाता। रुद्रट (६ वीं श० ई० का पूर्वार्ध) ने 'काव्यालकार' में वृत्ति को समासाश्रित माना है।[3] आनन्दवर्धन ने

व्यवहारो हि वृत्तिरुच्यते ।[4]

कहकर अर्थव्यवहार को नाट्यवृत्ति के रूप में तथा शब्दव्यवहार को काव्य-वृत्ति माना है। अभिनवगुप्त ने पुरुषार्थसाधक व्यापार का नाम ही वृत्ति माना है। भोजराज ने वृत्ति की परिभाषा की

काव्यव्यापी च सन्दर्भो वृत्तिरित्यभिधीयते ।[5]

उन्होंने १२ प्रकार की अनुप्रास जातियों से भिन्न वृत्तियों का वर्णन किया, जो वर्णों की आवृत्ति पर आश्रित न होकर स्पर्शादि वर्णों के परस्पर सम्बन्ध और असम्बध से युक्त रचना-सघटना पर निर्भर करती हैं। उनके द्वारा गिनायी गयी गम्भीरा, ओजस्विनी, प्रौढा, मधुरा आदि १२ वृत्तियाँ हैं।[6]

---

१. साहित्यदर्पण, ६।१२२, १२३
२. हिन्दी साहित्य कोश, पृ० ७३५ पर उद्धृत
३. काव्यालकार, २।३
४ ध्वन्यालोक, ३।३३ पर वृत्ति
५. सरस्वतीकण्ठाभरण, २।३८ (पृ० ८८)
६. गम्भीरौजस्विनी प्रौढा मधुरा निष्ठुरा श्लथा ।
कठोरा कोमला मिश्रा परुषा ललितामिता ॥
—सरस्वतीकण्ठाभरण, २।८५ (पृ० ६०)

मम्मट ने उद्भट के अनुसरण पर इन्हें वर्णव्यवहार पर आश्रित मानकर इन्हें रीति के अन्तर्गत माना है। उन्होंने वृत्ति की परिभाषा की

वृत्तिर्नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापार ।[1]

अर्थात् नियत वर्णों का रसानुकूल व्यापार ही 'वृत्ति' है। इस प्रकार मम्मट के अनुसार वृत्ति वर्ण-सगुम्फन का नाम है और ये वर्ण नियत होते हैं। उन्होंने वृत्तियों की विवेचना करने के बाद कह दिया कि इन तीनों वृत्तियों को ही वामन आदि आचार्यों ने वैदर्भी, गौडी और पाचाली नामक रीतियाँ माना है :

एतास्तिस्त्रो वृत्तयः वामनादीना मते वैदर्भीगौडीपाचाल्याख्या रीतयो मताः ।[2]

इस प्रकार मम्मट ने वृत्ति और रीति को अभिन्न माना है। वृत्तियाँ तीन हैं : १. उपनागरिका, २ परुषा और ३ कोमला।

१. उपनागरिका—उपनागरिका एक काव्यवृत्ति है तथा नाटक की चार वृत्तियों (भारती, सात्वती, कैशिकी और आरभटी) से सर्वथा भिन्न है। इस वृत्ति के नामकरण की सार्थकता का विवेचन करते हुए 'काव्यालंकारसार-सग्रह' मे कहा गया है कि 'नगर की चतुर, सयानी तथा विदग्ध वनिता की सुकुमार वाक्यावली के समान होने से इस वृत्ति का नाम 'उपनागरिका' है

एषा खलु नागरिकया वैदग्ध्योजुषा वनितया उपमीयते तत उपनागरिका। नागरिकया उपमिता उपनागरिकेति ।[3]

इस वृत्ति मे टवर्ग को छोड़कर प्रत्येक वर्ग के पचम अक्षर के साथ उसी वर्ग के अन्य वर्णों के सयोग का सन्निवेश रहता है। काव्यप्रकाशकार ने माधुर्य-व्यजक वर्णों को उपनागरिका वृत्ति का नियामक तत्व मानते हुए लिखा है

माधुर्यव्यजकैर्वर्णैरुपनागरिकोच्यते ।[4]

उदाहरण

रस सिंगार मंजन किये, कंजन भजन दैन।
अंजन रजन हू बिना, खंजन गंजन नैन ॥[5]

२. परुषा—इस वृत्ति को 'दीप्ता' की सज्ञा से भी अभिहित किया गया है। इसमें चित्तवृत्ति दीप्त होकर स्फूर्ति धारण करती है। यह एक कठोर शब्द-वृत्ति है। इसकी उद्भावना उद्भट ने की थी। इस शब्द-वृत्ति के अन्तर्गत श, ष, टवर्ग, रेफ आदि के साथ सयुक्त वर्णों का मिश्रण होता है। ये

---

१. काव्यप्रकाश (नवम उल्लास), सू० १०५ पर वृत्ति (पृ० ३०५)
२. काव्यप्रकाश (नवम उल्लास), सू० ११? पर वृत्ति (पृ० ३०७)
३. काव्यालंकारसारसग्रह, १।५ पर वृत्ति (पृ० ५)
४. काव्यप्रकाश (नवम उल्लास), सू० १०८ (पृ० ३०६)
५. बिहारी बोधिनी, ५०

वर्ग कर्णकटुता तथा कठोरता की उत्पत्ति करते हुए ओज गुण को प्रका-शित करते हैं

ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा ।[1]

इस वृत्ति का प्रयोग वीर, रौद्र भयानक आदि रसों के वर्णन में होता है । उदाहरण

धरि कुधरखंड प्रचंड मर्कट भालु गढ़ पर डारहीं ।
झपटहिं चरन गहि पटकि महि भजि चलत बहुरि पचारहीं ।
अति तरल तरुन प्रताप तरपहिं तमकि गढ़ चढ़ि चढ़ि गए ।
कपि भालु चढ़ि मंदिरन्ह जहँ तहँ रामजसु गावत भए ॥[2]

३. कोमला—उद्भट ने इस वृत्ति को 'ग्राम्य वृत्ति' कहा है,[3] क्योंकि यह ग्रामीण नारियों की स्वाभाविक शब्दावली के अनुरूप होती है । इस वृत्ति में प्रसादगुणविशिष्ट कोमल शब्दावली व्यवहृत होती है । इस दृष्टि से ल, व, स तथा वर्गों के तृतीय वर्णों का प्रयोगबहुलता इस वृत्ति की विशेषता है । इस सुकुमार तथा कोमल शब्दावली का उपयोग शृंगार, शान्त, करुण, अद्भुत आदि रसों के वर्णन में विशेष रूप से होता है । यह हृदय में कोमल भावों की उत्पत्ति करती है ।

उदाहरण

(१) मन मुसुकाइ भानुकुल भानू । रामु सहज आनंदनिधानू ।
बोले बचन बिगत सब दूषन । मृदु मंजुल जनु बागबिभूषन ॥
सुनु जननी सोइ सुतु बड़भागी । जो पितु मातु बचन अनुरागी ।
तनय मातु पितु तोषनिहारा । दुर्लभ जननि सकल संसारा ॥[4]

(२) मैं नहीं चाहता चिर सुख,
मैं नहीं चाहता चिर दुख,
सुख दुख की खेल मिचौनी
खोले जीवन अपना मुख !
सुख दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन,
फिर घन में ओझल हो शशि,
फिर शशि से ओझल हो घन ।[5]

---

१. काव्यप्रकाश (नवम उल्लास), सू० १०६ (पृ० २०६)
२. रामचरितमानस, ६।४७।१६-१८
३. शेषैर्वर्णैर्यथायोगं कथितां कोमलाख्यया ।
ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वादृतबुद्धयः ॥
—काव्यालंकारसारसंग्रह, १।६ (पृ० ६)
४. रामचरितमानस, २।४१।५-८
५. गुंजन (सुमित्रानन्दन पंत), पृ० १५

रीति

रीति—'रीति' (रीङ्+क्तिच् या क्तिन्[1]) शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है मार्ग। 'प्रणाली', 'पद्धति', 'पन्थ', 'वीथि', 'गति', 'प्रस्थान' आदि इसके अन्य पर्याय हैं। काव्यशास्त्र के सन्दर्भ में 'रीति' शब्द का अर्थ है लेखक का विशिष्ट लेखन-प्रकार (विशिष्ट पदरचना)। इस दृष्टि से रीतियाँ अनन्त हैं क्योंकि जितने लेखक होंगे उतनी ही रीतियाँ होंगी, फिर भी काव्यशास्त्रियों द्वारा समय-समय पर उनकी संख्या परिसीमित की जाती रही है। प्राचीन काल में रीतियों की संख्या भौगोलिक आधार पर आश्रित रही। साहित्याचार्यों का मत था कि व्यक्तिगत गुणों की भिन्नता होते हुए भी प्रान्तविशेष के कवियों की पदरचना में पर्याप्त सादृश्य दृष्टिगत होता है। इसी के आधार पर 'वैदर्भी' (विदर्भ देश से सम्बद्ध), 'गौडी' (गौड देश या बंग प्रान्त से सम्बद्ध) आदि रीतियों का नामकरण हुआ। कालान्तर में यह दृष्टिकोण परिवर्तित हुआ। रीतियों की भौगोलिक मान्यता में परिवर्तन होने लगा। उनका सम्बन्ध देश-विशेष से न रहकर विषय-विशेष से हो गया। अर्थात् जहाँ पहले यह कहा जाता था कि विदर्भ देश के कवियों के लेखन-प्रकार की अमुक विशेषता है तथा गौड देश के कवियों की अमुक, वहाँ अब यह कहा जाने लगा कि युद्ध आदि दीप्तिकारक विषयों का सम्बन्ध 'गौडी' रीति से तथा शृंगार आदि माधुर्यपरक वर्णन का सम्बन्ध 'वैदर्भी' रीति से है। इस प्रकार यदि वर्ण्य विषय में सौन्दर्य तथा सौकुमार्य की चाहना कवि-हृदय को आनन्दित करती तो उसके निमित्त 'वैदर्भी' का प्रयोग और यदि विषय की उदात्तता तथा ओजस्विता हृदय में स्फूर्ति उत्पन्न करती तो 'गौडी, का प्रयोग मान्य हुआ।

कालक्रमानुसार रीतियों का सर्वप्रथम विवेचन भामह ने 'काव्यालंकार' में किया है। भरत ने नाट्य के प्रयोग में विभिन्न प्रदेशों के अनुसार जिस प्रकार आवन्ती, दाक्षिणात्या, पांचाली, औड्रमागधी आदि प्रवृत्तियों का वर्णन किया है,[2] उसी प्रकार भामह और दण्डी ने रीति का भी देशों से सम्बन्धित रूप में वर्णन किया है। भामह ने यद्यपि 'रीति', 'मार्ग' या 'वर्त्म' शब्द का प्रयोग नहीं किया, किन्तु उन्होंने काव्य-भेदों में 'वैदर्भ' और 'गौडीय' का निर्देश किया है।[3] उनके समय में 'वैदर्भ' और 'गौडीय' ये दो मार्ग ही प्रचलित थे।

---

१. शब्दकल्पद्रुम (चतुर्थ काण्ड), पृ० १६२

२. चतुर्विधा प्रवृत्तिश्च प्रोक्ता नाट्यप्रयोगतः।
आवन्ती दाक्षिणात्या च पाञ्चाली चौड्रमागधी॥
—नाट्यशास्त्र, १४।३६

३. काव्यालंकार, १।३१-३५

बाणभट्ट के समय में हमें चार साहित्यिक पद्धतियों का परिचय मिलता है। ये पद्धतियाँ थीं १ उदीच्य, २ प्रतीच्य, ३. दाक्षिणात्य तथा ४ गौड। बाण (७वीं श० ई०) का कथन है कि उदीच्य (उत्तर के लोग) श्लिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं, प्रतीच्य (पश्चिम के) लोग केवल अर्थ को पसंद करते हैं, दाक्षिणात्य कवियों में उत्प्रेक्षा के प्रति विशेष आदर दृष्टिगत होता है और गौडीय (पूर्व के) कवियों में केवल वर्णों का आडम्बर दिखायी देता है,[1] किन्तु इन चारों रीतियों का एकत्र उपयोग ही किसी काव्य को श्रेष्ठ बनाता है।[2]

दण्डी ने 'रीति' के लिए 'मार्ग' तथा 'वर्त्म' शब्दों का प्रयोग किया है। उन्होंने 'वैदर्भ' और 'गौडीय' दो मार्गों का उल्लेख किया है।[3] उन्होंने 'वैदर्भ' और 'गौडीय' मार्गों का विवेचन करते हुए उनके भौगोलिक महत्त्व को स्वीकार किया है[4] तथा रीति के आधारभूत १० काव्यगुणों का विवेचन किया है।[5]

वामन ने 'पाचाली' नाम की एक तृतीय रीति की कल्पना करके रीतियों की संख्या तीन कर दी

सा त्रिधा—वैदर्भी गौडीया पाचाली च।[6]

वामन के परवर्ती आचार्य रुद्रट (९वीं श० ई०) ने रीति को वृत्ति कहा तथा उनकी संख्या चार तक पहुंचायी। उन्होंने 'लाटीया' या 'लाटी' नामक एक चौथी वृत्ति (रीति) की कल्पना की तथा इन वृत्तियों (रीतियों) का विभाजन समस्त पदों के आधार पर किया। इस प्रकार लघुसमासयुक्त रीति 'पाचाली', मध्यम समास वाली रीति 'लाटीया', दीर्घसमासयुक्ता 'गौडीया' तथा समासरहिता रीति 'वैदर्भी' हुई

पाचाली लाटीया गौडीया चेति नामतोऽभिहिता।
लघुमध्यायतविरचनसमासभेदादिमास्तत्र॥
द्वित्रिपदा पाचाली लाटीया पञ्च सप्त वा यावत्।
शब्दाः समासवन्तो भवति यथाशक्ति गौडीया॥
वृत्तेरसमासाया वैदर्भी रीतिरेकैव॥[7]

रुद्रट ने रीति का सम्बन्ध रस के साथ जोड़ा[8] जिसका विकास आगे चल

---

१ श्लेषप्रायमुदीच्येषु प्रतीच्येष्वर्थमात्रकम्।
उत्प्रेक्षा दाक्षिणात्येषु गौडेष्वक्षरडम्बरः॥ —हर्षचरित, १।८
२. हर्षचरित, १।६
३. काव्यादर्श, १।४०, ८२
४. काव्यादर्श, १।८८
५. काव्यादर्श, १।४३-१००
६. काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, १।२।६
७. काव्यालङ्कार, २।४-६
८ काव्यालङ्कार, १५।२०

कर ध्वनिमार्ग के आचार्यों ने किया।

आनन्दवर्धन ने रीति को रसाश्रयी मानते हुए उसके लिए 'संघटना' शब्द का व्यवहार किया। उनके अनुसार रीति रसरूप सौन्दर्य का साधन है।

राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में वैदर्भी, पांचाली एवं गौडी का,[1] कर्पूर-मंजरी की प्रस्तावना में मागधी[2] की तथा 'बालरामायण' के दशम अंक में 'मैथिली' का उल्लेख किया है। उन्होंने वैदर्भी को ही सर्वश्रेष्ठ घोषित किया है।

कुन्तक ने तीन रीतियों को तीन 'मार्ग' कहा। उनके अनुसार तीन 'मार्ग' हैं : १. सुकुमार मार्ग, २. विचित्र मार्ग और ३. मध्यम मार्ग :

> संप्रति तत्र ये मार्गाः कविप्रस्थानहेतवः ।
> सुकुमारो विचित्रश्च मध्यमश्चोभयात्मकः ॥[3]

उनके अनुसार 'सुकुमार मार्ग' में रस और भावों का नैसर्गिक निर्वाह होता है, 'विचित्र मार्ग' में कलापक्ष की प्रधानता रहती है तथा 'मध्यम मार्ग' में उपर्युक्त दोनों मार्गों का सम्मिश्रण रहता है। कुन्तक के अनुसार इन मार्गों के विशिष्ट तथा साधारण दो प्रकार के गुण होते हैं। विशिष्ट गुण चार हैं : १. माधुर्य, २. प्रसाद, ३. लावण्य और ४. आभिजात्य। साधारण गुण हैं : १. औचित्य और २. सौभाग्य। कुन्तक ने रीतियों की प्रादेशिक या भौगोलिक स्थिति का प्रत्याख्यान कर उनका सम्बन्ध कविस्वभाव से प्रतिष्ठापित किया है। उनके मतानुसार रीति काव्य-निर्मिति का हेतु (कविप्रस्थान-हेतु) है। इस प्रकार कुन्तक ने कवि स्वभाव को रीति का आधार निर्धारित कर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है।

भोजराज (११वीं श० ई०) ने 'सरस्वतीकंठाभरण' में छह रीतियों का उल्लेख किया है।[4] मम्मट (११वीं श० ई०) ने 'रीति' और 'वृत्ति' को अभिन्न मानते हुए यह कहा कि उपनागरिका, परुषा और कोमला नामक तीन वृत्तियाँ ही वामन आदि आचार्यों की तीन रीतियाँ हैं। 'अग्निपुराण' में पांचाली, गौडी, वैदर्भी और लाटी—इन चार रीतियों का निरूपण है। 'काव्यानुशासन' के प्रणेता हेमचन्द्र (१०८८-११७२ ई०) ने उपनागरिका, कोमला और परुषा नामक वृत्तियों को ही क्रमशः वैदर्भी, पांचाली और गौडी रीतियाँ कहा है।

आचार्य विश्वनाथ ने पदों की संघटना को 'रीति' की संज्ञा प्रदान की

---

१. रीतयस्तु तिस्रः । —काव्य-मीमांसा (तृतीय अध्याय), पृ० २२
२. कर्पूरमंजरी, १।१
३. वक्रोक्तिजीवितम्, १।२४
४. वैदर्भी साथ पाञ्चाली गौडीयावन्तिका तथा ।
लाटीया मागधी चेति षोढा रीतिर्निगद्यते ॥
—सरस्वतीकंठाभरण, २।२८

तथा इसे रसभावादि की सहायक माना

पदसंघटना रीतिरङ्गसंस्थाविशेषवत् ।
उपकर्त्री रसादीनाम—[1]

इन्होंने रीति के परम्परागत चार भेद माने । ये भेद हैं : १. वैदर्भी, २ गौडी, ३ पांचाली और ४ लाटी

—सा पुनः स्याच्चतुर्विधा ॥
वैदर्भी चाथ गौडी च पांचाली लाटिका तथा ।[2]

अस्तु, हम इन चारों ही रीतियों का पृथक्-पृथक् सोदाहरण स्वरूप-निरूपण प्रस्तुत करेंगे ।

१ वैदर्भी—यह रीति माधुर्य गुण पर अवलंबित है । इसमें माधुर्यगुण, सुकुमार वर्णों, अल्पसमासा या मध्यमसमासा तथा सौकुमार्यवती रचना का एकत्र योग होता है । इसमें ट, ठ, ड, ढ से रहित ककार से लेकर मकार तक के वर्ण अपने-अपने वर्गों के अन्तिम वर्ण के साथ संयुक्त होकर माधुर्य की सृष्टि करते हैं । अधिकतर आचार्यों ने इसे सर्वोत्तम रीति माना है । आचार्य विश्वनाथ ने इसका स्वरूप-लक्षण प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि 'माधुर्यगुण की व्यंजना करने वाले वर्णों द्वारा वृत्तिहीन (समासरहित) अथवा अल्पवृत्ति (अल्प समास) वाली रचना 'वैदर्भी' कहलाती है'

माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णैः रचना ललितात्मिका ।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥[3]

उदाहरण

(१) रनित भृङ्ग घंटावली, झरत दान मधुनीर ।
मंद मंद आवत चल्यो, कुंजर कुंजसमीर ॥[4]

(२) वन - वन उपवन—
छाया उन्मन - उन्मन गुंजन,
नव वय के अलियों का गुंजन !
उड़ पाँति-पाँति में चिर उन्मन
करते मधु के वन में गुंजन ![5]

२ गौडी—दण्डी ने 'वैदर्भी' की तुलना में 'गौडी' को अपकृष्ट माना था, किन्तु वामन ने उसे वैदर्भी के समान ही आह्लादक माना । इस रीति में ओज तथा कान्ति गुणों की प्रधानता रहती है और समासबहुलता तथा उत्कट

१. साहित्यदर्पण, ९।१
२. साहित्यदर्पण, ९।१, २
३ साहित्यदर्पण, ९।२, ३
४. बिहारी-बोधिनी, ४९०
५ गुंजन (सुमित्रानंदन पंत), पृ० १

पदों का प्राचुर्य रहता है। यह रीति 'ओज' गुण के अभिव्यंजक वर्णों से युक्त, समासप्रचुर और उद्भट रचना वाली होती है

ओज प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बर पुन: ॥
समासबहुला गौडी—[1]

उदाहरण

(१) कटकटहिं जंबुक भूत प्रेत पिसाच खर्पर संचहीं।
बेताल बीर कपाल ताल बजाइ जोगिनि नचहीं॥
रघुबीरबान प्रचंड खंडहिं भटन्ह के उर भुज सिरा।
जहँ तहँ परहिं उठि लरहिं धरु धरु धरु करहिं भयकर गिरा।[2]

(२) रवि हुआ अस्त : ज्योति के पत्र मे लिखा अमर
रह गया राम - रावण का अपराजेय समर
आज का, तीक्ष्ण-शर-विधृत-क्षिप्र-कर, वेग-प्रखर,
शतशेलसम्वरणशील, नील नभ गर्जित - स्वर,
प्रतिपल - परिवर्तित - व्यूह,—भेद - कौशल - समूह।[3]

३. पाचाली—यह तृतीय रीति है जिसकी कल्पना सर्वप्रथम आचार्य वामन ने की। उनके अनुसार पाचाली मे ओज तथा कान्ति का अभाव और माधुर्य तथा सौकुमार्य का सद्भाव रहता है। रुद्रट ने लघुसमास-रचना पर आश्रित पाचाली को माधुर्य तथा सौकुमार्य की अभिव्यंजिका माना है, जिसमे शृंगार, करुण, भयानक तथा अद्भुत रसो का सन्निवेश होता है। आचार्य वामन द्वारा प्रतिपादित पाचाली का स्वरूप-लक्षण है माधुर्य और सुकुमारता से सम्पन्न, असमस्त, भावशिथिल, छायायुक्त रीति पाचाली है -

माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाचाली।[4]

माधुर्येण सौकुमार्येण च गुणेनोपपन्ना पांचाली नाम रीति। ओज कान्त्यभावादनुल्बणपदा विच्छाया च।[5]

भोजदेव-सम्मत पाचाली-स्वरूप-लक्षण यह है

समस्तपंचषपदामोज कान्तिविवर्जिताम्।
मधुरां सुकुमारां च पांचाली कवयो विदु ॥[6]

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार पाचाली वह रीति है जिसमे 'माधुर्य' और 'ओज' के अभिव्यंजक वर्णों को छोडकर अन्य वर्णों अर्थात् 'प्रसाद' के अभि-

---

१ साहित्यदर्पण, ६।३, ४
२. रामचरितमानस, ३।२०।१४-१७
३. अनामिका (राम की शक्ति-पूजा), पृ० १५२
४. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १।२।१३
५ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, १।२।१३ पर वृत्ति।
६ सरस्वतीकंठाभरण, २।३०

व्यञ्जन वर्णों का विधान हो और जिसमें पाँच या छः पदों के समासों से बड़े समासों का प्रयोग न किया जाय

—वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः ।
समस्तपञ्चषपदो बन्धः पाञ्चालिका मता ॥[1]

उदाहरण

विजन-वन वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी—स्नेह-स्वप्न मग्न—
अमल-कोमल-तनु तरुणी—जुही की कली,
दृग बन्द किए, शिथिल,—पत्राङ्क में,[2]

४ लाटीया—इस रीति की उद्भावना रुद्रट ने की। उन्होंने 'पाञ्चाली' के साथ 'वैदर्भी' को माधुर्य का व्यंजक माना और 'लाटीया' के साथ 'गौडी' को ओजव्यंजिका। रुद्रट ने 'लाटीया' को मध्यमसमासवाली रीति माना जिसमें पाञ्चाली से अधिक और 'गौडी' से कम समास होते हैं।[3] आचार्य विश्वनाथ ने 'लाटीया' को 'वैदर्भी' और 'पाञ्चाली' के मध्य की रीति माना है

लाटी तु रीतिर्वैदर्भीपाञ्चाल्योरन्तरे स्थिता।[4]

उदाहरण

अहे वासुकि सहस्र फन!
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षःस्थल पर!
शत शत फेनोच्छ्वसित, स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर!
मृत्यु तुम्हारा गरल दंत, कंचुक कल्पान्तर,
अखिल विश्व ही विवर,
वक्र कुण्डल
दिङ्मण्डल।[5]

मागधी और मैथिली—उपरिविवेचित चार रीतियों के अतिरिक्त कुछ अन्य रीतियों का भी उल्लेख साहित्य-ग्रन्थों में हुआ है। राजशेखर ने 'कर्पूरमंजरी' की भूमिका में 'मागधी' का[6] तथा 'बालरामायण' के दशम अङ्क में 'मैथिली'

---

1 साहित्यदर्पण, ९।३, ४
2 परिमल (जुही की कली—निराला), पृ० १७१
3 काव्यालंकार, २।६
4 साहित्यदर्पण, ९।५
5. पल्लव (परिवर्तन—सुमित्रानन्दन पंत), पृ० १५०
6. कर्पूरमंजरी, १।१

का उल्लेख किया है। 'कर्पूरमंजरी' में उन्होंने तीन रीतियों का उल्लेख किया है—१ वच्छोमी या वात्सगुल्मी, २ मागधी और ३ पंचालिका।[1] इनमें से वच्छोमी या वात्सगुल्मी तो वैदर्भी का ही प्राकृत-रूप है, मागधी, सम्भवत गौडी का नामान्तर है। 'मैथिली' का स्वरूप-लक्षण 'बालरामायण' में मिलता है। उसके अनुसार 'मैथिली' के तीन प्रधान गुण हैं १ अर्थ के अतिशय का मर्यादा के अन्तर्गत रहना, २ अल्प समास की स्थिति और ३ योग-परम्परा का निर्वाह। श्रीपाद ने मैथिली को वैदर्भी के समान अल्पसमासयुक्त कहा है तथा भोज ने मैथिली रीति को स्वीकृत करते हुए यह कहा है कि रीतियों का निर्वाह न होने पर खडरीति मागधी होती है। कुछ भी हो, यह निश्चित है कि अधिकांश आलंकारिकों ने 'मागधी' और 'मैथिली' को मान्यता नहीं दी।

आवन्तिका—उपर्युक्त रीतियों के अतिरिक्त एक और नाम साहित्यशास्त्र के ग्रंथों में कहीं-कहीं मिलता है। भोजराज ने 'आवन्तिका' रीति का नामोल्लेख किया है। उनके अनुसार वैदर्भी तथा पांचाली की अन्तरालवर्तिनी रीति का नाम 'आवन्तिका' है जिसमें दो, तीन या चार समस्त पदों का प्रयोग होता है।[2] इसके उदाहरण के रूप में हम महादेवी वर्मा की 'दीपशिखा' की ये पंक्तियां उद्धृत कर सकते हैं

> हुए शूल अक्षत मुझे धूलि चन्दन !
> अगरु धूम-सी सांस सुधि-गन्ध-सुरभित,
> बनी स्नेह-लौ आरती चिर अकम्पित,
> हुआ नयन का नीर अभिषेक-जल-कण।[3]

---

१. वच्छोमी तह माअही फुरदु णो सा किं च पंचालिआ।
(वैदर्भी तथा मागधी स्फुरतु न सा किं च पांचालिका) —कर्पूरमंजरी, १।१

२. सैव समस्तद्वित्रिचतुरपदा वैदर्भीपांचाल्योरन्तरालवर्तिन्यावन्तिका नाम रीति.॥ —सरस्वतीकण्ठाभरण (द्वितीय परिच्छेद), पृ० ५६

३ दीपशिखा, पृ० ७६

६ अलङ्कार

अलंकार (अलम् + कृ + घञ्[1]) शब्द के कोशगत अर्थ हैं सजावट, आभूषण, गहना आदि। साहित्यशास्त्र में 'अलंकार' काव्य के वे धर्म कहलाते हैं जो उसकी (काव्य की) शोभा को समृद्ध करते हैं :

काव्यशोभाकरान् धर्मानलंकारान् प्रचक्षते।[2]

अलङ्कार तीन प्रकार के माने गये हैं :

१ शब्दालंकार, २ अर्थालंकार और ३ उभयालंकार।

शब्द पर आश्रित अलंकार शब्दालंकार और अर्थ पर आश्रित अलंकार 'अर्थालंकार' कहलाते हैं। 'उभयालंकार' वे होते हैं जिनमें दोनों का सम्मिश्रण होता है।

शब्दालंकार

जब कोई अलंकार किसी शब्दविशेष पर आश्रित हो तथा उसके पर्याय-वाची शब्द के रख देने से अलंकार नष्ट हो जाय तब उसे शब्दालंकार कहते हैं। मुख्य रूप से ये अलंकार शब्दालंकार माने जाते हैं :

१ अनुप्रास, २ यमक, ३ पुनरुक्तवदाभास, ४ पुनरुक्तिप्रकाश, ५ वीप्सा, ६ श्लेष, ७. वक्रोक्ति, ८. प्रहेलिका और ९. चित्र।

१. अनुप्रास

अनुप्रास (अनु+प्र+अस्+घञ्) का अर्थ है 'वर्णों की पुनरावृत्ति'[3]। अलंकारशास्त्र में जब किसी वाक्य में व्यञ्जनों की आवृत्ति एक ही क्रम में एक या अनेक बार हो, तो वहाँ 'अनुप्रास' अलंकार होता है[4]। इसके पाँच भेद हैं :

---

१ संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० १०२

२ काव्यादर्श, २।१

३ संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ३८

४. अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्। —साहित्यदर्पण, १०।३

१. छेकानुप्रास, २. वृत्यनुप्रास, ३. श्रुत्यनुप्रास, ४. लाटानुप्रास, और ५. अन्त्यानुप्रास।

(१) छेकानुप्रास : जिस अनुप्रास अलंकार में एक या अनेक व्यजनों की आवृत्ति एक ही क्रम से केवल एक बार हो उसे 'छेकानुप्रास' कहते हैं[1]। उदाहरण :

राम रमापति कर धनु लेहू। खैंचहु मिटै मोर संदेहू॥[2]

यहाँ 'राम रमापति' और 'मिटै मोर' में 'र' और 'म' की आवृत्ति केवल एक बार हुई है, अतः यहाँ 'छेकानुप्रास' है।

'छेकानुप्रास' के अन्य उदाहरण

(१) मूक होइ वाचाल पंगु चढ़ै गिरिवर गहन।[3]

(२) अमिअ मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भवरुज परिवारू॥[4]

(३) वर तरुनी के बैन सुनि, चीनी चकित सुभाइ।
दाख दुखी मिसिरी मुरी, सुधा रही सकुचाइ॥[5]

(४) चारु चपल बालक ज्यों मिलकर माँ को घेर खिझाते हैं।[6]

(५) किरण-कण्टकों से श्यामाम्बर फटा, दिवा के दमके अंग।[7]

(२) वृत्यनुप्रास—(वृत्ति + अनुप्रास) जिस स्थल पर वृत्ति-गत वर्ण अथवा वर्णों की अनेक बार आवृत्ति हो, वहाँ 'वृत्यनुप्रास' अलंकार होता है। इस अलंकार को समझने के लिए वृत्ति का समझना आवश्यक है। वृत्तियाँ तीन मानी गयी हैं : १. उपनागरिका, २. परुषा और ३. कोमला।

इन वृत्तियों का सोदाहरण विवेचन ऊपर हो चुका है। 'वृत्यनुप्रास' इन्हीं वृत्तियों पर आश्रित होता है।

वृत्यनुप्रास के उदाहरण :

(१) चितवति चकित चहूँ दिसि सीता। कहँ गये नृपकिसोर मनु चिंता॥[8]

(२) सुनु सिय सत्य असीस हमारी। पूजिहि मनकामना तुम्हारी॥[9]

(३) धरमधुरीन धीर नयनागर। सत्य सनेह सील सुख सागर॥[10]

---

१. छेको व्यंजनसंघस्य सकृत्साम्यमनेकधा।—साहित्यदर्पण, १०।३
२. रामचरितमानस, १।२८४।७
३. रामचरितमानस, १।१।१९-२०
४. रामचरितमानस, १।१।२८
५. काव्यनिर्णय, १९।३७ (भिखारीदास-ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १८०)
६. पंचवटी, १९
७. पंचवटी ६४
८. रामचरितमानस, १।२३२।१
९. रामचरितमानस, १।२३६।७
१०. रामचरितमानस २।३०३।५

स्थान से उच्चरित होने वाले वर्णों का प्रयोग हो, वहाँ 'श्रुत्यनुप्रास' होता है। उदाहरण :

तुलसिदास सीदत निसिदिन देखत तुम्हारि निठुराई।[1]

श्रुत्यनुप्रास के अन्य उदाहरण :

(१) तुलसिदास सीदत सदा सदन साधु तासोद।[2]

(२) दीन दयालु दिवाकर देवा। कर मुनि मनुज सुरासुर सेवा॥
हिम-तम-करि केहरि करमाली। दहन दोष-दुख-दुरित-रुजाली॥[3]

४ लाटानुप्रास—(लाट + अनुप्रास) प्राचीन काल में दक्षिण गुजरात का नाम 'लाट' देश था। वहाँ के लोग इसका अधिक प्रयोग करते थे, इसीलिए इसका यह नाम पड़ा। जब शब्द और उसका अर्थ वही रहे, केवल अन्वय करने से भेद हो जाय, तब लाटानुप्रास होता है।[4] इस अनुप्रास का सम्बन्ध वर्णों की अपेक्षा शब्दों से अधिक है।

उदाहरण :

पराधीन जो जन, नहीं स्वर्ग नरक ता हेतु।
पराधीन जो जन नहीं, स्वर्ग नरक ता हेतु॥[5]

यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि उपर्युक्त दोहे की दोनों पंक्तियों में वही शब्द व्यवहृत हुए हैं, केवल अल्पविराम अथवा अन्वय से अर्थ में भेद हो गया है। पहली पंक्ति का अर्थ है, 'जो मनुष्य पराधीन है, उसके लिए स्वर्ग

(पृ० १८८ का शेष)

उ, ऊ, पवर्ग (प, फ, ब, भ, म), उपध्मानीय	ओठ	उपूपध्मानीयानामोष्ठौ
ङ, ञ, ण, न, म	नासिका भी	ञमङणनानां नासिका च
ए, ऐ	कंठ और तालु	एदैतोः कंठतालु
ओ, औ	कंठ और ओष्ठ	ओदौतोः कंठोष्ठम्
व	दन्त और ओष्ठ	वकारस्य दन्तोष्ठम्
जिह्वामूलीय	जिह्वामूल	जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्
अनुस्वार	नासिका	नासिकाऽनुस्वारस्य

—लघुसिद्धान्तकौमुदी, पृ० १४-१५

१. विनयपत्रिका, ११२।५
२. अलंकार-प्रदीप, पृ० ६७
३. विनयपत्रिका, २।१-२
४. शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्यमात्रतः। लाटानुप्रास इत्युक्तो— —साहित्यदर्पण, १०।७
५. अलंकार-प्रदीप, पृ० १००

और नरक कुछ नहीं'। दूसरी पंक्ति का अर्थ है, 'जो मनुष्य पराधीन नहीं है, उसके लिए स्वर्ग और नरक है।'

लाटानुप्रास के अन्य उदाहरण

(१) राम हृदय जाके बसे, विपति सुमंगल ताहि।
राम हृदय जाके नहीं, विपति सुमंगल ताहि॥[1]

(२) तीरथ व्रत-साधन कहा, जो निसिदिन हरि-गान।
तीरथ-व्रत साधन कहा, बिन निसिदिन हरि-गान॥[2]

(३) औरन के जांचे कहा, नहिं जांच्यो सिवराज?
औरन के जांचे कहा जो जांच्यो सिवराज?[3]

(४) मुधा तीर्थ को भ्रमन है, रहैं हरी चित जासु।
मुधा तीर्थ को भ्रमन है, रहैं न हरि चित जासु॥[4]

(५) पीय निकट जाके, नहीं घाम चांदनो ताहि।
पीय निकट जाके नहीं, घाम चांदनो ताहि॥[5]

५ अन्त्यानुप्रास (अन्त्य—अनुप्रास) छन्दों के चरणों के अन्त्याक्षर तुकांत कहलाते हैं। इसे ही अन्त्यानुप्रास कहा जाता है। यह अलंकार पांच प्रकार का होता है १ सर्वान्त्य, २ समान्त्य-विषमान्त्य, ३ समान्त्य, ४ विषमान्त्य और ५ सम-विषमान्त्य।

(१) सर्वान्त्य इसके उदाहरण सवैया और कवित्त हैं जिनके चारों चरणों के अन्त्याक्षर मिलते हैं।

(२) समान्त्य विषमान्त्य जब पहले और तीसरे चरण तथा दूसरे और चौथे चरण के अन्त्याक्षर मिलें, तो वहां समान्त्य-विषमान्त्य नामक अन्त्यानुप्रास होता है, जैसे निम्नांकित सोरठे में -

नील सरोरुह स्याम तरुन अरुन वारिज नयन।
करौ सो मम उर धाम सदा छीरसागर सयन॥[6]

(३) समान्त्य : जब छन्द के दूसरे और चौथे चरणों के अन्त्याक्षर मिलें, तब समान्त्य अन्त्यानुप्रास होता है, जैसे दोहे में :

मेरी भवबाधा हरौ राधा नागरि सोय।
जा तन की झांई परे स्याम हरित दुति होय॥[7]

---

१. अलंकार-प्रदीप, पृ० १००
२. अलंकार-मंजूषा, पृ० १०
३. शिवराजभूषण, ३६२ (भूषणग्रन्थावली, पृ० १०२)
४. अलंकार-मंजूषा, पृ० ११
५. भाषाभूषण, २०१
६. रामचरितमानस, १।१।२१-२२
७. बिहारी-बोधिनी, १

(४) विषमान्त्य : जब पहले और तीसरे चरणों के अन्त्याक्षर मिलें, जैसे सामान्य सोरठे के :

मंगल बिंदु सुरंग, मुख ससि केसर आड गुरु।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत ॥[1]

(५) सम-विषमान्त्य जब पहले और दूसरे चरणों के तथा तीसरे और चौथे चरणों के अन्त्याक्षर मिलें, जैसे चौपाई के

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि ॥
मानहु मदन दुंदुभी दीन्ही। मनसा बिस्वबिजय कहँ कीन्ही ॥[2]

२ यमक

'यमक' [यम कै (प्राप्ति)+क][3] शब्द का शाब्दिक अर्थ है युग्म या जोड़ा। जब किसी वाक्य में एक ही शब्द दो बार प्रयुक्त हो और अर्थ भिन्न-भिन्न हो, तो 'यमक' अलंकार होता है।

उदाहरण

मूरति मधुर मनोहर देखी। भयेउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी ॥[4]

राम की मधुर एवं मनोहर मूर्ति को देखकर राजा जनक सचमुच विदेह हो गये अर्थात् वे देह की सुध-बुध भूल गये। यहाँ पर 'बिदेहु' शब्द का अर्थ 'जनक' और 'देहरहित' है, अत यहाँ 'यमक' अलंकार है। इस अलंकार के दो भेद हैं १. भंगपद यमक, २ अभंगपद यमक।

(१) भंगपद यमक जब शब्दों को तोड़कर यमक बनता है, तब 'भंगपद यमक' होता है, यथा

परहित लागि तजै जो देही। सतत संत प्रसंसहिं तेही ॥[5]

यहाँ सतत के 'सत' एवं 'संत' में 'यमक' है। प्रथम 'सत' शब्द सतत का अंश है और निरर्थक है, दूसरे 'संत' का अर्थ 'साधु' है। इस प्रकार प्रथम 'सत' शब्द 'सतत' को तोड़कर लिया गया है, अत 'भंगपद यमक' अलंकार है।

(२) अभंगपद यमक : जब शब्दों को बिना तोड़े ही 'यमक' हो, तो 'अभंगपद' यमक होता है, यथा,

---

१ बिहारी-बोधिनी, १२४
२. रामचरितमानस, १।२३०।१-२
३. यमक, क्ली, (यम युग्मभाव कायति प्राप्नोतीति। कै+क।) शब्दालंकार। —शब्दकल्पद्रुम (चतुर्थ काण्ड), पृ० १६
और भी देखिए—
मानक हिन्दी कोश (चौथा खंड), पृ० ४३७
४. रामचरितमानस, १।२१५।८
५ रामचरितमानस, १।८४।२

कनक कनक तें सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
या खाये बौरात है, वा पाये बौराय॥[1]

यहाँ 'कनक' शब्द के दो अर्थ हैं सोना और धतूरा और ये अर्थ बिना शब्दों को तोड़े प्राप्त हुए हैं, अतः 'अभंगपद यमक' है।

'यमक' के अन्य उदाहरण

(१) जप तप कछु न होइ तेहि काला। हे विधि मिलै कवन विधि बाला॥[2] (अभंग)

(२) भरतु प्रानप्रिय पावहिं राजू। बिधि सब बिधि मोहि सनमुख आजू॥[3] (अभंग)

(३) नाथमाथ सोपरी सुहाई। मदननयन मय सम सुखदाई॥[4] (सभंग)

(४) तोरन चाहत फिरत हौ तोरन चाहत नाहिं।[5] (अभंग)

(५) बर जीते सर मैन के, ऐसे देखे मैं न।
हरिनी के नैनान तें, हरि नीके ये नैन॥[6] (सभंग)

(६) तोपर वारौं उरबसी, सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी, ह्वै उरबसी-समान॥[7] (सभंग+अभंग)

(७) भजन कह्यौ तासों भज्यौ, भज्यौ न एकौ बार।
दूर भजन जासों कह्यौ, सो तूँ भज्यौ गँवार॥[8] (अभंग)

(८) ऐसी परी नरम हरम बादसाहन की,
नासपाती खातीं ते बनासपाती खाती हैं।[9] (सभंग)

( ) तेरी बरछी ने बर छीने हैं खलन के॥[10] (सभंग)

(१०) सीतल चंदन चंद नहिं, अधिक अगिनि तें जानि॥[11] (अभंग)

(११) 'मेरी विभूति है जो, उसको 'भव-भूति' क्यों कहे कोई ?'[12] (सभंग)

---

१. बिहारी बोधिनी, ६५१
२. रामचरितमानस १।१३१।८
३. रामचरितमानस, २।४२।१
४. रामचरितमानस, २।१३६।३
५ बिहारी-बोधिनी, १५
६ बिहारी-बोधिनी, ५५
७. बिहारी-बोधिनी, २४६
८ बिहारी-बोधिनी, ६८५
९ शिवाबावनी, १० (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ११२)
१० श्री छत्रसाल दशक, ८ (भूषण ग्रंथावली, पृ० १३०
११. भाषा-भूषण, २०७
१२. साकेत (नवम सर्ग), पृ० २६७

३ पुनरुक्तवदाभास

जब एक ही अर्थ वाले दो शब्द भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त हों तो वहाँ 'पुनरुक्तवदाभास' अलंकार होता है।[1] इस अलंकार में शब्द की पुनरुक्ति का आभास होता है (पुनरुक्तवत्+आभास), वास्तव में पुनरुक्ति होती नहीं।

उदाहरण -

वन्दनीय केहि के नहीं ते कविन्द मतिमान।
सरग गये हूँ काव्यजस जिनको जगत जहान॥[2]

'जगत' और 'जहान' शब्द यद्यपि समानार्थी हैं, किन्तु उपर्युक्त दोहे में ये भिन्नार्थक होकर आये हैं। जगत और जहान के क्रमशः अर्थ हैं 'प्रकाशित होता है' और 'संसार'। सामान्यतया इन दोनों का अर्थ 'संसार' होता है। इस प्रकार यहाँ 'पुनरुक्तवदाभास' अलंकार है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण :

(१) पुनि फिरि राम निकट सो आई। प्रभु लछिमन पहिं बहुरि पठाई।[3]

(२) अली, भँवर गुंजन लगे, होन लग्यो दल पात।
जहँ तहँ फूले बृक्ष तरु, प्रिय प्रीतम कित जात॥[4]

(३) माल मकरंद जू के नन्द कलानिधि तेरो,
सरजा सिवाजी जस जगत जहान में।[5]

(४) समय जा रहा और काल है आ रहा,
सचमुच उलटा भाव भुवन में छा रहा।[6]

४. पुनरुक्तिप्रकाश

जब एक ही शब्द कई बार एक ही अर्थ में आये और भाव को सुंदर बनाये, तो वहाँ 'पुनरुक्तिप्रकाश' अलंकार होता है।[7]

---

१. (क) आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्येन भासनम्।
पुनरुक्तवदाभासः स भिन्नाकारशब्दगः॥ —साहित्यदर्पण, १०।२

(ख) जगनि परै पुनरुक्ति सी, पै पुनरुक्ति न होय।
वदाभासपुनरुक्ति तेहि, भूषन कह सब कोय॥
—अलंकारमंजूषा, पृ० २६

२. अलंकारप्रदीप, पृ० १०२

३. रामचरितमानस, ३।१७।१७

४. काव्यनिर्णय, २०।१९ (भिखारीदास ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १९२)

५. शिवराजभूषण, ३६६ (भूषण-ग्रंथावली, पृ १०४)

६. साकेत (पंचम सर्ग) पृ० १४२

७. एक शब्द बहु बार जहँ, परै रुचिरता अर्थ।
पुनरुक्तिपरकास सो, बरनैं बुद्धि समर्थ॥ —अलंकारमंजूषा, पृ० २५

उदाहरण

छिल छिल कर छाले फोड़े,
मल मल कर मृदुल चरण से
घुल घुल कर वह रह जाते
आँसू करुणा के कण से।[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में भाव-सौन्दर्य स्पष्ट है।

'पुनरुक्तिप्रकाश' के अन्य उदाहरण

(१) मोर वचन सबके मन माना। साधु साधु करि ब्रह्म बखाना॥[2]

(२) बनि बनि बनि बनिता चली, गनि गनि गनि डग देत।
घनि घनि घनि अँखियाँ जु छवि, सनि सनि सनि सुख लेत॥[3]

(३) चंचल जल कल-कल कर मानो तान ले रहा है अब भी।[4]

(४) उठ उठ री लघु लोल लहर
उठ उठ गिर गिर फिर-फिर आती।[5]

(५) सखि, निरख नदी की धारा,
ढलमल ढलमल चंचल अंचल, झलमल झलमल तारा।
निर्मल जल अन्तस्तल भरके,
उछल उछलकर छल छल करके,
थल थल तरके, कल कल धरके,
बिखराता है पारा![6]

५ वीप्सा

जब एक ही शब्द एक ही अर्थ में अनेक बार प्रयुक्त हो तथा किसी आकस्मिक भाव (आश्चर्य, घृणा, आदर, दैन्य आदि) को प्रकट करे, तो वहाँ वीप्सा अलंकार होता है।[7]

उदाहरण

राम राम रमु, राम राम रटु, राम राम जपु जीहा।[8]

---

१. आँसू, पृ० ११
२. रामचरितमानस, १।१८५।५
३. काव्यनिर्णय, १६।२८ (भिखारीदास ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १७६)
४. पंचवटी, १७
५. लहर, पृ० ६
६ साकेत (नवम सर्ग), पृ० २०२
७. आदर अचरज आदि हित, एक शब्द बहु बार।
ताहि वीप्सा कहत हैं, जे सुबुद्धि-भण्डार॥
—अलंकारमंजूषा, पृ० ३६
८. विनयपत्रिका, ६५।१

यहाँ 'राम' शब्द की आवृत्ति आदर का भाव प्रकट करती है। इसी प्रकार निम्नांकित उद्धरणों में भी 'वीप्सा' है :

(१) राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम।
तनु परिहरि रघुबरबिरह राउ गयेउ सुरधाम ॥[1]

(२) पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट की नाईं ॥[2]

(३) सिव सिव होइ प्रसन्न करु दाया।[3]

(४) राम कहत चलु राम कहत चलु, राम कहत चलु भाई रे।[4]

६. श्लेष

जब एक शब्द के अनेक अर्थ हों, तो वहाँ 'श्लेष' अलकार होता है।[5] इसके दो भेद हैं १. अभगश्लेष, २ सभग श्लेष।

(१) अभंग श्लेष जब शब्द को तोडे बिना अनेक अर्थ निकलें, तब 'अभग श्लेष' होता है।

उदाहरण :

रावनसिर सरोजबन चारी। चलि रघुबीर सिलीमुख धारी ॥[6]

यहाँ 'सिलीमुख' के दो अर्थ हैं—१. बाण, २ भौंरा

(२) सभग श्लेष जब शब्द को तोडकर कई अर्थ निकाले जाते हैं, तब 'सभग श्लेष' होता है।

उदाहरण

चिरजीवौ जोरी जुरै क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि ये वृषभानुजा वे हलधर के बीर ॥[7]

यहाँ 'वृषभानुजा' (वृषभ+अनुजा) शब्द के दो अर्थ हैं १ राधा और २. वृषभ की छोटी बहन, अत यहाँ 'सभग श्लेष' है।

'श्लेष' के अन्य उदाहरण :

(१) बहुरि सक्र सम बिनवौं तेही। सतत सुरानीक हित जेही ॥[8] (सभग)

(२) जो रहीम गति दीप की, कुल कपूत की सोइ।
बारे उजियारो करै, बढे अँधेरो होइ ॥[9] (अभग)

---

१. रामचरितमानस, २।१५४।६-१०
२ रामचरितमानस, २।२३६।२
३. विनयपत्रिका, ६।१
४ विनयपत्रिका, १८६।१
५. श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते। —साहित्यदर्पण, १०।११
६ रामचरितमानस, ६।६२।७
७. बिहारी-बोधिनी, ८
८. रामचरितमानस, १।४।१०
९. रहीम-ग्रथावली

(३) जो चाहो चटक न घटै, मैलो होय न मित्त ।
रज राजस न छुवाइये, नेह चीकने चित्त ॥[१] (सभंग)

(४) अजौं तर्‌यौना ही रह्यो, श्रुति सेवत इक अंग ।
नाक बास बेसर लह्यो, बसि मुकुतन के संग ॥[२]
('तर्‌यौना' में सभंग, शेष में अभंग)

७ वक्रोक्ति

'वक्रोक्ति' (वक्र + उक्ति) का शाब्दिक अर्थ है वक्र (टेढ़ी) उक्ति (कथन)। जब किसी बात को सीधा न कहकर घुमा-फिराकर कहा जाय, तो वहाँ 'वक्रोक्ति' अलंकार होता है। 'वक्रोक्ति' दो प्रकार की होती है १. श्लिष्ट, २. काकु।[३]

१ श्लेषवक्रोक्ति इस वक्रोक्ति में श्लिष्ट पदों द्वारा वक्ता के शब्दों का भिन्न अर्थ निकाला जाता है। इसके दो भेद हैं १. सभंग, २ अभंग।

(१) सभंगश्लेषवक्रोक्ति जब श्लिष्ट पदों को तोड़कर वक्रोक्ति होती है, तब 'सभंगश्लेषवक्रोक्ति' होती है।

उदाहरण

गौरवशालिनी प्यारी हमारी सदा तुमहीं इक इष्ट अहो।[४]

यह पार्वती के प्रति शंकर की उक्ति है। शंकर का कथन है कि हे गौरवशालिनी देवी, तुम्हीं मेरी इष्टदेवी हो। पार्वती ने 'गौरवशालिनी' शब्द को तोड़कर गौ + अवशा + अलिनी बनाया और उत्तर दिया—

हौं न गऊ नहि हौं अवसा अलिनी हूँ नहीं अस काहे कहो।

अर्थात् न मैं गाय हूँ, न अवशा हूँ और न अलिनी हूँ। यहाँ शब्द को तोड़कर 'श्लेष' हुआ है, अत 'सभंगश्लेषवक्रोक्ति' है।

(२) अभंगश्लेषवक्रोक्ति जब शब्दों को बिना तोड़े-मरोड़े ही 'श्लेष' के माध्यम से 'वक्रोक्ति' होती है, तब 'अभंगश्लेषवक्रोक्ति' होती है।

उदाहरण .

को तुम ? हैं घनस्याम हम, तो बरसो कित जाय।
नहिं मनमोहन हैं प्रिये ! फिर क्यों पकरत पाँय ॥[५]

---

१. बिहारी-बोधिनी, ६४४
२ बिहारी-बोधिनी, १२३
३. अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा योजयेद्यदि ।
अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा ॥
—साहित्यदर्पण, १०।६
४. अलंकार मञ्जूषा, पृ० ३६
५. अलंकार-प्रदीप, पृ० १८७

यह श्रीकृष्ण और राधा के बीच की बातचीत है। राधा श्रीकृष्ण से पूछती हैं कि तुम कौन हो ? श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं कि मैं घनश्याम हूँ। राधा घनश्याम का अर्थ 'काला बादल' लगाकर कहती हैं कि तुम घनश्याम हो तो कहीं जाकर वर्षा करो। इस पर श्रीकृष्ण फिर कहते हैं कि मैं मनमोहन हूँ। राधा पुन 'मनमोहन' का अर्थ मन को मोहने या पकड़ने वाला करती हुई कहती हैं कि यदि तुम मनमोहन हो तो फिर पैर क्यों पकड़ते हो, मन को पकड़ो। इस प्रकार यहाँ 'श्लेष' के कारण ही अर्थ की भिन्नता (वक्रोक्ति) संभव हो सकी। इसीलिए यहाँ 'श्लेपवक्रोक्ति' है। शब्दों को बिना तोड़े ही ऐसा हुआ है, अतः 'अभंगश्लेपवक्रोक्ति' है।

(२) काकुवक्रोक्ति 'काकु' का अर्थ है—कंठध्वनि। जब वक्रोक्ति वक्ता की कंठध्वनि पर आश्रित होती है, तब उसे 'काकुवक्रोक्ति' कहा जाता है।

उदाहरण :

मैं सुकुमारि नाथु बनजोगू। तुम्हहिं उचित तपु मो कहुँ भोगू॥[1]

यह सीता की उक्ति है। वनगमन के समय जब रामचंद्र ने उपदेशों द्वारा सीता को वन न जाकर घर पर ही रहने का आदेश दिया तथा वन के कष्टों का वर्णन किया, तब सीता राम से कहती हैं कि, "मैं सुकुमारी हूँ और आप वन के योग्य हैं ? तुम्हें तप उचित है और मुझे भोग ?" यहाँ यह स्पष्ट है कि सीता का आशय यह है कि यदि मैं सुकुमारी हूँ तो आप भी सुकुमार हैं। यदि आप वन के योग्य हैं तो मैं भी हूँ तथा यदि आप तप के योग्य हैं तो मैं भी हूँ। यहाँ काकु (कंठध्वनि) से 'वक्रोक्ति' है, अत इसे 'काकुवक्रोक्ति' का उदाहरण कहेंगे।

'वक्रोक्ति' के अन्य उदाहरण :

(१) को तुम ? 'हरि' प्यारी ! कहा बानर को पुर काम ?
'स्याम' सलोनो, स्याम कपि ? क्यों न डरैं तब बाम॥[2]
(अभंगश्लेपवक्रोक्ति)

(२) कहाँ भिखारी गयो यहाँ ते, करै जु तुव प्रतिपालो ?
होगो वहाँ जाय किन देखो, बलि पै परो कसालो॥[3]
(अभंगश्लेपवक्रोक्ति)

(३) कह कपि धर्मसीलता तोरी। हमहुँ सुनी कृत परत्रिय चोरी॥
धर्मसीलता तव जग जागी। पावा दरसु हमहुँ बड़भागी॥[4]
(काकुवक्रोक्ति)

---

१. रामचरितमानस, २।६७।८
२. अलंकार-प्रदीप, पृ० १०८
३. अलंकार-प्रदीप, पृ० १०८
४. रामचरितमानस, ६।२२।४, ८

८ प्रहेलिका

जब कुछ शब्दों के हेर फेर में प्रश्न में से ही उत्तर निकले, तो वहाँ प्रहेलिका या पहेली होती है। पहेली दो प्रकार की होती है १. शब्दगत, २. अर्थगत। 'शब्दगत प्रहेलिका' में उत्तर प्रायः पहेली के अन्तर्गत हुआ करता है, 'अर्थगत प्रहेलिका' में पहेली के अन्दर कोई ऐसा शब्द नहीं होता जो उसका उत्तर हो, बल्कि उत्तर अर्थ से निकलता है।

'शब्दगत प्रहेलिका' के उदाहरण

(१) देखी एक अनोखी नारी। गुन उसमें इक सबसे भारी।
पढ़ी नहीं यह अचरज आवे। मरना-जीना तुरत बतावे।।[1]
(हाथ की नाड़ी)

(२) चहुँ ओर फिरि आई। जिन देखी तिन खाई।[2]
(खाई)

(३) बाला था जब सबको भाया। बड़ा हुआ कछु काम न आया।
खुसरो कह दिया उसका नाँव। अर्थ करो या छोड़ो गाँव।।[3]
(दिया या दीपक)

(४) बीसों का सिर काट लिया। ना मारा ना खून किया।।[4]
(नाखून)

'अर्थगत प्रहेलिका' के उदाहरण

(१) लक्ष्मीपति के कर बसे, पाँच बरन गनि लेव।
पहिलो अक्षर छोड़िकै, आय हमैं किन देव।।[5] (सुदर्शन)

(२) एक नार ने अचरज किया। साँप मार पिंजरे में दिया।।
जों जों साँप ताल को खाए। सूखे ताल साँप मर जाए।।[6]
(दिया की बत्ती)

(३) खेत में उपजे सब कोई खाय। घर में होवे घर खा जाय।।[7]
(फूट)

(४) आदि कटे से सब को पारे। मध्य कटे से सब को मारे।।
अन्त कटे से सब को मीठा। खुसरो वाको आँखों दीठा।।[8]
(काजल)

---

१. अलंकार-मंजूषा, पृ० २८
२. अलंकार-मंजूषा, पृ० २६
३. अमीर खुसरो (कविता-कौमुदी, पहला भाग, पृ० १३४)
४. अमीर खुसरो (कविता-कौमुदी, पहला भाग, पृ० १३४)
५. अलंकार-मंजूषा, पृ० २६
६. अमीर खुसरो (कविता-कौमुदी, पहला भाग, पृ० १३५)
७. अमीर खुसरो (कविता-कौमुदी, पहला भाग, पृ० १३७)
८. अमीर खुसरो (कविता कौमुदी, पहला भाग, पृ० १३८)

६. चित्रालंकार

इस अलकार के निम्नलिखित ६ भेद हैं

१. चित्रकाव्य, २ निरोष्ठ, ३. सोष्ठ, ४. अमत्त, ५. अतर्लापिका, ६ बहिर्लापिका, ७. लोमविलोम, ८ गतागत, ६. कामधेनु और १०. दृष्टिकूटक।

(१) चित्रकाव्य : जब काव्य रचना इस प्रकार की हो कि उससे कोई चित्र बन जाय, तब 'चित्र काव्य' अलकार होता है।

कमलबंध का उदाहरण '

राम राम रम छेम छम सम दम जम श्रम धाम।
दाम काम क्रम प्रेम बम जम जम दम भ्रम-वाम॥[1]
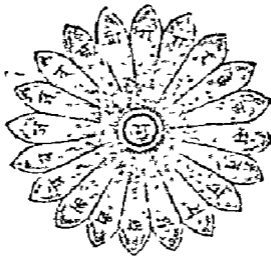
इसी प्रकार चामर-बंध, धनुषबंध आदि 'चित्रकाव्य' के उदाहरण हैं।

(२) निरोष्ठ जिस रचना के पढ़ने में ओठ न छू जायँ, उसे निरोष्ठ नामक 'चित्रालकार' कहते हैं, ऐसी रचना मे उ, ऊ, प, फ, ब, भ, म तथा उपध्मानीय नहीं आने चाहिए।

उदाहरण :

लोक लीक नीकी, लाज लीलत है नदलाल,
लोचन ललित लोल लीला के निकेत हैं।[2]

(३) सोष्ठ · जिस रचना के प्रत्येक शब्द के पढ़ने मे ओठ से ओठ मिलें, उसे 'सोष्ठ' कहते हैं; ऐसी रचना मे उ, ऊ, प, फ, ब, भ, म तथा उपध्मानीय (˘) अक्षर ही आने चाहिए।

(४) अमत्त काव्य : जिस रचना मे ऐसे अक्षरों का प्रयोग हो जिनमे मात्राएँ

---

१ कविप्रिया, १६।८० (केशव-ग्रथावली, खण्ड १, पृ० २२७)
२. कविप्रिया, १६।६ (केशव-ग्रथावली, खड १, पृ० २१८)

न हो, उसे 'अमत्त काव्य' कहते हैं।

उदाहरण

जग जगमगत भगत-जन-रस-बस,
सब नर सह धर करत अचल चर।[1]

(५) अंतर्लापिका—जब प्रश्न के अन्तर्गत ही उत्तर हो, तो वहाँ 'अन्तर्लापिका' नामक चित्रकाव्य होता है।

उदाहरण

कौन जाति सीता सती, दई कौन कहँ तात।
कौन ग्रंथ बरनी हरी, रामायन अवदात।।[2]

यहाँ तीन प्रश्न हैं—१ सती सीता किस जाति की स्त्री थी? २ उनके पिता ने उन्हें किसको दिया था? और ३ उनका हरण वर्णन किस ग्रंथ में हुआ है? इन तीनों का उत्तर 'रामायन' शब्द में निहित है। प्रथम प्रश्न का उत्तर है 'रामा' दूसरे का उत्तर है 'रामाय' और तीसरे प्रश्न का उत्तर है 'रामायण'। यहाँ प्रत्येक प्रश्न के उत्तर में एक एक अक्षर बढ़ता गया है।

(६) बहिर्लापिका—जब प्रश्न का उत्तर प्रश्न के अन्तर्गत न होकर, बाहर हो तब 'बहिर्लापिका' नामक चित्रालंकार होता है।

उदाहरण

अक्षर कौन विकल्प को, जुवति बसति किहि अंग।
बलि राजा कीने छल्यो सुरपति के परसंग।।[3]

(वामन)

यहाँ तीन प्रश्नों के उत्तर हैं—वा, वाम और वामन। यहाँ भी एक एक अक्षर बढ़ता गया है। यहाँ 'वामन' शब्द दोहे के अन्दर न होकर बाहर से लाना पड़ा है, अतः 'बहिर्लापिका' है।

(७) लोम विलोम—जब किसी रचना को सीधा पढ़ने से और अर्थ निकले तथा उलटा पढ़ने से और अर्थ निकले, तो ऐसी रचना 'लोम विलोम' काव्य कहलाती है। संस्कृत साहित्य में वेंकटाध्वरि का तीस श्लोकों वाला 'यादवराघवीय' नामक काव्य इसी प्रकार का है जिसके सीधे पढ़ने से राम की कथा तथा उलटे पढ़ने से कृष्ण की कथा का वर्णन है। हिन्दी में केशवदास तथा भिखारीदास की रचनाओं में हमें कुछ उदाहरण मिलते हैं।

उदाहरण

मैं न माधव, ज्यों अर केसव' देस सुदेस सुवेस सबै।
मैं नव की सचि जो तरनी रचि चोर सबै निमि काल पर्रै।

---

1 कविप्रिया, १६।८ (केशव-ग्रन्थावली, खंड १, पृ० २१८)
2 कविप्रिया, १६।४५ (केशव-ग्रन्थावली, खंड १, पृ० २२३)
3 कविप्रिया, १६।४८ (केशव-ग्रन्थावली, खंड १, पृ० २२३)

तैं न सुनी जस भौर भरी, धर धीरब रीति सु कौन बहै ।
मैन मनो गुरु चाल चलै सुभ, सो बन मैं सर सीव लहै ॥[1]

(८) गतागत : जब किसी रचना के सीधे और उलटे पढ़ने से एक ही अर्थ निकले, तो 'गतागत' नामक चित्रकाव्य होता है।

उदाहरण :

मानस सोह सजै बन बीन नवीन बजै सहसोम समा ।
मानव हीरहि मोरद मोद दमोदर मोहि रही बन मा ।
मारलतानि बनावनि सारि रिमानि बनावनि ताल रमा ।
मानवती बनि 'केसवदास' सदा बस केलि बनी बलमा ॥[2]

(९) कामधेनु : जिस एक ही रचना से अनेक रचनाएँ हो सकें, उसे 'कामधेनु' नामक चित्रकाव्य कहा जाता है।

उदाहरण :

साजन हैं, निसिनाथ, इहां सखि, मादरना, सुचिवेष, अनंदर ।
आजन हैं, रिविराज, छजे छबि, हेमरना, बलदेव, सुधाकर ॥
छाजन हैं, बरभाय, भनैं कवि, सुष्टुमना, सुखदेस, गुनाकर ।
राजन हैं, समछाव, ससारवि, रूपघना, धनरेस, कृपाकर ॥[3]

इस सवैये में २४ अंश हैं। इनमें से किसी से प्रारंभ करके अगले पांच पांच अंश लेने से भिन्न भिन्न सवैये बन सकते हैं। इस प्रकार २४ सवैये बन सकते हैं।

(१०) दृष्टिकूटक : जब किसी रचना का अर्थ विशेष मस्तिष्क-व्यायाम से निकले, ऊपर से न प्रकट हो, तब उसे दृष्टिकूटक पद या रचना कहा जाता है। हिंदी के प्रसिद्ध कवि सूरदास ने 'साहित्यलहरी' नामक काव्य की रचना में इसका प्रयोग किया है।

उदाहरण :

मेष राशि ते पांचवीं, गने कहे जो नाम ।
ता भच्छन द्वादस भये, आये नहिं घनश्याम ॥[4]

राशियां १२ हैं : मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धन, मकर, कुम्भ और मीन। मेष राशि से गिनने पर पांचवें स्थान पर सिंह राशि आती है। सिंह का भोजन मांस है। उपर्युक्त दोहे का अर्थ इन्हीं दोनों तथ्यों के सहारे इस प्रकार निकलता है : बारह मास व्यतीत हो जाने पर भी श्रीकृष्ण नहीं आये।

---

१. कविप्रिया, १६।७२ (केशवग्रंथावली, खंड १, पृ० २२७)
२. कविप्रिया, १६।६६ (केशवग्रंथावली, खंड १, पृ० २२६)
३. अलंकार-मंजूषा, पृ० २३
४. अलंकार-मंजूषा, पृ० २४

इसी प्रकार :

नखत, वेद, ग्रह, जोरि अर्ध करि, सोइ बनत अब खात ।[1]

नखत (नक्षत्र) २७ होते हैं, वेद ४ हैं, ग्रह ९ होते हैं, इनका योग ४० हुआ जिसका आधा बीस है जिससे बिस (विष) का अर्थ निकला । गोपियाँ कहती हैं कि हमें विष खाते ही बनता है ।

अर्थालंकार

उपमा

उपमा (उप + मा + अङ् + टाप्) का अर्थ है—समता या तुलना।[2] अलंकारशास्त्र में जब दो पदार्थों में साधर्म्य भाव हो और उन दोनों की समता की जाय, तो वहाँ 'उपमा' अलंकार होता है । 'उपमा' के चार अंग होते हैं : १. उपमेय, २. उपमान, ३. साधारण धर्म, और ४. वाचक ।

(१) जिस पदार्थ की समता अन्य पदार्थ से की जाती है उसे 'उपमेय' कहते हैं ।

(२) जिस पदार्थ से समता की जाती है उसे 'उपमान' कहते हैं ।

(३) दोनों पदार्थों में जो धर्म उभयनिष्ठ रहता है उसे 'साधारण धर्म' कहा जाता है ।

(४) जिस शब्द के माध्यम से यह धर्म अभिव्यक्त किया जाता है उसे 'वाचक' कहते हैं ।

उदाहरणार्थ निम्न वाक्य लिया जा सकता है :

उसका मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर है ।

इस वाक्य में 'मुख' शब्द 'उपमेय' है; 'चन्द्रमा' शब्द 'उपमान' है, 'सुन्दर' शब्द 'साधारण धर्म' है और 'समान' 'वाचक' है ।

पूर्णोपमा

जिस उपमा अलंकार में उपर्युक्त चारों अंग (उपमेय, उपमान, साधारण धर्म और वाचक) विद्यमान हों उसे 'पूर्णोपमा' (पूर्ण + उपमा) कहते हैं ।

उदाहरण :

पीपरपात सरिस मनु डोला ।[3]

---

१. सूरसागर, १०।३९७३ (दूसरा खण्ड, पृ० १४४४)

२. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० २०८

३. रामचरितमानस, २।४५।३

यहाँ 'मन' उपमेय, 'पीपरपात' उपमान, 'डोला' साधारण धर्म और 'सरिस' वाचक है, अतः 'पूर्णोपमा' है।

'पूर्णोपमा' के अन्य उदाहरण

(१) मधुकर सरिस संत गुनग्राही ।[१]

(२) तपँ अवा इव उर अधिकाई ।[२]

(३) करिकर सरिस सुभग भुजदंडा ।[३]

(४) पवनाधीन पताका-सी यों जिधर तिधर मत फहरो तुम ।[४]

(५) तुम फूल उठोगी लतिका सी ।[५]

लुप्तोपमा

जब उपमा के चार अंगों में से किसी एक या एक से अधिक का लोप हो, तब 'लुप्तोपमा' (लुप्ता+उपमा) अलंकार होता है। उपमा के जिस अंग का लोप होता है, उसी के नाम से 'लुप्तोपमा' का नामकरण हो जाता है। इस प्रकार 'लुप्तोपमा' के निम्नांकित भेद हो सकते हैं :

१. वाचकलुप्तोपमा, २ धर्मलुप्तोपमा, ३. उपमेयलुप्तोपमा, ४ उपमान-लुप्तोपमा, ५. वाचकधर्मलुप्तोपमा, ६ धर्मोपमानलुप्तोपमा, ७ धर्मोपमेय-लुप्तोपमा और १० वाचकधर्मोपमानलुप्तोपमा।

१. वाचकलुप्तोपमा जब उपमा के चार अंगों में से 'वाचक' का लोप हो तथा शेष तीन अंग विद्यमान हों, तब 'वाचकलुप्तोपमा' अलंकार होता है।

उदाहरण :

सरद बिमल बिधु बदनु सुहावन ।[६]

यहाँ 'बिधु' उपमान, 'बदन' उपमेय और 'सुहावन' साधारण धर्म है, वाचक का लोप है, अतः 'वाचकलुप्तोपमा' अलंकार है।

'वाचकलुप्तोपमा' के अन्य उदाहरण

(१) नील सरोरुह स्याम तरुन अरुन बारिज नयन ![७]

(२) सरदमयंक बदन छवि सींवाँ ।[८]

---

१. रामचरितमानस, १।१०।६
२. रामचरितमानस, १।५८।४
३. रामचरितमानस, १।१४७।८
४. पंचवटी, ५६
५. कामायनी, पृ० १५३
६. रामचरितमानस, १।३१६।१
७. रामचरितमानस, १।१।२१
८. रामचरितमानस, १।१४७।१

(३) नव प्रबुज अंबरछवि नीवी ।[1]

(४) अमल सजल घनस्याम दुति, तड़ित पीतपट चारु ।
चढ़ बिमल मुख-हरि निरखि, कुल की काहि सँभारु ।।[2]

(५) तापस बाला गंगा निर्मल ।[3]

२ धर्मलुप्तोपमा जब साधारण धर्म का लोप तथा शेष तीन अंगों का उल्लेख हो, तब 'धर्मलुप्तोपमा' अलंकार होता है ।

उदाहरण

कुंद इंदु सम देह ।[4]

यहाँ 'कुंद इंदु' उपमान है, 'देह' उपमेय है और 'सम' वाचक है, साधारण धर्म का लोप होने के कारण 'धर्मलुप्तोपमा' है ।

'धर्मलुप्तोपमा' के अन्य उदाहरण

(१) रामसीय जस सलिल सुधा सम ।[5]

(२) रामकथा ससि किरन समाना ।[6]

(३) हरषि सुधा सम गिरा उचारी ।[7]

(४) श्रवन सुधासम बचन मुनि ।[8]

(५) देखि कज से बदन पर, दृग खजन से दास ।
पायो बचनबेलि सी वनिता-मग बिलास ।।[9]

(६) बिजुरी-सी पंकजमुखी ।[10]

(७) वह सिंहनाद के से धनवाला कहाँ है ।[11]

(८) तापस बाला सी गंगा ।[12]

३ उपमेयलुप्तोपमा उपमेय का लोप होने पर 'उपमेयलुप्तोपमा' होती है ।

---

१. रामचरितमानस, ११६७।३
२. काव्यनिर्णय ८।२४ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ७१)
३ ग्रन्थिपंक्तिका (नौकाविहार—सुमित्रानंदन पंत), पृ० ७८
४. रामचरितमानस, १।१।२३
५. रामचरितमानस, १।३३।३
६. रामचरितमानस, १।४३।३
७ रामचरितमानस, १।११२।५
८. रामचरितमानस, १।१४५।६
९. काव्यनिर्णय, ८।२२ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ७१)
१०. मतिराम, ४५
११. प्रियप्रवास, ७।१४
१२. ग्रन्थिपंक्तिका (नौकाविहार—सुमित्रानंदन पंत), पृ० ७८ की दोनों पंक्ति के आधार पर ।

उदाहरण :

चंचल हैं ज्यों मीन अरुनारे पंकज सरिस ।[1]

यहाँ 'चंचल हैं ज्यों मीन' तथा 'अरुनारे पंकज सरिस' इन दोनों ही वाक्यों में उपमेय (नेत्र) का लोप है, अतः 'उपमेयलुप्तोपमा' अलंकार है ।

'उपमेयलुप्तोपमा' के अन्य उदाहरण :

(१) रामलखन सम प्रिय तुलसी के ।[2]

(२) नर नारायन सरिस सुभ्राता ।[3]

(३) बंध्यो कीर मर्कट की नाईं ।[4]

(४) जपा पुहुप से अरुनमैं, मुकुतावलि से स्वच्छ ।
मधुर सुधा सी कढनि है, तिनमें दास प्रतच्छ ॥[5]

(५) अति उत्तम ज्यों चन्द ॥[6]

(६) पड़ी थी बिजली-सी विकराल ।[7]

४. उपमानलुप्तोपमा : उपमान के लोप होने पर तथा अन्य तीन अंगों (उपमेय, साधारण धर्म और वाचक) का वर्णन होने पर 'उपमानलुप्तोपमा' होती है ।

उदाहरण :

सुन्दर नन्दकिसोर सो, जग में मिलै न और ।[8]

यहाँ 'सुन्दर' साधारण धर्म, 'नंदकिसोर' उपमेय और 'सो' वाचक है, उपमान का लोप 'जग में मिलै न और' शब्दों द्वारा हुआ है । इस प्रकार यहाँ 'उपमानलुप्तोपमा' है । इसी प्रकार निम्नांकित पंक्ति में भी 'उपमान-लुप्तोपमा' है :

तेहि सम नहिं प्रतिभट जग आना ।[9]

५. वाचकधर्मलुप्तोपमा : जब उपमेय और उपमान का उल्लेख हो और साधारण धर्म तथा वाचक का लोप हो, तब 'वाचकधर्मलुप्तोपमा' अलंकार होता है ।

---

१. अलंकार-मंजूषा पृ० ५२
२. रामचरितमानस, १।२०।३
३. रामचरितमानस, १।२०।४
४. रामचरितमानस, ७।११७।३
५. काव्यनिर्णय, ८।२५ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ७२)
६. पद्माभरण, १२ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० १४)
७. साकेत (द्वितीय सर्ग), पृ० ६१
८. काव्यनिर्णय, ८।२३ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ७१)
९. अलंकार-मंजूषा, पृ० ५२ (रामचरितमानस, १।१८०।३ के आधार पर)

८. वाचकोपमेयलुप्तोपमा : उपमेय और वाचक का लोप होने पर 'वाचकोपमेयलुप्तोपमा' होती है।[1]

उदाहरण :

अटा उदित होनो भयो, छबिधर पूरन चंद।[2]

यहां 'पूरन चंद' से उपमान और 'छबिधर' से साधारण धर्म की अभिव्यक्ति होती है, उपमेय और वाचक का लोप है, अतः 'वाचकोपमेयलुप्तोपमा' है।

इसी प्रकार 'चपल चचला देखु'[3] में भी 'वाचकोपमेयलुप्तोपमा' अलंकार है।

९. वाचकोपमानलुप्तोपमा : उपमेय और साधारण धर्म का उल्लेख तथा उपमान और वाचक का लोप होने पर 'वाचकोपमानलुप्तोपमा' होती है।

उदाहरण :

अरुन नयन उर बाहु बिसाला।[4]

यहां 'अरुन नयन' और 'उर बाहु बिसाला' इन दोनों में पृथक्-पृथक् रूप से यह अलंकार है। 'अरुन' से साधारण धर्म और 'नयन' से उपमेय की अभिव्यक्ति है, उपमान और वाचक का लोप है। इसी प्रकार 'उर बाहु बिसाला' में 'उर बाहु' उपमेय और 'बिसाला' साधारण धर्म है, शेष दो अंगों (उपमान और वाचक) का लोप है, अतः 'वाचकोपमानलुप्तोपमा' अलंकार है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण :

(१) मूरति मधुर मनोहर देखी।[5]

(२) बिनवति चारु भारमनु हरनी।[6]

(३) सुनि केवट के बयन प्रेम लपेटे अटपटे।[7]

(४) हिय सियरावें बदन-छबि, रस बरसावें बेन।[8]

१०. वाचकधर्मोपमानलुप्तोपमा : इस अलंकार में केवल उपमेय का उल्लेख होता है, शेष तीनों अंगों का लोप होता है।

---

१. वाचक अरु उपमेय लुप चपल चचला देखु। —पद्माभरण, १५
२. अलंकार-मंजूषा, पृ० ५४
३. पद्माभरण, १५
४. रामचरितमानस, १।२०६।१
५. रामचरितमानस, १।२१५।८
६. रामचरितमानस, १।२४३।२
७. रामचरितमानस, २।१००।१३
८. काव्यनिर्णय, ८।२७ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ७२)

उदाहरण

अति अनूप जहँ जनक-निवासू ।[1]

यहाँ 'जनक-निवासू' उपमेय है, शेष तीनों अंगों का लोप है जो 'अनूप' शब्द से अभिव्यक्त हुआ है, अतः यहाँ 'वाचकधर्मोपमानलुप्तोपमा' अलंकार है।

मालोपमा

जब एक उपमेय के अनेक उपमानों का वर्णन हो, तब 'मालोपमा' (माला + उपमा) नामक अलंकार होता है।[2] इसके दो भेद हैं १ भिन्न-धर्मा, २ एकधर्मा।

१ भिन्नधर्मा मालोपमा जब एक उपमेय के अनेक उपमान भिन्न-भिन्न साधारण धर्मों वाले हों, तब 'भिन्नधर्मा मालोपमा' होती है।

उदाहरण

कार्तिकेय सम शूर, देवताओं के गुरु सम ज्ञानी,
रवि-सम तेजवन्त, सुरपति के सदृश प्रतापी, मानी;
धनद-सदृश सग्रही, व्योमवत् मुक्त, जलद निभ त्यागी,
कुसुम-सदृश मधुमय, मनोज्ञ, कुसुमायुध-से अनुरागी।[3]

इन पंक्तियों में राजा पुरूरवा रूप उपमेय के निमित्त कार्तिकेय, बृहस्पति आदि अनेक उपमानों का भिन्न भिन्न धर्मों में विधान हुआ है; अतः यहाँ 'भिन्नधर्मा मालोपमा' है।

'भिन्नधर्मा मालोपमा' के अन्य उदाहरण :

(१) बदौं खल जस सेष सरोषा। सहस बदन बरनइ पर दोषा॥
पुनि प्रनवौं पृथुराज समाना। पर अघ सुनइ सहस दस काना॥
बहुरि सक्र सम बिनवौं तेही। संतत सुरानीक हित जेही॥
बचन बज्र जेहि सदा पिआरा। सहस नयन परदोष निहारा॥[4]

(२) मरकत से द्युतिवन्त हैं, रेशम से मृदु वाम।
निकट सहोन सुनार से, अच काजर से स्याम॥[5]

(३) सफरी से चंचल घने, मृग से पीन सुऐन।
कमलपत्र से चारु ये, राधेजू के नैन॥[6]

---

१ रामचरितमानस, १।२१३।३

२ (क) मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते। —साहित्यदर्पण, १०।२६
(ख) मालोपम उपमेय इक जाके बहु उपमान। —पद्माभरण, २२

३ उर्वशी (द्वितीय अंक), पृ० ३६

४ रामचरितमानस, १।४।८ ११

५ अलंकार-मंजूषा, पृ० ५६

६. अलंकार-मंजूषा, पृ० ५६

(४) वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव मे लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है ॥[1]

२. एकधर्मा मालोपमा : जब एक उपमेय के अनेक उपमानो का एक ही साधारण धर्म कहा जाय, तब 'एकधर्मा मालोपमा' होती है, यथा

लाल-लाल वे चरण कमल-से, कुंकुम-से, जावक-से ।[2]

यहाँ 'चरण' उपमेय और 'कमल', कुंकुम' तथा 'जावक' उपमान हैं जिनका एक ही धर्म 'लालिमा' है । इस प्रकार यह 'एकधर्मा मालोपमा' का उदाहरण हुआ ।

'एकधर्मा मालोपमा' के अन्य उदाहरण

(१) जिमि भानु बिनु दिनु प्रान बिनु तनु चंद बिनु जिमि जामिनी ।
तिमि अवध तुलसीदास प्रभु बिनु समुझि धौं जियँ भामिनी ।।[3]

(२) इंद्र जिमि जंभ पर बाड़व सुअंभ पर,
रावन सदंभ पर रघुकुल राज है ।
पौन बारिबाह पर संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहसबाह पर राम द्विजराज है ॥
दावा द्रुमदंड पर चीता मृगझुंड पर,
भूषन बितुंड पर जैसे मृगराज है ।
तेज तम अंस पर कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलिच्छ बंस पर सेर सिवराज है ।।[4]

(३) खंजरीट-मृग-मीन-से, ब्रजबनितन के नैन ।[5]

रसनोपमा

जब उपमालंकारो की किसी शृंखला मे पहला उपमेय उत्तरोत्तर उपमान होता जाय, तो वहाँ 'रसनोपमा' (रसना + उपमा) होती है,[6] जैसे :

---

१. परिमल (विधवा—निराला), पृ० ११९
२. उर्वशी (प्रथम अंक), पृ० २४
३. रामचरितमानस, २।५०।११-१२
४. शिवराजभूषण, ५६ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० १७)
५. ललितललाम, ५० (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३५७)
६ (क) "कथिता रसनोपमा ।
यथोर्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता ॥ —साहित्यदर्पण, १०।२५
(ख) रसनोपम उपमेय जहँ, होत जात उपमान । —पद्माभरण, २४

मति सी नति, नति सी विनति, विनती सी रति चाह।
रति सी गति, गति सी भगति, तो मैं पवनकुमार ॥[1]

यहाँ पहले 'नति' उपमेय और 'मति' उपमान है, दूसरी उपमा में यही 'नति' शब्द उपमान हो गया। इसी प्रकार 'विनती' 'रति,' 'गति,' आदि शब्द पहले उपमेय तथा बाद में उपमान हो गये हैं, इस प्रकार यहाँ उपमाओं की शृंखला है, अत 'रसनोपमा' अलंकार है।

'रसनोपमा' के अन्य उदाहरण

(१) बच सी माधुरि मूरती, मूरति सी कलकीति।
कीरति सौं सब जगत में, छाय रही तव नीति ॥[2]

(२) मुकुर सम बिधु, बिधु सरिस मुख, मुख समान सरोज।[3]

(३) सुभ सरूप के सम सुमति सुमति-सरिस गुन-ज्ञान।[4]

(४) सुगुन-ज्ञान सम उद्यमहु उद्यम-सम फल जान॥
फल समान पुनि दान है दान सरिस सनमान॥[5]

ललितोपमा

जब उपमा अलंकार में सामान्य वाचक शब्दों (जिमि, इव, ज्यों, सम, से, सरिस आदि) के स्थान में लीलादिक पद (बहसत, निदरत, हँसत, अनुहरत, शत्रु, मित्र आदि शब्द) आवें, तब उस उपमा को 'ललितोपमा' कहते हैं।[6]

उदाहरण

ऐसो ऊँचो दुरग महाबली को जामें नखत—
तावली सों बहस दिपावली करति है।[7]

'शिवाजी के ऊँचे किले के दीपकों की श्रेणियाँ नक्षत्रावलि से बहस कर रही हैं,' इस उक्ति में 'ललितोपमा' है।

---

१. अलंकार-मंजूषा, पृ० ६३
२ अलंकार-मंजूषा, पृ० ६३
३. अलंकार-मंजूषा, पृ० ६३
४ पद्माभरण, २४ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ३५)
५ पद्माभरण, २५ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ३५)
६. जहँ समता को दुहुन की लीलादिक पद होत।
ताहि कहत ललितोपमा सकल कविन के गोत॥
बिहसत, निदरत, हँसत जहँ छबि अनुसरत बखानि॥
शत्रु मित्र इमि औरऊ लीलादिक पद जानि॥
—शिवराजभूषण, ५७, ५८ (भूषणग्रंथावली, पृ० १७)
७ शिवराजभूषण, ५९ (भूषणग्रंथावली, पृ० १७)

समुच्चयोपमा

जब उपमेय और उपमान की समता के लिए अनेक साधारण धर्मों का प्रयोग हो, तब 'समुच्चयोपमा' होती है।

उदाहरण :

चंपक-कलिका सी अहै, रूप रंग अरु बास।[1]

यहाँ किसी नायिका की समता चंपक की कली से की गयी है तथा अनेक धर्मों (रूप, रंग और सुगन्धि) का आश्रय लिया गया है, अत यह 'समुच्चयोपमा' का उदाहरण है।

अनन्वय

जहाँ एक ही वस्तु उपमान और उपमेय दोनो हो, वहाँ 'अनन्वय' अलंकार होता है।[2] इसे 'अनन्वयोपमा' भी कहते हैं।

उदाहरण .

निरवधि गुन निरुपम पुरुषु भरतु भरत सम जानि।[3]

यहाँ भरत उपमेय और उपमान दोनो हैं, अत यहाँ 'अनन्वय' अलंकार हुआ।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण :

(१) उपमा न कोउ कह दास तुलसी कतहु कवि कोबिद कहैं।
बल बिनय बिद्या सील सोभा सिंधु इन्ह से एइ अहैं॥[4]

(२) लही न कतहु हारि हिय मानी। इन्ह सम एइ उपमा उर आनी॥[5]

(३) स्वामि गोसाईंहि सरिस गोसाईं। मोहि समान मैं साइँदोहाई॥[6]

(४) करम बचन मानस बिमल तुम्ह समान तुम्ह तात॥[7]

---

१ अलंकार-मंजूषा, पृ० ६२

२ (क) एकस्योपमेयत्वोपमानत्वेऽनन्वय ।—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ४।३।१४
(ख) उपमानोपमेयत्वे एकस्यैवैकवाक्यगे।
अनन्वय । —काव्यप्रकाश, १०।१३५ सू०
(ग) उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वय ॥ —साहित्यदर्पण, १०।२६
(घ) उपमानोपमेयत्व यदेकस्यैव वस्तुन ।
इन्दुरिन्दुरिव श्रीमानित्यादौ तदनन्वय ॥ —कुवलयानंद, १०

३ रामचरितमानस, २।२८७।६

४. रामचरितमानस, १।३११।६-१०

५. रामचरितमानस, १।३२०।३

६. रामचरितमानस, २।२६७।४

७. रामचरितमानस, २।३०३।६

(५) निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहै ।[1]
(६) आजु गरीबनेवाज मही पर तो सो तुही सिवराज बिराजै ॥[2]
(७) सुन्दर नंदकिसोर सो, सुन्दर नंदकिसोर ।[3]
(८) दायियो सही प्रसव की पीडा,
जब तूने अयि मातृमही,
तब यह एक लाल पाया था,
हाँ, अपना-सा आप यही ।[4]

उपमेयोपमा

जहाँ उपमेय और उपमान दोनों अलग-अलग रूप में एक दूसरे के उपमानोपमेय हों, वहाँ 'उपमेयोपमा' अलंकार होता है ।[5]

उदाहरण :

साहि के सपूत सिव साहि दानि ! तेरो,
कर सुरतरु सोहै, सुरतरु तेरे कर सो ॥[6]

यहाँ कर (हाथ) और सुरतरु (कल्पवृक्ष) परस्पर एक दूसरे के उपमेय और उपमान हैं, अतः 'उपमेयोपमा' अलंकार है ।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) भूपर भाऊ भुवप्पति को मन सो कर औ कर सो मन ऊँचो ॥[7]
(२) तरलनयनि तुअ कचनि से, स्याम तामरस-तार ।
स्याम तामरस-तार से, तेरे कच सुकुमार ॥[8]

---

१ रामचरितमानस, ७।६२।६
२ शिवराजभूषण, ४० (भूषण-ग्रंथावली, पृ० १३)
३. काव्यनिर्णय, ८।३२ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ७३)
४ अंजलि और अर्घ्य (मैथिलीशरण गुप्त), पृ० १०
५. (क) विपर्यास उपमेयोपमा तयोः । —काव्यप्रकाश, १०।१३६ सू०
(ख) पर्यायेण द्वयोरेतदुपमेयोपमा मता । —साहित्यदर्पण, १०।२७
(ग) पर्यायेण द्वयोस्तच्चेदुपमेयोपमा मता ।
धर्मोऽर्थ इव पूर्णश्रीरर्थो धर्म इव त्वयि ॥ —कुवलयानंद, ११
(घ) उपमा लागै परस्पर, सो उपमानुपमेय ।
खंजन हैं तुव नैन-से, तुव दृग खंजन-मेय ॥ —भाषाभूषण, ४७
(ङ) उपमेयोपम परस्पर उपमेयहू उपमान ।
वचन अमृत सो अति मधुर, अमृतहू वचन समान ॥
—पद्माभरण, ७३ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० २५)
६. शिवराजभूषण, ५४ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० १६)
७. ललितललाम, ५६ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३५८)
८. काव्यनिर्णय, ८।३३ (भिखारीदास ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ७३)

(३) ससि-सौ मुख, मुख-सौ ससी सौ उपमा-उपमेइ ।[1]
(४) राम के समान शंभु, शंभु सम राम हैं ।[2]
(५) रमणी-मुख शशि तुल्य है, शशि रमणी-मुख तुल्य ।[3]
(६) दशरथ जनक समान हैं, जनक सदृश दशरथ नृपति ।[4]
(७) औधपुरी अमरावती सी, अमरावती औधपुरी सी बिराजै ।[5]

प्रतीप

प्रतीप : (प्रति+अप्+अच्, अप ईप् च[6]) का अर्थ है उलटा। इस अलंकार में प्रसिद्ध उपमान को उपमेय बनाया जाता है अथवा उसकी व्यर्थता सिद्ध की जाती है। उपमा के अंगों के उलट-फेर होने के कारण ही इसे 'प्रतीप' कहा जाता है।[7] इसके पांच मुख्य भेद माने गये हैं

१. प्रथम प्रतीप : जब उपमान को उपमेय के रूप में वर्णित किया जाय, तब वहाँ 'प्रथम प्रतीप' अलंकार होता है।[8]

उदाहरण :

उतरि नहाये जमुनजल जो सरीर सम स्याम ॥[9]

यहां कहा गया है कि वन-गमन-मार्ग में राम ने उस यमुना के जल में

---

१. काव्यनिर्णय, पृ० ५१
२ काव्यप्रदीप, पृ० १४१
३. अलंकारप्रदीप, पृ० ११८
४. काव्यप्रदीप, पृ० १४१
५ लछिराम (काव्यप्रदीप, पृ० १४१ पर उद्धृत)
६. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ६५८
७ (क) आक्षेप उपमानस्य प्रतीपमुपमेयता।
तस्यैव यदि वा कल्प्या तिरस्कारनिबन्धनम् ॥
—काव्यप्रकाश, १०।१३३ (सू० २०१)
(ख) प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ।
निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते ॥
—साहित्यदर्पण, १०।८७, ८८
८. (क) प्रतीपमुपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ।
त्वल्लोचनसमं पद्मं त्वद्वक्त्रसदृशो विधुः ॥ —कुवलयानंद, १२
(ख) सो प्रतीप उपमेय को, कीजै जब उपमानु।
लोयन-से अम्बुज बने, मुख-सो चन्द बखानु ॥
—भाषाभूषण, ४८
(ग) सो प्रतीप उपमान कों, जहं कीजै उपमेय। —पद्माभरण, २८
९. रामचरितमानस, २।१०९।१०

स्थान लिया जो उनके शरीर के समान श्याम वर्ण का है। इस प्रकार उपमान (जनुनदन) को उपमेय तथा उपमेय (राम का श्याम वर्ण का शरीर) को उपमान के रूप में वर्णित किया गया है, अतः 'प्रथम प्रतीप' अलंकार है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) तुव प्रताप सम सूर है जस सम सोहत चंद।
तरु सम कहियतु कल्पतरु, जय जय श्री रघुनंद॥[1]

(२) सौंहि देत आनंद है वा मुख सो यह चंद।[2]

(३) मुख-सो सोभित सरद-ससि कमल सुलोचन-सेन॥[3]

(४) मैंदिलो आनन से अरविंद कलाधर आरसो जानि परै है॥[4]

(५) उसी तपस्वी से लम्बे थे देवदार दो चार खड़े॥[5]

२. द्वितीय प्रतीप — जहाँ उपमान को उपमेय से कुछ कमतर कहा जाए तथा उपमान से उपमेय का निरादर किया जाए वहाँ 'द्वितीय प्रतीप' अलंकार होता है।[6]

उदाहरण

गरब करहु रघुनन्दन जनि मन माहँ।
देखहु आपनि मूरति सिय कै छाहँ॥[7]

यहाँ उपमेय (रघुनन्दन) का उपमान (सीता की छाया) से घटकर कहा गया है, अतः यहाँ 'द्वितीय प्रतीप' है।

---

१ अलंकार प्रदीप, पृ० ११६
२ काव्यदर्पण (पं० दुर्गादत्त), पृ० ८६
३. पद्माभरण, ८८ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ३६)
४. लछिराम (अलंकार मंजूषा, पृ० ६८ पर उद्धृत)
५ कामायनी (चिन्ता सर्ग), पृ० ३
६ (क) अन्योपमेयलाभेन वर्ण्यस्यानादरश्च तत्।
अलं गर्वेण ते वक्त्र! कान्त्या चन्द्रोऽपि तादृशः॥
—कुवलयानंद, १३
(ख) उपमेय को उपमान तें, आदर जबै न होइ।
गरब करति मुख को कहा, चंदहि नीकै जोइ॥
—भाषाभूषण, ४६
(ग) अनआदर उपमान तें जु उपमेय को होत।
तैन गरबु तुम निज रूप को बहु मदनगात॥
—पद्माभरण, २६ (पद्माकर-ग्रन्थावली, पृ० ३६)
७ बरवै रामायण, १८

इस अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) का घूँघट मुख मूदहु नवला नारि।
चाँद सरग पर सोहत यहि अनुहारि ॥[1]

(२) महाराज रघुराजजू, कीजैं कहा गुमान।
दंड कोस दल के धनी, सरसिज तुम्हैं समान ॥[2]

(३) शिव ! प्रताप तव तरनि सम, अरि पानिप हर मूल।
गरब करत केहि हेत है, बड़वानल तो तूल ॥[3]

(४) प्रकृति माधुरी पर कहा, गर्व तोहि कसमीर।
नन्दन बन तो सम अहै, सोहत परम गंभीर ॥[4]

(५) करती तू निज रूप का गर्व यही अविवेक।
रमा, उमा, शचि, शारदा तेरे सदृश अनेक ॥[5]

३- तृतीय प्रतीप जब उपमेय से उपमान में कुछ हीनता बतलाकर उसका (उपमान का) अनादर किया जाय, तब 'तृतीय प्रतीप' अलकार होता है।[6]

उदाहरण

गरब करत कत चाँदनी हीरक छीर समान।
फैली इती समाजगत कीरति सिवा खुमान ॥[7]

यहाँ उपमान (चाँदनी) का निरादर करके उपमेय (शिवाजी की कीर्ति) को उससे श्रेष्ठ कहा गया है। अत यहाँ 'तृतीय प्रतीप' है।

इस अलकार के अन्य उदाहरण

(१) जलधर छोडि गुमान कौं, हौं ही जीवन-दानि।
तोसो ही पानिप भर्यौ, भावसिंह को पानि ॥[8]

(२) करत गर्व तू कल्पतरु, बड़ी सो तेरी भूल।
या प्रभु की नीकी नजर, लखि तेरे ही तूल ॥[9]

---

१ बरवै रामायण, १७

२ काव्य-निर्णय, ८।३८ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ७४)

३. शिवराजभूषण, ४४ (भूषण-ग्रथावली, पृ० १४)

४. अलकार-प्रदीप, पृ० १२२

५. अलकार-प्रदीप, पृ० १२२

६ (क) वर्ण्योपमेयलाभेन तथान्यस्याप्यनादर ।
क शौर्यदर्पस्ते मृत्यो ! त्वत्तुल्या सन्ति हि स्त्रिय ॥
—कुवलयानद, १४

(ग) अनआदर उपमेय तें, जब पावै उपमान।
तीछन नैन कटाच्छ तें, मन्द काम के बान ॥ —भाषाभूषण, ५०

७ शिवराजभूषण, ४६ (भूषण-ग्रथावली, पृ० १४)

८ ललितललाम, ६२ (मतिराम-ग्रथावली, पृ० ३६०)

६. अलकार-मजूषा, पृ० ६६

(३) मान महोदनि के मन भाये,
तौं लघु कौंवर सी कनराचत ।[1]

(४) करता है तू व्यर्थ गर्व यदि, अपने मन में ।
देखो तेरे सदृश कठिनता दुष्ट वचन में ॥[2]

(५) सुछवि-गरब मनि वर कमल यों वनितन के नैन ।[3]

४ चतुर्थ प्रतीप इस अलंकार में उपमेय के सामने उपमान की अनोखता दिखाई जाती है।[4]

उदाहरण

केसरि कें सरि क्यों सकै, चंपक कितक अनूप ।
गातरूप लखि जात दुरि, जातरूप को रूप ॥[5]

यहाँ नायिका का शरीर (गातरूप) उपमेय है और केसर, चंपा और जात-रूप (सोना) उपमान है जो उपमेय की समता करने में असमर्थ हैं, अतः 'चतुर्थ प्रतीप' अलंकार है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) बहुरि विचार कीन्ह मन माहीं । सीयबदन सम हिमकर नाहीं ॥[6]

(२) तुव मुख के सम हूँ मयन कहा विचारो चंद ।[7]

(३) राम रावरे वदन की सरवरि करत मयंक ।
ते कविजन झूठे जगत, लखि मलीन सकलंक ॥[8]

---

१ अलंकार-मंजूषा, पृ० ७०

२ काव्यप्रदीप, पृ० १४८

३. पद्माभरण, ३० (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ३६)

४ (क) वर्ण्यनाऽन्यस्योपमाना अनिष्पत्तिवचश्च तत् ।
मुखस्याग्रे सुधांशो ! इन्दुनाभ किलाम्बुजम् ॥

—कुवलयानंद, १२

(ख) उपमेय की उपमान जब, समता-लायक नाहिं ।
अति उत्तम दृग, मीन-से कहे कौन विधि जाहिं ॥

—भाषाभूषण, ४१

(ग) जु उपमान उपमेय को समता-जोग न होय ।
तुव सुंदर मुख सो ससिहि कहौं कहै कवि-लोय ॥

—पद्माभरण, ३१ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ३६)

५. त्रिभंगी-वाटिका, ११६

६ रामचरितमानस, १।२३१।८

७ अलंकार मंजूषा, पृ० ७०

८. काव्यकल्प कौमुदी (तृतीय कला), पृ० १०२

(४) तुव सु दर मुख सो ससिहि क्यों भावै कवि-गोत ।।[1]

(५) इन दशनो-अधरो के आगे क्या मुक्ता हैं, विद्रु म क्या ?[2]

५. पचम प्रतीप : जब उपमेय के रहते हुए उपमान की व्यर्थता सिद्ध की जाय, तब 'पचम प्रतीप' होता है ।[3]

उदाहरण

कल्पबृक्ष केहि काम को, जब हैं नृप जसवंत ।[4]

यहाँ उपमेय (नृप जसवत) के सामने उपमान (कल्पवृक्ष) को व्यर्थ कहा गया है, अत 'पचम प्रतीप' है ।

'पचम प्रतीप' के अन्य उदाहरण

(१) राव भावसिहजू के दान की बड़ाई देखि,
कहा कामधेनु है, कछू न सुरतरु है ।[5]

(२) जहाँ प्रिया-आनन उदित, निसि-वासर सानद ।
तहाँ कहा अरबिन्द है, कहा बापुरो चंद ।।[6]

(३) प्रभाकरन तमगुनहरन, धरन सहसकर राजु ।
तव प्रताप ही जगत में, कहा भानु को काजु ।।[7]

(४) जगत तपे तव ताप से, क्या दिनकर का काम ।
तेरा यश शीतल सुखद, फिर सुधाशु बेकाम ।।[8]

रूपक

रूपक (रूप्+ण्वुल् अथवा रूप्+कन्) के कोशगत अर्थ हैं आकृति, कोई वर्णन, चिह्न, प्रकार या जाति, नाट्यकृति आदि ।[9] अलकारशास्त्र मे

---

१. पद्माभरण, ३१ (पद्माकर-ग्रथावली, पृ० ३६)

२. पचवटी, ८७

३ (क) प्रतीपमुपमानस्य कैमर्थ्यमपि मन्वते ।
दृष्टं चेद् वदनं तस्याः किं पद्मेन किमिन्दुना ।। —कुवलयानद, १६

(ख) व्यर्थ होय उपमान जब, वर्ननीय लखि सार ।
दृग-आगे मृग कछु न, ये पच प्रतीप-प्रकार ।। —भाषाभूषण, ५२

(ग) लखि उपमेयहि को जहाँ वृथा होत उपमान ।
कछु न कजल लखि वदन, यों पचमप्रतीप प्रमान ।। —पद्माभरण, ३२

४ अलकार-मजूषा, पृ० ७१

५ ललितललाम, ६६ (मतिराम-ग्रथावली), पृ० ३६१

६. काव्य-निर्णय, ८।४५ (भिखारीदास-ग्रथावली, पृ० ७५)

७. काव्य-निर्णय, ८।४६ (भिखारीदास-ग्रथावली, पृ० ७५)

८. अलकार-प्रदीप, १२१

९ सस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ८६१

जब उपमेय पर उपमान का आरोप किया जाय, तब 'रूपक अलंकार' होता है।[1] उदाहरण

चरन-कमल बंदौं हरिराइ।[2]

यहाँ चरण और कमल में अभेद है, चरण (उपमेय) पर कमल (उपमान) का आरोप हुआ है, अतः 'रूपक' है।

इस अलंकार में उपमेय और उपमान दोनों में अभेद स्थापित किया जाता है। 'रूपक' के मुख्यतः दो भेद हैं: १ अभेद रूपक, २ ताद्रूप्य रूपक। इनमें से प्रत्येक के तीन भेद हैं: १ सम, २ अधिक और ३ न्यून। इनमें भी सम अभेद रूपक के पुनः तीन भेद हैं: १ साङ्ग या सावयव, २ निरंग या निरवयव तथा ३ परंपरित। इनमें से प्रत्येक के दो-दो भेद हैं। सांग के दो भेद हैं: १ समस्तवस्तुविषयक और २ एकदेशविवर्ति, निरंग के दो भेद हैं: १ शुद्ध और २ मालारूप तथा परंपरित के दो भेद हैं: १ श्लिष्ट और २ भिन्न या अश्लिष्ट। कहीं कहीं परंपरित के दो और भेद भी कहे गये हैं: १ केवलरूप और २ मालारूप। रूपक के उपर्युक्त समस्त भेद निम्नांकित सारिणी से प्रकट किये जा सकते हैं:
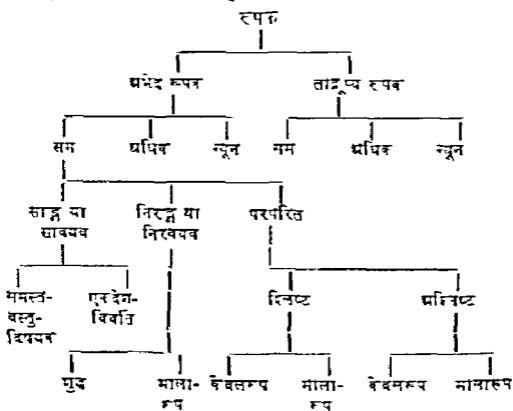
१. (क) उपमानोपमेयस्य गुणसाम्यात्तत्त्वारोपो रूपकम्।

—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ४।३।६

(ख) तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।

—काव्यप्रकाश, १०।९३ (सू० १३९)

२. सूरसागर, १।१ (मंगलाचरण)

अभेद रूपक : उपमेय में अभेदरूप से उपमान के आरोप किये जाने को 'अभेद रूपक' कहते हैं; जैसे : मुखचंद्र।

ऊपर कहा जा चुका है कि 'अभेद' के तीन भेद हैं १ सम २ अधिक और ३. न्यून। इनमें भी सम के तीन भेद हैं १ सांग, २ निरंग और ३. परंपरित।[1] अतः इसी क्रम से इनका विवेचन अपेक्षित है।

१. सम अभेद रूपक

साङ्ग रूपक : जब उपमेय पर उपमान का आरोप अंगों सहित किया जाय, तब 'सांग रूपक' होता है। इसके भी दो भेद हैं १ समस्तवस्तुविषयक सांग-रूपक और २. एकदेशविवर्तिसांगरूपक।[2] जब सभी आरोपों का शब्दों द्वारा कथन किया जाता है, तब 'समस्तवस्तुविषयक सांग रूपक' और जब केवल कुछ अंगों के आरोप का उल्लेख हो, शेष का अध्याहार करना पड़े, तब 'एकदेशविवर्तिसांगरूपक' होता है।

१. समस्तवस्तुविषयक सांगरूपक :

उदित उदयगिरि मंच पर रघुबर बालपतंग।
बिकसे संत सरोज सब हरषे लोचन भृंग॥
नृपन्ह केरि आसा निसि नासी। बचन नखत अवली न प्रकासी॥
मानी महिप कुमुद सकुचाने। कपटी भूप उलूक लुकाने॥
भये बिसोक कोक मुनि देवा। बरिसहिं सुमन जनावहिं सेवा॥[3]

रामचरितमानस की इन पंक्तियों में उपमेय (राम) पर उपमान (बाल-पतंग—प्रातःकालीन सूर्य) का आरोप सभी अंगों सहित हुआ है, अतः यहाँ 'समस्तवस्तुविषयक सांगरूपक' है।

२. एकदेशविवर्तिसांगरूपक :

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहि बाट॥[4]

हनुमान् द्वारा राम के सम्मुख सीता की दशा का वर्णन करने वाले इस दोहे में नाम-पाहरू, ध्यान-कपाट तथा लोचन-जंत्रित का वर्णन तो है किन्तु प्राण-बन्दी का उल्लेख नहीं हुआ, इनका अध्याहार करना पड़ता है। अतः यहाँ 'एकदेशविवर्तिसांगरूपक' है।

---

१. तत्परम्परितं साङ्गं निरङ्गमिति च त्रिधा। —साहित्यदर्पण, १०।२८
२. अङ्गिनो यदि साङ्गस्य रूपणं साङ्गमेव तत्।
समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च। —साहित्यदर्पण, १०।३०, ३१
३. रामचरितमानस, १।२५४।६-१।२५५।३
४. रामचरितमानस, ५।३०।६-१०

'सांगरूपक' के कुछ अन्य उदाहरण :

(१) रनित भृंग घंटावली, झरत दान मधुनीर ।
मंद मंद आवत चल्यो, कुंजर कुंजसमीर ॥[1]

(२) कामना-सिन्धु लहराता,
छवि पूरनिमा थी छाई ।
रत्नाकर बनी चमकती
मेरे शशि की परछाई ।[2]

(३) जिनके कष्ट-कण्टकों में है
जिनका जीवन-सुमन खिला,
गौरव-गन्ध उन्हें उतना ही
अत्र, तत्र, सर्वत्र मिला ॥[3]

(४) बीती विभावरी जाग री ।
अम्बर पनघट में डुबो रही—
तारा-घट ऊषा नागरी ।
खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा,
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो यह लतिका भी भर लाई—
मधु मुकुल नवल रस गागरी ।[4]

(५) है अयोध्या अवनि की अमरावती,
इन्द्र हैं दशरथ विदित वीरव्रती,
वैजयन्त विशाल उनके धाम हैं,
और नन्दन वन बने आराम हैं ।[5]

निरंग रूपक—जब अंगों सहित आरोप न होकर एक वस्तु का एक ही पर आरोप हो, तब 'निरंग रूपक' होता है ।[6]

उदाहरण :

बंदौं चरन-सरोज तिहारे ।[7]

यहाँ केवल चरण पर कमल का आरोप होने से, अंगों का आरोप न होने

---

१. बिहारी-बोधिनी, ५६०
२. आँसू, पृ० २३
३. पंचवटी, ३०
४. लहर, पृ० १६
५. साकेत (प्रथम सर्ग) पृ० २२
६. (क) निरंगन्तु शुद्धम् । —काव्यप्रकाश, १०।६४ (सू० १४३)
(ख) निरंगम् केवलस्यैव रूपणं तदपि द्विधा ॥ —साहित्यदर्पण, १०।३२
७. सूरसागर (विनय), ६४।१

के कारण, 'निरंग रूपक' है। यह अलंकार शुद्ध और मालारूप के भेद से दो प्रकार का होता है।

१. **शुद्ध निरंग (निरवयव) रूपक** : जब एक उपमेय में एक उपमान का आरोप अवयव के बिना होता है, तब वहाँ 'शुद्ध निरंग रूपक' होता है।

उदाहरण :

> अवसि चलिअ बन रामु जहँ भरत मंत्रु भल कीन्ह।
> सोक सिंधु बूड़त सबहि तुम्ह अवलंबनु दीन्ह॥[1]

यहाँ सोक सिंधु (सोक-सिंधु) में 'शुद्ध निरंग रूपक' है।

२. **मालारूप निरंग रूपक** : जब एक उपमेय में बहुत से उपमानों का अवयवों बिना आरोप होता है, तब 'मालारूप निरंग रूपक' होता है।

उदाहरण :

> साधन की सिद्धि रिद्धि साधुन अराधन की,
> सुभग समृद्धि वृद्धि सुकृत-कमाई की,
> कहै 'रतनाकर' सुजन-कल-कामधेनु
> ललित लुनाई राम-रस-रुचिराई की।
> सम्पति की वारी चित्रसारी भूरि भावनि की,
> सरबस सार सारदा की निपुनाई की,
> दास तुलसी की नीकी कविता उदार चारु,
> जीवन अधार औ सिंगार कविताई की॥[2]

'निरंग रूपक' के अन्य उदाहरण :

(१) बंदौं गुरुपद कंज कृपासिंधु नररूप हरि।[3] (शुद्ध निरंग रूपक)

(२) सोक-समुद्र निमज्जत काढ़ि, कपीस कियो जग जानत जैसो।[4] (शुद्ध निरंग रूपक)

(३) प्रेमनिधि है खड़ा द्वार पर,
हृदय-कपाट खोल दो तुम॥[5] (शुद्ध निरंग रूपक)

(४) विधि के कमंडल की सिद्धि है प्रसिद्ध यही
हरिपद - पंकज - प्रताप की लहर है!

---

१. रामचरितमानस, २।१८३।९-१०
२. रत्नाकर (काव्यकल्पद्रुम, द्वितीय भाग—अलंकारमंजरी, पृ० १४८ पर उद्धृत)
३. रामचरितमानस, १।१।२५
४. कवितावली, ७।५
५. पंचवटी, ६१

कहै पदमाकर गिरीसनीसमंडल के
मुंडन की माल ततकाल अघहर है॥
भूपति भगीरथ के रथ की सुपुन्य पथ,
जन्हु जप जोग फल फैल की फहर है।
छेम की छहर गंगा रावरी लहर
कलिकाल कों कहर जमजाल कों जहर है॥[1]
(मालारूप निरंग रूपक)

परंपरित रूपक : जहाँ किसी का आरोप दूसरे के आरोप का कारण हो, वहाँ 'परंपरित रूपक' होता है।

उदाहरण

रामकथा कलि बिटप कुठारी। सादर सुनु गिरिराजकुमारी॥[2]

रामकथा कलियुगरूपी वृक्ष के लिए कुल्हाड़ी है। यहाँ मुख्य रूपक राम-कथा-कुठारी एक दूसरे रूपक कलि-विटप पर आश्रित है, अतः यहाँ 'परंपरित रूपक' हुआ। इस रूपक के दो मुख्य भेद हैं १ श्लिष्ट परंपरित और २ अश्लिष्ट परंपरित।

इनमें से प्रत्येक केवलरूप और मालारूप के भेद से दो-दो प्रकार का होता है। इस प्रकार परंपरित रूपक चार प्रकार का हो सकता है : १ केवल-रूप श्लिष्ट, २ केवलरूप अश्लिष्ट, ३ मालारूप श्लिष्ट और ४. मालारूप अश्लिष्ट।

१. केवलरूप श्लिष्ट परंपरित रूपक : जहाँ कारणरूप आरोप श्लेष के द्वारा बनता है, वहाँ 'श्लिष्ट परंपरित रूपक' होता है।

उदाहरण -

सखि, नीलनभस्सर में उतरा
यह हंस अहा ! तरता तरता,
अब तारक-मौक्तिक शेष नहीं,
निकला जिनको चरता चरता।
अपने हिम बिन्दु बचे तब भी,
चलता उनको धरता धरता,
गड़ जायँ न कण्टक भूतल के,
कर डाल रहा डरता डरता ![3]

'साकेत' के इस प्रभात-वर्णन में 'हंस' और 'कर' श्लिष्ट शब्द हैं। इस

१. गंगालहरी, १२ (पद्माकर-पदावली, पृ० २४७)
२ रामचरितमानस, १।११४।२
३. साकेत (नवम सर्ग), पृ० २८६

(सूर्य) में हंस (पक्षी) का जो आरोप है वह नभ में सरोवर के, तारागणों में मोतियों के और कर (किरणों) में कर (हाथ) के आरोप का कारण है, क्योंकि सूर्य को हंस कहा जाने के कारण ही नभ को सरोवर, तारागणों को मोती और किरणों को हाथ कहा जाना सिद्ध होता है। अत यहाँ 'केवलरूप श्लिष्ट परंपरित रूपक' है।

२ **केवलरूप अश्लिष्ट परम्परित रूपक** जहाँ बिना श्लेष के ही परंपरित रूपक होता है वहाँ *'अश्लिष्ट परंपरित रूपक'* होता है।

उदाहरण :

असि निज हृदय बिचारि तजु संसय भजु रामपद।
सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम तम रबिकर बचन मम॥[1]

यहाँ भ्रम-तम और रबिकर-बचन इन दो रूपकों में से द्वितीय रूपक प्रथम पर आश्रित है, श्लेष का प्रयोग न होने से यहाँ 'केवलरूप अश्लिष्ट परंपरित रूपक' है।

३. **मालारूप श्लिष्ट परम्परित रूपक** इस अलंकार में श्लिष्ट पदों द्वारा आरोपों की शृंखला या परंपरा बनती है।

उदाहरण

अरिकमलासंकोचरवि गुनि-मानस-सुमराल।
विजय प्रथम-भव-भीम तुम चिरजीवहु भुविपाल॥[2]

यहाँ 'अरिकमलासकोच', 'मानस' और 'विजय प्रथमभवभीम' श्लिष्ट पद हैं। मानस (चित्त) आदि में श्लेष द्वारा मानसरोवर आदि का आरोप राजा में हंस आदि के आरोप का कारण है। अत श्लिष्ट पदों द्वारा आरोपों की शृंखला (रवि, मराल आदि) होने से यहाँ 'मालारूप श्लिष्ट परंपरित रूपक' है।

४ **मालारूप अश्लिष्ट परंपरित रूपक** इस परंपरित रूपक में श्लिष्ट पदों के बिना ही आरोपों की शृंखला होती है।

उदाहरण .

वारिध के कुम्भभव घन बन दावानल,
तरन तिमिर हू के किरन समाज हौ।
कंस के कन्हैया कामधेनु हू के कटकाल,
कैटभ के कालिका विहंगम के बाज हौ।
भूपन भनत जग जालिम के सचीपति,
पन्नग के कुल के प्रबल पच्छिराज हौ।

---

१ रामचरितमानस, १।११५।६-१०
२ काव्यकल्पद्रुम (द्वितीय भाग—अलंकार मंजरी), पृ० १४४

रावन के राम कार्तबीज के परसुराम,
दिल्लीपति दिग्गज के सेर सिवराज हौ॥[1]

भूषणकृत 'शिवा बावनी' के इस कवित्त में शिवाजी में अगस्त्य (कुम्भज), दावानल, किरन समाज आदि के आरोप का कारण दिल्लीपति (औरंगजेब) में समुद्र, घनवन, तिमिर आदि का आरोप है। अनेक आरोप होने के कारण उनकी एक शृंखला बन गयी है अतः यहाँ 'मालारूप अश्लिष्ट परम्परित रूपक' है।

'परम्परित रूपक' के अन्य उदाहरण

(१) कह मुनि सुनु रघुबीर कृपाला। संकर मानस राजमराला॥[2]
(श्लिष्ट परम्परित रूपक)

(२) नीलोत्पल तन स्याम काम कोटि सोभा अधिक।
सुनिअ तासु गुन ग्राम जासु नाम अघ खग बधिक॥[3]
(अश्लिष्ट परम्परित रूपक)

(३) अंगद तहीं बालि कर बालक। उपजेहु बंस अनल कुलघालक॥[4]
(श्लिष्ट परम्परित रूपक)

(४) मामभिरक्षय रघुकुलनायक। धृत बर चाप रुचिर कर सायक।
मोह महा घनपटल प्रभंजन। संसय बिपिन अनल सुररंजन॥
अगुन सगुन गुनमंदिर सुंदर। भ्रम तम प्रबल प्रताप दिवाकर।
काम क्रोध मद गज पंचानन। बसहु निरंतर जनमन कानन।
बिषय मनोरथ पुंज कंजबन। प्रबल तुषार उदार पारमन॥[5]
(अश्लिष्ट परम्परित रूपक)

(५) या भव पारावार कौं, उलँघि पार को जाय।
तिय-छबि छाया ग्राहिनी, गहै बीच ही आय॥[6]
(केवलरूप परम्परित रूपक)

(६) आशा मेरे हृदय-मरु की मंजु-मंदाकिनी है।[7]
(केवलरूप अश्लिष्ट परम्परित रूपक)

---

१ शिवाबावनी, २६ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० १२७)
२ रामचरितमानस ३।८।१
३ रामचरितमानस, ४।३०।१०
४ रामचरितमानस, ६।२१।५
५. रामचरितमानस, ६।११५।१-५
६ बिहारी-बोधिनी, ६८८
७. प्रियप्रवास, १०।८२

२. अधिक अभेद रूपक

जहाँ उपमेय में उपमान से कुछ अधिक गुण दिखलाकर एकरूपता स्थापित की जाय, वहाँ 'अधिक अभेद रूपक' अलंकार होता है।

उदाहरण:

नव बिधु बिमल तात जसु तोरा। रघुबरकिंकर कुमुद चकोरा॥
उदित सदा अँथइहि कबहूँ ना। घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना॥[1]

यहाँ भरत-यश (जसु तोरा) उपमेय है और निर्मल नवीन चंद्रमा (नव बिधु बिमल) उपमान है। दोनों में अभेद स्थापित किया गया है, किन्तु भरत-यश में चंद्रमा से कुछ विशेषता है। चंद्रमा उदित होता है और डूबता है, घटता-बढ़ता है; किन्तु भरत का यश सदैव उदित रहता है, कभी डूबता नहीं तथा कभी घटेगा नहीं, दिन-दिन दूना होता जायगा। इस प्रकार उपमेय में उपमान से कुछ अधिक विशेषता का वर्णन होने के कारण 'अधिक अभेद रूपक' हुआ।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण :

(१) सुनि समुझहिं जन मुदित मन मज्जहिं अति अनुराग।
लहहिं चारि फल अछत तनु साधुसमाज प्रयाग॥[2]

(२) माऊ सिवान उदार अपार सजीव पहार करी बकसे हैं।[3]

(३) तुव मुख में अरु चंद में, कछू न भेद लखाय।
एक बगैर कलंक के, तुव मुख जानो जाय॥[4]

(४) गवन करत मोको लगनि, कनकलता यह बाम॥[5]

(५) रूप धरें राजन लखौ महैं जु रस-सिंगार॥[6]

(६) स्वर्ग की तुलना उचित ही है यहाँ,
किन्तु सुरसरिता कहाँ, सरयू कहाँ?
वह मरों को मात्र पार उतारती,
यह यहीं से जीवितों को तारती![7]

---

१. रामचरितमानस, २।२०८।१-२
२. रामचरितमानस, १।२।१४-१५
३. ललितललाम, ७१ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० २६२)
४. अलंकार-मंजूषा, पृ० ७५
५. भाषाभूषण, ५५
६. पद्माभरण, ३४ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ३६)
७. साकेत (प्रथम सर्ग), पृ० २१

३. न्यून अभेद रूपक

जहाँ उपमेय में उपमान से कुछ कमी दिखाकर भी रूपक बाँधा जाय वहाँ 'न्यून अभेद रूपक' होता है।

उदाहरण

> महादानि जाचकन को, भाऊ देत तुरंग।
> पच्छनि बिगिर बिहग हैं, सुंडन बिगिर मतंग॥[1]

यहाँ तुरगों को बिना पक्ष के पक्षी और बिना सूँड के हाथी कहा गया है; इस प्रकार उपमेय को उपमान से कुछ घटकर बताने के कारण 'न्यून अभेद रूपक' है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) है चतुरानन रहित विधि द्वै भुज रमानिवास।
भाल-नयन बिन संभु यह राजतु है मुनि व्यास॥[2]

(२) अति सोभित विद्रुम-अपर, नहिं समुद्र-उत्पन्न।[3]

(३) सबके देखत व्योम पथ, गयो सिंधु के पार।
पक्षिराज बिनु पक्ष को, वीर समीरकुमार॥[4]

(४) है राधे तू उरबसी, धरे मानुषी देह।[5]

(५) कलियुग सतयुग सो कियो, खल दल सकल सँहारि।
भुवन भरन पोषन करत, द्वै भुजधर दनुजारि॥[6]

(६) सुव दृग खजन हैं सही उड़ि न सकत तजि थान।[7]

(७) है अयोध्या अवनि की अमरावती।[8]

ताद्रूप्य रूपक जहाँ उपमेय को उपमान का भिन्न रूप कहा जाय, वहाँ 'ताद्रूप्य रूपक' होता है। इसमें प्रायः अपर, दूसरा, अन्य आदि शब्द वाचक के रूप में प्रयुक्त होते हैं। इसके भी तीन भेद हैं. १. सम २. अधिक और ३. न्यून।

---

१. ललितललाम, ७० (मतिरामग्रंथावली, पृ० ३६७)
२. काव्यकल्पद्रुम (द्वितीय भाग—अलंकार मंजरी), पृ० १४६
३. भाषाभूषण, ४६
४. काव्य-निर्णय, १०।२१ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ६८)
५. अलंकार-मंजूषा, पृ० ७६
६. अलंकार-मंजूषा, पृ० ७६
७. पद्माभरण, ३४ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ३६)
८. साकेत (प्रथम सर्ग), पृ० २२

१- सम ताद्रूप्य रूपक

जहाँ उपमेय को उपमान से पृथक् किन्तु उसी (उपमान) का स्वरूप और कार्य सम्पन्न करने वाला कहा जाय, वहाँ 'सम ताद्रूप्य रूपक' होता है।

उदाहरण :

अपर रमा ही मानियत, तोहि साध्वी गुनवति।[1]

यहाँ गुनवति साध्वी (उपमेय) को रमा (उपमान) का स्वरूप कहा गया है। 'अपर' वाचक शब्द इस को सम्यक् प्रकार से अभिव्यक्त कर रहा है।

'सम ताद्रूप्य रूपक' के अन्य उदाहरण .

(१) रच्यौ विधाता दुहुन लै, सिगरी सोभा साज।
तू सुन्दरि रति दूसरी, यह दूजो सुरराज॥[2]

(२) नैन-कमल ए ऐन हैं, और कमल केहि काम।[3]

(३) आभावाले कलश जिन के दूसरे अर्क से हैं॥[4]

२ अधिक ताद्रूप्य रूपक

जहाँ उपमेय मे उपमान की अपेक्षा कुछ अधिक गुण बताये जायँ और तद्रूप भी कहा जाय, वहाँ 'अधिक ताद्रूप्य रूपक' अलकार होता है।

उदाहरण :

मुख-ससि वा ससि तें अधिक, उदित-जोति दिन-राति।[5]

यहाँ मुख (उपमेय) को चद्रमा (उपमान) का स्वरूप भी कहा गया है और 'उदित-जोति दिन राति' कहकर उसमे (मुख मे) चद्रमा से अधिक गुण भी कहे गये हैं, अतः यहाँ 'अधिक ताद्रूप्य रूपक' है :

अधिक ताद्रूप्य रूपक के अन्य उदाहरण

(१) जस-ध्वज वा ध्वज तें अधिक, तीन लोक फहरात।
धर्म-मित्र बड़ मित्र तें, मरत जियत सँग जात॥[6]

(२) अमिय झरत चहूँ ओर अरु नयनताप हरि लेत।
राधा-मुख यह अपर ससि सतत उदित सुख देत॥[7]

(३) कर-सुरतरु सुर-वृक्ष तें अति बिन माँगें देत॥[8]

---

१. अलकार-मजूषा, पृ० ७४
२. अलकार-मजूषा, पृ० ७४
३. भाषाभूषण, ५५
४. प्रियप्रवास, ६।४८
५. भाषाभूषण, ५४
६. अलंकार-मजूषा, पृ० ७२
७. काव्यकल्पद्रुम (द्वितीय भाग—अलंकार मंजरी), पृ० १५०
८. पद्माभरण, ३६ (पद्माकर-ग्रथावली, पृ० ३६)

३. न्यून ताद्रूप्य रूपक

जहाँ उपमेय में उपमान से कुछ कम गुण होने पर भी दोनों को एकरूप कहा जाय, वहाँ 'न्यून ताद्रूप्य रूपक' होता है।

उदाहरण

यह तिय बिय वचन-लता नहिं दृढ-मूल-समेत।[1]

यहाँ नायिका (तिय) को दूसरी (बिय) वचन-लता कहा गया है, अतः 'ताद्रूप्य रूपक' है, 'नहिं दृढ-मूल-समेत' से उसमें (उपमेय-नायिका में) वचन-लता (उपमान) से कम गुण का होना कहा गया है, अतः 'न्यून ताद्रूप्य रूपक' है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण :

(१) द्वै भुज करि हरि रघुवर सुन्दर बेष।
एक जीभ कर लछिमन दूसर सेष॥[2]

(२) बिमलनि के मदिरन तजि करत ताप सब ठौर।
भावसिंह भूपाल को तेज-तरनि यह और॥[3]

(३) सागर तें उपजी न यह, कमला अपर सुहाति॥[4]

(४) हौ समदृष्टी सम्भु तुम जग-जाहिर जसवंत।
ही ब्रह्मा मुख चारि बिन मरपनि विस्व बदंत॥[5]

परिणाम

परिणाम (परि+नम्+घञ्) के कोशगत अर्थ हैं : परिवर्तन, पाचन, फल, अन्त या समाप्ति आदि।[6] प्रस्तुत सन्दर्भ में परिणाम का अर्थ है 'स्वभाव का बदलना'। इस अलंकार में उपमान उपमेय से एकरूप होकर किसी कार्य को सम्पन्न करता है क्योंकि वह (उपमान) स्वयं उस कार्य को करने में असमर्थ होता है।

उदाहरण :

अपने कर-कंज लिखी यह पाती।[7]

यहाँ कर (उपमान) द्वारा पाती का लिखा जाना वर्णित है। कंज

---

१. पद्माभरण, ३६ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ३६)
२ बरवै रामायण, ८७
३ ललितललाम, ७३ (मतिराम ग्रंथावली, पृ० ३६३)
४. भाषाभूषण, ५४
५. अलंकार-मंजूषा, पृ० ७३
६ संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ५८३
७ अलंकार-मंजूषा, पृ० ८३

(कमल) स्वय पाती लिखने मे असमर्थ है, अत उसने अपने उपमेय (कर या हाथ) की सहायता ली। अत. कहा गया . कर-कज यह पाती लिखो। इस प्रकार यहां 'परिणाम' अलंकार है।

इस अलकार के अन्य उदाहरण .

(१) कर कमलनि धनु सायक फेरत।
जिय की जरनि हरत हँसि हेरत ॥[1]

(२) हरे-हरे कर-कमल सो फूलन बीनति बाल।[2]

(३) पदपंकज तें चलत बर कर पंकज लै कंजु।
मुख-पंकज तें कहत हरि बचन-रचन मुद मंजु ॥[3]

(४) कर-कजनि खंजनदृगनि, ससिमुखि अंजन देति।
बीजहास तें दासजू, मनविहग गहि लेति ॥[4]

(५) लोचन-कंज बिसाल तें, देखति देखो बाम।[5]

(६) बर बीरन के कर-कमल बाहत बान-कृपान।[6]

उल्लेख

उल्लेख (उद्+लिख्+घञ्) का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है . वर्णन, सकेत, खुदाई आदि।[7] अलकारशास्त्र मे जब किसी एक ही व्यक्ति या वस्तु का अनेक प्रकार से वर्णन किया जाय, तब 'उल्लेख' अलकार होता है।[8] वर्णन-भेद से इसके निम्नांकित दो प्रकार हैं १ प्रथम उल्लेख, २. द्वितीय उल्लेख।

१. प्रथम उल्लेख : जब एक ही व्यक्ति या वस्तु को बहुत से लोग भिन्न-भिन्न विधि से देखें, कहें या मानें, तो वहाँ 'प्रथम उल्लेख' अलकार होता है।[9]

---

१. रामचरितमानस, २।२३८।८

२. अलकार-मजूषा पृ० ८२

३. अलकार-मजूषा, पृ० ८३

४ काव्यनिर्णय, १०।३२ (भिखारीदास-ग्रथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १०१)

५. भाषाभूषण, ५७

६ पद्माभरण, ४० (पद्माकर-ग्रथावली, पृ० ३७)

७. सस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० २१६

८. क्वचिद् भेदाद् ग्रहीतॄणां विषयाणां तथा क्वचित्।
एकस्यानेकधोल्लेखो य स उल्लेख उच्यते ॥ —साहित्यदर्पण, १०।३७

९. (क) बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्योल्लेख इष्यते।
स्त्रीभि कामोऽर्थिभि. स्वर्द्रु: काल. शत्रुभिरैक्षि स. ॥
—कुवलयानंद, २२

(ख) सो उल्लेख जु एक को, बहु समुझैं बहु रीति।
अर्थिन सुरतरु, तिय मदन, अरि कौं काल-प्रतीति ॥
—भाषाभूषण, ५८

उदाहरण .

कविजन कलपद्रुम कहैं, ज्ञानी ज्ञान-समुद्र।
दुरजन के गन कहत हैं, भावसिंह रन-रुद्र॥[1]

बूँदी-नरेश राव भावसिंह को कवि लोग कल्पवृक्ष, ज्ञानी लोग ज्ञान का समुद्र और दुष्ट लोग (या शत्रुगण) उन्हें युद्ध में रुद्र के समान भयंकर कहते हैं। इस प्रकार एक ही व्यक्ति का भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न रूप में वर्णन करते हैं, अतः यहाँ 'प्रथम उल्लेख' अलंकार है।

'प्रथम उल्लेख' के अन्य उदाहरण .

(१) जिन्ह के रही भावना जैसी। प्रभुमूरति तिन्ह देखी तैसी॥
देखहिं रूप महा रनधीरा। मनहु बीररसु धरे सरीरा॥
डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहु भयानक मूरति भारी॥
रहे असुर छलछोनिप बेषा। तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा॥
पुरबासिन्ह देखे दोउ भाई। नरभूषन लोचनसुखदाई॥[2]

(२) कोउ कह नर नारायन हरि हर कोउ।
कोउ कह बिहरत बन मधु मनसिज दोउ॥[3]

(३) एक कहैं कलपद्रुम है इमि पूरित है सबको चित चाहै।
एक कहैं अवतार मनोज को यों तन मैं अति सुन्दरता है॥
भूषन एक कहैं महि इन्दु यों राज बिराजत बाढ्यो महा है।
एक कहैं नरसिंह है संगर एक कहैं नरसिंह सिवा है॥[4]

(४) मल्लनि जम कसहू कहर तियनि सु जान्यो काम।[5]

२ द्वितीय उल्लेख . जब किसी पदार्थ या व्यक्ति का वर्णन एक ही व्यक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार से करे, तब 'द्वितीय उल्लेख' अलंकार होता है।[6]

---

१. ललितललाम, ७८ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३६४)।
२. रामचरितमानस, १।२४१।४-८
३ बरवै रामायण, २२
४. शिवराजभूषण, ७१ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० २२)
५. पद्माभरण, ४२ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० १७)
६ (क) एकेन बहुधोल्लेखोऽप्यसौ विषयभेदतः।
गुरुर्वचस्यर्जुनोऽयं कीर्तौ भीष्मः शरासने॥
—कुवलयानन्द, २३
(ग) बहु बिधि बरनै एक को, बहु गुन सों उल्लेख।
तू रन अर्जुन, तेज रवि, सुरगुरु बचन-बिसेस॥
—भाषाभूषण, ५१

उदाहरण :

तू रूप है किरन में, सौन्दर्य है सुमन में ।
तू प्राण है पवन में, विस्तार है गगन में ।।[1]

यहाँ एक ही परमात्मा को भक्त भिन्न-भिन्न रूपों मे देखता है, अत. 'द्वितीय उल्लेख' अलकार है ।

इस अलकार के अन्य उदाहरण

(१) साधुन को सुखदानि है, दुर्जनगन दुखदानि ।
बैरनि बिक्रम हानिप्रद, राम तिहारे पानि ।।[2]

(२) रिस में सिव रस मे रसिक छबि में ससि इक स्याम ।।[3]

(३) यह मेरी गोदी की शोभा, सुख सुहाग की है लाली ।
शाही शान भिखारिन की है, मनोकामना मतवाली ।।
दीपशिखा है अन्धकार की बनी घटा की उजियाली ।
ऊषा है यह कमल-भृङ्ग की, है पतझड की हरियाली ।।
सुधा-धार यह नीरस दिल की, मस्ती मगन तपस्वी की ।
जीवित ज्योति नष्ट नयनों की, सच्ची लगन मनस्वी की ।।[4]

(४) सच्चा प्यारा सकल ब्रज का वंश का है उँजाला ।
दीनों का है परमधन औ वृद्ध का नेत्रतारा ।
बालाओं का प्रिय स्वजन औ बन्धु है बालकों का ।
ले जाते हैं सु-रतन कहाँ आप ऐसा हमारा ।[5]

(५) बिन्दु मे यों तुम सिन्धु अनन्त, एक सुर मे समस्त सगीत ।
एक कलिका में अखिल वसन्त, धरा पर यों तुम स्वर्ग पुनीत ।।[6]

(६) वह इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी,
वह दीप-शिखा-सी शान्त, भाव मे लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की ही विधवा है ।[7]

(७) इसीलिए तो सखी उर्वशी, ऊषा नन्दनवन की,
सुरपुर की कौमुदी, कलित कामना इन्द्र के मन की,

---

१. रामनरेश त्रिपाठी (अलकार-प्रदीप, पृ० १२६ पर उद्धृत)
२. अलकार-मजूषा, पृ० ८४
३. पद्माभरण, ४२ (पद्माकर-ग्रथावली, पृ० ३७)
४. मुकुल (बालिका का परिचय—सुभद्राकुमारी चौहान), पृ० ५६
५. प्रियप्रवास, ५।२८
६ अलकार-प्रदीप, पृ० १२६
७. परिमल (विधवा—निराला), पृ० ११६

सिद्ध विरागी की समाधि मे राग जगानेवाली,
देवों के शोणित मे मधुमय आग लगानेवाली,
रति की मूर्ति, रमा की प्रतिमा, तृषा विश्वमय नर की,
विधु की प्राणेश्वरी, आरती-शिखा काम के कर की।[1]

स्मरण

पहले अनुभव मे आयी हुई वस्तु के सदृश किसी वस्तु के देखने, सुनने तथा सोचने आदि से जब उसका स्मरण हो, तब 'स्मरण' अलंकार होता है।[2]

उदाहरण

जो होता है उदित नभ मे कौमुदी-कान्त आके।
या जो कोई कुसुम विकसा देख पाती कहीं हूँ॥
लोने-लोने-हरित दल के पादपों को विलोके।
प्यारा प्यारा-विकच-मुखड़ा है मुझे याद आता॥[3]

यहाँ कहा गया है कि चन्द्रमा, विकसित पुष्प और हरे-हरे पत्तों वाले वृक्षों को देखकर यशोदा को कृष्ण का स्मरण हो आता है; अत यहाँ 'स्मरण' अलंकार है।

'स्मरण' अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) प्राची दिसि ससि उयेउ सुहावा। सियमुख सरिस देखि सुख पावा॥[4]

(२) बीच बास करि जमुनहि आए। निरखि नीरु लोचन जल छाए॥
रघुबरबरन बिलोकि बर बारि समेत समाज।
होत मगन बारिधि बिरह चढ़े बिबेक जहाज॥[5]

(३) कुन्दरूप शिशु देखि यह अति अद्भुत बल-धाम।
मख-रक्षक सर-चाप धर सुधि आवतु हैं राम॥[6]

---

१ उर्वशी (प्रथम अंक), पृ० १३

२. (क) यथाऽनुभवमर्थस्य दृष्टे तत्सदृशे स्मृति।
स्मरणम्। —काव्यप्रकाश, १०।१३२ (सू० १६६)
(ख) सदृशानुभवाद्वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते। —साहित्यदर्पण, १०।२७
(ग) कछु लखि, कछु सुनि, सोचि कछु, सुधि आवै कछु सास।
सुमिरन ताको भाषिए, बुधवर सहित हुलास॥
—अलंकार-मंजूषा, पृ० ८५

३. प्रियप्रवास, १६।७८

४. रामचरितमानस, १।२३७।७

५. रामचरितमानस, २।२१६।८-१०

६. अलंकार-प्रदीप, पृ० १२६

(४) सघन कुंज छाया सुखद सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै वा जमुना के तीर॥[1]
(५) सुधि आवति वा बदन की, देखैं सुधा-निवास॥[2]
(६) भावति खबरि सु भौंह की निरखि सरासन बाम॥[3]

भ्रान्तिमान्

भ्रम से किसी और वस्तु को कोई और वस्तु मान लेना 'भ्रान्तिमान्' अलंकार कहलाता है। इसे 'भ्रम' या 'भ्रान्ति' भी कहते हैं;[4]

उदाहरण

नाक का मोती अधर की कान्ति से,
बीज दाडिम का समझकर भ्रान्ति से,
देखकर सहसा हुआ शुक मौन है,
सोचता है, अन्य शुक यह कौन है।[5]

'साकेत' के इस लक्ष्मण-उर्मिला-सवाद मे 'भ्रान्तिमान्' अलकार है क्योकि तोते को नाक के मोती (अधर की कान्ति के कारण लाल वर्ण का दिखने के कारण) मे अनार का तथा उर्मिला की नासिका मे अन्य तोते का भ्रम हुआ है।

इस अलकार के अन्य उदाहरण -

(१) कपि करि हृदय बिचार दीन्हि मुद्रिका डारि तब।
जनु असोक अगार दीन्ह हरषि उठि कर गहेउ॥[6]
(२) सूर उदित हू मुदित मन, मुख-सुखमा की ओर।
चितै रहत चहुँ ओर तें, निश्चल चखनि चकोर॥[7]
(३) पाय महावर देन को, नाइन बैठी आय।
फिरि फिरि जानि महावरी, एँड़ी मीड़त जाय॥[8]

---

१. बिहारी-बोधिनी, ५
२. भाषा-भूषण, ६०
३. पद्माभरण, ४३ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ३७)
४. (क) भ्रान्तिमान् अन्यसंवित्तत्तुल्यदर्शने॥
—काव्यप्रकाश, १०।१३२ (सू० २००)
(ख) साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः।
—साहित्यदर्पण, १०।३६
५. साकेत (प्रथम सर्ग), पृ० २६
६. रामचरितमानस, ५।१२।१३-१४
७. बिहारी-बोधिनी, १०१
८. बिहारी-बोधिनी, १०९

(४) बदन सुधानिधि जानि यह, सुव संग फिरत चकोर ।[1]
(५) नाचत मोर सबद पै निज मन समुझि पहार ।[2]

संदेह

जब किसी पदार्थ या व्यक्ति को देखकर यह निश्चय न हो सके कि यह क्या है, तब 'सन्देह' अलंकार होता है ।[3] 'भ्रान्तिमान्' में निश्चयात्मक रूप से भ्रम होता है, किन्तु 'संदेह' में निश्चय का अभाव रहता है । इस अलंकार में प्रायः कि, किंवा, किधौं, धौं, कैं आदि शब्दों का प्रयोग होता है ।

उदाहरण

क्षण भर में देखी रमणी ने
एक श्याम शोभा बाँकी,
क्या शस्यश्यामल भूतल ने
दिखलाई निज नर-झाँकी !
किंवा उतर पड़ा अवनी पर
कामरूप कोई घन था,
एक अपूर्व ज्योति थी जिसमें,
जीवन का गहरापन था ![4]

'पंचवटी' की इन राम-वर्णन-विषयक पंक्तियों में शूर्पणखा को राम के विषय में संदेह है : क्या वे शस्यश्यामल भूतल की नर-झाँकी हैं या कोई बादल है जो पृथ्वी पर अपनी इच्छा से उतर पड़ा है । उसे कुछ निश्चय नहीं हो रहा; अतः यहाँ 'संदेह' अलंकार है ।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण :

(१) की तुम्ह तीनि देव महँ कोऊ । नर नारायन की तुम्ह दोऊ ॥
जगकारन तारन भव भंजन धरनीभार ।
की तुम्ह अखिल भुवन पति लीन्ह मनुज अवतार ॥[5]

(२) ए कौन कहाँ तें आए ?
नील-पीत-पाथोज-बरन, मन-हरन, सुभाय सुहाए ॥

---

१. भाषा-भूषण ६१
२. पद्माभरण, ४४ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ३७)
३. (क) स संदेहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशय ।
—काव्यप्रकाश, १०।९२ (सू० १३८)
(ग) संदेह: प्रकृतेऽन्यस्य संशय: प्रतिभोत्थित: ।—साहित्यदर्पण, १०।३५
४. पंचवटी, ८२, ८३
५. रामचरितमानस, ४।१।१०-१२

मुनिसुत किधौं भूप-बालक, किधौं ब्रह्म-जीव जग जाए।
रूप-जलधि के रतन, सुछबि-तिय-लोचन ललित लला ए।।
किधौं रबि-सुवन, मदन-ऋतुपति, किधौं हरि-हरबेष बनाए।
किधौं आपने सुकृत-सुरतरुके सुफल रावरेहि पाए।।[1]

(३) गंगाजल की पाग सिर सोहत श्रीरघुनाथ।
शिव सिर गंगाजल किधौं चन्द्रचंद्रिका साथ।।[2]

(४) कहि मोहि उलधि चले तुम को हौ।
अति सूक्षमरूप धरे मग के हौ।
पठये केहि कारण कौन चले हौ।
सुर हौ किधौं कोउ सुरेश भले हौ।।[3]

(५) सुनिकै पुकार धायो द्वारिका तें जदुराई,
बाढ़त दुकूल खैंचे भुजबल हारी हैं।
सारी बीच नारी है कि नारी बीच सारी है,
कि सारी ही की नारी है कि नारी ही की सारी है।।[4]

(६) बदन किधौं यह सीतकर, किधौं कमल भए भोर।।[5]

(७) मावस-निसि कै सघन घन कैधौं सुगज-कुमार।।[6]

(८) कोई पुरन्दर की किंकरी है ?
कि या किसी सुर की सुन्दरी है ?
वियोगतप्ता-सी भोगमुक्ता,
हृदय के उद्गार गा रही है।।[7]

(९) फूलों की सखियाँ हैं ये या विधु की प्रेयसियाँ हैं।[8]

(१०) मद-भरे ये नलिन-नयन मलीन हैं,
अल्प-जल मे या विकल लघु मीन हैं ?
या प्रतीक्षा मे किसी की शर्वरी;
बीत जाने पर हुए ये दीन हैं ?

---

१. गीतावली, १।६५
२. रामचंद्रिका, ६।४६
३. रामचंद्रिका, १३।४२
४. अलंकार-मंजूषा, पृ० ६१
५. भाषाभूषण, ६१
६. पद्माभरण, ४४ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ३७)
७. श्रीधर पाठक (अलंकार-प्रदीप, पृ० १३३ पर उद्धृत)
८. उर्वशी (प्रथम अंक), पृ० ७

या पथिक से लोल-लोचन ! कह रहे—
"हम तपस्वी हैं, सभी दुख सह रहे।"[1]

अपह्नुति

अपह्नुति (अप+ह्नु+क्तिन्)[2] का अर्थ है छिपाना या निषेध करना। इस अलंकार में उपमेय का निषेध कर उसके स्थान पर उपमान की स्थापना की जाती है।[3] यदि किसी के मुख को देखकर यह कहा जाय कि 'यह मुख नहीं, चन्द्रमा है', तो 'अपह्नुति' अलंकार होगा। इस अलंकार के छह भेद हैं : १ शुद्धापह्नुति, २ हेत्वपह्नुति, ३ पर्यस्तापह्नुति, ४. भ्रान्तापह्नुति, ५. छेकापह्नुति और ६. कैतवापह्नुति।

१. शुद्धापह्नुति जहाँ वास्तविक उपमेय का निषेध करके उसके स्थान पर उपमान की स्थापना की जाय, वहाँ 'शुद्धापह्नुति' अलंकार होता है।[4]

उदाहरण

मैं जो कहा रघुबीर कृपाला। बंधु न होइ मोर यह काला॥[5]

'रामचरितमानस' के सुग्रीव की इस उक्ति में बालि को बन्धु न कहकर काल कहा गया है। इस प्रकार उपमेय का निषेध कर उपमान (काल) की स्थापना की गयी है; अतः यहाँ 'शुद्धापह्नुति' है।

'शुद्धापह्नुति' के अन्य उदाहरण :

(१) उर पर नाहिं उरोज ये, कनकलता-फल मानि।[6]

---

१. परिमल (नयन—निराला), पृ० ७५
२. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ६१
३. (क) प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः।
—काव्यप्रकाश, १०।९६ (सू० १४६)
(ख) प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः।
—साहित्यदर्पण, १०।३८
४. (क) शुद्धापह्नुतिरन्यस्यारोपार्थो धर्मनिह्नवः।
नायं सुधांशुः, किं तर्हि? व्योमगङ्गासरोरुहम्॥
—कुवलयानन्द, २६
(ख) धरम दुरै आरोप तें, शुद्धापह्नुति जानि।
—भाषाभूषण, ६२
५. रामचरितमानस, ४।८।४
६. भाषाभूषण, ६२

(२) कृष्ण नहीं पीताम्बर पहने, बिजली दमक रही घन में।[1]
(३) नहिं सुधांसु यह है सखी, नभगंगा को कंज।[2]
(४) नहिं सखि ! राधा बदन यह, है पूनो को चाँद।[3]
(५) पहिरे स्याम न पीतपट, घन मे बिज्जु बिलास।[4]
(६) सारद ससि नहिं सुन्दरी, उदयो जस जसवंत।[5]
(७) अंक न संग रह्यो जु लगि, भिच्छुक-जन की पंत।[6]
(८) यह न ससी तो है कहा ? नभगंगा-जलजात।[7]
(९) यह न दवानल तौ कहा ? जग-नासक सिव-कोप।[8]
(१०) ससि मे अंक कलंक को समझहु जिन सदभाय।
सुरत-श्रमित निसि-सुन्दरी सोवत उर लपटाय॥[9]
(११) नहीं, उर्वशी नारि नहीं, आभा है निखिल भुवन की,
रूप नहीं, निष्कलुष कल्पना है स्रष्टा के मन की।[10]

२. हेत्वपह्नुति : जहाँ किसी कारण से उपमेय का निषेध कर उपमान की स्थापना की जाय, वहाँ 'हेत्वपह्नुति' होती है।[11]

उदाहरण :

सिव सरजा के कर लसै सो न होय किरवान।
भुज भुजगेस भुजंगिनी भखति पौन अरि प्रान॥[12]

---

१. काव्य-प्रदीप, पृ० १७४
२. अलंकार-मंजूषा, पृ० ९२
३. काव्यदर्पण (पं० दुर्गादत्त), पृ० १००
४. अलंकार-मंजूषा, पृ० ९२
५. अलंकार-मंजूषा, पृ० ९२
६ अलंकार-मंजूषा, पृ० ९२
७. पद्माभरण, ४५ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ३८)
८. पद्माभरण, ४६ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ३८)
९. काव्यकल्पद्रुम (द्वितीय भाग—अलंकार मंजरी), पृ० १७५
१०. उर्वशी, पृ० २४
११. (क) स एव युक्तिपूर्वश्चेदुच्यते हेत्वपह्नुति।
नेन्दुस्तीव्रो न निश्यर्कः, सिन्धोरौर्वोऽयमुत्थितः॥
—कुवलयानन्द, २७
(ख) वस्तु दुराएँ जुक्ति सों, हेतु-अपह्नुति होय।
तीव्र चन्द नहिं रैनि रवि, बडवानल ही जोय॥
—भाषाभूषण, ६३
१२. शिवराजभूषण, ८३ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० २५)

शिवाजी के हाथ में तलवार नहीं है, वह तो सर्पिणी है जो शत्रु के प्राण रूपी पवन का भक्षण करती है। यहाँ कारण सहित उपमेय का निषेध करके उपमान की स्थापना की गयी है, अतः 'हेत्वपह्नुति' है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण -

(१) बालबदन-प्रतिबिंब विधु, ज्यों रह्यो तिहिं संग।
ज्यों रहत सब रजनि दिन, तपन तपावत अंग॥[1]

(२) लाल-भाल रवि होत नहिं, ससि नहिं तीव्र सुलाग।
उठी लखन अवलोकिये, बारिधि सों बड़वाग॥[2]

(३) ये नहिं फूल गुलाब के, दाहत हिय जु हमार।
बिन घनस्याम अराम में, लागी दुसह दवार॥[3]

३. पर्यस्तापह्नुति पर्यस्त का शाब्दिक अर्थ है 'फेंका हुआ'। जब किसी व्यक्ति या वस्तु का गुण अथवा धर्म किसी दूसरे व्यक्ति या वस्तु पर आरोपित किया जाता है, तब 'पर्यस्तापह्नुति' अलंकार होता है।[4]

उदाहरण

नहीं सक्र सुरपति अहै, सुरपति नन्दकुमार।
रत्नाकर सागर न है, मथुरा नगर बजार॥[5]

यहाँ पर कहा गया है कि देवताओं के स्वामी इन्द्र नहीं हैं, अपितु श्रीकृष्ण हैं। इस प्रकार इन्द्र के धर्म (इन्द्रत्व या सुरपतित्व) का निषेध करके उसका आरोप श्रीकृष्ण पर किया गया है। इसी प्रकार रत्नाकरत्व जो सागर का धर्म है, मथुरा की बाजार पर आरोपित किया गया है। अतः यहाँ 'पर्यस्तापह्नुति' अलंकार है।

'पर्यस्तापह्नुति' के अन्य उदाहरण -

(१) काल करत कलिकाल में नहिं तुरकन को काल।
काल करत तुरकान को सिव सरजा करवाल॥[6]

---

१. ललितललाम, ६० (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३६७)
२. अलंकार-मञ्जूषा, पृ० ६३
३. पद्माभरण, ४८ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० २८)
४. (क) अन्यत्र तस्यारोपार्थः पर्यस्तापह्नुतिस्तु सः।
नायं सुधांशुः किं तर्हि ? सुधांशुः प्रेयसीमुखम्॥
—कुवलयानन्द, २८
(ख) पर्यस्त जु गुन एक को, और विषै आरोप।
होइ सुधाधर नाहिं यह, वदन सुधाधर-ओप॥
—भाषा-भूषण, ६४
५. अलंकार-मञ्जूषा, पृ० ६४
६. शिवराजभूषण, ८६ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० २६)

(२) हैं न सुधा यह किन्तु हैं, सुधारूप सतसंग।
विष हालाहल है न यह, हालाहल दुःसंग॥[1]

(३) हैं न सुधा सो सुधा लैं सुधा राम को नाम।[2]

४. भ्रान्तापह्नुति : जब किसी वस्तु में किसी अन्य वस्तु की भ्रान्ति हो जाय और सत्य बात कहकर उस भ्रम का निराकरण किया जाय तो 'भ्रान्तापह्नुति' अलंकार होता है।[3] साहित्यदर्पणकार ने इसे 'निश्चय' नाम का एक स्वतन्त्र अलंकार माना है।[4]

उदाहरण :

आवत मुकुट देखि कपि भागे। दिनहीं लूक परन विधि लागे॥
की रावन करि कोपु चलाए। कुलिस चारि आवत अति धाए॥
कह प्रभु हँसि जनि हृदय डेराहू। लूक न असनि केतु नहिं राहू।
ए किरीट दसकंधर केरे। आवत बालितनय के प्रेरे॥[5]

'रामचरितमानस' की इन पंक्तियों में वानरों के भ्रम का वर्णन है। अंगद द्वारा फेंके गये रावण के मुकुटों को देखकर वानर डर के कारण भागने लगे। उन्हें भ्रम हुआ कि ये उल्का अथवा वज्र हैं। राम ने सत्य का उद्घाटन कर उनके भ्रम का निवारण किया, अतः यहाँ 'भ्रान्तापह्नुति' है।

'भ्रान्तापह्नुति' के अन्य उदाहरण :

(१) बेसरि मोती-दुति झलक, परी अधर पर आय।
चूनो होय न चतुर तिय, क्यों पट पोंछो जाय॥[6]

(२) आली लाली लखि डरपि, जनि टेरहु नँदलाल।
फूले सघन पलास ये, नहिं दावानल ज्वाल॥[7]

(३) दहत प्रान तन विष कहा? नहिं सखि बिरह-कृसान।[8]

---

१. अलंकार-प्रदीप, पृ० १२६

२. पद्माभरण, ४६ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ३८)

३. (क) भ्रान्तापह्नुतिरन्यस्य शङ्कायां भ्रान्तिवारणे।
तापं करोति सोत्कम्पं, ज्वरः किं? न, सखि! स्मरः॥
—कुवलयानन्द, २६

(ख) भ्रान्ति-अपह्नुति वचन सौं, भ्रम जब पर को जाय।
ताप करत है ज्वर कहा, ना सखि मदन सताय॥
—भाषा-भूषण, ६५

४. अन्यन्निषिध्य प्रकृतस्थापनं निश्चयः पुनः। —साहित्यदर्पण, १०।३६

५. रामचरितमानस, ६।३२।७-१०

६. बिहारी-बोधिनी, ८८

७. अलंकार-मंजूषा, पृ० ६५

८. पद्माभरण, ५० (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ३८)

५. छेकापह्नुति जब चतुराई से सत्य को छिपाकर असत्य के द्वारा दूसरे की शंका के निवारण का प्रयत्न किया जाता है, तब वहाँ 'छेकापह्नुति' अलंकार होता है।[1] छेक का अर्थ है 'चतुराई'। यह अलंकार 'भ्रान्तापह्नुति' का ठीक उलटा है। 'छेकापह्नुति' को 'मुकरी' भी कहते हैं। अमीर खुसरो की मुकरियाँ प्रसिद्ध ही हैं।

उदाहरण

अर्द्ध निसा वह आयो भौन। सुन्दरता बरनै कहि कौन।
निरखत ही मन भयो अनंद। क्यों सखि साजन ? नहिं सखि चंद ॥[2]

यहाँ प्रियतम के आगमन का वर्णन है। जब सखी ने इसे जान लिया तब नायिका यह कहकर बात बनाती है कि प्रियतम नहीं, मैं तो चन्द्रमा की बात कर रही हूँ। इस प्रकार सत्य को छिपाकर असत्य के द्वारा शंका-निवारण का प्रयत्न किया गया है।

'छेकापह्नुति' के अन्य उदाहरण :

(१) वह आवे तब शादी होय। उस बिन दूजा और न कोय ॥
मीठे लागें वाके बोल। ऐ सखी साजन ? ना सखि ढोल ॥[3]

(२) ओठ लखिये को भर्‌यो मुख-सुवास-रस-रत्त।
स्यामदपनंदलाल अलि, नहिं अलि, अलि उनमत्त ॥[4]

(३) तिमिर बंस हर अरुन कर आयो, सजनी भोर ?
सिव सरजा, चुप रहि सखी, सूरज-कुल सिरमौर ॥[5]

(४) मोहि हलावत आपु हलि कहा मीत ? नहिं मय ॥[6]

६. कैतवापह्नुति जब मिस, छल, ब्याज, बहाना आदि शब्दों का प्रयोग कर उपमेय का अप्रत्यक्ष निषेध कर उपमान की स्थापना की जाती है

---

१. (क) छेकापह्नुतिरन्यस्य शंकातस्तथ्यनिह्नवे।
प्रजल्पन्मत्पदे लग्न:, कान्त: किं ? नहि, नूपुर: ॥
—कुवलयानन्द, ३०

(ख) छेकापह्नुति जुक्ति करि, पर सों बात दुराय।
करत अधर छत, पिय ? नहीं सखी सीत-रितु वाय ॥
—भाषा-भूषण, ६६

२. अलंकार मंजूषा, पृ० ६६
३. अमीर खुसरो (कविता कौमुदी, पहला भाग, पृ० १३६)
४. ललितललाम, ६६ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३६८)
५. शिवराजभूषण, ६२ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० २७)
६. पद्माभरण, ५१ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ३८)

वह 'कैतवापह्नुति' अलंकार होता है।[1]

उदाहरण :

लखी नरेस बात सब सांची । तिय मिस मीचु सीस पर नांची ॥[2]

राजा दशरथ से कैकेयी ने रामवनगमनविषयक वरदान माँगा, राजा के बहुत प्रयत्न करने पर भी कैकेयी न मानी। राजा ने समझा कैकेयी के बहाने मेरी मृत्यु आ पहुँची है। उसी प्रसंग की यह पंक्ति है। यहाँ 'मिस' शब्द से उपमेय (तिय) का अप्रत्यक्ष निषेध कर उपमान (मीचु—मृत्यु) की स्थापना की गयी है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण :

(१) रवि निज उदय ब्याज रघुराया। प्रभुप्रतापु सब नृपन्ह देखाया ॥[3]

(२) बजत बीन डफ बाँसुरी रह्यो छाइ रस-राग।
मिस गुलाल के तियन पै पिय बरसत अनुराग ॥[4]

(३) बिकलता लख के ब्रज-देवि की।
रजनि भी करती अनुताप थी।
निपट नीरव ही मिस ओस के।
नयन से गिरता बहु-वारि था ॥[5]

(४) फिर मानो मन के सुमनों से
माला एक बना लाई,
इसके मिस अपने मानस को
भेंट इन्हें देने आई ॥[6]

उत्प्रेक्षा

उत्प्रेक्षा (उत्+प्र+ईक्ष्+अ+टाप्) के कोशगत अर्थ हैं : अटकल,

---

१. (क) कैतवापह्नुतिर्व्यक्तौ व्याजाद्यैर्निह्नुतेः पदैः।
निर्यान्ति स्मरनाराचाः कान्तादृक्पातकैतवात् ॥
—कुवलयानन्द, ३१

(ख) कैतवपह्नुति एक की, मिसु करि बरनत आन।
तीछन तीय-कटाच्छ-मिसु, बरषत मन्मथ बान ॥
—भाषा-भूषण, ६७

२. रामचरितमानस, २।३४।५

३. रामचरितमानस, १।२३८।५

४. पद्माभरण, ५३ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ३८)

५. प्रियप्रवास, ३।८७

६. पंचवटी, ६२

अनुमान, तुलना, उपेक्षा, उदासीनता आदि।[1] अलंकार-शास्त्र में 'उत्प्रेक्षा' का अर्थ होता है 'उच्च कोटि की कल्पना।' जब मनु, जनु, मानो, जानो, इव, मनहु, जनहु आदि पदों द्वारा उपमेय और उपमान की समानता की सम्भावना की जाती है, तब 'उत्प्रेक्षा' अलंकार होता है।[2] इस अलंकार में किसी उपमेय का कोई उपमान कल्पना शक्ति द्वारा कल्पित किया जाता है। इस अलंकार के तीन मुख्य भेद हैं १. वस्तूत्प्रेक्षा, २ हेतूत्प्रेक्षा और ३ फलोत्प्रेक्षा।[3]

१ वस्तूत्प्रेक्षा जहाँ किसी एक वस्तु (उपमेय) में अन्य वस्तु (उपमान) की सम्भावना की जाय, वहाँ 'वस्तूत्प्रेक्षा' अलंकार होता है। इसके भी दो भेद हैं १ उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा और २ अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा।

(१) उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा : जब उत्प्रेक्षा का विषय पहले कहा जाय और तब उसके अनुरूप कल्पना की जाय, तब 'उक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा' होती है। इसमें उपमेय और उपमान दोनों शब्दों द्वारा पृथक्-पृथक् कह जाते हैं।

उदाहरण

सोहत ओढ़े पीतपट स्याम सलोने गात।
मनो नीलमनि सैल पर आतप पर्यो प्रभात॥[4]

यहाँ 'पीताम्बर ओढ़े कृष्ण का श्याम शरीर' उत्प्रेक्षा का विषय है जो पहले कह दिया गया है, तब उत्प्रेक्षा की गयी है कि वह मानो नीलमणि पर्वत है जिस पर प्रातःकालीन सूर्य की किरणें पड़ रही हैं। अतः यह 'उक्त-विषया वस्तूत्प्रेक्षा' अलंकार का उदाहरण है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) लताभवन तें प्रगट भे तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग विमल विधु जलदपटल बिलगाइ॥[5]

(२) लक्ष्यधरणु को शोभिजै सभा मध्य कोदण्ड।
मानहु शेष अशेषधर धरनहार बरिवंड॥[6]

(३) मकराकृति गोपाल के कुंडल सोहत कान।
धर्यो समर हिय गढ़ मनो ड्योढ़ी लसत निसान॥[7]

---

१. शब्दकल्पद्रुम (प्रथम काण्ड), पृ० २२८; संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० १९०
२. (क) सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्।
—काव्यप्रकाश, १०।९२ (सू० १३७)
(ख) भवेत्सम्भावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना। —साहित्यदर्पण, १०।४०
३. (क) सम्भावना स्यादुत्प्रेक्षा वस्तुहेतुफलात्मना। —कुवलयानन्द, ३२
(ख) उत्प्रेक्षा सम्भावना, वस्तु, हेतु, फल लेखि। —भाषा-भूषण, ६८
४. बिहारी-बोधिनी, २१
५ रामचरितमानस, १।२३२।९-१०
६. रामचन्द्रिका, ३।१४
७ बिहारी-बोधिनी, १६

(४) भाल लाल बेंदी दिये, छुटे बार छवि देत।
गह्यो राहु अति आह करि, मनु ससि सूर समेत ॥[1]

(५) चमचमात चंचल नयन, बिच घूँघट पट झीन।
मानहु सुरसरिता बिमल, जल उछरत जुग मीन ॥[2]

(६) नैन मनो अरबिंद हैं, सरस बिसाल बिसेखि ॥[3]

(७) लसत चन्द-बिच अंक जनु नभ-सर-जलज सभृंग ॥[4]

(८) उस काल मारे क्रोध के तनु कांपने उसका लगा,
मानो हवा के जोर से सोता हुआ सागर जगा।[5]

(२) अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा जब उत्प्रेक्षा का विषय (उपमेय) न कहकर उपमान की संभावना की जाती है, तो 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा' होती है।

उदाहरण

उदित सुधाधर करत जनु, सुधामयी बसुधाहि।[6]

इस पंक्ति का विषय है चन्द्रोदय के अनंतर फैलने वाली चंद्रिका या चन्द्रज्योत्स्ना, किन्तु उसका कथन नहीं किया गया, बल्कि उत्प्रेक्षा यह की गयी है कि चन्द्रमा उदित होकर मानो समस्त पृथ्वीतल को अमृतमय किये दे रहा है। इसीलिए यहाँ 'अनुक्तविषया वस्तूत्प्रेक्षा' अलंकार है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) पय जात सोहहिं मतिधीरा। ज्ञान भगति जनु धरें सरीरा ॥[7]

(२) अंजन बरसत गगन यह, मानो अथए भानु।[8]

(३) सरद ससी बरसत मनो घन घनसार अभंग।[9]

(४) बरसत इव अंजन गगन लीपत इव तम अंग।[10]

२ हेतूत्प्रेक्षा : जब अहेतु (जो वास्तविक कारण न हो) को हेतु मानकर उत्प्रेक्षा की जाती है, तब 'हेतूत्प्रेक्षा' अलङ्कार होता है। इसके भी दो भेद हैं : १ सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा, २ असिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा।

---

१ बिहारी-बोधिनी, ४२
२. बिहारी-बोधिनी, ८२
३ भाषाभूषण, ६८
४. पद्माभरण, ५७ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ३९)
५. जयद्रथवध, पृ० ३६
६. अलंकार-मंजूषा, पृ० १०१
७ रामचरितमानस, १।१४३।४
८. अलंकार-मंजूषा, पृ० १००
९. पद्माभरण, ५७ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ३९)
१०. काव्यकल्पद्रुम (द्वितीय भाग—अलंकार मंजरी), पृ० १८७

(१) सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा जब उत्प्रेक्षा का आधार सिद्ध (सभव) हो तब 'सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा' होती है।

उदाहरण .

समुझि पियहि जनु आन-रत तातें भौंहें बक।[1]

नायिका ने मान किया है, अत उसकी भौंह टढी हैं। कवि कल्पना करता है कि मानो उसने अपने प्रियतम को अन्य नायिका में अनुरक्त समझकर क्रोध किया है। यहाँ अहेतु को हेतु कहा गया है और चूंकि वह हेतु सभव या सिद्ध है अत सिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा' है।

इस अलकार के अन्य उदाहरण

(१) मनो चली आँगन कठिन, तातें राते पाय।[2]

(२) रवि-अभाव लखि रैन मे, दिन लखि चन्द विहीन।
सतत उदित यहि हेतु जनु, जस प्रताप भुवि कीन।।[3]

(३) एकहि सग निवास तें, उपजे एकहि सग।
कालकूट की कालिमा, लगी मनो बिधु-अग।।[4]

(२) असिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा : जब उत्प्रेक्षा का कथित हेतु असभव होता है, तब 'असिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा होती है,

उदाहरण

सुनत जुगल कर माल उठाई। प्रेम बिबस पहिराइ न जाई।।
सोहत जनु जुग जलज सनाला। ससिहि सभीत देत जयमाला।।[5]

धनुर्भंग के पश्चात् सीता राम के गले मे जयमाला डालने पहुँचीं, किंतु प्रेमाधिक्य के कारण वे माला पहनाने में असमर्थ हैं। कवि कल्पना करता है कि माना दो डठल सहित कमल (सीता के दोनो हाथ) डरते हुए चद्रमा को (राम के गले मे) जयमाला पहना रहे है। यहाँ अहेतु को हेतु माना गया है, और वह हेतु असम्भव है क्योंकि जड कमल को भय कैसा? अत. 'असिद्धास्पद हेतूत्प्रेक्षा' अलकार है।

इस अलकार के अन्य उदाहरण

(१) मोर मुकुट की चद्रिकनि यो राजत नंदनद।
मनु ससिसेखर के अकस किय सेखर सत चद।।[6]

---

१ पद्माभरण, ५८ (पद्माकर ग्रथावली, पृ० ३६)
२ भाषा-भूषण, ६६
३. अलकार मजूषा, पृ० १०२
४ काव्यांग-कौमुदी (तृतीय कला), पृ० १२०
५. रामचरितमानस, १।२६४।६-७
६. बिहारी-बोधिनी, १०

(२) तुव मुख सो या कमल को बैरी मनहु मृगंक ।[1]
(३) पून दिनन में ह्वं रहै, अगिनि-कोन में भानु ।
मैं जानों जाड़ेवं वली, सोऊ डरं निदानु ॥[2]

३. फलोत्प्रेक्षा जब अफल (जो वास्तविक फल न हो) को फल मानने की उत्प्रेक्षा की जाती है, तब 'फलोत्प्रेक्षा' होती है। इसके भी दो भेद हैं : १ सिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा २. असिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा।

(१) सिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा 'जब उत्प्रेक्षा का आधार सिद्ध अथवा सम्भव होता है, तब 'सिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा' होती है।

उदाहरण

तुवन सदन सब के बदन सिव सिव आठौ याम ।
निज बचिबे को जपत जनु तुरकौ हर को नाम ॥[3]

'शिव-शिव' कहने से मनुष्य आपत्तियों से बच सकता है, यह हिंदू धर्मानुसार सम्भव है, किंतु मुसलमान लोग इस फल की प्राप्ति के लिए नहीं, अपितु डर से शिव-शिव (शिवाजी) कहते थे। इस प्रकार मुसलमानों द्वारा आपत्ति-निवारण के लिए शिव का जाप करना अफल है, जो फल मान लिया गया है। इस प्रकार यहाँ 'सिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा' अलकार है।

इस अलकार के अन्य उदाहरण -

(१) मधुप निवारन के लिये, मानो रुके निहारि ।
दिनकर निज कर देन हैं, सतदल दलनि उघारि ॥[4]
(२) विरहिनि असुअन विधु रहै, दरसावत नित सोधि ।
'दात' बढ़ावन कों मनों, पूनो दिननि पयोधि ॥[5]
(३) किये पीन कुच विधि मनो लक लचहि के हेत।[6]
(४) भार उठाने के लिये पीन कुचों का वाम ।
मानो इस कटिक्षीण पर कसी कनक की दाम ॥[7]

(२) असिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा : जब उत्प्रेक्षा का आधार असिद्ध (असम्भव) हो, तब 'असिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा' होती है। इसमें भी अफल को फल मानने की कल्पना की जाती है।

---

१. पद्माभरण, ५८ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ३६)
२ काव्यनिर्णय, ६।१२ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ८८)
३. शिवराजभूषण, १०५ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ३३)
४ अलंकार-मंजूषा, पृ० १०५
५ काव्यनिर्णय, ६।१५ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ८८)
६. पद्माभरण, ५६ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ३६)
७. काव्यकल्पद्रुम (द्वितीय भाग—अलंकार मंजरी), पृ० १६२

उदाहरण -

तुव पद-समता कौं कमल, जल सेवत इक पाय ॥[1]

कमल स्वाभाविक रूप से जल में रहता है, किन्तु कवि ने उस पर सुन्दरी के चरणों की समता प्राप्त करने की कामना से जलमग्न हो तपस्या करने की सम्भावना की है, अतः 'फलोत्प्रेक्षा' है। साथ ही जड़ कमल में समता की इच्छा असम्भव होने से 'असिद्धास्पद फलोत्प्रेक्षा' है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) मनो मही भरि दिसनि कौं परसन जो दृढ़ दाप।
भावसिंह की दिसनि मैं फैलत प्रबल प्रताप ॥[2]

(२) सुभ सुख चहि जनु मेरु की ससि प्रदच्छिना देत।[3]

(३) तरनि-तनूजा-तट तमाल तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सों जल-परसन हित मनहुँ सुहाये ॥[4]

(४) बार बार उन भीषण रव से
कँपती धरती देख विशेष,
मानो नील व्योम उतरा हो
आलिंगन के हेतु अशेष।[5]

(५) लम्बा होता ताड़ का वृक्ष जाता,
मानो छूना व्योम को चाहता है।[6]

उत्प्रेक्षा अलंकार के भेदोपभेद निम्नांकित वृक्ष से सम्यक् प्रकार से जाने जा सकते हैं
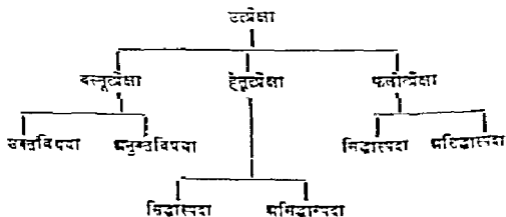
---

१. भाषा-भूषण, ९६
२. ललितललाम, १०८ (मतिराम-ग्रन्थावली, पृ० ३७२)
३. पद्माभरण, ५६ (पद्माकर-ग्रन्थावली, पृ० २६)
४. चन्द्रावली नाटिका, पृ० ६२
५. कामायनी (चिन्ता सर्ग), पृ० १४
६. अलंकार-प्रदीप, पृ० १३६

उपर्युक्त उत्प्रेक्षाओं के अतिरिक्त दो और उत्प्रेक्षाएँ भी आचार्यों ने मानी हैं : १. गम्योत्प्रेक्षा और २. सापह्नवोत्प्रेक्षा।

गम्योत्प्रेक्षा : जब जनु, मनु, जानो, मानो, इव आदि वाचक शब्दों के बिना ही उत्प्रेक्षा की जाती है, तब 'गम्योत्प्रेक्षा' अथवा 'गुप्तोत्प्रेक्षा' होती है।

उदाहरण :

तोरि तीरतरु के सुमन, वर सुगंध के भौन।
जमुना की पूजन करत, वृंदावन को पौन॥[1]

वृंदावन मे चलने वाला पवन यमुना के किनारे के वृक्षों के पुष्पों को तोड़कर मानो उन सुगंधित पुष्पों से यमुना की पूजा करता है। यहाँ कोई भी उत्प्रेक्षावाचक शब्द (जनु, मनु, इव आदि) नहीं है, फिर भी उत्प्रेक्षा है; अतः यहाँ 'गम्योत्प्रेक्षा' है।

'गम्योत्प्रेक्षा' के अन्य उदाहरण :

(१) बाल रहीं इकटक निरखि ललित लालमुखइन्दु।
रीझ भार अखियाँ थकीं, झलके श्रमजलबिंदु॥[2]

(२) सुख सर्मेटियतु मेटियतु भली भाँति गुन-ज्ञान।
पैयतु है पारस परयौ जहँ तहँ मिलत सुजान॥[3]

(३) सूक्ष्म लंक कुच धरन कौं कसी कनक की दाम।[4]

(४) नित्य ही नहाता क्षीर-सिंधु में कलाधर है
सुन्दर तवानन की समता की इच्छा से।[5]

सापह्नवोत्प्रेक्षा : जब अपह्नुतिसहित (निषेध-पूर्वक) उत्प्रेक्षा हो, तो 'सापह्नवोत्प्रेक्षा' अलंकार होता है।

उदाहरण

सीता के पदपद्म के नूपुर पट जनि जानु।
मनहु कर्यो सुग्रीव घर राजश्री प्रस्थानु॥[6]

रावण द्वारा अपहृत सीता ने आकाश-मार्ग में से अपने चरण-नूपुर और वस्त्र डाले। वे सुग्रीव को मिले। इसी प्रसंग में कवि कल्पना करता है कि मानो वे सीता के चरण-नूपुर और वस्त्र नहीं हैं, अपितु राजलक्ष्मी है जो सुग्रीव के पास आई है। यहाँ अपह्नुतिसहित उत्प्रेक्षा होने के कारण 'सापह्नवोत्प्रेक्षा' है।

---

१. अलंकार-मंजूषा, पृ० १०७
२. ललितललाम, ११० (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३७२)
३. पद्माभरण, ६१ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ३६)
४. काव्यकल्पद्रुम (द्वितीय भाग—अलंकार मंजरी), पृ० १६५
५. काव्यदर्पण (पं० रामदहिन मिश्र), पृ० ३६३
६. रामचंद्रिका, १२।२५

इस अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) कमलन कहँ तेहि मित्र गुनि, मानहु हितके काज ।
    प्रबिसहिं सर नहिं न्हान हित, रवि-तापित गजराज ॥[1]

(२) रामचंद्र भूपाल-मनि, ये न चलावें बान ।
    रावन-रथ पर कोप करि, बरसत काल कृसान ॥[2]

(३) कुच समता कहुक करत मानो तिहि अपराध ।
    पुनि-पुनि पटकत पुहुमि पर, नहिं क्रीडा हित साध ॥[3]

अतिशयोक्ति

अतिशयोक्ति (अतिशय + उक्ति) का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है 'लोकमर्यादा को उल्लंघन करने वाली उक्ति'। इस अलंकार के निम्नांकित भेद हैं

१ रूपकातिशयोक्ति, २ भेदकातिशयोक्ति, ३ सम्बन्धातिशयोक्ति, ४ असम्बन्धातिशयोक्ति, ५ चपलातिशयोक्ति, ६ अक्रमातिशयोक्ति, ७ अत्यन्तातिशयोक्ति और ८ सापह्नवातिशयोक्ति ।

१ रूपकातिशयोक्ति जहाँ केवल उपमान द्वारा उपमेय का बोध कराया जाय, वहाँ 'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार होता है।[4]

उदाहरण

(राम सीय सिर सेंदुर देहीं । सोभा कहि न जाति बिधि केहीं ॥)
अरुन पराग जलजु भरि नीकें । ससिहि भूष अहि लोभ अमी कें ॥[5]

विवाह-संस्कार के समय राम (वर) सीता (दुल्हन) की माँग में सिंदूर भर रहे हैं। कवि कल्पना करता है कि कमल में लाल पराग भरकर सर्प अमृत के लोभ से चंद्रमा को विभूषित कर रहा है। यहाँ अरुन पराग से सिंदूर का, जलज से राम के हाथ का, चंद्रमा से सीता के मुख (ललाट) का और अहि (सर्प) से राम की भुजा का बोध होता है। इस प्रकार यहाँ केवल उपमानों (अरुन पराग, जलज, ससि और अहि) से उपमेयों (क्रमशः सिंदूर, पाँचों

---

१. अलंकार-मंजूषा, पृ० १०८

२. काव्यांग कौमुदी (तृतीय कला), पृ० १२३

३. काव्यालोचन, पृ० १३४

४. (क) रूपकातिशयोक्तिः स्यान्निगीर्याध्यवसानतः ।
        पश्य नीलोत्पलद्वन्द्वान्निःसरन्ति शिताः शराः ॥
                                        —कुवलयानंद, ३६

   (ख) अतिशयोक्ति-रूपक जहाँ, केवल ही उपमान ।
        कनकलता पर चंद्रमा, धरे धनुष द्वै बान ॥
                                        —भाषाभूषण, ७०

५ रामचरितमानस, १।३२५।८-६

उँगलियों सहित हाथ, सीता का ललाट और राम की भुजा) का बोध होने के कारण 'रूपकातिशयोक्ति' है।

इस अलकार के अन्य उदाहरण

(१) अद्भुत एक अनुपम बाग।
जुगल कमल पर गज बर क्रीड़त, तापर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरवर, सर पर गिरिबर, गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसत ता ऊपर, ता ऊपर अमृत फल लाग॥
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, ता पर सुक, पिक, मृगमद काग।
खजन, धनुष, चन्द्रमा ऊपर, ता ऊपर इक मनिधर नाग॥[1]

बाग=राधा का शरीर, जुगल कमल=दोनो चरण, गज=जघा, सिंह=कटि, सरवर=नाभि, गिरिबर=कुच, कज=कुच का अग्र भाग, कपोत=कठ, अमृत फल=चिबुक, पुहुप=गोदना बिंदु, पल्लव=ओष्ठ, सुक=नासिका, पिक=वाणी (जिह्वा), मृगमद=ललाट पर कस्तूरी की बिंदी, काग=काकपक्ष (अलक या पाटी), खजन=नेत्र, धनुष=भौंह, चद्रमा=ललाट, मनिधर नाग=सीमफूल सहित गुँथी हुई वेणी या चोटी।

(२) कनकलतानि इदु, इदु माँहि अरबिंद,
झरें अरबिंदन ते बुन्द मकरद के।[2]

(३) कनक थली ऊपर लसैं, कचन-कलस बिसाल।
तहँ देखे द्वै हँज के चन्द विराजत लाल॥[3]

(४) बाँधा था विधु को किसने
इन काली जजीरों से
मणि वाले फणियों का मुख,
क्यों भरा हुआ हीरों से?[4]

(५) विद्रुम सीपी सम्पुट में
मोती के दाने कैसे
हैं हस न, शुक यह, फिर क्यों
चुगने को मुक्ता ऐसे?[5]

(६) कल्पलता, जानें, आलिंगन से कब तपन हरेगी?[6]

२ भेदकातिशयोक्ति : जब उपमेय और उपमान मे कुछ भी भेद न होने

---

१ सूरसागर, १०।२११० (सूरसागर दूसरा खण्ड, पृ० ९४५)
२. शिवराजभूषण, ११० (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ३५)
३. पद्माभरण, ६३ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ४०)
४. आँसू (प्रसाद), पृ० २१
५ आँसू (प्रसाद), पृ० २३
६ उर्वशी (प्रथम अंक), पृ० २४

पर 'और', 'औरै', 'न्यारा', 'अन्य' आदि वाचक पदों से भिन्नता बतलाई जाय, तब 'भेदकातिशयोक्ति' अलंकार होता है।[1]

उदाहरण

> अनियारे दीरघ दृगनि, किती न तरनि समान ?
> वह चितवनि औरै कछू, जिहि बस होत सुजान ॥[2]

कटाक्षपूर्ण दीर्घ नेत्रों वाली अनेक युवतियाँ एक जैसी हैं; किन्तु वह (उस नायिकाविशेष का) कटाक्ष कुछ और ही है, जिसके वश में चतुर लोग भी हो जाते हैं। यहाँ 'औरै' शब्द से 'भेदकातिशयोक्ति' प्रकट की गयी है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) औरै हंसनि बिलोकिबो, औरै बचन उदार।
'तुलसी' ग्रामबधून के देखे रह न सँभार ॥[3]

(२) औरै कछु चितवनि चलनि, औरै मृदु मुसकानि।
औरै कछु सुख देति है, सकै न बैन बखानि ॥[4]

(३) जगत को जीत वार जीत्यो अवरंगजेब,
न्यारी रीति भूतल निहार सिवराज की ॥[5]

(४) नगर भरे सब साज सौं, किते न जगत लखात।
प्रेम-पुरी औरै कछू, सज्जन जहाँ बिकात ॥[6]

(५) अवलोकनि बोलनि हंसनि, डोलनि औरै-और।
भावनि मृदु गावनि सबै, औरै वाके तौर ॥[7]

३ सम्बन्धातिशयोक्ति जहाँ असम्बन्ध में सबंध की कल्पना की जाय,

---

१. (क) भेदकातिशयोक्तिस्तु तस्यैवान्यत्ववर्णनम्।
अन्यदेवास्य गाम्भीर्यमन्यद्धैर्यं महीपते. ॥
—कुवलयानन्द, ३८

(ख) अतिशयोक्ति-भेदक वहै, जो अति भेद दिखात।
औरै हँसिवो देखिवो, औरै याकी बात ॥
—भाषाभूषण, ७२

(ग) अतिशयोक्ति-भेदक जु पद औरै तिहि श्रुति-वाज।
वह कविता औरै जु सुनि घूमत सुघर-समाज ॥
—पद्माभरण, ६१ (पद्माकर-ग्रन्थावली, पृ० ४०)

२. बिहारीबोधिनी, ८१

३. अलंकार-मंजूषा, पृ० ११०

४. ललितललाम, ११७ (मतिराम-ग्रन्थावली, पृ० ३७२)

५. शिवराजभूषण, ११२ (भूषण-ग्रन्थावली, पृ० ३६)

६. काव्यकल्प-कौमुदी (तृतीय कला), पृ० १२४

७. अलंकार-मंजूषा, पृ० १०६

वहाँ 'सम्बन्धातिशयोक्ति' अलकार होता है। इस अलकार मे अयोग्य मे योग्यता प्रकट करके प्रस्तुत की अतिशय प्रशसा की जाती है।[1]

उदाहरण .

देख लो, साकेत नगरी है यही,
स्वर्ग से मिलने गगन मे जा रही।
केतु - पट अचल - सदृश हैं उड़ रहे,
कनक - कलशों पर अमर - दृग जुड़ रहे ![2]

साकेत नगरी मे यह योग्यता नही कि वह स्वर्ग से मिल सके, किंतु यहाँ अयोग्य मे योग्यता प्रकट करके दोनो मे असम्बन्ध होते हुए भी सबध दिखाया गया है, अत 'सम्बन्धातिशयोक्ति' अलकार है।

इस अलकार के अन्य उदाहरण

(१) सूर तुरंगन के उरझें पग तुंग पताकनि की पट साजनि ।[3]

(२) या पुर के मदिर कहैं, ससि लौं ऊँचे लोग ।[4]

(३) छबि फहरैं अति उच्च निसाना । जिन महँ अटक्त बिबुध-बिमाना ।।[5]

४. असम्बन्धातिशयोक्ति : जहाँ योग्य मे अयोग्यता का वर्णन किया जाय, वहाँ 'असम्बन्धातिशयोक्ति' अलकार होता है ।[6]

उदाहरण '

अति सुन्दर लखि मुख तिय तेरो । आदर हम न करत ससि केरो ।।[7]

यहाँ शशि (चद्रमा) सम्मान के योग्य होने पर भी मुख की अतिशय सुन्दरता वर्णन करने के लिए अनादर का पात्र कहा गया है, अत 'असबधातिशयोक्ति' है।

---

१. (क) सबधातिशयोक्तिः स्यादयोगे योगकल्पनम् ।
सौधाग्राणि पुरस्यास्य स्पृशन्ति विधुमण्डलम् ।।
—कुवलयानद, ३९

(ख) सबधातिसयोक्ति जहँ, देत अजोगहि जोग । —भाषाभूषण, ७३

(ग) सबधातिसयोक्ति सु जानो । जहँ अजोग में जोग बखानो ।
—पद्माभरण, ६६ (पद्माकर-ग्रन्थावली, पृ० ४०)

२. साकेत (प्रथम सर्ग), पृ० १९

३. रामचद्रिका, ३१।८

४. भाषाभूषण, ७३

५. पद्माभरण, ६६ (पद्माकर-ग्रन्थावली, पृ० ४०)

६. योगेऽप्ययोगोऽसबधातिशयोक्तिरितीर्यते ।
त्वयि दातरि राजेन्द्र ! स्वद्रुमान्नाद्रियामहे ।। —कुवलयानद, ४०

७. पद्माभरण, ६७ (पद्माकर ग्रन्थावली, पृ० ४०)

'असम्बन्धातिशयोक्ति' के अन्य उदाहरण :

(१) सदा पुनीत अमित महिमा अति । कहि न सकै सारदा बिमल मति ॥[1]

(२) महि पत्री करि सिंधु मसि, तरु लेखनी बनाइ ।
तुलसी गनपति सों तदपि, महिमा लिखी न जाइ ॥[2]

(३) तो कर आगे कलपतरु, कहो पावै सनमान ॥[3]

५. चपलातिशयोक्ति : जब कारण को देखकर या सुनकर अथवा उसके ज्ञानमात्र से ही कार्य हो जाय, तब 'चपलातिशयोक्ति' अलंकार होता है ।[4]

उदाहरण

तेरी चमू चलिबे की चरचा चले ते चक्र,
वर्तिन की चतुरंग चमू बिचलति है ॥[5]

यहाँ कहा गया है कि शिवाजी की सेना के चलने की बातचीत सुनकर ही चक्रवर्ती राजाओं की चतुरंगिणी सेनाएँ विचलित हो जाती हैं, इस प्रकार कारण को सुनकर ही कार्य का सम्पन्न होना कहा गया है, अतः 'चपलाति-शयोक्ति' अथवा 'चपलातिशयोक्ति' है ।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) आयो आयो सुनत ही सिव सरजा तुव नाँव ।
बैरि नारि दृग जलन सों बूडि जात अरि गाँव ॥[6]

(२) कगन ही भई मूँदरी, पीय-गवन सुनि आज ॥[7]

(३) सुनत पयान मुकुन्द पी को । दरक्यो मुक्तहार तिय ती को ॥[8]

६. अक्रमातिशयोक्ति : जहाँ कारण और कार्य दोनों का एक साथ होना

---

१. रामचरितमानस, १।३५।२
२. वैराग्यसंदीपनी, ३५
३. भाषाभूषण, ७४
४. (क) चपलातिशयोक्तिस्तु कार्ये हेतुप्रसक्तिजे ।
यास्यामीत्युदिते तन्व्या वलयोऽभवदूर्मिका ॥ —कुवलयानंद, ४२
(ख) जो चपलातिशयोक्ति छाजै । हेतु-प्रसंगहिं तें सिधि काजै ॥
—पद्माभरण, ६६ (पद्माकर-ग्रन्थावली, पृ० ४०)
५ शिवराजभूषण, ११७ (भूषण-ग्रन्थावली, पृ० ३८)
६ शिवराजभूषण, ११६ (भूषण-ग्रन्थावली, पृ० ३७)
७ भाषा-भूषण, ७६
८ पद्माभरण, ६६ (पद्माकर-ग्रन्थावली, पृ० ४०)

वर्णित हो, वहाँ 'अक्रमातिशयोक्ति' अलंकार होता है।[1]

उदाहरण -

बानासन तें रावरे, बान बिषम रघुनाथ।
दससिर-सिर धर तें छुटे, दोऊ एकहि साथ॥[2]

यहाँ राम के धनुष से बाणों का निकलना (कारण) और रावण के मस्तकों का गिरना (कार्य) साथ ही साथ होना वर्णित है, अतः 'अक्रमातिशयोक्ति' है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण :

(१) दोऊ बातें छूटी गजराज की बराबर ही,
पाँव ग्राह-मुख ते पुकार निज मुख ते।[3]

(२) बानन के साथ छूटे प्रान तुरकन के।[4]

(३) वह शर इधर गाण्डीव-गुण से भिन्न जैसे ही हुआ,
धड़ से जयद्रथ का उधर सिर छिन्न वैसे ही हुआ।[5]

७ अत्यन्तातिशयोक्ति जहाँ कारण से पूर्व ही कार्य की उत्पत्ति का वर्णन हो वहाँ 'अत्यन्तातिशयोक्ति' अलंकार होता है।[6]

उदाहरण -

अधरों को छूने से पहले ही यहाँ सूखते प्याले।[7]

---

१ (क) अक्रमातिशयोक्तिः स्यात् सहत्वे हेतुकार्ययोः।
आलिङ्गन्ति समं देव! ज्या शराश्च पराश्च ते॥
—कुवलयानंद, ४१

(ख) अतिसयोक्ति-अक्रम जबै, कारज-कारन संग।
तो सर लागन साथ ही, धनुषहि अरु अरि-अंग॥
—भाषाभूषण, ७५

(ग) अतिसयोक्ति अक्रम जु सँग कारन-काज बखान।
कढ़त साथ ही म्यान तें असि रिपु-तन तें प्रान॥
—पद्माभरण, ६८ (पद्माकर-ग्रन्थावली, पृ० ४०)

२ अलंकार-मंजूषा, पृ० ११३

३. ललितललाम, १२४ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३७५)

४. शिवराजभूषण, ११४ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ३७)

५ जयद्रथवध, पृ० ८६

६ (क) अत्यन्तातिशयोक्तिस्तु पौर्वापर्यव्यतिक्रमे।
अग्रे मानो गतः पश्चादनुनीता प्रियेण सा॥ —कुवलयानंद, ४३

(ख) होत हेतु पीछे जहाँ, होत प्रथम ही काज।
अत्यतातिसयोक्ति तहँ, बरनत सब कविराज॥
—ललितललाम, १२८ (मतिराम-ग्रन्थावली, पृ० ३७६)

७. अलंकार-प्रदीप, पृ० १५१

यहाँ ओठों का स्पर्श रूप कारण बाद में हुआ है, उनका कार्य (प्राणों का चूसना) पहले ही सम्पन्न हो गया है, अतः 'अत्यन्तातिशयोक्ति' है।

'अत्यन्तातिशयोक्ति' के अन्य उदाहरण

(१) राजन राउर नामु जसु सब अभिमत दातार।
फल अनुगामी महिपमनि मन अभिलाषु तुम्हार॥[1]

(२) बान न पहुँचे अंग लौं, अरि पहिले गिरि जाहि॥[2]

(३) ग्राह-ग्रहीत गयंद-मुख, कढ़न न पाई 'त्राहि'।
पहले ही हरि आय कै, निज कर उधर्‌यो ताहि॥[3]

(४) कवि तरवर सिव सुजस रस सींचे अचरज मूल।
सुफल होत है प्रथम ही पीछे प्रगटत फूल॥[4]

(५) पहिलेई प्रभु आइ उबार्‌यो। पीछे गज हरि-नाम पुकार्‌यो॥[5]

८ सापह्नवातिशयोक्ति अपह्नुतिसहित अतिशयोक्ति को 'सापह्नवातिशयोक्ति' कहा गया है। 'सापह्नवातिशयोक्ति' में प्रायः 'रूपकातिशयोक्ति' के साथ अपह्नुति का मेल होता है।

उदाहरण

अहि ससि-मंडल पै लसै, जिन पताल जिन जानु।[6]

यहाँ मुखरूपी चन्द्रमा पर वेणीरूपी सर्प का वर्णन है। यह कहा गया है कि उसे पाताल में मत जानो। इस प्रकार पूर्वार्द्ध में रूपकातिशयोक्ति और उत्तरार्द्ध में अपह्नुति है; किन्तु ये दोनों इस प्रकार मिली हुई हैं कि दोनों एक ही हैं और इसीलिए इसे 'सापह्नवातिशयोक्ति' माना गया है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण :

(१) सु अलि कमल तेरे तनहि सर में कहत अजान।[7]

(२) मुक्ता-खचित विद्रुमों में वह भरा मधुर रस अनुपम है,
पुष्प, भार-वाहक केवल हैं यहाँ नहीं पाते हम हैं,
सुधा, सुधाकर में न कहीं है वसुधा में यदि सुधा कहीं—
तो है यहीं देखिये चल कर रमणी में प्रत्यक्ष यहीं॥[8]

---

१. रामचरितमानस, २।३।६-१०
२. भाषाभूषण, ७७
३. अलंकार-मञ्जूषा, पृ० ११६
४. शिवराजभूषण, १२० (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ३६)
५ पद्माभरण, ७० (पद्माकर-ग्रन्थावली, पृ० ४०)
६. अलंकार-मञ्जूषा, पृ० ११८
७ पद्माभरण, ६४ (पद्माकर-ग्रन्थावली, पृ० ४०)
८ काव्यकल्पद्रुम (द्वितीय भाग—अलंकार मञ्जरी), पृ० २०१

तुल्ययोगिता

जब क्रिया अथवा गुण द्वारा अनेक व्यक्तियों या पदार्थों का एक ही धर्म कहा जाय, तो वहाँ 'तुल्ययोगिता' अलंकार होता है ।[1] इसके चार भेद हैं : प्रथम, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ ।

१. प्रथम तुल्ययोगिता : जहाँ अनेक उपमेयों का एक ही साधारण धर्म हो वहाँ 'प्रथम तुल्ययोगिता' होती है ।

उदाहरण :

कमल कोक मधुकर खग नाना । हरषे सकल निसा अवसाना ।।[2]

यहाँ कमल, कोक, मधुकर एवं खग उपमेय हैं । इनका एक ही साधारण धर्म (हरषे) कहा गया है, अतः यहाँ 'प्रथम तुल्ययोगिता' है ।

'प्रथम तुल्ययोगिता' के अन्य उदाहरण

(१) गुर रघुपति सब मुनि मन माहीं । मुदित भये पुनि पुनि पुलकाहीं ।।[3]

(२) अभिनव जोबन जोति सों, जगमग होत बिलास ।
तिय के तन पानिप बढ़ै, पिय के नैननि प्यास ।।[4]

(३) कमल गुलाब चकन की सैना । होत प्रफुल्लित नव तिय नैना ।।[5]

२. द्वितीय तुल्ययोगिता : जहाँ अनेक उपमानों का एक ही साधारण धर्म कहा जाय वहाँ 'द्वितीय तुल्ययोगिता' होती है ।

उदाहरण :

सिव सरजा भारी भुजन भुव भरु धर्‌यो सभाग ।
भूषन अब निहचिंत हैं सेसनाग दिगनाग ।।[6]

भूषण कहते हैं कि शिवाजी ने अपनी भुजाओं पर पृथ्वी का भार धारण कर लिया है, अतः अब शेषनाग और दिशाओं के हाथी निश्चित हो गये हैं। यहाँ शेषनाग और दिशाओं के हाथी (दिगनाग), इन दोनों उपमानों का एक

---

१. (क) नियतानां सकृद्धर्मः सा पुनस्तुल्ययोगिता ।
—काव्यप्रकाश, १०।१०४ (सू० १५८)

(ख) पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् ।
एकधर्माभिसंबंधः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ।।
—साहित्यदर्पण, १०।४७,४८

(ग) वर्ण्यानामितरेषां वा धर्मैक्यं तुल्ययोगिता । —कुवलयानंद, ४४

२. रामचरितमानस, १।२३९।२

३. रामचरितमानस, १।२५४।३

४. ललितललाम, १३२ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३७७)

५. पद्माभरण, ७१ (पद्माकर-ग्रन्थावली, पृ० ४१)

६. शिवराजभूषण, १२६ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ४०)

ही साधारण धर्म (निश्चित है) कहा गया है, अतः 'द्वितीय तुल्ययोगिता' है।

'द्वितीय तुल्ययोगिता' के अन्य उदाहरण

(१) एक बेर जिन जिन लखे तेरे लोचन चाहि।
तोहि लगत मीन मृग, खञ्जन कञ्ज न ताहि॥[1]

(२) लखि तेरी सुकुमारता, ए री या जग माहिं।
कमल गुलाब कठोर-से, केहि को भासत नाहिं॥[2]

(३) मञ्जु मधुर वच सुनि सिहि ली के। दाख अमृत मधु लागहिं फीके॥[3]

३. तृतीय तुल्ययोगिता: जहाँ उपमेय का उत्कृष्ट गुण वाले उपमानों के साथ वर्णन किया जाय वहाँ 'तृतीय तुल्ययोगिता' होती है।

उदाहरण

कामधेनु अरु कामतरु चिन्तामनि मन मानि।
अरु चौथो तेरो सुजस ए सकला के दानि॥[4]

यहाँ राजा के सुजस (प्रस्तुत) को कामधेनु आदि वाञ्छित फल देने वाली उत्कृष्ट वस्तुओं के साथ गणना करके उन्हीं के समान वाञ्छित फलदायक कहा गया है, अतः 'तृतीय तुल्ययोगिता' है।

'तृतीय तुल्ययोगिता' के अन्य उदाहरण

(१) भोज विक्रमादित्य नृप, जगदेवो रनधीर।
दानिनहू के दानि तिन, इन्द्रजीत वर वीर॥[5]

(२) तुहीं सिरीनिधि धर्मनिधि, तुहीं इन्द्र अरु चन्द।[6]

(३) अवध सुरेस रमेस महेसा। सेस गनेसहु तुमहु नरेसा॥[7]

४. चौथी तुल्ययोगिता: जहाँ शत्रु और मित्र में एक ही प्रकार की वृत्ति दिखाई जाय अथवा विरोधी वस्तुओं का एक ही साधारण धर्म कहा जाय, वहाँ 'चौथी तुल्ययोगिता' होती है।[8]

---

१. अलंकार-प्रदीप, पृ० १५३
२. अलंकार-मञ्जूषा, पृ० १२०
३. पद्माभरण, ७२ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ४१)
४. अलंकार-मञ्जूषा, पृ० १२१
५. काव्याङ्ग-कौमुदी (तृतीय कला), पृ० १०६
६. भाषा भूषण, ८०
७. पद्माभरण, ७५ (पद्माकर-ग्रन्थावली, पृ० ४१)
८. (क) हिताहिते वृत्तितौल्यमपरा तुल्ययोगिता।
प्रदीयते पराभूतिर्मित्रशात्रवयोस्त्वया॥ —कुवलयानन्द, ४६
(ख) जहँ हित औ अनहित्त में, वरनत वर्तन तूल।
तुल्ययोगिता और तहँ, कहत सुकवि मतिमूल॥
—ललितललाम, १३३ (मतिराम-ग्रन्थावली, पृ० ३७८)

उदाहरण .

वंदौं संत समानचित हित अनहित नहिं कोउ।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोउ ॥[1]

इस दोहे के पूर्वार्द्ध में 'चौथी तुल्ययोगिता' है क्योंकि संतो को हित (मित्र) और अनहित (शत्रु) दोनो के प्रति समान भाववाला कहा गया है। इसी प्रकार निम्नांकित उद्धरणों में भी 'चौथी तुल्ययोगिता' है।

(१) जे निसि-दिन सेवन करैं, अरु जे करैं बिरोध।
तिन्हैं परम पद देत हरि, कहौ कौन यह बोध ॥[2]

(२) गुननिधि नीकैं देत तू, तिय कौ अरि को हार ॥[3]

(३) हौं जानी वीसहु-बिसे तो वस भए गुपाल।
सौतिन कौं अरु सखिन कौं देत देखियतु साल ॥[4]

(४) जो सींचत काटत जु है जो पेरत जन कोइ।
जो रखत तिन सबन कौं ऊख मीठियै होइ ॥[5]

दीपक

जहाँ उपमेय और उपमान दोनों का एक धर्म कहा जाय, वहाँ 'दीपक' अलंकार होता है।[6]

उदाहरण .

गज मद सौं नृप तेज सों, सोभा लहत बनाय।[7]

---

१. रामचरितमानस, १।३।१३-१४
२ ललितललाम, १३४ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३७८)
३ भाषा-भूषण, ७६
४. पद्माभरण, ७३ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ४१)
५. पद्माभरण, ७४ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ४१)
६ (क) उपमानोपमेयवाक्येष्वेका क्रिया दीपकम् ॥
—काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, ४।३।१८
(ख) अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते ॥
—साहित्यदर्पण, १०।४८
(अप्रस्तुतप्रस्तुतयो एकधर्माभिसम्बन्ध इत्यर्थ ।)
(ग) वदन्ति वर्ण्यावर्ण्यानां धर्मैक्यं दीपकं बुधाः ।
मदेन भाति कलभ प्रतापेन महीपति ॥ —कुवलयानंद, ४८
(घ) वर्न्य-अवर्न्यनि को जहाँ, धरम होत है एक।
वरनत हैं दीपक तहाँ, कवि करि विमल विवेक ॥
—ललितललाम, १३५ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३७८)
७ भाषाभूषण, ८१

हाथी मद से और राजा तेज से अत्यंत शोभा पाता है। यहाँ 'नृप' वर्ण्य (उपमेय) है और 'गज' अवर्ण्य (उपमान) है। इन दोनों का एक ही साधारण धर्म 'शोभा लहत बनाय' कहा गया है, अतः 'दीपक' अलंकार है।

'दीपक' के अन्य उदाहरण

(१) सुरसरिता सो सिन्धु, अरु चंद्रिकाहि सो चंद।
कीरति सो जसवंत नृप, महिमा धरत अमंद ॥[1]

(२) कमलन सों सर सोभिजै तिय-तन जोबन पाइ।[2]

(३) सोहत भूपति दान सों, फल-फूलन आराम ॥[3]

कारक दीपक

जब एक ही कर्ता की अनेक क्रियायें एक ही क्रम से आयें, तब 'कारक दीपक' होता है।[4]

उदाहरण

बतरस-लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै, भौंहनु हँसै, दैन कहै, नटि जाय ॥[5]

यहाँ एक ही कर्ता (राधा) की अनेक क्रियायें (सौंह करना, भौंहन हँसना, देन कहना और नट जाना) एक ही क्रम से आयी हैं, अतः यहाँ 'कारक दीपक' है।

'कारक दीपक' के अन्य उदाहरण

(१) लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़ें। काहु न लखा देख सबु ठाढ़ें ॥[6]

(२) ऋषिहिं देखि हरषै हियो, राम देखि कुम्हिलाय।
धनुष देखि डरपै महा, चिंता चित्त डोलाय ॥[7]

(३) आती और जाती रहती है पर चैन पाती नहीं,
मानों खोजती है उसे साँसें घबरायी सी ॥[8]

---

१. अलंकार-मंजूषा, पृ० १२४
२. पद्माभरण, ७६ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ४१)
३. अलंकार मंजूषा, पृ० १२३
४. (क) कारकस्य च बह्वीषु क्रियासु सकृद्वृत्तिर्दीपकम्।
—काव्यप्रकाश, १०।१०३ (सू० १५६) पर कारिका
(ख) क्रमिकैकगतानां तु गुम्फः कारकदीपकम्।
गच्छत्यागच्छति पुनः पान्थः पश्यति पृच्छति ॥
—कुवलयानन्द, ११७
५. बिहारी-बोधिनी, ३५६
६. रामचरितमानस, १।२६१।३
७. रामचन्द्रिका, ५।४०
८. काव्य-प्रदीप, पृ० १६७

मालादीपक

जहाँ पहले कही गयी बात पीछे कही गयी बात की शोभावर्द्धक हो वहाँ 'माला दीपक' अलकार होता है।[1] 'दीपक' और 'एकावली' का सयोग 'मालादीपक' होता है।[2]

उदाहरण ·

> रस से काव्य, काव्य से वाणी, वाणी से विद्वज्जन।
> विद्वज्जन से सदा सभा का बढता है शोभा-धन॥[3]

यहाँ काव्य का रस, वाणी का काव्य, विद्वज्जन का वाणी और सभा का विद्वज्जन शोभावर्द्धक कहा गया है। इस प्रकार उत्तरोत्तर गुणो को बढाने वाली बात का वर्णन होने से 'मालादीपक' है।

'मालादीपक' के अन्य उदाहरण

(१) भरत सरिस को रामसनेही। जगु जप राम रामु जप जेही॥[4]

(२) काम-धाम तिय हिय भयो, तिय-हिय को तू धाम॥[5]

(३) मन-मदिर तें तिय लसै तिय में सु-छवि-उदोत॥[6]

(४) जग की रुचि बृजबास, बृज की रुचि बृजचद हरि।
हरि-रुचि बसी दास, बसी-रुचि मन बाँधिबो॥[7]

(५) घन में सुन्दर बिजली-सी बिजली में चपल-चमक सी
आँखो में काली पुतली पुतली में श्याम झलक-सी।
प्रतिमा में सजीवता-सी बस गई सुछवि आँखो में,
थी एक लकीर हृदय में जो अलग रही लाखो में।[8]

---

१ मालादीपकमाद्य चेद्यथोत्तरगुणावहम्।
—काव्यप्रकाश, १०।१०४ (सू० १५७)

२ (क) दीपकैकावलीयोगान्मालादीपकमिष्यते।
स्मरेण हृदये तस्यास्तेन त्वयि कृता स्थिति॥
—कुवलयानद, १०७

(ख) दीपक एकावलि मिले मालादीपक होय।
—शिवराजभूषण, २३५ (भूषण-ग्रन्थावली, पृ० ६७)

(ग) दीपक एकावलि मिलै, मालादीपक नाम। —भाषाभूषण, १३८

३. काव्य-प्रदीप, पृ० १६२

४ रामचरितमानस, २।२१७।८

५. भाषाभूषण, १३८

६ पद्माभरण, १७८ (पद्माकर-ग्रन्थावली, पृ० ५४)

७ काव्यनिर्णय, १८।४३ (भिखारीदास-ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १७४)

८. आँसू (जयशकर प्रसाद), पृ० १६, २०

आवृत्ति दीपक

जब एक ही क्रिया द्वारा अनेक पद, अर्थ और पद-अर्थ दोनों की अभिव्यक्ति हो, तब 'आवृत्ति दीपक' नामक अलंकार होता है। इसके तीन भेद हैं: १. पदावृत्ति, २. अर्थावृत्ति, और ३ पदार्थावृत्ति।

१ पदावृत्ति दीपक जब भिन्न-भिन्न अर्थ वाले एक ही क्रियात्मक पद की आवृत्ति हो तब 'पदावृत्ति दीपक' होता है।

उदाहरण :

घन बरसै है री सखी, निसि बरसै है देखि।[1]

[हे सखी, देख, बादल बरस रहा है और रात्रि वर्ष (बारह महीने) होती जाती है] यहाँ एक ही शब्द 'बरसै' की आवृत्ति है और उसके भिन्न-भिन्न अर्थ हैं, अतः 'पदावृत्ति दीपक' अलंकार है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण :

(१) जागत ही तुम जागत में भावसिंह की धाक।
जागत गिरिवर कंदरनि अरिवर तजि अभिमान॥[2]

(२) पल कलपै कलपै पिय प्यारो।[3]

(३) रहै चकित ह्वै चकित ह्वै, सुन्दरि रति ह्वै मौनि।
तुव चितौनि लखि ठौनि लखि, भृकुटि मौनि लखि रौनि॥[4]

२ अर्थावृत्ति दीपक : जब एक ही अर्थ वाले भिन्न-भिन्न शब्दों की आवृत्ति होती है तब 'अर्थावृत्ति दीपक' अलंकार होता है।

उदाहरण

फूले वृच्छ कदंब के, केतक बिकसे आहि।[5]

कदंब के वृक्ष फूले हैं और केवड़ा भी विकसित है। यहाँ केवल अर्थ की (फूले हैं) आवृत्ति है, शब्द या पद (फूले, बिकसे) भिन्न-भिन्न हैं। अतः यहाँ 'अर्थावृत्ति दीपक' अलंकार है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण :

(१) कुसुमित बिबिध बिटप बहु रंगा। कूजहिं कोकिल गुंजहिं भृंगा॥[6]

(२) पयपयोधि तजि अवध बिहाई। जहँ सिय लखनु रामु रहे आई॥[7]

---

१. भाषाभूषण, ८३
२. ललितललाम, १२८ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३७८)
३. पद्माभरण, ७६ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ४२
४. काव्यनिर्णय, १८।३१ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० १७२)
५ भाषाभूषण ८४
६ रामचरितमानस, २।१२६।२
७. रामचरितमानस, २।१३८।५

(३) दिन-दिन विकसे कुंज-बन, फूले रुचिर रसाल ।[1]
(४) लखौ लाल तुमकों लसत, यों विलास अधिकात ।
विहँसत ललित कपोल हैं, मधुर नैन मुसकात ॥[2]

२. पदार्थावृत्ति दीपक - जब ऐसे पद की आवृत्ति होती है जिसमें वही शब्द और वही अर्थ होता है तब वहां 'पदार्थावृत्ति दीपक' होता है।

उदाहरण :

बोलत चातक चाय सों, बोलत मत्त मयूर ।[3]

यहां 'बोलत' पद में पद और अर्थ दोनों की आवृत्ति होने से 'पदार्थावृत्ति दीपक' अलंकार है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण :

(१) भलो भलाइहि पै लहइ लहइ निचाइहि नीचु ।
सुधा सराहिअ अमरता गरल सराहिअ मीचु ॥[4]
(२) सोइ जानइ जेहि देहु जनाई । जानत तुम्हहि तुम्हइ होइ जाई ॥[5]
(३) चित दै चितै चकोर त्यों, तीजे भजै न भूख ।
चिनगी चुगै अँगार की, चुगै कि चन्द-मयूख ॥[6]
(४) गरजत है रन रामजू, गरजत है दससीस ।
धावत रिस भरि रजनिचर, चहुँ दिसि धावत कीस ॥[7]
(५) मत्त भए हैं मोर अरु, चातक मत्त सराहि ।[8]
(६) बन प्रफुलित प्रफुलित कचनारो । भ्रमत भ्रमर, मन भ्रमत हमारो ॥[9]
(७) तोर्‌यो नृपगन को गरब, तोर्‌यो हर-कोदंड ।
राम जानकी-चित्त को, तोर्‌यो दुःख प्रचंड ॥[10]

देहरीदीपक

जहां मध्यस्थित कोई पद पूर्व और पर पदों के साथ अर्थों का द्योतन

---

१. अलंकार-मंजूषा, पृ० १२५
२. ललितललाम, १३६ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३७८)
३. अलंकार-मंजूषा, पृ० १२६
४. रामचरितमानस, १।५।१०-११
५. रामचरितमानस, २।१२६।३
६. बिहारी-बोधिनी, २६५
७. अलंकार-मंजूषा, पृ० १२६
८. भाषाभूषण, ८४
९. पद्माभरण, ७१ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ४२)
१०. काव्यनिर्णय, १८।१६ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १७३)

करता है वहाँ 'देहलीदीपक' अलंकार होता है।

उदाहरण—

लहि अनवत नरेस पद ढबिन निहारत तु कौन।
अनल प्रजा नरदेन अरु सनय जु मण्डित मर्दन॥[1]

यहाँ 'कौन' पद मध्यस्थित होकर दोहे के पूर्वार्द्ध के साथ भी लगता है और उत्तरार्द्ध के साथ भी। अतः इसे 'देहलीदीपक' का उदाहरण कहेंगे।

'देहलीदीपक' के अन्य उदाहरण—

(१) बंदौं बिधिपद रेनु भवसागर जेहिं कीन्ह जहँ।
संत सुधा ससि धेनु प्रगटे खल बिष बारुनी॥[2]

(२) ह्वै नरसिंह महा मनुजाद हन्यो प्रहलाद को संकट भारी।
'दास' बिभीषनै लंक दियो जिन रंक सुदामा को संपति सारी॥
द्रौपदी चीर बढ़ायो जहान में पांडव के जस की उजियारी।
गर्बिन को एति त्यों बहावत दीननि को दुख श्रीगिरिधारी॥[3]

(३) दुख बिभीषण को हरो रावन को अभिमान।
देवन मन निर्भय कियो राम जस कृपानिधान॥[4]

प्रतिवस्तूपमा

जहाँ उपमेय और उपमान रूप दो वाक्यों का पृथक्-पृथक् शब्दों द्वारा एक ही धर्म कहा जाय वहाँ 'प्रतिवस्तूपमा' अलंकार होता है।[5]

उदाहरण—

शोभित होता है सूर्य अपने प्रताप से।
लसता है शूर निज धनुष और बाण से॥[6]

यहाँ दो पृथक्-पृथक् वाक्य हैं: १. सूर्य अपने प्रताप से शोभित होता है, २. शूर निज धनुष और बाण से लसता है। ये दोनों वाक्य उपमेय और उपमान वाक्यों के रूप में हैं तथा दोनों में एक ही साधारण धर्म (शोभित होता है) भिन्न भिन्न शब्दों द्वारा (शोभित होता है, लसता है) कहा गया है

---

१ अलंकार-मंजूषा, पृ० ३२८

२ रामचरितमानस, १।१४।२३-२४

३ काव्यनिर्णय, १८।१८ (भिखारीदास ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १७३-७४)

४ बिहारी भट्ट (साहित्यसागर)—काव्यालोचन, पृ० २४६ पर उद्धृत

५ प्रतिवस्तूपमा सा स्याद्वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः।
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक्॥
—साहित्यदर्पण, १०।४९ ए०

६ काव्य दर्पण, पृ० १५४

अत. यहाँ 'प्रतिवस्तूपमा' अलकार है।

इस अलकार के अन्य उदाहरण

(१) तिन्हहि सोहाइ न अवध बधावा। चोरहि चदिनि राति न भावा॥[1]

(२) चटक न छाँडत घटत हू, सज्जन नेह गँभीर।
फीको परै न बरु फटै, रँग्यो चोल रँग चीर॥[2]

(३) आभा सूर प्रताप तैं, सोभा सूर कमान॥[3]

(४) राजत मुख मृदु बानि सों लसत सुधा सों चंद।
निर्झर सों नीको सु गिरि मद सों भलो गयंद॥[4]

(५) सोहत भानु प्रताप सों, लसत सूर धनु-बान।[5]

दृष्टात

दृष्टात (दृश्+क्त+अन्त) का अर्थ है उदाहरण या मिसाल।[6] अलकार शास्त्र मे जहाँ उपमेय और उपमान वाक्यो और उनके साधारण धर्म का (धर्मपार्थक्य होते हुए भी) बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव (भाव साम्य) हो, वहाँ 'दृष्टात' अलकार होता है।[7] इस अलकार मे उपमेय और उपमान वाक्यो की समता बिना 'वाचक' शब्दो के होती है।

उदाहरण :

पगी प्रेम नँदलाल के हमैं न भावत जोग।
मधुप, राजपद पाय के, भीख न माँगत लोग॥[8]

इस दोहे का पूर्वार्द्ध उपमेय वाक्य है और उत्तरार्द्ध उपमान वाक्य। इन दोनो वाक्यो के क्रमश साधारण धर्म हैं 'जोग न भाना' और 'भीख न माँगना'। इन दोनो मे बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव है, अत यहाँ 'दृष्टात' अलकार है।

'दृष्टात' अलकार के अन्य उदाहरण

(१) काटेहि पइ कदली फरै कोटि जतन कोउ सीच।
बिनय न मान खगेस सुनु डाटेहि पइ नव नीच॥[9]

---

१. रामचरितमानस, २।११।७

२. बिहारी-बोधिनी, ६१६

३ भाषाभूषण, ८५

४. पद्माभरण, ८१ (पद्माकर-ग्रथावली, पृ० ४२)

५ अलकार-मजूषा, पृ० १२६

६ सस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ४७१

७. दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुन प्रतिबिम्बनम्॥ —साहित्यदर्पण, १०।५०

८. ललितललाम, १४६ (मतिराम-ग्रथावली, पृ० ३८०)

९ रामचरितमानस, ५।५८।९-१०

(२) सिव ! औरंगहि जिति सकै और न राजा राव।
हत्थिमत्थ पर सिंह बिनु आन न घालै घाव॥[1]

(३) कानिमान लखि हौ कह्यो, तू हौ कीरनिसान॥[2]

(४) दुसह दुराज प्रजानि कौ, क्यों न बढ़ै अति दंद।
अधिक अँधेरो, जग करे, मिलि मावस रवि चंद॥[3]

(५) निरखि रूप नँदलाल को दृगनि रुचै नहिं आन।
तजि पियूष कोऊ करत कटु औषधि को पान॥[4]

(६) पापी मनुज भी आज मुख से राम नाम निकालते!
देखो, भयंकर भेड़िये भी आज आँसू डालते॥[5]

उदाहरण

उदाहरण (उद्+आ+हृ+ल्युट्) के कोशगत अर्थ हैं—वर्णन, निदर्शन, निशान, दृष्टान्त आदि।[6] अलंकारशास्त्र में जहाँ उपमेय वाक्य और उपमान वाक्य के साधारण धर्म भिन्न-भिन्न हों और किसी वाचक शब्द से दोनों में समता का वर्णन हो, वहाँ 'उदाहरण' अलंकार होता है।

उदाहरण

बुरो बुराई जो तजै, तो चित खरो सकात।
ज्यौं निकलंक मयंक लखि, गनै लोग उतपात॥[7]

यहाँ दोनों (उपमेय और उपमान) वाक्यों के साधारण धर्मों की तुलना 'ज्यों' शब्द से की गयी है, अतः यहाँ 'उदाहरण' अलंकार है।

स्मरण रखना चाहिए कि 'दृष्टान्त' में कवि का मुख्य लक्ष्य उपमान-वाक्य (उत्तरार्द्ध भाग) पर तथा 'उदाहरण' में कवि का मुख्य लक्ष्य उपमेय-वाक्य (पूर्वार्द्ध भाग) पर होता है।[8]

'उदाहरण' अलंकार के अन्य उदाहरण :

(१) बुंद अघात सहहिं गिरि कैसे। खल के बचन संत सह जैसे॥[9]

---

१. शिवराजभूषण, १३८ (भूषण-ग्रन्थावली, पृ० ४३)
२. भाषाभूषण, ८६
३ बिहारी-बोधिनी, ६३०
४. पद्माभरण, ८३ (पद्माकर-ग्रन्थावली, पृ० ४२)
५. काव्य-प्रदीप, पृ० १५५
६. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० १९४
७. बिहारी-बोधिनी, ६५३
८ अलंकार-मंजूषा, पृ० १३३
९. रामचरितमानस, ४।१४।४

(२) नीकी पै फीकी लगै, बिन अवसर की बात।
जैसे बरनन युद्ध में नहिं सिंगार सुहात॥[1]

(३) जगत जनायो जेहि सकल, सो हरि जान्यो नाहिं।
ज्यों आँखिन सब देखिये, आँखि न देखी जाहिं॥[2]

(४) वह पाण्डु-वंश प्रदीप यों शोभित हुआ उस काल में—
सुन्दर सुमन ज्यों पड़ गया हो कण्टकों के जाल में॥[3]

(५) उदित कुमुदिनी-नाथ हुए प्राची में ऐसे,
सुधा-कलश रत्नाकर से उठता हो जैसे।[4]

निदर्शना

निदर्शना (नि+दृश्+ल्युट्+टाप्) के अर्थ हैं—दृष्टान्त, संकेत, प्रमाण, दृष्टान्त आदि।[5] अलंकारशास्त्र के सन्दर्भ में यह एक अर्थालंकार है जिसमें असम्भव सम्बन्धों की उपमा की कल्पना की जाती है।

'काव्यप्रकाश' के अनुसार वस्तुओं के असम्भव सम्बन्धों की उपमा की कल्पना को 'निदर्शना' अलंकार कहते हैं।[6] 'साहित्यदर्पण' के मतानुसार निदर्शना वह अलंकार है जिसमें सम्भव अथवा असम्भव 'वस्तुसंबन्ध' अर्थात् दो वाक्यार्थों के परस्परान्वय में बिम्बप्रतिबिम्बभाव (सादृश्य) की झलक हो।[7] इस अलंकार के पाँच भेद हैं :

१. प्रथम निदर्शना : जहाँ 'जो', 'सो', 'जे', 'ते' आदि पदों द्वारा असम वाक्यों में समता स्थापित की जाती है, वहाँ 'प्रथम निदर्शना' होती है।

उदाहरण :

सुनु खगेस हरिभगति बिहाई। जे सुख चाहहिं आन उपाई॥
ते सठ महासिन्धु बिनु तरनी। पैरि पार चाहहिं जड़ करनी॥[8]

उपर्युक्त उदाहरण में दो असम वाक्य हैं : १. हरिभक्ति छोड़कर अन्य

१. वृन्द-सतसई, ४
२. बिहारी-बोधिनी, ६३६
३. जयद्रथ-वध, पृ० १८
४. काव्य-प्रदीप, पृ० १९७
५. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ५२५
६. ......निदर्शना। अभवन् वस्तुसंबंध उपमापरिकल्पकः।
—काव्यप्रकाश, १०।९७ (सू० १४८)
७. सम्भवन् वस्तुसंबंधोऽसम्भवन् वापि कुत्रचित्।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शना॥
—साहित्यदर्पण, १०।५१
८. रामचरितमानस, ७।११९।३-४

उपाय से सुख चाहना, २ नाव के बिना महासमुद्र पार करने की इच्छा करना। इनकी समता जे, ते शब्दों द्वारा दिखाई गयी है। कहीं कहीं जे, ते, जो, सो आदि शब्दों के बिना ही 'प्रथम निदर्शना' होती है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी॥[1]

(२) जग-जीत जे चहत हैं तो सों बैर बढ़ाय।
जीबे की इच्छा करत, कालकूट ते खाय॥[2]

(३) और को जो जनम है, सो याको एक रोज।
और को जो राज सो, सिव सरजा की मौज॥[3]

(४) युद्ध जीतना जो चहते हैं तुमसे वैर बढ़ाकर,
जीवित रहने की इच्छा वे करते हैं विष खाकर।[4]

२ द्वितीय निदर्शना जब उपमेय पर उपमान के गुण की स्थापना की जाय तब वहाँ द्वितीय निदर्शना' होती है।

उदाहरण

जब कर गहत कमान सर देत परनि को भीति।
भावसिंह में पाइए तब अर्जुन की रीति॥[5]

यहाँ भाउसिंह (उपमेय) पर अर्जुन (उपमान) के गुणों का आरोप किया गया है, अतः 'द्वितीय निदर्शना' है।

'द्वितीय निदर्शना' के अन्य उदाहरण .

(१) अस कहि फिरि चितये तेहि ओरा। सियमुख ससि भये नयन चकोरा॥[6]

(२) सीन्ह्यों तेरे करन नृप, करन करन की रीति।
पायन अंगद की कहै, लई रीति करि प्रीति॥[7]

(३) कविता समुझाइबो मूढ़न कों सविता गहि भूमि पै डारिबो है॥[8]

३. तृतीय निदर्शना : जब उपमान पर उपमेय के गुण की स्थापना की जाती है तब वहाँ 'तृतीय निदर्शना' होती है।

---

१. रामचरितमानस, ७।११५।१-२
२. अलंकार-मंजूषा, पृ० १३५
३. शिवराजभूषण, १४४ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ४४)
४. काव्यप्रदीप, पृ० १५७
५. ललितललाम, १५१ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३८१)
६. रामचरितमानस, १।२३०।३
७ अलंकार-मंजूषा, पृ० १३६
८. शङ्कर-सर्वस्व (नाथूराम शर्मा 'शंकर'), पृ० ३५१

उदाहरण :

तुव बचनन की मधुरता रही सुधा महँ छाइ।[1]

यहाँ 'बचनों की मधुरता' रूप उपमेय के गुण का आरोप सुधारूप उपमान पर किया गया है, अतः 'तृतीय निदर्शना' है।

'तृतीय निदर्शना' के अन्य उदाहरण :

(१) कह हनुमंत सुनहु प्रभु ससि तुम्हार प्रिय दास।
तव मूरति बिधु उर बसति सोइ स्यामता अभास ॥[2]

(२) जेहि दिन दसनजोति निरमई। बहुतै जोति जोति ओहि भई ॥
रवि ससि नखत दिपहि ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती ॥
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहि हँसी। तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी ॥[3]

(३) कीरति सहित जो प्रताप सरजा में बर,
मारतंड मधि तेज चाँदनी सो जानी मैं।
सोहत उदारता औ सीलता खुमान में सो,
कंचन में मृदुता सुगंधता बखानी मैं ॥
भूषन कहत सब हिंदुन को भाग फिरै,
चढ़े ते कुमति चकता हू की निसानी मैं।
सोहत सुबेस दान कीरति सिवा में सोई,
निरखी अनूप रुचि मोतिन के पानी मैं ॥[4]

४. चतुर्थ निदर्शना : जब कोई अपनी क्रिया के द्वारा सत् अर्थ का बोध कराते हुए दूसरे को शिक्षा दे, तब वहाँ 'सदर्थ' नामक 'चतुर्थ निदर्शना' होती है।

उदाहरण :

दै सु फूल-फल-दल जु द्रुम यह उपदेसत ज्ञान।
तहि सुख-संपति कीजिये आए को सनमान ॥[5]

यहाँ यह कहा गया है कि वृक्ष सुन्दर फूल, फल और दल दान कर दूसरों को उपदेश देते हैं कि सम्पत्ति प्राप्त कर आगन्तुक का सम्मान करना चाहिए, अतः 'चौथी निदर्शना' है।

---

१. पद्माभरण, ८८ (पद्माकर-ग्रन्थावली, पृ० ४१)
२. रामचरितमानस, ६।१२।११-१२
३. पदमावत, १०।८।४-६ (जायसी-ग्रन्थावली, पृ० ४४)
४. शिवराजभूषण, १४३ (भूषण-ग्रन्थावली, पृ० ४४)
५. पद्माभरण, ९० (पद्माकर-ग्रन्थावली, पृ० ४१)

'सदर्थ निदर्शना' के अन्य उदाहरण

(१) उदय होत ही जगत को हरत तमनि दुखदन्द।
सबही को सुख दीजिए कहै बनानन चन्द॥[1]

(२) गुरुपादोदक सिर धरिय, सदा सनातन एहु।
सिर धारत है गंग को, महादेव करि नेहु॥[2]

(३) हरिमुख लखि लोचन लसी, सुख में करत विनोद।
प्रगट करत कुवलयन कों, चन्द्रोदय तें मोद॥[3]

५ पाँचवीं निदर्शना : जब कोई वस्तु अपनी क्रिया द्वारा असत् अर्थ का बोध कराये, तब वहाँ 'असदर्थ' नामक 'पाँचवीं निदर्शना' होती है।

उदाहरण

पदकंदुक निरखत सबहिं, नहिं-नहिं लात प्रधान।
सारहीन संसार में, लागत सारे जान॥[4]

यहाँ अपनी क्रिया (लात नहिं-नहिं) द्वारा दूसरे को उपदेश देना कहा गया है, अतः 'पाँचवीं निदर्शना' है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) मधुप, त्रिभंगी हम तजी प्रगट परम करि प्रीति।
प्रगट करत सब जगत में कटु कुटिलन की रीति॥[5]

(२) दीप-जोति सिर धुनि सुकुवि पीनहि सों घर होइ।
यह उपदेशत सबन कों, छल को हितू न कोइ॥[6]

(३) घर-घर जाचत नीच-हित कर ओड़त कछु देहु।
यों धनिकन कों बोधहीं न दिये को फल देहु॥[7]

(४) लोचन प्रान गमान जे, करत कूर को संग।
कहै सिखावत छोडि तन, दीपक-सिखा पतंग॥[8]

व्यतिरेक

व्यतिरेक (वि—अति—रिच्+घञ्) के कोशगत अर्थ हैं : अभाव, अंतर वृद्धि, भिन्नता आदि। अलंकारशास्त्र के संदर्भ में जहाँ उपमेय को उपमान

---

१. अलंकार-मंजूषा, पृ० १३८
२. अलंकार-मंजूषा, पृ० १३८
३. ललितललाम, १५४ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३८१)
४. अलंकार-मंजूषा, पृ० १३८
५. ललितललाम, १५३ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३८१)
६ पद्माभरण, १७ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ४३)
७. पद्माभरण, १२ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ४३)
८ अलंकार-मंजूषा, पृ० १३८

से बढ़ाकर अथवा उपमान को उपमेय से घटाकर वर्णन किया जाय, वहाँ 'व्यतिरेक' अलंकार होता है। इस प्रकार इसके दो प्रकार हैं :

१ प्रथम व्यतिरेक : उपमान से उपमेय को बढ़ाकर वर्णन करने में प्रथम प्रकार का 'व्यतिरेक' होता है।

उदाहरण :

मुख है अंबुज-सो सखी, मीठी बात विसेखि ।[१]

यहाँ मुख उपमेय और अंबुज उपमान है। अंबुज से मुख की विशेषता है उसकी मिठास, अतः यहाँ प्रथम प्रकार का 'व्यतिरेक' है।

इस प्रकार के 'व्यतिरेक' के अन्य उदाहरण:

(१) नव बिधु बिमल तात जसु तोरा। रघुबर किंकर कुमुद चकोरा ॥
उदित सदा अँथइहि कबहूँ ना। घटिहि न जग नभ दिन दिन दूना ॥[२]

(२) संतहृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह परि कहै न जाना ॥
निज परिताप द्रवै नवनीता। परदुख द्रवहिं संत सुपुनीता ॥[३]

(३) सिय मुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाइ।
निसि मलीन वह निसि दिन यह बिगसाइ ॥[४]

(४) स्वर्ग की तुलना उचित ही है यहाँ,
किन्तु सुरसरिता कहाँ, सरयू कहाँ ?
वह मरों को मात्र पार उतारती,
यह यहीं से जीवितों को तारती ![५]

(५) अहा ! अम्बरस्था ऊषा भी
इतनी शुचि सस्फूर्ति न थी,
अवनी की ऊषा सजीव थी,
अम्बर की-सी मूर्ति न थी ।[६]

२ द्वितीय व्यतिरेक : 'व्यतिरेक' के द्वितीय प्रकार में उपमेय से उपमान में हीनता दिखायी जाती है।

उदाहरण :

जिन्ह के जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रबि सीतल लागे ॥[७]

राम-लक्ष्मण के यश और प्रताप के सम्मुख चंद्रमा मलिन और सूर्य शीतल

---

१. भाषाभूषण, ९०
२ रामचरितमानस, २।२०८।१-२
३ रामचरितमानस, ७।१२५।७-८
४ बरवै रामायण, ११
५ साकेत (प्रथम सर्ग), पृ० २१
६ पंचवटी, ६५
७. रामचरितमानस, १।२९२।२

लगता है। यहाँ राम-लक्ष्मण के यश-प्रताप (उपमेय) की अपेक्षा सूर्य-चन्द्र (उपमान) में हीनता का वर्णन होने से दूसरे प्रकार का 'व्यतिरेक' अलंकार है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) जनमु सिंधु पुनि बंधु बिषु दिन मलीन सकलंकु।
सियमुख समता पाव किमि चंदु बापुरो रंकु॥[1]

(२) गिरा मुखर तन अरध भवानी। रति अति दुखित अतनु पति जानी॥
बिष बारुनी बंधु प्रिय जेही। कहिअ रमा सम किमि बैदेही॥[2]

(३) घटै बढ़ै सकलंक लखि, सब जग कहै ससंक।
सीय बदन सम है नहीं, रच मयंक एकंक॥[3]

सहोक्ति

सहोक्ति (सह—उक्ति) अलंकार में 'सह' या उसके समानार्थक शब्दों के बल से एक ही शब्द दो अर्थों का भान प्रकट करता हुआ मनोरंजक भाव प्रकट करता है।[4]

उदाहरण

बलु प्रतापु बीरता बड़ाई। नाक पिनाकहि संग सिधाई॥[5]

रामचरितमानस के धनुर्यज्ञप्रसंग में साधु राजाओं ने दुष्ट राजाओं से कहा कि तुम्हारा बल, प्रताप, वीरता, बड़ाई और नाक (प्रतिष्ठा) धनुष के साथ ही चली गयी, अर्थात् धनुष टूटते ही ये सब अदृश्य हो गये। यहाँ 'संग' शब्द के संयोग से मनोरंजक भाव का समावेश हुआ है। अत: 'सहोक्ति' है।

'सहोक्ति' के अन्य उदाहरण :

(१) भृगुपतिगर्व समेत बैदेही। तिन्हहि बिचार करै हठि तेही॥[6]

(२) राम सुचापु सँभारि, छोड़त ही सर प्राण हर।
देह हमारन डारि, हाय समेतिन बेगि दै॥[7]

---

१. रामचरितमानस, १।२३७।६-१०

२. रामचरितमानस, १।२४७।५-६

३. अलंकार-मंजूषा, पृ० १४०

४ (क) सा सहोक्तिः सहार्थस्य बलादेकं द्विवाचकम्।
—काव्यप्रकाश, १०।११२ (सू० १७०)

(ख) सहोक्तिः सहभावश्चेद् भासते जनरंजनः।
दिगंतमगमत्तस्य कीर्तिः प्रत्यर्थिभिः सह॥ —कुवलयानंद, ५८

५ रामचरितमानस, १।२६६।३

६. रामचरितमानस, १।२५०।४

७ रामचंद्रिका, ७।३६

(३) दक्खिन को सूबा पाय दिली के अमीर तजें।
उत्तर की आस जीव आस एक संग ही ॥[1]

(४) कीरति अरिकुल-सग ही, जलनिधि पहुँची जाइ ॥[2]

विनोक्ति

जब एक वस्तु के बिना दूसरी वस्तु के अशोभित अथवा शोभित होने का भाव प्रकट किया जाय तब वहाँ 'विनोक्ति' (विना+उक्ति) अलंकार होता है।[3] इसके दो भेद हैं : १. प्रथम विनोक्ति, २ द्वितीय विनोक्ति।

१. प्रथम विनोक्ति : जब एक वस्तु के बिना दूसरी वस्तु अशोभित लगे तब 'प्रथम विनोक्ति' होती है।

उदाहरण :

दृग खंजन-से कंज से, अंजन बिनु सोभैं न।[4]

यहाँ अंजन के बिना नेत्र को अशोभित कहा गया है, अत 'प्रथम विनोक्ति' है।

'प्रथम विनोक्ति' के अन्य उदाहरण .

(१) जिमि बिनु देह नदी बिनु बारी। तइसिअ नाथ पुरुष बिनु नारी ॥[5]

(२) कवि बिन नहिं सोहै सभा, निसि बिनु सुधानिवास।
फबत न गिरिधरदास बिनु गिरिधर 'गिरिधरन्दास' ॥[6]

(३) बदन सुकविता के बिना सदन सु बनिता हीन।
सोभित होन न जगत मे नर हरि-भक्ति-विहीन ॥[7]

(४) विमल विपुल सर सलिल-जुत बिन पकज सोहै न।[8]

२. द्वितीय विनोक्ति : जहाँ किसी वस्तु के बिना किसी का शोभित होना कहा जाय, वहाँ 'द्वितीय विनोक्ति' होती है।

---

१. शिवराजभूषण, १५० (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ४५)
२. भाषाभूषण, ६१
३ (क) विनोक्ति सा विनान्येन यत्रान्य. सन्न नेतर ।
—काव्यप्रकाश, १०।११३ (सू० १७१)
(ख) विनोक्तिर्यद्विनान्येन नासाध्वन्यदसाधु वा ॥
—साहित्यदर्पण, १०।५५
४. भाषाभूषण, ६२
५ रामचरितमानस, २।६५।७
६. अलकार-मजूषा, पृ० १४१
७ काव्यप्रदीप, पृ० १६४
८. पद्माभरण, ६८ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ४४)

उदाहरण

भली प्रीति बिन कपट की देत सबनि चित चैन ।।[1]

यहाँ कपट के बिना प्रीति को शोभित कहा गया है, अतः 'द्वितीय विनोक्ति' है।

'द्वितीय विनोक्ति' के अन्य उदाहरण

(१) बिनु घन निर्मल सोह अकासा ।[2]

(२) राजत एक पतंग में, बिना कपट को नेह ।[3]

(३) सोभमान जग पर किए सरजा सिवा खुमान ।
साहिन सों बिनु डर अगड़ बिनु गुमान को दान ।।[4]

(४) भास बिना सोहत सुभट, जैसे मनिगन माल ।[5]

(५) बिनु घन निर्मल सरद नभ राजत है निज रूप ।
अरु रागादिक दोष बिन मुनि मन विमल अनूप ।।[6]

(६) बाला सब गुन सरस तू, रच रुखाई है न ।[7]

समासोक्ति

समासोक्ति (समास—उक्ति) में 'समास' का अर्थ है संक्षेप। अलंकारशास्त्र में जहाँ समानार्थक विशेषणों से प्रस्तुत के वर्णन द्वारा अप्रस्तुत का बोध कराया जाय, वहाँ 'समासोक्ति' अलंकार होता है।[8]

उदाहरण

तुही साँच द्विजराज है तेरी कला प्रमान ।
तो पर सिव किरपा करी जानत सकल जहान ।।[9]

यहाँ कवि का तात्पर्य है चंद्रमा की प्रशंसा करना परन्तु 'द्विजराज' और 'सिव' इन पदों के श्लिष्ट होने से अप्रस्तुत कवि भूषण और शिवाजी के व्यवहार का

---

१. पद्माभरण, ६८ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ४४)
२. रामचरितमानस, ४।१६।८
३. ललितललाम, १६१ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३८३)
४. शिवराजभूषण, १४२ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ४६)
५. अलंकार-मंजूषा, पृ० १४२
६. काव्य-प्रदीप, पृ० १६५
७. भाषाभूषण, ६२
८. (क) परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः ।
—काव्यप्रकाश, १०।९७ (पृ० १४८)
(ख) समासोक्तिः परिस्फूर्तिः प्रस्तुतेऽप्रस्तुतस्य चेत् ।
अयमैन्द्रीमुखं पश्य रक्तश्चुम्बति चन्द्रमा ।। —कुवलयानन्द, ६१
९. शिवराजभूषण, १५८ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ४७)

मान होता है । यह अलंकार श्लिष्ट और अश्लिष्ट दोनो प्रकार के पदो द्वारा होता है। ऊपर दिया गया उदाहरण श्लिष्ट शब्दो द्वारा है और निम्नांकित उदाहरण अश्लिष्ट पदो द्वारा

कुमुदिनिहू प्रफुलित भई, देखि कलानिधि सांझ।[1]

इसमे प्रस्तुत अर्थ है 'सध्या समय मे चन्द्रमा को देखकर कुमुदिनी फूली'। परन्तु इससे किसी नायिका की दशा की सूचना भी मिलती है ।

'समासोक्ति' के अन्य उदाहरण

(१) बडो डील लखि पील को सबन तज्यो बन थान ।
धनि सरजा तू जगत में ताको हर्यो गुमान ।।[2]
(श्लिष्ट शब्दो द्वारा)

(२) कर पसारि ससि मालतिहि परसत कला-निधान ।[3]
(अश्लिष्ट शब्दो द्वारा)

(३) लता नवल तनु अंग जाति जरी जीवन बिना ।
कहा सिख्यो यह ढंग, तरुन अरुन निरदं निरखु ।।[4]

परिकर

परिकर [परि+कृञ् (विक्षेपे)+अप्] के कोशगत अर्थ हैं—पर्यङ्क, परिजन, अनुचर आदि ।[5] अलकारशास्त्र मे साभिप्राय विशेषण के प्रयोग को 'परिकर' अलकार कहते हैं ।[6]

उदाहरण -

ससि-बदनी यह नायिका, ताप हरति है जोय ।[7]

यहाँ नायिका का विशेषण 'ससि-बदनी' साभिप्राय है, क्योंकि चद्रमा का गुण ताप हरण करना है, अत यहाँ 'परिकर' अलकार है ।

---

१. भाषाभूषण, ६४
२. शिवराजभूषण, १५७ (भूषण-ग्रथावली, पृ० ४७)
३. पद्माभरण, ६६ (पद्माकर-ग्रथावली, पृ० ४८)
४. अलकार-मजूषा, पृ० १४८
५. (क) परिकरः, पु, (परिकीर्य्यते इति । कृविक्षेपे+"ऋदोरप्। ३।३।५७ इति अप् । यद्वा परिक्रियतेऽनेनेति पुमीति घ ।)
—शब्दकल्पद्रुम (तृतीय काण्ड), पृ० ५६
(ख) मानक हिन्दी कोश (तीसरा खण्ड), पृ० ४११
६. (क) विशेषणैर्यत्साकूतैरुक्ति परिकरस्तु स ।
—काव्यप्रकाश, १०।११८ (सू० १८३)
(ख) उक्तैर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मत. । —साहित्यदर्पण, १०।५७
(ग) अलकारः परिकरः साभिप्राये विशेषणे ।
सुधांशुकलितोत्तंसस्तापं हरतु वः शिवः ।। —कुवलयानद, ६२
७. भाषाभूषण, ६५

परिकर' के अन्य उदाहरण

(१) सीतल करैंगे मेटि ताप त्रिभुवन राम,
स्यामघन अरन बरसि दानधारा को।[1]

(२) चक्रपानि हरि को निरखि, असुर जात भजि दूरि।
रस बरसत घन स्याम तुम, ताप हरत मुद पूरि॥[2]

(३) आइ उबारहु वेगि मोहि खगवाहन भगवान॥[3]

परिकराङ्कुर

साभिप्राय विशेष्य का कथन 'परिकराङ्कुर' अलंकार कहलाता है।[4]

उदाहरण:

जम-करि मुख तरहरि परो, यह धरि हरि चित लाय।
विषय तृषा परिहरि अजौं, नरहरि के गुन गाय॥[5]

यहाँ 'नरहरि' शब्द साभिप्राय है। यमराज रूपी हाथी को मारने के लिए नरहरि (नृसिंह) ही समर्थ हैं, अतः 'परिकराङ्कुर' अलंकार है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) सुनहि विनय मम विटप असोका। सत्य नाम करु हरु मम सोका॥[6]

(२) तुलसिदास भवव्याल-ग्रसित तव सरन उरगरिपुगामी।[7]

अर्थ-श्लेष

जहाँ स्वभावतः एक ही अर्थ देने वाले शब्दों से एक से अधिक अर्थ विभिन्न पक्षों में लगें, वहाँ 'अर्थश्लेष' होता है। 'शब्द-श्लेष' में एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं और पर्यायवाची शब्द रख देने से अलंकार नष्ट हो जाता है, 'अर्थ-श्लेष' में शब्दविशेष का एक ही अर्थ अनेक पक्षों में घटित होता है। यही दोनों में अन्तर है।

---

१. अलंकार-मंजूषा, पृ० १४६
२. अलंकार-मंजूषा, पृ० १४६
३. पद्माभरण, १०० (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ४४)
४ (क) साभिप्राय विशेष्ये तु भवेत् परिकराङ्कुरः।
चतुर्णां पुरुषार्थानां दाता देवश्चतुर्भुजः॥ —कुवलयानंद, ६३
(ख) साभिप्राय विशेष्य तें, परिकर-अंकुर नाम।
—ललितललाम, १६४ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३८३)
(ग) साभिप्राय विसेष जब, परिकर-अंकुर नाम।
सूधेहू पिय क कहैं, नेकु न मानति बाम॥ —भाषाभूषण, ६६
५. बिहारी-बोधिनी, ६७८
६ रामचरितमानस, ५।१२।१०
७ विनयपत्रिका, ११७

उदाहरण :

तुलाकोटि अरु खलन की, मनवृत्ती विख्यात।
थोरे सों उन्नति लहत, थोरे सों अध जात॥[1]

यहाँ 'उन्नति' और 'अध' शब्द एकार्थक हैं, किन्तु प्रकरणवश तुलाकोटि के पक्ष में 'उन्नति' का अर्थ ऊपर जाना और खल के पक्ष में बढ़ना या अभिमान करना होगा। इसी प्रकार तुलाकोटि के पक्ष में 'अध' का अर्थ नीचे तथा खल के पक्ष में इसका अर्थ अवनति करना होगा, अतः यहाँ 'अर्थश्लेष' है।

'अर्थश्लेष' के अन्य उदाहरण :

(१) सानु सरिस सुमचरित कपासू। निरस विसद गुनमय फल जासू।[2]

(२) नर की अरु नलनीर की, गति एकै करि जोइ।
जेतो नीचो ह्वै चले, तेतो ऊँचो होइ॥[3]

(३) चंचल सरस एक काहू पै न रहै दारी,
गनिका समान सूबेदारी दिली दल की॥[4]

(४) कोमल विमल कमनीय अति, बिकसत प्रभा अनंद।
है सुवासित मनहरन, निरगुन अरु अरविंद॥[5]

(५) करते कुसुमाकर का कैसे स्वागत-नाद?
महावीर का यदि उन्हें मिलता नहीं प्रसाद।[6]

अप्रस्तुतप्रशंसा

जब अप्रस्तुत के वर्णन द्वारा प्रस्तुत अर्थ की सूचना दी जाय तब वहाँ 'अप्रस्तुतप्रशंसा' नामक अलंकार होता है। इस अलंकार में अभीष्ट बात को स्पष्ट न कहकर इस प्रकार कहते हैं कि असली बात लक्षित हो जाय। कथन के भेद से इस अलंकार के पाँच प्रकार हैं :[7]

१. सामान्यनिबंधना (सामान्य निष्ठ विशेष का कथन) : जहाँ कोई सामान्य-सी बात कहकर विशेष का तात्पर्य अभिव्यक्त किया जाता है वहाँ प्रथम प्रकार

---

१. अलंकार-प्रदीप, पृ० १६१
२. रामचरितमानस, १।२।२
३. बिहारी-बोधिनी, ६४८
४. शिवराजभूषण, १६३ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ४०)
५. अलंकार-प्रदीप, पृ० १६१
६. साकेत (निवेदन), पृ० ७
७. क्वचिद्विशेषः सामान्यात्सामान्यं वा विशेषतः।
कार्यान्निमित्तं कार्यं च हेतोरथ समात्समम्॥
अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेद् गम्यते पञ्चधा ततः।
अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात्…… —साहित्यदर्पण, १०।५८,५९

की अप्रस्तुतप्रशंसा' (सामान्य निबंधना) होती है।

उदाहरण

बलवानों से वैर ठानकर जो जन रहते नहीं सचेत।
घर में आग लगा करके वे सोते हैं आनंद समेत ॥[1]

यहाँ कोई व्यक्ति किसी को सबल शत्रु से सचेत रहने की विशेष बात कहना चाहता है किन्तु ऐसा न कहकर वह सामान्य बात (घर में आग लगाकर निश्चिन्त भाव से सोना) कहकर उस बात का बोध कराता है।

'सामान्य निबन्धना' के अन्य उदाहरण

(१) बड़े प्रबल सों वैर करि करत न सोच विचार।
ते सोवत बारूद पर पट में बाँधि अँगार ॥[2]

(२) धरे न मन में सोच जे वैर प्रबल सों ठानि।
सोवत आगि लगाय ते, सदन माँझ पट तानि ॥[3]

२ विशेष निबंधना (विशेष के बहाने सामान्य का कथन) जहाँ कोई विशेष बात कहकर सामान्य बात का तात्पर्य अभिव्यक्त किया जाता है वहाँ दूसरे प्रकार की 'अप्रस्तुतप्रशंसा' (विशेष-निबंधना) होती है।

उदाहरण

धन्य सेष सिर जगत हित, धारत भुवि को भार।
बुरो बाघ अपराध बिनु, मृग को डारत मार ॥[4]

यहाँ शेषनाग और बाघ के अप्रस्तुत वर्णन द्वारा यह अभिव्यक्त किया गया है कि बड़े होकर सबका भार अपने सिर लेना अच्छा है और शक्तिशाली होकर निरपराध को सताना बुरा है, इस प्रकार यहाँ 'विशेष-निबंधना' अलंकार है।

'विशेष निबंधना' के अन्य उदाहरण

(१) निज महल मधि राखि मृग, मृगलाछन भो चंद।
मृगपति भो मृग मारिकैं, सिंघ सु सदा स्वच्छंद ॥[5]

(२) काटि लेत तरु बाढ़ई सूधे सूधे जोइ।
बन में बाँके वृच्छ कों काटत है नहिं कोइ ॥[6]

(३) मृग को लै निज अंक ससि, मृग-लाछन कहि जाय।
नित मारत मृग अमित वह मृगपति सिंह कहाय ॥[7]

---

१. काव्य प्रदीप, पृ० २०३
२. पद्माभरण, ११५ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ४६)
३. अलंकार मंजूषा, पृ० १५२
४. अलंकार मंजूषा, पृ० १५३
५. अलंकार मंजूषा, पृ० १५३
६. पद्माभरण, ११३ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ४६)
७. काव्यकल्पद्रुम (द्वितीय भाग—अलंकार मंजरी), पृ० २६१

३. कार्यनिबंधना (कार्य से कारण का कथन) जब अभीष्ट हो कारण का कथन, किन्तु किया जाय कार्य का कथन और उसके बहाने कारण का कथन हो, तब 'कार्यनिबन्धना' होती है।

उदाहरण

मातु पितहि जनि सोचवस करसि महीसकिसोर।[१]

परशुराम लक्ष्मण से यह कहना चाहते हैं कि 'मैं तुझे मार डालूँगा', किन्तु वे यह बात स्पष्ट रूप से न कहकर यह कहते हैं कि हे राजकुमार, तू अपने माता-पिता को शोकवश मत कर। यहाँ मारनारूप कारण की अभिव्यक्ति माता-पिता के शोकरूप कार्य द्वारा हुई है, अत 'कार्यनिबन्धना' हुई।

'कार्यनिबन्धना' के अन्य उदाहरण

(१) भृगुकुल कमल दिनेश मुनि, जीति सकल ससार।
क्यों चहिहै इन सिसुन पै, डारत हो यश-भार॥[२]

(२) राधिका के अँसुवान की सागर बाढत जात मनो नभ छ्वै है।
बात कहा कहिए ब्रज की अब बूडोई ह्वै है कि बूडत ह्वै है॥[३]

(विरह की अधिकता रूप कारण की अभिव्यक्ति अश्रु-सागर रूप कार्य तथा ब्रज के डूबने रूप कार्य के माध्यम से)

(३) अरितिय भिल्लिनि सो कहैं घन बन जाय इकत।
सिव सरजा सो बैर नहि सुखी तिहारे कत॥[४]

४. कारण-निबंधना (कारण से कार्य की अभिव्यक्ति) जब अभीष्ट हो कार्य का कथन, किन्तु वह स्पष्ट रूप से न होकर कारण के माध्यम से हो, तब वहाँ 'कारण-निबन्धना' नामक चौथे प्रकार की 'अप्रस्तुतप्रशसा' होती है।

उदाहरण

गर्भन्ह के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर॥[५]

परशुराम लक्ष्मण से यह कहना चाहते हैं कि 'मैं तुम्हें मार डालूँगा'। किन्तु वे यह बात स्पष्ट रूप से न कहकर यह कह रहे हैं कि गर्भ के बच्चों का विनाशक मेरा फरसा अत्यन्त कठोर है। यह कारण है जिसके माध्यम से मारना रूप कार्य की अभिव्यक्ति हुई है, अत 'कारण-निबन्धना' है।

'कारण-निबन्धना' के अन्य उदाहरण

(१) कोउ कह जब विधि रतिमुख कीन्हा। सारभाग ससि कर हरि लीन्हा।[६]

---

१. रामचरितमानस, १।२७२।६
२. रामचन्द्रिका, ७।३८
३. अलकार-मजूषा, पृ० १५०
४. शिवराजभूषण, १७० (भूषण-ग्रथावली, पृ० ५०)
५. रामचरितमानस, १।२७२।१०
६. रामचरितमानस, ६।१२।७

(२) तदपि कठिन दसकंठ सुनु छत्रजाति कर रोष ।।[1]
(३) लई सुधा सब छीनि बिधि, तुव मुख रचिबे काज ।[2]
(४) सरद-सुधाकर-बिंब सौं लै कै सार सुधारि ।
श्री राधा-मुख कौं रच्यो चतुर बिरंचि बिचारि ।।[3]
(५) तुव अधरन के हित सुरनि मथि लिय अमृत जु सार ।
सु यह दुसह दुख सों अहं अब लगि सिंधु ससार ।।[4]

५ सारूप्य-निबंधना (समान वस्तु से समान वस्तु की अभिव्यक्ति) : जब प्रस्तुत का वर्णन न करके उसके समान दशा वाले अप्रस्तुत का वर्णन किया जाय, तब 'सारूप्य-निबन्धना' नामक 'अप्रस्तुतप्रशंसा' का पंचम भेद होता है। इसे 'अन्योक्ति' भी कहते हैं।

उदाहरण

नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं बिकास इहिकाल ।
अली कली ही सों बँध्यो, आगे कौन हवाल ।।[5]

यहां कवि का अभीष्ट (प्रस्तुत) है राजा जयसिंह और उनकी नवोढा पत्नी का बोध। इसकी अभिव्यक्ति भौंरे की कली पर आसक्ति रूप अप्रस्तुत द्वारा हुई है, अतः 'सारूप्य-निबन्धना' या 'अन्योक्ति' है।

'अन्योक्ति' के अन्य उदाहरण

(१) स्वारथ सुकृत न स्रम वृथा, देखु विहंग बिचारि ।
बाज पराये पानि परि, तूं पंछीहि न मारि ।।[6]
(२) जिन दिन देखे वे सुमन, गई सु बीति बहार ।
अब अलि रही गुलाब की, अपत कँटीली डार ।।[7]
(३) काल कराल परै कितनो पै मराल न ताकत तुच्छ तलैया ।[8]

प्रस्तुतांकुर

प्रस्तुतांकुर (प्रस्तुत+अंकुर) का अर्थ है प्रस्तुत में प्रस्तुत का अंकुरित होना। जहां एक प्रस्तुत के वर्णन से दूसरे प्रस्तुत का वर्णन होता है, वहां

---

१ रामचरितमानस, ६।२३।१८
२ काव्यांग-कौमुदी (तृतीय कला), पृ० १४२
३ काव्य-कल्पद्रुम (द्वितीय भाग—अलंकार मंजरी), पृ० ३६०
४. पद्माभरण, ११६ [पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ४७]
५. बिहारी-बोधिनी, २६८
६ बिहारी-बोधिनी, ६६६
७ बिहारी-बोधिनी, ६५५
८. अलंकार-मंजूषा, पृ० १८४

'प्रस्तुतांकुर' अलंकार होता है।[1]

उदाहरण :

कहाँ गयो अलि केवरे छाँड़ि सुकोमल जाइ।[2]

हे भौंरे, तू कोमल चमेली को छोड़कर (काँटेदार) केवड़े के पास क्यों गया ? यहाँ प्रस्तुत वर्णन तो भौंरे का ही है, किन्तु इसमें दूसरा प्रस्तुत (नायक के सम्बन्ध में) भी लग जायगा कि तू ऐसी सुन्दर नायिका को छोड़कर दूसरे के यहाँ क्यों गया ?

अनेक आचार्यों ने 'प्रस्तुतांकुर' को भिन्न अलंकार न मानकर 'अन्योक्ति' ही माना है।

'प्रस्तुतांकुर' के अन्य उदाहरण

(१) सुबरन-बरन सुबासजुत, सरस दलनि सुकुमार।
चंपकली कौं तजत अलि, तैंहीं होत गँवार॥[3]

(२) तजि कमलिनि अलि अनत कहुँ तू आयो निसि खोइ॥[4]

(३) अलि कदम्ब तरु पाइ सुमन भरो मकरन्द मैं।
तजि करील पै जाइ, निरस अपत परसै कहा॥[5]

पर्यायोक्ति

पर्यायोक्ति (परि+इ+घञ् = पर्याय+उक्ति)[6] का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है : घुमा फिरा कर बात करना। अलंकारशास्त्र में जब कोई बात सीधे ढंग से न कही जाकर चमत्कारयुक्त भिन्न प्रकार से कही जाती है, तो वहाँ 'पर्यायोक्ति' अलंकार होता है।[7] इस अलंकार में व्यंजना व्यापार की प्रधानता होती है। इसके दो भेद हैं।

---

१ (क) प्रस्तुत करि प्रस्तुत जहाँ प्रकट होत 'मतिराम'।
प्रस्तुत अंकुर कहत हैं तहाँ बुद्धि के धाम॥
—ललितललाम, १७५ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३८६)

(ख) प्रस्तुत करि प्रस्तुत फुरै प्रस्तुत-अंकुर होइ।
—पद्माभरण, १२२ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ४७)

२ भाषाभूषण, १००

३. ललितललाम, १७६ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३८६)

४ पद्माभरण, १२२ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ४७)

५. गोकुलकृत चेतचन्द्रिका (काव्यालोचन, पृ० १६६ पर उद्धृत)

६. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ५६५

७ पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते। —साहित्यदर्पण, १०।६०

'प्रथम पर्यायोक्ति' का उदाहरण

सीताहरन तात जनि कहहु पिता सन जाइ।
जौ मैं राम त कुल सहित कहिहि दसानन आइ ॥[1]

यहाँ राम न सीधे यह न कहकर कि 'मैं रावण को मारूँगा' यह कहा है कि यदि मैं राम हूँ तो रावण कुल सहित स्वर्ग आकर स्वयं सीताहरण की सूचना पिता को देगा। इस प्रकार घुमा फिराकर बात कही गयी है, अतः 'पर्यायोक्ति' अलंकार है।

'प्रथम पर्यायोक्ति' के अन्य उदाहरण

(१) यहि बिरिया नहिं और की, तू करिया वह सोधि।
पाहननाव चढ़ाय जिन, कीने पार पयोधि ॥[2]

(२) कत भटकत गावत न क्यों, वाही के गुन गाथ।
जाके लोचन ही किये, बिन वलयनि रति-हाथ ॥[3]

(३) कौन मरेगा नहीं मृत्यु से कभी न डरना,
हँसते मरना तात! चित्त को दुखी न करना।
जिसने तुमको दुःख दिया वह नहीं रहेगा,
तुम से निज वृत्तान्त स्वर्ग में स्वयं कहेगा ॥[4]

'द्वितीय पर्यायोक्ति' वहाँ होती है जहाँ किसी रमणीय व्याज से (ऐसे बहाने से जो कहने-सुनने में अच्छा लगे) अभिलषित कार्य की सिद्धि की जाती है।

उदाहरण

नाथ लखनु पुरु देखन चहहीं। प्रभु सकोच डर प्रगट न कहहीं ॥
जौ राउर आयसु मैं पावउँ। नगर देखाइ तुरत लै आवउँ ॥[5]

राम ने लक्ष्मण को जनकपुर दिखलाने की आज्ञा विश्वामित्र से माँगी। नगर देखने की उनकी (राम की) अपनी इच्छा भी थी, किन्तु लक्ष्मण को दिखाने का बहाना बनाया। इस प्रकार अपनी इच्छा को लक्ष्मण की इच्छा के बहाने व्यक्त किया। अतः यहाँ 'द्वितीय पर्यायोक्ति' है।

'द्वितीय पर्यायोक्ति' के अन्य उदाहरण :

(१) देखन मिस मृग विहग तरु फिरै बहोरि बहोरि।
निरखि निरखि रघुबीरछबि बाढ़ै प्रीति न थोरि ॥[6]

---

१. रामचरितमानस, ३।३१।११-१२
२ बिहारी-बोधिनी, ६८७
३ अलंकार-मंजूषा, पृ० १५८
४. अलंकार-प्रदीप, पृ० १६३
५ रामचरितमानस, १।२१८।५-६
६ रामचरितमानस, १।२३४।६-१०

(२) तुम दोऊ बैठो इहां, जाति अन्हावन ताल ॥[1]
(३) पूस मास सुनि सखिन सो, साई चलत सवार।
गहि कर बीन प्रबीन तिय, राग्यो राग मलार ॥[2]
(४) चलत पाहुनी को जु हरि छीं कि लई समुहाइ ॥[3]

व्याजस्तुति

जब ऊपर से देखने मे निंदा हो किन्तु वास्तव मे हो प्रशसा, तो वहां 'व्याज-स्तुति' नामक अलकार होता है।[4] यह दो प्रकार का होता है

१ देखने मे निंदा और समझने मे स्तुति।

२ किसी और की स्तुति से किसी और की स्तुति की अभिव्यजना।

१. प्रथम व्याजस्तुति : ऊपर से देखने में निन्दा किन्तु वास्तव में स्तुति (प्रशसा) हो तब 'प्रथम व्याजस्तुति' होती है।

उदाहरण

मन क्रम वचनो से अर्चना जो तुम्हारी
निशिदिन करते हैं, श्याम, तू हा! उन्हीं को।
जनम-जनम की है देह को छीन लेता,
अयि नटवर, तेरे ढंग ये हैं न अच्छे ॥[5]

यहाँ ऊपर से देखने में श्रीकृष्ण की निन्दा है, किन्तु वास्तव मे यह उनकी स्तुति है क्योंकि वे अपने भक्तो को आवागमन से मुक्त कर देते हैं।

प्रथम प्रकार की 'व्याजस्तुति' के अन्य उदाहरण

(१) जमुना तुम अविवेकिनी, कौन लियो यह ढंग।
पापिन सो निज बन्धु को, मान करावति भग ॥[6]
(२) गगा क्यों टेढी चलती हो, दुष्टो को शिव कर देती हो।
क्यों यह बुरा काम करती हो, नरक रिक्त कर दिवि भरती हो ॥[7]
(३) भसम जटा विष अहि सहित गग कियो तैं मोहि।
भोगी तें जोगी कियो कहा कहौं अब तोहि ॥[8]

---

१ भाषा-भूषण, १०२
२. बिहारी-बोधिनी, ४७७
३. पद्माभरण, १२४ (पद्माकर-ग्रथावली, पृ० ४७)
४. (क) यदि निन्दन्निव स्तौति व्याजस्तुतिरसौ स्मृता।—काव्यादर्श, २।३४३
(ख) व्याजस्तुतिर्मुखे निंदा स्तुतिर्वा रूढिरन्यथा।
—काव्यप्रकाश, १०।११२ (सू० १६६)
५. अलकार-प्रदीप, पृ० १६४
६. अलकार-मजूषा, पृ० १६०
७. काव्य-प्रदीप, पृ० २०५
८. पद्माभरण, १२७ (पद्माकर-ग्रथावली, पृ० ४८)

(४) मोहिं हरि नगा अंगअगनि भुजंगा बांधे
एरी मेरी गगा तेरी अद्भुत लहर है ॥[1]

२. द्वितीय व्याजस्तुति : जब किसी और की स्तुति से किसी और की स्तुति प्रकट हो, तब 'द्वितीय व्याजस्तुति' होती है।

उदाहरण

जासु दूत बल बरनि न जाई। तेहि आएँ पुर कवन भलाई ॥[2]

यहाँ हनुमान् की स्तुति से रामचद्र की स्तुति अभिप्रेत है, अतः 'द्वितीय व्याजस्तुति' है। इसी प्रकार निम्नांकित दोहे में 'द्वितीय व्याजस्तुति' है :

या बृन्दाबन बिपिन में बडभागी मम कान।
जिन मुरली की तान सुनि किय हरषित अंग आन ॥[3]

यहाँ कानों की बडाई से मुरली की बडाई प्रकट हो रही है, अतः 'द्वितीय व्याजस्तुति' है।

व्याजनिन्दा

कुछ आचार्य इसे 'व्याजस्तुति' अलकार का दूसरा भेद मानते हैं और कुछ इसकी गणना स्वतन्त्र अलकार के रूप में करने लगे हैं। इस अलकार के भी दो भेद हैं।

प्रथम प्रकार जब ऊपर से देखने में स्तुति जान पडे किंतु हो वास्तव में निंदा, तब वहाँ 'व्याजनिंदा' का प्रथम प्रकार होता है।

उदाहरण :

हैं घूमता फिरता समय तुम किन्तु ज्यों-के-त्यों खडे।
फिर भी अभी तक जी रहे हो धीर हो निश्चय बडे ॥[4]

यहाँ ऊपर से देखने में प्रशंसा प्रतीत होती है, किंतु वास्तव में प्रगति-हीनता के कारण है निंदा।

'प्रथम व्याजनिंदा' के अन्य उदाहरण :

(१) राम साधु तुम्ह साधु सयाने। राममातु भलि सब पहिचाने ॥[5]
(२) कान नाक बिनु भगिनि निहारी। क्षमा कीन्हि तुम्ह धर्म बिचारी ॥
धर्मसीलता तव जग जागी। पावा दरसु हमहूँ बडभागी ॥[6]

---

१. गंगालहरी, ३७ (पद्माकर-ग्रथावली, पृ० २६७)
२. रामचरितमानस, ५।३६।३
३. पद्माभरण, १२६ (पद्माकर-ग्रथावली, पृ० ४८)
४. अलकार-प्रदीप, पृ० १६५
५. रामचरितमानस, २।३३।७
६ रामचरितमानस, ६।२२।७-८

(३) धन्य कीस जो निज प्रभु काजा। जहँ तहँ नाचै परिहरि लाजा॥
नाचि कूदि करि लोग रिझाई। पति हित करै धर्मनिपुनाई॥[1]

(४) सेमर तू बड़ भाग है, कहा सराह्यो जाय।
पंछी करि फल आस तोहि निस-दिन सेवहिं आय॥[2]

(५) हितू न तो सो और तिय पियहि मनावन जाइ।
सहे जु तू मो हित सखी नख-दतन के घाइ॥[3]

द्वितीय व्याजनिंदा जब की जाय किसी और की निंदा और प्रकट हो किसी और की निंदा, तब वहाँ 'द्वितीय व्याजनिंदा' होती है।

उदाहरण

दई निरदई सों भई, दास बडीयै भूल।
कमलमुखी को जिन्ह कियो, हियो कठिनई-मूल॥[4]

यहाँ दई (दैव या ब्रह्मा) की निंदा से कमलमुखी (नायिका) की निंदा प्रतीत होती है, अतः द्वितीय प्रकार की 'व्याजनिंदा' है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) सदा छीन कीनो न जिहिं चंद, मद है सोय॥[5]

(२) प्रगट कुटिलता जो करी हम पर स्याम सरोस।
मधुप जोग बिष उगलिए कछु न तिहारो दोस॥[6]

(३) जु हरि हमारो जीव निजु टाहि लै चल्यो दूर।
कूर सु जिहि इहि क्रूर को नाम धर्‌यो अक्रूर॥[7]

(४) तेरा घनश्याम-धन हरने पवन-दूत बन आया।
काम क्रूर, अक्रूर नाम है, वचक बना बनाया॥[8]

आक्षेप

'आक्षेप' (आ+क्षिप्+घञ्)[9] का अर्थ है निषेध या बाधा। जब कार्य के प्रारम्भ होते ही उसका निषेध कर दिया जाय तब वहाँ 'आक्षेप' अलंकार होता है। इसके तीन प्रकार हैं: १ उक्ताक्षेप, २. निषेधाक्षेप और ३. व्यक्ताक्षेप।

१. उक्ताक्षेप: जहाँ अपनी ही कही हुई प्रथम बात का निषेध करके

---

१. रामचरितमानस, ६।२४।१-२
२ अलंकार-मंजूषा, पृ० १६२
३. पद्माभरण, १२८ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ४८)
४. काव्यनिर्णय, १२।३० (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १२०)
५ भाषा-भूषण, १०४
६ ललितललाम, १८६ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३८८)
७ पद्माभरण, १३१ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ४८)
८. द्वापर (मैथिलीशरण गुप्त), पृ० १३०
९ संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० १३८

दूसरी उससे बढ़कर बात कही जाय, वहाँ 'उक्ताक्षेप' होता है।[1]

उदाहरण

प्रभु प्रसन्न ह्वै दीजिए, स्वर्गधाम को वास।
अथवा याते भल कहा, करहु आपनो दास ॥[2]

यहाँ अपनी कही गयी बात का निषेध कर स्वर्ग से भक्ति को उत्कृष्टतर कहा गया है, अतः 'उक्ताक्षेप' है।

'उक्ताक्षेप' के अन्य उदाहरण

(१) सीतकिरन दै दरस तू, अथवा तिय मुख आहि।[3]

(२) तुअ मुख बिमल प्रसन्न अति, रह्यो कमल सो फूलि ॥
नहिं नहिं पूरनचंद सो, कमल कह्यो मैं भूलि ॥[4]

(३) निहनहु बिधु अथवा अहै इत चन्दन को लेप ॥[5]

२ निषेधाक्षेप जब पहले किसी बात से इनकार किया जाय और फिर अन्य प्रकार से उसकी स्थापना की जाय, तब वहाँ 'निषेधाक्षेप' होता है।[6]

उदाहरण

हौं नहि दूती, अगिनि तैं तिय तन ताप बिसेखि ॥[7]

यहाँ 'मैं दूती नहीं हूँ' कहकर निषेध का केवल आभास दिया गया है क्योंकि वही आग बनकर नायक से नायिका के विरहताप का वर्णन करती है और इस प्रकार दूती का ही कार्य करती है। इस अलंकार का दूसरा नाम 'निषेधाभास' भी है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) कबि न होउँ नहिं चतुर कहावौं। मति अनुरूप रामगुन गावौं ॥[8]

(२) दसमुख मैं न बसीठीं आएउँ। अस बिचारि रघुबीर पठाएउँ ॥
बार बार अस कहइ कृपाला। नहिं गजारि जसु बधें सृकाला ॥[9]

---

१. आक्षेप स्वयमुक्तस्य प्रतिषेधो विचारणात्।
चन्द्र! संदर्शयात्मानमथवास्ति प्रियामुखम् ॥ —कुवलयानंद, ७३

२. अलंकार मंजूषा, पृ० १६३

३. भाषाभूषण, १०७

४. काव्यनिर्णय, १२।३६ (भिखारीदास-ग्रंथावली, पृ० १२२)

५. पद्माभरण, १२२ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ४८)

६. निषेधाभासमाक्षेपं बुधाः केचन मन्वते।
नाहं दूती तनोस्तापस्तस्या कालानलोपमः ॥ —कुवलयानंद, ७४

७. भाषाभूषण, १०६

८. रामचरितमानस, १।१२।१६

९. रामचरितमानस, ६।३०।२-३

(३) हौं न कहत तुम जानिहौ लाल बात की बात ।
अँसुवा उडगन परत हैं हौं न चहत उतपात ॥[1]

(४) हौं न सखी पै तुम बिना भरति भावती स्वास ॥[2]

३. व्यक्ताक्षेप जहाँ प्रकट रूप में कार्य करने को कहा जाय किन्तु उसके भीतर निषेध छिपा हो, तब वहाँ 'व्यक्ताक्षेप' अलंकार होता है ।[3]

उदाहरण

देहि जन्म मोको दई, चले देस तुम जाहि ॥[4]

कोई नायिका अपने प्रिय के विदेशगमन पर कहती है कि आप प्रसन्नता से विदेश जाइये । मेरी तो विधाता से यही प्रार्थना है कि आप (नायक) जिस देश को जा रहे हैं वहीं मेरा जन्म हो । अर्थात् आपके जाने पर मैं मर जाऊँगी और वहीं जन्म लूँगी जहाँ आप जा रहे हैं। यहाँ यद्यपि प्रकट रूप में विदेश जाने की आज्ञा है, पर परोक्ष रूप में यह प्रदर्शित किया गया है कि आप विदेश न जाइए (क्योंकि आपके विदेश जाने पर मैं मर जाऊँगी)। इस प्रकार प्रकट (व्यक्त) में निषेध छिपा होने से 'व्यक्ताक्षेप' अलंकार है ।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण -

(१) राजु देन कहि दीन्ह बनु मोहि न सो दुखलेसु ।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु ॥[5]

(२) सुख सों पीय सिधारिये, पग-पग होय कल्यान ।
हौं हूं जनमौंगी तहाँ, तुव जेहिं देस पयान ॥[6]

(३) मेरे नाथ, जहाँ तुम होते
दासी वहीं सुखी होती,
किन्तु विश्व की भ्रातृ-भावना
यहाँ निराश्रित हो रोती ।[7]

विरोधाभास

वस्तुत. विरोध न होने पर भी विरोध के आभास के वर्णन को 'विरोधाभास' कहते हैं। यह अलंकार जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य के परस्पर विरोध

---

१ ललितललाम, १६० (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३८८)
२ पद्माभरण, १३३ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ४८)
३. आक्षेपोऽन्यो विधौ व्यक्ते निषेधे च तिरोहिते ।
गच्छ गच्छसि चेत्कान्त ! तत्रैव स्याज्जनिर्मम ॥ —कुवलयानंद, ७१
४. भाषाभूषण, १०७
५. रामचरितमानस, २।१५१।६-१०
६ अलंकार-मंजूषा, पृ० १६४
७ साकेत (एकादश सर्ग), पृ० २६८

के आधार पर दस प्रकार का हो सकता है, अर्थात् —१ जाति का जाति से विरोध २ जाति का गुण से विरोध, ३ जाति का क्रिया से विरोध, ४ जाति का द्रव्य से विरोध, ५ गुण का गुण से विरोध, ६ गुण का क्रिया से विरोध, ७ गुण का द्रव्य से विरोध, ८ क्रिया का क्रिया से विरोध, ९ क्रिया का द्रव्य से विरोध, और १० द्रव्य का द्रव्य से विरोध। क्रमशः उदाहरण नीचे दिये जा रहे हैं।[1]

१ जाति का जाति से विरोध

सुधाधाम ह्वै करत है, तू विष ही को काज।
अहै कसाई के सरिस, तू ह्वै के द्विजराज ॥[2]

यहाँ कसाई जाति का द्विजराज (ब्राह्मण) जाति से विरोध है। द्विजराज का अर्थ चन्द्रमा लेने से विरोध का परिहार है।

२ जाति का गुण से विरोध

कहत कृपामय सब सदा, लीन्हें रहत कटार।
तू असील साहब तऊ, सोहत सील-भँडार ॥[3]

यहाँ 'कृपामय' गुण का 'कटार' जाति से विरोध है। राजा के गुण दया और वीरत्व दोनों हैं, इसी से इसका परिहार है।

३ जाति का क्रिया से विरोध .

साहि तनै तव कोप कृसानु ते बैरि गरे सब पानिप वारे।
एक अचंभव होत बडो तिन ओंठ गहे अरि जात न जारे ॥[4]

यहाँ कृशानु (अग्नि) जाति से 'तृण न जलना' रूप क्रिया का विरोध है। 'तिन ओंठ गहे' का अर्थ 'दीनता दिखाना' लेने से विरोध का परिहार हो जाता है।

४. जाति का द्रव्य से विरोध :

सीता नयन चकोर सखि, रविवंशी रघुनाथ।
रामचंद्र सिय कमल मुख, भलो बन्यो है साथ ॥[5]

चकोर जाति का सूर्य द्रव्य से तथा कमल जाति का चन्द्र द्रव्य से विरोध

---

१ जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्गुणो गुणादिभिस्त्रिभिः ।
क्रिया क्रियाद्रव्याभ्यां यद् द्रव्यं द्रव्येण वा मिथः ।
विरुद्धमिव भासेत विरोधोऽसौ दशाकृतिः ॥
—साहित्यदर्पण, १०।६७,६८

२ काव्यांग-कौमुदी (तृतीय कला), पृ० १४८

३. काव्यांग-कौमुदी (तृतीय कला), पृ० १४८

४. शिवराजभूषण, १८२ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ५४)

५ रामचन्द्रिका, ६।४३

आभासित हो रहा है।

५ गुण का गुण से विरोध

(१) जिनके जग अच्छत सीस धरै। तिनको तन सच्छत कौन करै॥[1]

(२) कितो मिठास दयो दई, इतै सलौने रूप।[2]

यहाँ अच्छत (अक्षत—घावरहित) गुण का सच्छत (सक्षत—घावयुक्त) गुण से विरोध है। अच्छत का अर्थ चावल लेने से विरोध का परिहार होता है।

६ गुण का क्रिया से विरोध

मोद हिये यों होत है, तुव खीझे अनतोल।
मोकों निपट मिठात है, यह तेरो कटु बोल॥[3]

यहाँ 'मोद' गुण का 'खीझना' क्रिया से तथा 'कटु' गुण का मिठाना (मीठा लगना) रूप क्रिया से विरोध है। प्रेम के कारण ऐसा होता है, इसी से विरोध का परिहार हो जाता है।

७ गुण का द्रव्य से विरोध

विषमय यह गोदावरी अमृत के फल देति।
केशव जीवनहार को दुःख अशेष हरि लेति॥[4]

यहाँ 'विषमय' गुण का 'अमृत' द्रव्य से विरोध है। 'विष' का अर्थ 'जल' और 'अमृत का अर्थ 'देवता' लेने से विरोध का परिहार हो जाता है।

८ क्रिया का क्रिया से विरोध

तन्त्री-नाद कवित्तरस, सरस राग रति रंग।
अनबूडे बूडे, तिरे, जे बूडे सब अंग॥[5]

यहाँ 'अनबूडे' और 'बूडे' तथा 'तिरे' और 'बूडे' आदि क्रियाओं का विरोध है। 'बूडे' का अर्थ 'तल्लीन' तथा 'तिरे' का अर्थ 'कृतार्थ' लेने से विरोध का परिहार हो जाता है।

९ क्रिया का द्रव्य से विरोध

अब न प्रान राखत बनत, बेगि पधारहु पीय।
चंद जरावन आगि लौं, काटत कमलहु हीय॥[6]

यहाँ 'चंद' द्रव्य का 'जलाना' क्रिया से विरोध है। वियोगावस्था का अर्थ

१. रामचंद्रिका, ७।३२
२. बिहारी-बोधिनी, २६१
३ काव्याग-कौमुदी (तृतीय कला), पृ० १५०
४. रामचंद्रिका, ११।२६
५. बिहारी-बोधिनी, ६१७
६. काव्याग-कौमुदी (तृतीय कला), पृ० १५१

लेने से विरोध का परिहार हो जाता है।

१० द्रव्य का द्रव्य से विरोध

बदन हालाहल भयो, चद भयो है सूर।
फूल-गुलाब त्रिसूल सो, दाडव भयो कपूर॥[1]

यहाँ 'चदन' द्रव्य का 'हालाहल' द्रव्य से विरोध है। 'हालाहल' का अर्थ कष्ट देने वाला लेने से तथा वियोग की अवस्था के कारण विरोध का परिहार हो जाता है। इसी प्रकार शेष तीनों चरणों मे द्रव्य का द्रव्य से (चद का सूर्य से, गुलाब का त्रिशूल से और दाडव का कपूर से) विरोध है।

विभावना

कारण के अभाव मे भी कार्य की उत्पत्ति का वर्णन 'विभावना' अलकार कहलाता है।[2] इस अलकार के छह भेद हैं

१ प्रथम विभावना जहाँ कारण के बिना ही कार्य की सिद्धि हो, वहाँ 'प्रथम विभावना' होती है।

उदाहरण

बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै बिधि नाना॥
आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड जोगी॥[3]

यहाँ पैर, कान, हाथ, मुख, वाक् आदि कारणों के अभाव मे भी चलने, सुनने, काम करने, भोजन करने, बोलने रूप कार्यों की सिद्धि हुई है, अत. 'प्रथम विभावना' अलकार है।

'प्रथम विभावना' के अन्य उदाहरण :

(१) सुनत लखत स्रुति नयन बिनु, रसना बिनु रस लेत।
बास नासिका बिनु लहै, परसै बिना निकेत॥[4]

(२) बिनु जावक दोनै चरन, अरुन लखे हैं आज॥[5]

(३) बिनहू सु अंजन-दान कजरारे दृग देखियतु॥[6]

२ द्वितीय विभावना : जब अपूर्ण कारण से कार्य की उत्पत्ति का वर्णन किया जाय, तब वहाँ 'द्वितीय विभावना' अलकार होता है।[7]

---

१. काव्याग कौमुदी (तृतीय कला), पृ० १५१
२ विभावना विना हेतु कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते। —साहित्यदर्पण, १०।६६
३. रामचरितमानस, १।११८।५-६
४. वैराग्यसदीपनी, ३
५. भाषाभूषण, १०६
६ पद्माभरण, १३७ (पद्माकर-ग्रथावली, पृ० ४६)
७. हेतूनामसमग्रत्वे कार्योत्पत्तिश्च सा मता।
अस्त्रैरतीक्ष्णकठिनैर्जगज्जयति मन्मथ॥ —कुवलयानद, ७८

उदाहरण :

काम कुसुम धनु सायक लीन्हे । सकल भुवन अपने बस कीन्हे ॥[1]

कामदेव अपने पुष्पबाणों से सम्पूर्ण संसार को अपने वश में किये हुए है। यहाँ पुष्पबाणरूपी अधूरी सामग्री से ही कार्य की सिद्धि कही गयी है, अत 'द्वितीय विभावना' है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण :

(१) गुरगृह गए पढन रघुराई । अलप काल बिद्या सब आई ॥[2]

(२) मत्र परम लघु जासु बस बिधि हरि हर सुर सर्ब ।
महामत्त गजराज कहुँ बस कर अंकुस खर्ब ॥[3]

(३) त्रिजटा कहति बार बार तुलसीस्वरी सों,
'राघौ बान एक ही समुद्र सातौ सोखिहैं' ।[4]

(४) कुसुम-बान कर गहि मदन, सब जग जीत्यो जोय ।[5]

(५) तो सो को सिवाजी जेहि दो सौ आदमी सो जित्यो,
जग सरदार सौ हजार असवार को ॥[6]

(६) राजकुमार सरोज से हाथन सो दहि संभु-सरासन तोर्‌यो ।[7]

३- तृतीय विभावना : विघ्न के उपस्थित रहते हुए भी जब कार्य की उत्पत्ति का वर्णन किया जाय तब 'तृतीय विभावना' होती है।[8]

उदाहरण :

श्यामा बातें श्रवण करके बालिका एक रोयी,
रोते-रोते अरुण उसके हो गये नेत्र दोनो ।
ज्यों-ज्यों लज्जाविवश वह थी रोकती वारिधारा,
त्यों-त्यों आँसू अधिकतर थे लोचनों मध्य आते ॥[9]

यहाँ अन्तिम दो पंक्तियों में 'तृतीय विभावना' है क्योंकि लज्जारूपी

---

१. रामचरितमानस, १।२५७।१
२. रामचरितमानस, १।२०४।४
३. रामचरितमानस, १।२५६।६-१०
४. कवितावली, ६।२
५. भाषाभूषण, ११०
६. शिवराजभूषण, २८६ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ५५)
७. अलंकार-मंजूषा, पृ० १६८
८. (क) कार्योत्पत्तिस्तृतीया स्यात् सत्यपि प्रतिबन्धके ।
नरेन्द्रानेव ते राजन् ! दशत्यसिभुजङ्गमः ॥
—कुवलयानंद, ७६
(ख) प्रतिबन्धक के होतहू, कारज पूरन मानि । —भाषाभूषण, १११
९. प्रियप्रवास, १४।५

बाधा के होते हुए भी आँसुओं के आँखों में आने रूपी कार्य के सम्पन्न होने का वर्णन है। इसी प्रकार निम्नांकित उदाहरणों में भी 'तृतीय विभावना' है :

(१) रखवारे हति बिपिन उजारा। देखत तोहि अच्छ तेहि मारा ॥[1]
(२) निसिदिन स्रुति-संगति तऊ, नैन राग की खानि ॥[2]
(३) मानत लाज लगाम नहिं नैक न गहत मरोर।
    होत तोहि लखि बाल के दृग-तुरंग मुँहजोर ॥[3]
(४) तदपि ताप सरसत जदपि दृग बरसत हैं तोइ ॥[4]

४ चतुर्थ विभावना : जो जिसका कारण नहीं है उससे कार्य की उत्पत्ति का वर्णन 'चतुर्थ विभावना' अलंकार होता है।[5]

उदाहरण

कनकलता तें उपजे श्रीफल के फल दोइ ॥[6]

कनकलता से श्रीफल की उत्पत्ति अकारण (जो जिसका कारण नहीं है) से कार्य की उत्पत्ति है, अतः 'चतुर्थ विभावना' है।

'चतुर्थ विभावना' के अन्य उदाहरण :

(१) कोकिल की बानी अबै, बोलत सुन्यो कपोत ॥[7]
(२) हँसत बाल के बदन में यों छवि कछू अतूल।
    फूली चंपक बेलि तें झरत चमेली फूल ॥[8]
(३) भयो कंबु ते कंज इक, सोहत सहित बिलास।
    देखहु चंपक की लता, देत गुलाब सुबास ॥[9]
(४) क्या देखेगी न अब कढ़ना इन्दु को बादलों से।
    क्या फूलेगा न अब गृह में पद्म सौन्दर्यशाली ॥[10]

---

१. रामचरितमानस, ६।२६।५
२. भाषाभूषण, १११
३. ललितललाम, २०१ (मतिराम ग्रंथावली, पृ० ३६०)
४. पद्माभरण, १३६ (पद्माकर ग्रंथावली, पृ० ४६)
५. (क) अकारणात् कार्यजन्म चतुर्थी स्याद् विभावना।
    शंखाद् वीणानिनादोऽयमुदेति महदद्भुतम् ॥ —कुवलयानंद, ८०
   (ख) हेतु काज को जो नहीं ताते काज उदोत।
    —ललितललाम, २०२ (मतिराम ग्रंथावली, पृ० ३६१)
६. पद्माभरण, १४० (पद्माकर ग्रंथावली, पृ० ४६)
७. भाषाभूषण, ११२
८. ललितललाम, २०३ (मतिराम ग्रंथावली, पृ० ३६१)
९. अलंकार-मंजूषा, पृ० १६८
१०. प्रियप्रवास, ८।६३

५. पंचम विभावना : विरुद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति के वर्णन को 'पंचम विभावना' अलंकार कहते हैं।[1]

उदाहरण :

कारे घन उमडि अँगारे बरखत हैं।[2]

काले बादलों से अंगारों का बरसना विरुद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति है, अतः यहाँ 'पंचम विभावना' अलंकार हुआ।

'पंचम विभावना' के अन्य उदाहरण

(१) करत मोहि संताप यह, सखी सीतकर सुद्ध ॥[3]

(२) सिय-हिय सीतल भी लगें जरत लंक की झार ॥[4]

६. छठी विभावना : जहाँ कार्य से कारण की उत्पत्ति का वर्णन किया जाय, वहाँ 'छठी विभावना' होती है।[5]

उदाहरण

उपज्यो तौ मुख इन्दु तें प्रेम पयोधि अपार।[6]

यहाँ मुख-चन्द्र से प्रेम रूपी अपार समुद्र की उत्पत्ति के वर्णन में कार्य (चन्द्र) से कारण (समुद्र) की उत्पत्ति का वर्णन होने के कारण 'छठी विभावना' है।

'छठी विभावना' के अन्य उदाहरण :

(१) नैन-मीन तें देखियत, सरिता बहति अनूप ॥[7]

(२) तव कृपान धुव धूम तें, भयो प्रताप कृसान ॥[8]

(३) और नदी नदन तें कोकनद होत तेरो

कर कोकनद नदी नद प्रगटत है।[9]

---

१. (क) विरुद्धात् कार्यसंपत्तिर्दृष्टा काचिद् विभावना।
शीतांशुकिरणास्तन्वी हन्त संतापयन्ति ताम् ॥ —कुवलयानंद, ८१

(ख) बरनत हेतु विरोध तें उपजत हैं जहँ काज।
तहँ विभावना औरऊ बरनत कवि सिरताज ॥
—ललितललाम, २०५ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३९१)

२. शिवराजभूषण, १६० (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ५५)

३. भाषाभूषण, ११३

४. पद्माभरण १४१ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ४९)

५. (क) कार्यात् कारणजन्मापि दृष्टा काचिद् विभावना।
यशः पयोराशिरभूत् करकल्पतरोस्तव ॥ —कुवलयानंद, ८२

(ख) होत जु कारन काज तें सु विभावना गनाउ।
—पद्माभरण, १४२ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५०)

६. ललितललाम, २०८ (मतिराम-ग्रंथावली पृ० ३९२)

७. भाषाभूषण, ११४

८. शिवराजभूषण, १६२ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ५५)

९. शिवराजभूषण, १६३ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ५६)

(४) सुदृग-सरोजन तें भयो छवि-पानिप-दरियाउ ॥[1]

विशेषोक्ति

जहाँ कारण के उपस्थित होने पर भी कार्य की उत्पत्ति न हो, वहाँ 'विशेषोक्ति' अलंकार होता है।[2]

उदाहरण

देखो, दो दो मेघ बरसते,
मैं प्यासी की प्यासी ।[3]

यहाँ मेघ बरसने पर भी प्यासे रहने का वर्णन है। इस प्रकार कारण के उपस्थित होने पर भी कार्य का न होना वर्णित है, अत 'विशेषोक्ति' है।

'विशेषोक्ति' के अन्य उदाहरण

(१) नेह घटत हूँ नहिं तऊ, काम-दीप घट माँहि ॥[4]

(२) त्यौं त्यौं प्यासेई रहत, ज्यौं ज्यौं पियत अघाय।
'सगुन' सलोने रूप की, जु न चखतृषा बुझाय ॥[5]

(३) नीर भरे नित प्रति रहैं, तऊ न प्यास बुझाय ॥[6]

(४) पियत रहत पिय नैन यह तेरी मृदु मुसकानि।
तऊ न होति मयंकमुखि तनिक प्यास की हानि ॥[7]

(५) दौलति इन्द्र समान बढ़ी पै खुमान के नेक गुमान न आयो ।[8]

असम्भव

जब किसी अनहोनी बात के होने का वर्णन किया जाय, तब वहाँ

---

१. पद्माभरण, १४२ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५०)
२. (क) विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः ।
—काव्यप्रकाश, १०।१०८ (सू० १६३)
(ख) सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा ।
—साहित्यदर्पण, १०।६७
(ग) कार्याजनिर्विशेषोक्तिः सति पुष्कलकारणे ।
हृदि स्नेहक्षयो नाभूत् स्मरदीपे ज्वलत्यपि ॥ —कुवलयानन्द, ८३
३. यशोधरा, पृ० ११६
४. भाषा-भूषण, ११५
५. बिहारी-बोधिनी, १६७
६. बिहारी-बोधिनी, १७८
७. ललितललाम, २१० (मतिराम ग्रंथावली, पृ० ३६२)
८. शिवराजभूषण, १६५ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ४६)

'असम्भव' अलंकार होता है।[1] 'कौन जानता था कि' या इसी भाव के अन्य शब्द इस अलंकार के सूचक होते हैं।

उदाहरण :

गिरिवर धरिहैं गोपसुत, को जानै यह, आज।[2]

इस अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) ऊधो नहीं हम जानत ही मनमोहन कूबरीहाथ बिकैहैं।[3]

(२) औरँग यों पछितात मैं करतो जतन अनेक।
सिवा लेइगो दुरग सब को जानै निसि एक॥[4]

(३) जासों बैर करि भूप बचै न दिगंत ताके।
दंत तोरि तखत तरे ते आयो सरजा॥[5]

(४) हरि-इच्छा सबनैं प्रबल, बिक्रम सकल अकाय।
किन जान्यो लुटि जाहिंगी, अबला अर्जुन-साथ।[6]

(५) यह को जानत हो जु कपि ऐहैं लंका लाइ।[7]

असंगति

कारण और कार्य की स्वाभाविक संगति के त्याग का वर्णन 'असंगति' अलंकार होता है। इस अलंकार के तीन भेद हैं : १. प्रथम, २. द्वितीय और ३. तृतीय असंगति।

१. प्रथम असंगति : कारण कहीं और तथा कार्य कहीं और हो, इस प्रकार के वर्णन में 'प्रथम असंगति' अलंकार होता है।[8]

उदाहरण :

दृग उरझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर चित प्रीति।
परति गाँठ दुरजन हिये, दई नई यह रीति॥[9]

---

१ असम्भवोऽर्थनिष्पत्तेरसम्भाव्यत्ववर्णनम्।
को वेद गोपशिशुकः शैलमुत्पाटयेदिति॥ —कुवलयानंद, ८४

२. भाषाभूषण, ११६

३. ललितललाम, २१३ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३६२)

४. शिवराजभूषण, १६७ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ५६)

५. शिवराजभूषण, १६८ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ५७)

६. काव्यनिर्णय, १५।२८ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १४५)

७. पद्माभरण, १२४ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५०)

८ (क) कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसंगतिः। —साहित्यदर्पण, १०।६६
(ख) विरुद्धं भिन्नदेशत्वं कार्यहेत्वोरसंगतिः।
विषं जलधरैः पीतं, मूर्च्छिताः पथिकाङ्गनाः॥ —कुवलयानंद, ८५

९. बिहारी-बोधिनी, १६२

(३) दिय अंजन अधरान कत दृगनि खवाये पान।[1]

३. तृतीय असंगति : जो कार्य प्रारम्भ किया जाता है उससे विरुद्ध कार्य करने का वर्णन होने पर 'तृतीय असंगति' अलंकार होता है।[2]

उदाहरण :

मोह मिटावन हेत प्रभु, लीन्हों तुम अवतार।
उलटो मोहन-रूप धरि, मोह्यो सब ब्रजनार ॥[3]

यहाँ मोह मिटाने के स्थान में मोह उत्पन्न करना रूप उलटा कार्य सम्पन्न हुआ है, अतः 'तृतीय असंगति' है।

'तृतीय असंगति' के अन्य उदाहरण

(१) मोह मिटायो नाहिं प्रभु, मोह लगायो आनि ॥[4]
(२) उदित भयो है जलद तू जग को जीवन-दानि।
मेरो जीवन लेत है, कौन बैर मन आनि ॥[5]
(३) प्रगट भए घनस्याम तुम, जगप्रतिपालन-हेतु।
नाहक बिथा बढ़ाइ क्यों, अबलनि को ज्यों लेतु ॥[6]
(४) यह ऊलट कासों कहों निकट सुनाइ कहै न।
आए जीवन दैन घन लगे सु जीवन लैन ॥[7]

विषम

अनमेल वस्तुओं या घटनाओं के वर्णन में 'विषम' अलंकार होता है। यह अलंकार तीन प्रकार का होता है।[8]

१. प्रथम विषम परस्पर वैधर्म्य वाली वस्तुओं के सम्बन्ध को जब अयोग्य कहा जाय, तब वहाँ 'प्रथम विषम' होता है।

उदाहरण :

राजकुमार के कंज से पानि कहाँ कहँ संभुसरासन बज्र सो।[9]

---

१. पद्माभरण, १४६ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५०)
२ (क) अन्यत्कर्तुं प्रवृत्तस्य तद्विरुद्धकृतिस्तथा। —कुवलयानन्द, ८६
(ख) और काज आरंभिए औरै करिए दौर। —भाषाभूषण, ११८
३. अलंकार-मंजूषा, पृ० १७३
४. भाषाभूषण, ११९
५. ललितललाम, २७० (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३६४)
६ काव्यनिर्णय, १३।४२ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १३१)
७. पद्माभरण, १४८ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५०)
८. विषम-अलंकृति तीनि बिधि, अनमिलते को संग। —भाषाभूषण, १२०
९. अलंकार-मंजूषा, पृ० १७४

यहाँ दो अनमेल वस्तुओं (राजकुमार राम के कोमल कर और शिव का कठोर धनुष) का सम्बन्ध वर्णित है, जो सर्वथा अनुपयुक्त है, अत. यहाँ 'प्रथम विषम' अलंकार है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा। सोखेउ सुजसु सकल संसारा ॥[1]

(२) अति कोमल तन तीय को, कहाँ विरह की लाय।[2]

(३) जोग कहाँ मुनि लोगन जोग, कहाँ अबला मति है चपला-सी;
स्याम कहाँ अभिराम सरूप, कुरूप कहाँ वह कूबरी दासी ॥[3]

(४) बापुरो एदिल साहि कहाँ कहाँ दिल्लि को दामनगीर सिवाजी ?[4]

(५) कहाँ नाम श्रीराम को कहाँ काम की बात ॥[5]

(६) कहाँ छत्रपति भूप आर्यकुल-मुकुट शिवाजी।
कहाँ कलकी, कूट, कुटिल, कायर सभाजी ॥[6]

२ द्वितीय विषम. जहाँ कारण और कार्य के गुण या क्रियाओं की विषमता का वर्णन हो, वहाँ 'द्वितीय विषम' अलंकार होता है।[7]

उदाहरण

खड्गलता अति स्याम तें, उपजी कीरति सेत।[8]

यहाँ श्याम खड्गलता रूप कारण और श्वेत कीर्ति रूप कार्य मे विषमता होने से 'द्वितीय विषम' है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) उपजे जदपि पुलस्त्यकुल पावन अमल अनूप।
तदपि महीसुर स्राप बस भए सकल अघरूप ॥[9]

(२) स्याम गौर दोउ मूरति लछिमन राम।
इन तें भइ सित कीरति अति अभिराम ॥[10]

---

१. रामचरितमानस, १।२५६।३
२. भाषाभूषण, १२१
३. ललितललाम, २२२ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३६४)
४. शिवराजभूषण, २०६ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ५६)
५. पद्माभरण, १४६ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५०)
६. काव्यदर्पण (प० दुर्गादत्त), पृ० १४१
७. (क) विरूपकार्यस्योत्पत्तिरपरं विषमं मतम्।
कीर्ति प्रसूते धवला श्यामा तव कृपाणिका ॥ —कुवलयानंद, ८६
(ख) जहाँ बरनिए हेतु ते उपजत काज विरूप।
और विषम तहँ कहत है कवि 'मतिराम' अनूप ॥
—ललितललाम, २२४ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३६४)
८. भाषाभूषण, १२२
९. रामचरितमानस, १।१७६।९-१०
१०. बरवै रामायण, ३४

(३) श्री सरजा सिव तो जस सेत सों होत हैं बैरिन के मुँह कारे ।
भूपन तेरे अरुन्न प्रताप सफेद लखे कुनबा नृप सारे ।।[1]

(४) गोरे रँग ओरे सु दृग भए अरुन अनभग ।।[2]

३. तृतीय विषम : जहाँ अच्छा उद्यम (भले के लिए कुछ) करने पर बुरा फल हो वहाँ 'तृतीय विषम' अलंकार होता है ।[3]

उदाहरण :

घँसी लाइ घनसार पै, अधिक ताप तन देत ।।[4]

सखी ने विरहिणी नायिका के शरीर पर कपूर इसलिए लगाया कि उससे विरहताप शान्त हो, किन्तु उस कपूर से उसका ताप और अधिक बढ़ गया, इस प्रकार अच्छे उद्यम का बुरा फल हुआ, अत. यहाँ 'तृतीय विषम' अलंकार है ।

'तृतीय विषम' के अन्य उदाहरण .

(१) सीतल सिख दाहक भइ कैसें । चकइहि सरद चंद निसि जैसें ।।[5]

(२) बिरह आँच डरि मन सखी, घन सुन्दर तन जाय ।
दुगुन दाह बाढ़ै तहाँ, आपुहि जाय सिराय ।।[6]

(३) छिरकत नीर गुलाब को हुव तन-ताप उदोत ।।[7]

सम

जहाँ दो अनुरूप पदार्थों का वर्णन एक साथ किया जाय, वहाँ 'सम' अलंकार होता है ।[8] यह अलंकार 'विषम' अलंकार का ठीक उलटा है । इसके भी

---

१. शिवराजभूषण, १८२ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ५३)

२ पद्माभरण, १२० (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५१)

३. (क) अनिष्टस्याप्यवाप्तिश्च तदिष्टार्थसमुद्यमात् ।
भक्ष्याशयाऽहिमञ्जूषां दृष्ट्वाखुस्तेन भक्षितः ।। —कुवलयानंद, ६०
(ख) और भलो उद्यम किए, होत बुरो फल आय ।
—भाषाभूषण, १२१

४. भाषाभूषण, १२२

५. रामचरितमानस, २।६४।२

६. ललितललाम, २२७ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३६५)

७. पद्माभरण, १२१ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५१)

८. (क) सम स्यादानुरूप्येण श्लाघा योग्यस्य वस्तुनः ।
—साहित्यदर्पण, १०।९१
(ख) जथाजोग सम बरनिबो सम भाषत कवि लोग ।
—पद्माभरण, १२२ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५१)

तीन भेद हैं :

१ प्रथम सम यथायोग्य सम्बन्ध-वर्णन में 'प्रथम सम' अलंकार होता है।[1]

उदाहरण

कुबजा को कूबर मधुप यहै त्रिभंगिहि जोग ॥[2]

कुबजा का कूबड़ और श्रीकृष्ण का त्रिभंगी रूप दोनों एक दूसरे के अनुरूप हैं। इस प्रकार यहाँ यथायोग्य सम्बन्ध-वर्णन में 'प्रथम सम' अलंकार है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) जस दूलहु तसि बनी बराता। कौतुक बिबिध होहिं मग जाता ॥[3]

(२) मो सम दीन न दीनहित तुम्ह समान रघुबीर।
अस बिचारि रघुबंसमनि हरहु बिषम भवभीर ॥[4]

(३) तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पापपुंज-हारी ॥[5]

२ द्वितीय सम कारण के अनुरूप कार्य-वर्णन में 'द्वितीय सम' अलंकार होता है।[6]

उदाहरण

नीच-संग अचरज नहीं, लछमी जलजा आहि।[7]

लक्ष्मी की उत्पत्ति जल से है जिसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति नीचे बहने की ओर है, अतः लक्ष्मी भी नीच के संग रहती है, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं। यहाँ लक्ष्मी कार्य है और जल कारण। इन दोनों को एक रूप (नीच-संग-प्रिय) कहा गया है, अतः यहाँ 'द्वितीय सम' अलंकार है।

---

१ समं स्याद्वर्णनं यत्र द्वयोरप्यनुरूपयोः ।
स्वानुरूपं कृतं सद्म हारेण कुचमण्डलम् ॥ —कुवलयानंद, ६१

२. पद्माभरण, १५२ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५१)

३ रामचरितमानस, १।६४।१

४. रामचरितमानस, ७।१३०।२१-२२

५. विनयपत्रिका, ७६।१

६. (क) साम्यमपि कार्यस्य कारणेन समं विदुः ।
नीचप्रवणता लक्ष्मि ! जलजायास्तवोचिता ॥ —कुवलयानंद, ६२

(ख) जहाँ हेतु तें काज कौ, बरनन उचित सरूप ।
बरनत तहँ सम दोसरो, जे कबि कोबिद भूप ॥
—ललितललाम, २३० (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३६६)

७. भाषाभूषण, १२५

'द्वितीय सम' के अन्य उदाहरण

(१) करत लाल मनुहारि पै तू न लखति इहि ओर।
ऐसो उर जो कठोर तो उचितहि उरज कठोर ॥[1]

(२) जग जीवन को दद, उदय होत ही तम हरै।
छीर-सिंधु को नंद, क्यों न उजेरो होय ससि ॥[2]

(३) मधुप ! बालपन हीं पियो, दूध पूतना केर।
ताही तें दासी रची, यामें कछू न फेर ॥[3]

(४) सिय जु दुमह दुख सहि लियो सुता भूमि की होइ ॥[4]

३. तृतीय सम : जिस कार्य के लिए प्रयत्न किया जाय, उसकी सिद्धि जब बिना किसी प्रयास-विशेष के हो, तब वहाँ 'तृतीय सम' अलंकार होता है।[5]

जाहि मिलन सिय सजि चली मिल्यो सु आपुहि आइ।[6]

जिससे मिलने के लिए सीता सजकर चली वह अपने आप आकर मिल गया। इस प्रकार बिना प्रयत्न-विशेष के कार्यसिद्धि होने से 'तृतीय सम' है।

'तृतीय सम' के अन्य उदाहरण :

(१) छुअत टूट रघुपतिहु न दोसू।[7]

(२) छुअतहिं टूट पिनाक पुराना।[8]

(३) दुंदुभि अस्थि ताल देखराए। बिनु प्रयास रघुनाथ ढहाए ॥[9]

(४) जस ही को उद्यम कियो, नीकें पायो ताहि ॥[10]

---

१. ललितललाम, २३१ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३६६)
२. अलंकार-मंजूषा, पृ० १७८
३. अलंकार-मंजूषा, पृ० १७८
४. पद्माभरण, १५३ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५१)
५. (क) विनाऽनिष्टं च तत्सिद्धिर्यमर्थं कर्तुमुद्यत।
मुक्ता वारणलाभोऽत्र स्यान्न ते वारणार्थिनः॥ —कुवलयानंद, ९३
(ख) ताकी सिद्धि अनिष्ट बिन, उद्यम जाके अर्थ।
तासों सम औरो कहत, जे कविराज समर्थ ॥
—ललितललाम, २३२ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३६६)
६. पद्माभरण, १५४ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५१)
७. रामचरितमानस, १।२७२।३
८. रामचरितमानस, १।२८२।८
९. रामचरितमानस, ४।७।१२
१०. भाषाभूषण, १२५

विचित्र

जहाँ इच्छित फल की प्राप्ति के लिए विपरीत प्रयत्न किया जाय, वहाँ 'विचित्र' अलंकार होता है।[1]

उदाहरण

> जीवन-हित प्रानहिं तजैं, नवैं उंचाई-हेत ।
> सुख-कारन दुख संग्रहैं, ऐसे नृप्य अचेत ॥[2]

यहाँ जीवन के लिए प्राण छोड़ना, उच्चता के लिए नम्र होना तथा सुख के लिए दुःख का संग्रह करना—आदि वर्णन में अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए विपरीत प्रयत्न का उल्लेख हुआ है, अतः 'विचित्र अलंकार' है।

'विचित्र' अलंकार के अन्य उदाहरण :

(१) नवत उच्चता लहन कौं, जो है पुरुष पवित्र ।[3]

(२) प्राय कै मरत अरि चाहत अमर भयो,
महावीर तेरी खग-धार गंगधार मैं ॥[4]

(३) पार होन हित काव्य-सर, बूड़त रसिक हजार ।[5]

(४) अमर होन कौं समर में जूझत पुरुष पुनीत ।[6]

(५) भवसागर के तरिबे के लिये वह डूबत तीरथ नीर मँझारे ।[7]

अधिक

जब बड़े आधेय और आधार की तुलना में छोटे आधार और आधेय का वर्णन हो तो वहाँ 'अधिक' अलंकार होता है।[8] इस अलंकार के दो भेद हैं : १. प्रथम अधिक, २. द्वितीय अधिक ।

---

१. (क) विचित्रं तत्प्रयत्नश्चेद्विपरीतः फलेच्छया ।
नमन्ति सन्तस्त्रैलोक्यादपि लब्धुं समुन्नतिम् ॥
—कुवलयानन्द, ६४

(ख) जहाँ करत उद्यम कछू, फल चाहत विपरीति ।
बरनत तहाँ विचित्र कहि, जे कवित्त-रस-प्रीति ॥
—ललितललाम, २३४ (मतिराम-ग्रन्थावली, पृ० ३६६)

२. काव्य-निर्णय, १४।२६ (भिखारीदास-ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १२६)

३. भाषाभूषण, १२६

४. ललितललाम, २३५ (मतिराम-ग्रन्थावली, पृ० ३६७)

५. काव्यदर्पण (पं० दुर्गादत्त), पृ० १८८

६. पद्माभरण, १४४ (पद्माकर-ग्रन्थावली, पृ० ५१)

७. अलंकार-मंजूषा, पृ० १३६

८. आश्रयाश्रयिणोरेकस्याधिक्येऽधिकमुच्यते ॥ —साहित्यदर्पण, १०।७२

१. प्रथम अधिक : बड़े से बड़े आधार से आधेय का बड़ा होना,[1]

सात दीप नौ खंड में, तुव जस माँहि समात ।[2]

यहाँ 'सातों द्वीप और नवों खंड' बड़े से बड़े आधार हैं। उनसे भी बड़ा 'यश' आधेय कहा गया है, अतः 'प्रथम अधिक' अलंकार है।

'प्रथम अधिक' के अन्य उदाहरण

(१) जामे भारी भुवन सब, गँवई से दरसात ।
तेहि अखंड ब्रह्मण्ड में, तेरो जस न अमात ॥[3]

(२) सिव सरजा तव हाथ को नाँहि बखान करि जात ।
जाको बासी सुजस सब त्रिभुवन में न समात ॥[4]

(३) अष्टादस पटचारि में हरि-चरित्र न समाय ॥[5]

२ द्वितीय अधिक : छोटे आधार में बड़े आधेय का वर्णन[6] :

व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद ।
सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद ॥[7]

यहाँ कौशल्या की गोद रूप छोटे आधार में ब्रह्म राम रूप बड़े आधेय का वर्णन है, अतः 'द्वितीय अधिक' अलंकार है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण :

(१) सुनियत जाके उदर में, सकल-लोक-बिस्तार ।
'दास' बसै तो उर कहूँ, सोई नंदकुमार ॥[8]

---

१. (क) अधिकं पृथुलाधारादाधेयाधिक्यवर्णनम् ।
ब्रह्माण्डानि जले यत्र तत्र मान्ति न ते गुणाः ॥ —कुवलयानंद, ९५
(ख) जहाँ बड़े आधार तें बरनत बढ़ि आधेय ।
कहत सुकबिजन अधिक तहँ जिनकी बुद्धि अजेय ॥
—ललितललाम, २३६ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३९७)

२. भाषाभूषण, १२८

३. अलंकार-मंजूषा, पृ० १७६

४. शिवराजभूषण, २२० (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ६४)

५. पद्माभरण, १५६ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५१)

६. (क) पृथ्वाधेयाद्यदाधाराधिक्यं तदपि तन्मतम् ।
क्वियद्वाग्ब्रह्म यत्रैते विश्राम्यन्ति गुणास्तव ॥ — कुवलयानंद, ९६
(ख) जहँ अति लघु आधार महँ, धरै बड़ो आधेय ।
—अलंकारमंजूषा, पृ० १८०

७. रामचरितमानस, १।१९८।९-१०

८. काव्यनिर्णय, ११।४० (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ११३)

(२) जो यदुपति के उदर में, तिहारो बसत जहान ।
सुख सों राखति ताहि तू, हियरे हार-समान ॥[1]
(३) इतना सुख जो न समाता अन्तरिक्ष में जल थल में ।
मुट्ठी में तुम ले बैठे, आश्वासन देकर छल में ॥[2]
(४) विस्वामित्र मुनीस की, महिमा अपरंपार ।
करतलगत आमलक सम जिन्ह कों सब संसार ॥[3]
(५) है त्रिभुवन जामें सु प्रभु सोवत सिंधु मझार ॥[4]

अल्प

अत्यन्त सूक्ष्म आधेय की अपेक्षा अति सूक्ष्म आधार का वर्णन 'अल्प' अलंकार कहलाता है।[5]

उदाहरण

अँगुरी की मुँदरी हुती, भुज में करति विहार ।[6]

अँगुली की मुंदरी (अँगूठी) विरह की दुर्बलता के कारण हाथ में आ जाती है। भुजा अँगुली से भी पतली हो गयी। हाथ अँगुली का आधार था और वही हाथ अब अँगूठी से भी पतला हो गया। इस प्रकार सूक्ष्म आधेय की अपेक्षा सूक्ष्म आधार के वर्णन में 'अल्प' अलंकार है।

'अल्प' अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) अब जीवन कै है कपि आस न कोइ ।
कनगुरिया कै मुदरी कंकन होइ ॥[7]
(२) सुनहु स्याम ब्रज में जगी दमन दसा की जोति ।
जहँ मुँदरी अँगुरीन की कर में ढीली होति ॥[8]
(३) छला छिगुनिया छोर को, पहुँचनि करत विहार ॥[9]

---

१. अलंकार-मंजूषा, पृ० १८०
२. जयशंकर प्रसाद (काव्यदर्पण, पं० दुर्गादत्त, पृ० १४३ पर उद्धृत)
३. काव्यनिर्णय, ११।३८ (भिखारीदास ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ११७)
४. पद्माभरण, १५८ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ४१)
५. (क) अल्पं तु सूक्ष्मादाधेयाद्यदाधारस्य सूक्ष्मता ।
मणिमालोर्मिका तेऽद्य करे जपवटीयते ॥ —कुवलयानंद, ९७
(ख) अल्प अल्प आधेय तें, सूछम होय अधार । —भाषाभूषण, १२९
६ भाषाभूषण, १२९
७. बरवै रामायण, ३८
८. काव्यकल्पद्रुम (द्वितीय भाग—अलंकार मंजरी), पृ० ३१९
९ काव्यनिर्णय, ११।४१ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ११३)

(४) छला छिगुनियाँ-छोर को भो भुज-भूषन जाइ ॥[1]

अन्योन्य

एक ही क्रिया द्वारा दो वस्तुओं के परस्पर उपकार-वर्णन अथवा शोभा-वान् होने को 'अन्योन्य' या 'परस्पर' अलंकार कहते हैं।[2]

उदाहरण :

कंकण से कर शोभित होता कर से कंकण की शोभा।[3]

यहाँ कङ्कण से हाथ का तथा हाथ से कंकण का शोभित होना कहा गया है, अतः 'अन्योन्य' या 'परस्पर' अलंकार है।

'अन्योन्य' के अन्य उदाहरण :

(१) ससि सौं निसि नीकी लगै निसि ही सो ससि सार।[4]

(२) ससि सौं निसा निसा सो ससि भल।[5]

(३) तो कर सों छिति छाजत दान है दान हू सों अति तो कर छाजै।[6]

(४) लसति चंद सौं जामिनी, जामिनि ही सौं चंद ॥[7]

(५) सेना सों सोभित नृपति नृप सों सैन अपार।[8]

(६) सर की सोभा हंस है, राजहंस को ताल।[9]

विशेष

यह अलंकार तीन प्रकार का होता है :

१. प्रथम विशेष : प्रसिद्ध आधार के बिना आधेय की स्थिति का वर्णन

---

१. पद्माभरण, १५८ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५२)

२. (क) अन्योन्यं नाम यत्र स्यादुपकारः परस्परम्।
त्रियामा शशिना भाति शशी भाति त्रियामया ॥
—कुवलयानंद, ६८

(ख) जहाँ परस्पर उपकरत, तहाँ परस्पर नाम।
—ललितललाम, २४२ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३६८)

(ग) सो अन्योन्य जु परसपर करैं जु भल उपकार।
—पद्माभरण, १६० (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५२)

३. काव्यप्रदीप, पृ० २३२

४. भाषाभूषण, १३०

५. अलंकार-मंजूषा, पृ० १८२

६. शिवराजभूषण, २२३ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ६४)

७. काव्यनिर्णय, १५।३६ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १४७)

८. पद्माभरण, १६० (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५२)

९. अलंकार-मंजूषा, पृ० १८१

'प्रथम विशेष' अलंकार कहलाता है।[1]

उदाहरण :

वन्दनीय केहिके नहीं, वे कविन्द मतिमान।
स्वरग गयेहू काव्यरस जिनको जगत जहान॥[2]

यहाँ कविरूप आधार के बिना ही उनके काव्यरूप आधेय की स्थिति का वर्णन किया गया है, अत 'प्रथम विशेष' है।

'प्रथम विशेष' के अन्य उदाहरण

(१) नभ-ऊपर कंचनलता, कुसुम स्वच्छ है एक।[3]
(२) सिव सरजा सों जग जुरि चढ़ावत रजवंत।
राव अमर गो अमरपुर समर रही रज तंत॥[4]
(३) सुभदाता सूरो सुकवि सेत करे आचार।
बिना देहहूँ दास ये, जीवत इहि संसार॥[5]
(४) अलप जु कटि तहँ किंकिनी करत सुधुनि अवरेख॥[6]

२ द्वितीय विशेष - किसी वस्तु की एक ही स्वभाव से एक ही काल में अनेक स्थानों पर स्थिति के वर्णन को 'द्वितीय विशेष' अलंकार कहते हैं।[7]

उदाहरण :

घर बाहिर अध ऊरधहु वहै तिया दरसाति।[8]

यहाँ एक ही नायिका की अनेक स्थलों पर (घर, बाहर, नीचे, ऊपर) स्थिति दिखायी गयी है, अतः 'द्वितीय विशेष' है।

---

१. (क) विशेष ख्यातमाधार विनाप्याधेयवर्णनम्।
गतेऽपि सूर्ये दीपस्थास्तमश्छिन्दन्ति तत्कराः॥ —कुवलयानन्द, ९९
(ख) जहाँ अधेय बखानिए बिन प्रसिद्ध आधार।
कहियत तहाँ बिसेष कवि बरनत बुद्धि उदार॥
—ललितललाम, २४५ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३९९)
२. अलंकार-मंजूषा, पृ० १८२
३. भाषाभूषण, १३२
४. शिवराजभूषण, २२५ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ६५)
५. काव्यनिर्णय, ११।४५ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ११४)
६. पद्माभरण, १६३ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५२)
७. (क) विशेषः सोऽपि यद्येकं वस्त्वनेकत्र वर्ण्यते।
अन्तर्बहिः पुरः पश्चात् सर्वदिक्ष्वपि सैव मे॥
—कुवलयानन्द, १००
(ख) वस्तु एक को कीजिए, बरनन ठौर अनेक। —भाषाभूषण, १३२
८. पद्माभरण, १६४ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५२)

'द्वितीय विशेष' के अन्य उदाहरण :

(१) सतीं दीख कौतुकु मग जाता। आगें रामु सहित श्री भ्राता॥
फिरि चितवा पाछें प्रभु देखा। सहित बन्धु सिय सुन्दर वेषा॥
जहँ चितवहि तहँ प्रभु आसीना। सेवहिँ सिद्ध मुनीस प्रबीना॥[१]

(२) अंतर बाहिर दिसि-बिदिसि, वहै तोय सुखदैन॥[२]

(३) पूरब पच्छिम उत्तर दक्खिन भाऊ दिवान की कीरति राजै॥[३]

(४) घर बाहर अघ ऊरधो सब ठा राम लखाय।[४]

(५) जल में थल में गगन में, जड़-चेतन में दास।
चर-अचरन में एक है, परमातमा-प्रकास॥[५]

(६) सोवत जागत दिसि विदिसि, देखि परै घनस्याम।
कंस-हृदय आठहु पहर, कृष्न करै विश्राम॥[६]

(७) कवि-वचनों में और रमणियों के नयनों में,
जनक-नंदिनी हृदय प्रेम-पूरित लहरों में,
रघुनन्दन स्थित हुए साथ एक ही समय में
शिव-धनु को कर भंग उसी क्षण रंगालय में॥[७]

३. तृतीय विशेष : जब किसी कार्य के करते हुए दूसरा अशक्य कार्य भी किया जाय, तब वहाँ 'तृतीय विशेष' अलंकार होता है।[८]

उदाहरण :

पाइ चुके फल चारिहू करत गंगजल पान॥[९]

यहाँ गंगाजलपान करते हुए चारों फलों (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) की प्राप्तिरूप अशक्य कार्य के सम्पन्न होने का वर्णन है, अतः 'तृतीय विशेष' अलंकार है।

---

१. रामचरितमानस, १।५४।४-६
२. भाषाभूषण, १३३
३. ललितललाम, २४८ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ३६६)
४. अलंकार-मंजूषा, पृ० १८३
५. काव्यनिर्णय, ११।४७ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ११४)
६. अलंकार-मंजूषा, पृ० १८३
७. काव्यकल्पद्रुम (द्वितीय भाग—अलंकार मंजरी), पृ० ३२२
८. (क) किंचिदारम्भतोऽशक्यवस्त्वन्तरकृतिश्च स।
त्वां पश्यता मया लब्धं कल्पवृक्षनिरीक्षणम्॥ —कुवलयानंद, १०१
(ख) लघुहि अरभ अनन्य को लाभ विसेष बखान।
—पद्माभरण, १६५ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५२)
९. पद्माभरण, १६५ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५२)

'तृतीय विशेष' के अन्य उदाहरण :

(१) कपि तव दरस सकल दुख बीते । मिले आजु मोहि रामु पिरीते ॥[1]

(२) कल्पवृच्छ देख्यो सही, तोकों देखत नैन ।[2]

(३) गृहिनी सचिव रु प्रिय सखी माँ-जीवन हू हाय ।
तुहि छीनत मेरो सर्व विधि ने लियो छिनाय ॥[3]

व्याघात

इस अलंकार के दो भेद हैं

१ प्रथम व्याघात : जहाँ एक ही वस्तु दो विरोधी कार्य करे, वहाँ 'प्रथम व्याघात' होता है ।[4]

उदाहरण :

जामों काटत जगत के, बंधन दीनदयाल ।
ता चितवनि सों तियन के, मन बाँधे गोपाल ॥[5]

यहाँ एक ही वस्तु (श्रीकृष्ण की दृष्टि) दो परस्पर विरोधी कार्य (संसार-बंधन काटना और स्त्रियों के मन को आकृष्ट करना) कर रही है, अतः 'प्रथम व्याघात' है ।

'प्रथम व्याघात' के अन्य उदाहरण :

(१) गिरिजा सुनहु राम कै लीला । सुरहित दनुज विमोहन सीला ॥[6]

(२) सुख पावत जामों जगत, तामों मारत मार ।[7]

(३) तू सबको प्रतिपालनहार बिचारे मतार न मारु हमारे ।[8]

(४) बरषत जु ससि पियूष सो बिष बरषत मोहि जोइ ॥[9]

२. द्वितीय व्याघात : जब एक ही कारक साधन से दो विरुद्ध क्रियाओं के

---

१. रामचरितमानस, ७।२।११

२. भाषाभूषण, १३३

३ काव्यकल्पद्रुम (द्वितीय भाग—अलंकार मंजरी), पृ० ३२५

४. (क) स्याद् व्याघातोऽन्यथाकारि तथाकारि क्रियेत चेत् ।
यैर्जगत्प्रीयते, हन्ति तैरेव कुसुमायुधः ॥ —कुवलयानंद, १०२
(ख) व्याघात जु कछु और तें, कीजे कारज और । —भाषाभूषण, १३४

५. अलंकार-मंजूषा, पृ० १८४

६. रामचरितमानस, १।११३।८

७ भाषाभूषण, १३५

८. शिवराजभूषण, २२८ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ६५)

९. पद्माभरण, १६६ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५३)

होने का वर्णन हो, तब वहाँ 'द्वितीय व्याघात' होता है।[1]

उदाहरण :

दुख दरिद्र की संक सों लोभी सुधन न देत।
दाताहू ताही संक सों सरबस देन सहेत॥[2]

यहाँ यह कहा गया है कि दरिद्रता के भय से लोभी आदमी अपने धन को किसी और को नहीं देता; और उसी दरिद्रता से डरकर धनी दान करता है। लोभी को इस लोक का और दानी को परलोक का भय है। इस प्रकार यहाँ 'द्वितीय व्याघात' है।

'द्वितीय व्याघात' के अन्य उदाहरण :

(१) लोभी धन-संचय करै, दारिद को डर मानि।
'दास' यहै डर मानिकै, दान देत है दानि॥[3]

(२) रन तें हूवे को अमर, भागत कायर कूर।
यहै चाह चित करि, नहीं विचलत साँचे सूर॥[4]

कारणमाला या गुम्फ

इस अलंकार के दो भेद हैं :

१. प्रथम कारणमाला : जहाँ पहले कही गयी वस्तु आगे कही गयी वस्तु को कारण बनकर आवे, वहाँ 'प्रथम कारणमाला' अलंकार होता है।[5]

उदाहरण :

सतसंग तें बैराग है तातें मन-संतोष।
संतोषहि तें ज्ञान है होत ज्ञान तें मोष॥[6]

यहाँ सतसंग वैराग्य का कारण, वैराग्य मन-सन्तोष का कारण, सन्तोष ज्ञान का कारण और ज्ञान मोक्ष का कारण कहा गया है। इस प्रकार पहले

---

१. एकै कारक साधनी, करिकै क्रिया विरुद्ध।
सो दूजो व्याघात है, बरनत सुकवि सुबुद्ध॥ —अलंकार-मंजूषा, पृ० १८४

२. पद्माभरण, १६६ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५३)

३. काव्यनिर्णय, १३।३१ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० १२८)

४. अलंकार-मंजूषा, पृ० १८५

५. (क) गुम्फः कारणमाला स्याद्यथाप्राक्प्रान्तकारणैः।
नयेन श्रीः श्रिया त्यागस्त्यागेन विपुलं यशः॥
—कुवलयानन्द, १०४

(ख) पुरब-पुरब हेतु जहँ, उत्तर-उत्तर काज।
तहाँ हेतुमाला कहत, कवि-कोविद सिरताज॥
—ललितललाम, २६६ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ४०१)

६. पद्माभरण, १७१ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५३)

कही गयी वस्तु आगे कही गयी वस्तु का कारण होने से 'प्रथम कारण-माला' है।

'प्रथम कारणमाला' के अन्य उदाहरण :

(१) नीतिहि धन, धन त्याग पुनि, तातें जस उद्योत।[1]

(२) होत लोभ तें मोह, मोहहि तें उपजै गरब।
गरब बढावै कोह, कोह कलह कलहै बिथा॥[2]

(३) विद्या देती विनय को, विनय पात्रता मित्त।
पात्रत्वे धन धन धरम, धरम देत सुख नित्त॥[3]

२ द्वितीय कारणमाला जब पूर्व कथित पदार्थों के उत्तरोत्तर कथित पदार्थ कारण हो, तब वहाँ 'द्वितीय कारणमाला' अलकार होता है।[4]

उदाहरण

हैं सुख-सपति सुमति तें सुमति पढ़े तें होइ।
पढ़ब होत अभ्यास तें ताहि तजहु मति कोइ॥[5]

यहाँ सुमति को सुख-सम्पत्ति का, पठन को सुमति का और अभ्यास को पठन का कारण कहा गया है। इस प्रकार पूर्व कथित के उत्तरोत्तर कथित कारण होने से 'द्वितीय कारणमाला' है।

'द्वितीय कारणमाला' के अन्य उदाहरण

(१) दुख मूल गनि पाप पाप, कहँ कुमति प्रकासै;
कुमति मोह बिस्तरै, क्रोध मोहै उल्लासै।[6]

(२) रामकृपा है भक्ति तें, भक्ति भाग्य तें होय।[7]

(३) सुजस दान अरु दान धन धन उपजै किरवान।[8]

---

१. भाषाभूषण, १३६

२ काव्यनिर्णय, १८।६ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १६८)

३. काव्यनिर्णय, १८।१० (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १६८)

४. (क) उत्तर-उत्तर हेतु जहँ, पूरब-पूरब काज।
कहो हेतुमाला कहत, कविजन बुद्धि-जहाज॥
—ललितललाम, २५७ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ४०१)

(ख) प्रथम काज पुनि हेतु सो काज और को जन।
या क्रम सों गुम्फन सु जिय कारणमाला तत्र॥
—पद्माभरण, १७२ (पद्माकर ग्रंथावली, पृ० ५३)

५ पद्माभरण, १७४ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५४)

६. ललितललाम, २५८ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ४०१)

७. अलंकार-मंजूषा, पृ० १८६

८. शिवराजभूषण, २३२ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ६६)

(४) अन्नमूल धन धनन को मूल जन्न अभिराम।
ताको धन धन को धरम धरम-मूल हरिनाम ।।[1]

एकावली

जहाँ कार्य-कारण-भाव की शृ खला के अतिरिक्त और कोई शृ खला हो वहाँ 'एकावली' नामक अलकार होता है।[2]

उदाहरण :

गिरि पै वृप वृप पै जु सिव सिव पै सुरसरि-तोय।[3]

इसी प्रकार निम्नाकित उदाहरणो मे 'एकावली' अलकार है :

(१) दृग स्रुति लौं स्रुति बाहु लौं, बाहु जानु लौं जानु।[4]

(२) चतुर वही निज-हित लखै हित वह जित उपकार।
उपकारहु वह जहँ न ह्वै स्वारथ को व्योपार।।[5]

(३) मानुष वह जो हो गुनी, गुनि जो कोविद रूप।
कोविद जो कविपद लहै, कवि जो उक्ति अनूप ।।[6]

(४) पुष्कर सोता है निज सर मे,
भ्रमर सो रहा है पुष्कर मे,
गुंजन सोया कभी भ्रमर मे।[7]

सार

जहाँ वर्णित वस्तुओ का उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्रकट हो, वहाँ 'सार' या 'उदार' अलकार होता है।[8]

---

१ पद्माभरण, १७३ (पद्माकर-ग्रथावली, पृ० ५३)

२. स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम्।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा।।
—काव्यप्रकाश, १०।१३१ (सू० १९८)

३. पद्माभरण, १७५ (पद्माकर-ग्रथावली, पृ० ५४)

४ भाषाभूषण, १३७

५ काव्यकल्पद्रुम (द्वितीय भाग—अलकार मजरी), पृ० ३२६

६. अलकार-प्रदीप, पृ० १७६

७ यशोधरा, पृ० ६१

८ (क) उत्तरोत्तरमुत्कर्षो भवेत्सार. परावधि: ।
—काव्यप्रकाश, १०।१२३ (सू० १९०)

(ख) उत्तरोत्तरमुत्कर्षो वस्तुन. सार उच्यते। —साहित्यदर्पण, १०।७८

(ग) उत्तरोत्तरमुत्कर्ष. सार इत्यभिधीयते।
मधु मधुर तस्माच्च सुधा तस्या कवेर्वच.॥ —कुवलयानन्द, १०८

उदाहरण :

सीतल चन्दन चीर में, तातें सीतल चन्द।
ताहू तें सीतल महा, सज्जनगनि सुखकन्द ॥[१]

यहाँ चन्दन, चन्द्रमा और सज्जन की शीतलता का उत्तरोत्तर उत्कर्ष वर्णित है, अतः 'सार' अलंकार है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) मधु सों मधुरी है सुधा, कविता मधुर अपार ॥[२]
(२) है नर लोग में राज बड़ो सब राजन में सिवराज बड़ो है ॥[३]
(३) उन्नत अति गिरि गिरिन तें हरिपद है विख्यात।
तिनहूँ ते ऊँचो घनो, सन्त हृदय दरसात ॥[४]
(४) सिला कठोरी काठ तें, तातें लोह कठोर।
ताहू ते कीन्हों कठिन, मन ध्रुव नन्दकिसोर ॥[५]
(५) मधु से सुधा मधुर है बढ़कर, कविता मधुर सुधा से है।[६]
(६) जग में जीवन सार है तामें सम्पति सार।
सम्पति सों गुन सार है गुन सों पर उपकार ॥[७]

यथासंख्य या क्रम

इस अलंकार के तीन भेद हैं : १. यथाक्रम, २. अक्रम और ३ विपरीत-क्रम।

१. यथाक्रम : जब क्रम से कही गयी वस्तुओं से सम्बद्ध अन्य वस्तुएँ भी उसी क्रम से वर्णित हों, तब वहाँ 'यथाक्रम' अलंकार होता है।[८]

उदाहरण :

शत्रुन को मित्रन को परम पवित्रन को,
घालिबन पालिबन पूजिबन पानि ते।[९]

---

१. अलंकार-प्रदीप, पृ० १७८
२ भाषाभूषण, १३६
३ शिवराजभूषण, २३७ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ६८)
४. अलंकार-प्रदीप, पृ० १७८
५. अलंकार-मंजूषा, पृ० १८८
६ भाषाभूषण, १३६ का खड़ीबोली-रूपान्तर।
७. काव्यकल्पद्रुम (द्वितीय भाग—अलंकार मंजरी), पृ० २३१
८. यथासंख्यं क्रमेणैव क्रमिकाणां समन्वयः।
शत्रुं मित्रं विपत्तिं च जय रञ्जय भञ्जय ॥ —कुवलयानन्द, १०६
९. अलंकार-मंजूषा, पृ० १८६

यहाँ 'शत्रुन', 'मित्रन' और 'पवित्रन' से सम्बद्ध क्रियाएँ (घालियत, पालियत, पूजियत) एक ही क्रम से वर्णित हैं, अत 'यथाक्रम' अलंकार है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) बंदौं नाम राम रघुबर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को ॥[1]

(२) करि अरि मित्त बिपत्ति को, गंजन रंजन भंग ॥[2]

(३) रमा भारती कालिका करति कलोल अलेस।
बिलसति बोधति संहरति जहँ सोई मम देस ॥[3]

(४) रमा उमा बानी सदा, हरि हर बिधि सँग बाम ॥[4]

(५) निसर्ग ने सौरभ ने पराग ने।
प्रदान की थी अतिकांत-भाव से।
वसुन्धरा को पिक को मिलिन्द को।
मनोज्ञता मादकता मदान्धता ॥[5]

२. भंगक्रम : जब कथित वस्तुओं का क्रम भंग हो जाय, तब 'भंगक्रम' अलंकार होता है।

उदाहरण :

सचिव बैद गुर तीनि जौं प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धर्म तन तीनि कर होइ बेगिहीं नास ॥[6]

यहाँ सचिव, वैद्य और गुरु के क्रमानुसार राज्य, तन और धर्म का क्रम होना चाहिए था, जो कि नहीं है, अत. 'भंगक्रम' अलंकार है।

'भंगक्रम' के अन्य उदाहरण :

(१) सम प्रकास तम पाख दुहुँ नामभेद बिधि कीन्ह।
ससि सोषक पोषक समुझि जग जस अपजस दीन्ह ॥[7]

(२) जाकें बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा ॥[8]

३ विपरीत क्रम : जहाँ पूर्वोक्त वस्तुओं के वर्णन का क्रम उलट दिया जाय, वहाँ 'विपरीत क्रम' होता है।

---

१. रामचरितमानस, १।१६।१
२. भाषाभूषण, १४०
३. अलंकार-प्रदीप, पृ० १८०
४. काव्यनिर्णय, ३।४३ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० २२)
५. प्रियप्रवास, १६।४
६. रामचरितमानस, ५।३७।१०-११
७ रामचरितमानस, १।७।१५-१६
८. रामचरितमानस, ५।२१।५

उदाहरण :

राजु नीति बिनु धनु बिनु धर्मा। हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा॥
विद्या बिनु विवेक उपजाएं। श्रम फल पढ़ें किएँ अरु पाएँ॥[1]

यहाँ पहले राज्य, धन, सत्कर्म और विद्या का उल्लेख है, तत्पश्चात् पढ़ने, करने और पाने का। वास्तव में विद्या के साथ पढ़ने, सत्कर्म के साथ करने तथा धन और राज्य के साथ पाने का सम्बन्ध होना चाहिए, किन्तु यहाँ विपरीत क्रम से वर्णन है, अतः 'विपरीत क्रम' अलंकार है।

पर्याय

इस अलंकार के दो भेद हैं

१ प्रथम पर्याय जब एक वस्तु क्रमशः अनेक स्थानों में आश्रय लेती हुई वर्णित हो, तब 'प्रथम पर्याय' अलंकार होता है।[2]

उदाहरण

सागर, शिव का कण्ठ और फिर खलजन का मुख अपनाया।
हे विष, तुमको किसने ऐसा गूढ़-परिवर्तन सिखलाया?[3]

यहाँ एक ही वस्तु (विष) की स्थिति समुद्र, शिव-कण्ठ तथा खल-मुख में वर्णित है, अतः 'प्रथम पर्याय' है।

'प्रथम पर्याय' के अन्य उदाहरण

(१) अबुज तजि तिय-वदन-दुति, चदहि रही बनाय॥[4]

(२) जीति रही अवरंग में सबै छत्रपति छाँड़ि।
तजि ताहू को अब रही शिवसरजा करि माँड़ि॥[5]

(३) हालाहल! तोहि नित नये, किन चतराये ऐन।
अम्बुधि हिय पुनि सभुगर, अब निवसत खलबैन॥[6]

(४) प्रथम हि पारद में रही, फिर सौदामिनि माँहि।
ललाई भामिनि दृगनि, अब आई ब्रज माँहि॥[7]

---

१. रामचरितमानस, ३।२१।८-९

२. (क) पर्यायो यदि पर्यायेणैकस्यानेकसंश्रयः।
पद्मं मुक्त्वा गता चन्द्रं कामिनीवदनोपमा॥ —कुवलयानंद, ११०

(ख) सु पर्याय क्रम सो जु इक, आश्रय धरै अनेक।
—पद्माभरण, १८४

३. काव्य-प्रदीप, पृ० २४९

४. भाषाभूषण, १४२

५. शिवराजभूषण, २४१ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ६९)

६. अलंकार-मंजूषा, पृ० १९३

७ काव्यदर्पण (प० दुर्गादत्त), पृ० १६८

(५) हय तें उतरि गयंद पै चढ़्यो लरहि भट एक ॥[1]

२. द्वितीय पर्याय : अनेक वस्तुओं की क्रम से एक ही आधार में स्थिति के वर्णन को 'द्वितीय पर्याय' अलंकार कहते हैं।[2]

उदाहरण :

कुछ घड़ी पहले जिस भूमि मे।
प्रवहमान प्रमोद-प्रवाह था।
अब उसी रस-प्लावित भूमि मे।
वह चला खर श्रोत विषाद का ॥[3]

यहाँ एक ही आधार (भूमि) में क्रम से अनेक वस्तुओं (प्रमोद एवं विषाद) की स्थिति दिखायी गयी है, अतः 'द्वितीय पर्याय' है।

'द्वितीय पर्याय' के अन्य उदाहरण :

(१) जनक लहेउ सुखु सोचु बिहाई।[4]
(२) ऋषिहि देखि हरषै हियो राम देखि कुम्हिलाय।
धनुष देखि डरपै महा, चिन्ता चित डोलाय ॥[5]
(३) हुतो तरलता चरन मैं, भई मदता आय ॥[6]
(४) जा हिय में अविवेक तो छायो तहां विवेक ॥[7]
(५) जहाँ लाल साड़ी थी तनु मे बना चर्म का चीर वहां,
हुए अस्थियों के आभूषण थे मणि-मुक्ता-हीर जहाँ ॥[8]
(६) पहले था बालापन तन मे, फिर तारुण्य मधुर आया।
अब वार्धक्य प्रविष्ट हुआ तो भी हरि-ध्यान नहीं भाया ॥[9]

परिवृत्ति

परस्पर आदान प्रदान के चमत्कारपूर्ण वर्णन में 'परिवृत्ति' अलंकार होता है।[10]

---

१. पद्माभरण, १८४ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५५)
२. एकस्मिन् यद्यनेक वा पर्याय सोऽपि समत।
अधुना पुलिन तत्र यत्र स्रोत· पुराऽजनि ॥ —कुवलयानंद, १११
३. प्रियप्रवास, २।२०
४. रामचरितमानस, १।२६३।४
५. रामचंद्रिका, ५।४०
६. भाषाभूषण, १४२
७. पद्माभरण, १८५ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५५)
८. पचवटी, ११२
९. काव्य-प्रदीप, पृ० २५०
१०. परिवृत्तिर्विनिमयो न्यूनाभ्यधिकयोर्मिथ.।
जग्राहैक शर मुक्त्वा कटाक्षात्म रिपुश्रियम् ॥ —कुवलयानंद, ११२

उदाहरण -

दण्डक वन मे जाकर प्रभु ने
लिया धर्म-रक्षा का भार,
दिया अश्रु-जल हत मुनियों को
उनका अस्थि-समूह निहार ।[1]

राम ने अश्रु-जल देकर धर्म-रक्षा का भार लिया । यहाँ 'परिवृत्ति' अलंकार है ।

'परिवृत्ति' के अन्य उदाहरण

(१) अरि-इंदिरा, कटाच्छ सों एक थान दै लेइ ।।[2]

(२) मो मन मेरी बुद्धि लै, करि हर कौं अनुकूल ।
लै त्रिलोक की साहिबी, दै धतूर के फूल ।।[3]

(३) समर मे सरजा सिवाजी अरि सैननि को,
सार हरि लेत हिंदुवान सिर सार दै ।[4]

(४) बेलि-कुसुम कहँ, पवन यह, सीत मदन कौ देत ।
भेंट मांहि तिन तें बहुरि, अनि सुगंध लै लेत ।।[5]

(५) दई पराजय अरिन कहँ, लीन्ही किर्त्ति अमान ।
लै सिंगार तिन तियन को, दीन्हो दुख को दान ।।[6]

(६) इक धतूर फल दै सिवहिं लिय अमोघ फल चारि ।।[7]

परिसंख्या

जहाँ किसी वस्तु या गुण आदि को अन्य सब स्थानों से हटाकर एक विशेष स्थान पर स्थित किया जाय, वहाँ 'परिसंख्या' अलंकार होता है ।[8]

---

१. साकेत (एकादश सर्ग), पृ० ४११
२. भाषा-भूषण, १४३
३. ललितललाम, २७१ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ४०४)
४. शिवराजभूषण, २४५ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ७०)
५. काव्यांग-कौमुदी (तृतीय-कला), पृ० १६२
६. काव्यांग-कौमुदी (तृतीय कला), पृ० १६३
७. पद्माभरण, १८६ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५५)
८. परिसंख्या निषिध्यैकमेकस्मिन् वस्तुयन्त्रणम् ।
स्नेहक्षयः प्रदीपेषु न स्वान्तेषु नतभ्रुवाम् ।। —कुवलयानन्द, ११३

उदाहरण :

केसन ही में कुटिलई संचारिन में संक।
लखो राम के राज में इक ससि माहिँ कलंक ॥[1]

राम के राज्य मे केवल बालो मे ही कुटिलता थी (कोई व्यक्ति कुटिल न था), सचारी भावो मे ही 'शका' नामक सचारी भाव था (किसी व्यक्ति मे शका का भाव न था) और केवल चद्रमा मे ही कलक था (किसी व्यक्ति मे नही)।

'परिसख्या' के अन्य उदाहरण

(१) दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहिँ सुनिअ अस रामचद्र के राज ॥[2]

(२) अति चचल जहँ चलदलै विधवा बनी न नारि।
मन मोह्यो ऋषिराज को अद्भुत नगर निहारि ॥[3]

(३) कप कदली मैं बारि बुन्द बदली मैं सिव-
राज अदली के राज मैं यो राजनीति है।[4]

(४) नेह हानि हिय मैं नहीं, भई दीप मैं जाय।[5]

(५) नृपति राम के राज में है न सूल दुखमूल।
लखियतु चित्रन में लिख्यो संकर के कर सूल ॥[6]

विकल्प

'या तो ऐसा होगा या वैसा', जहाँ इस प्रकार का वर्णन हो वहाँ 'विकल्प' अलकार होता है।[7]

उदाहरण :

जन्म कोटि लगि रगर हमारी। बरौं संभु न त रहौं कुआरी ॥[8]

---

१ पद्माभरण, १९० (पद्माकर ग्रथावली, पृ० ५६)

२. रामचरितमानस, ७।२२।९-१०

३. रामचद्रिका, १।४६

४. शिवराजभूषण, २४७ (भूषण-ग्रथावली, पृ० ७१)

५. भाषाभूषण, १४४

६. पद्माभरण, १८९ (पद्माकर-ग्रथावली, पृ० ५६)

७ (क) विरोधे तुल्यबलयोर्विकल्पालकृतिर्मता।
सद्य शिरासि चापान्वा नमयन्तु महीभुज ॥ —कुवलयानद, ११४

(ख) है विकल्प 'यह कै वहै', इहि विधि को विरतत।
—भाषाभूषण, १४५

८. रामचरितमानस, १।८१।५

सप्तर्षियों से पार्वती की इस उक्ति में कि 'या तो मैं शंकर से विवाह करूँगी या अविवाहित रहूँगी', 'विकल्प' अलंकार है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण :

(१) की तनु प्रान कि केवल प्राना। बिधि करतबु कछु जाइ न जाना ॥[1]
(२) हौं बरड़ासन राम को सेवक रे छलिकै कौउ लेत तिया को।
कै तजु देह कि छांड़ु सनेह कि तू रन मांडु कि छांड़ु सिया को ॥[2]
(३) करिहैं दुख को अंत अब, जम कै प्यारो कंत।[3]
(४) सत्रु-सीस कै सस्त्र निज, भूमि गिराऊँ आजु ॥[4]

समुच्चय

इस अलंकार के दो भेद हैं

१ प्रथम समुच्चय जब अनेक भावों का एक स्थान पर गुम्फन हो, तब वहाँ 'प्रथम समुच्चय' होता है।[5]

उदाहरण

हे हरि तुम बिन राधिका सेज परी अकुलाति।
तरफराति तमकति तचति सुसुकति सूखति जाति ॥[6]

यहाँ आकुलता, तड़फड़ाहट, चौंकना, तपना, सिसकी भरना, सूखना आदि अनेक भावों का एक साथ गुम्फन हुआ है, अतः 'प्रथम समुच्चय' है।

'प्रथम समुच्चय' के अन्य उदाहरण

(१) चकित चितव मुदरी पहिचानी। हरष बिषाद हृदय अकुलानी ॥[7]
(२) कुच भरि भाजत गिरत, फिरि भाजत हैं सतराय।[8]

---

१. रामचरितमानस, २।५८।४
२. अलंकार-मंजूषा, पृ० १६६
३. भाषाभूषण, १४५
४. काव्यनिर्णय, १५।४४ (भिखारीदास ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १४८)
५. (क) बहूनां युगपद् भावभाजां गुम्फः समुच्चयः।
नश्यन्ति पश्चात् पश्यन्ति त्रस्यन्ति च भवद्द्विषः ॥
—कुवलयानन्द, ११५
(ख) बहुत भाव इक बारहीं, तिनको गुम्फन होय।
कवि कोविद तिनरे कहैं, प्रथम समुच्चय सोय ॥
—अलंकारमंजूषा, पृ० २००
६ पद्माभरण, १६४ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५६)
७ रामचरितमानस, ५।१३।२
८. भाषाभूषण, १४७

(३) भे भरकी करकी धरकी दरकी दिल एदिलसाहि कि सेना ।[1]

२ द्वितीय समुच्चय किसी कार्य के होने के लिए जब एक हेतु पर्याप्त हो किन्तु उसके साथ ही साथ अन्य हेतु भी उपस्थित हों, तब वहां 'द्वितीय समुच्चय' अलंकार होता है ।[2]

उदाहरण :

जोबन विद्या मदन धन, मद उपजावत आय ।[3]

यौवन, विद्या, कामदेव और धन इनमें से मद उत्पन्न करने के लिए एक पर्याप्त है, किन्तु यहाँ इन चारों को मद का हेतु कहा गया है, अत 'द्वितीय समुच्चय' है ।

'द्वितीय समुच्चय' के अन्य उदाहरण

(१) गंगा गीता गायत्री, गनपति गरुड़ गोपाल ।
प्रातकाल जे नर भजें, ते न परें भव जाल ॥[4]

(२) अहंकार, अविचारिता, कुवंच, बैर, विवाद ।
अनरथ के ये मूल हैं रखिये संतन याद ॥[5]

(३) धन जोबन बल अज्ञता, मोहमूल इक एक ।
'दास' मिलें चारयौ तहाँ, पैये कहाँ बिवेक ॥[6]

(४) कुमति कुसंगति काम-केलि ये बौरावन आन ॥[7]

समाधि

आकस्मिक कारणान्तर के योग से जहाँ कार्य अति सुगमता से हो जाय, वहाँ 'समाधि' अलंकार होता है ।[8]

---

१. शिवराजभूषण, २५४ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ७३)

२. (क) अहंप्राथमिकाभाजामेककार्यान्वयेऽपि सः ।
कुलं रूपं वयो विद्या धनं च मदयन्त्यमुम् ॥ —कुवलयानन्द, ११६

(ख) बहुनि करत बहु हेतु जहँ एक काज की सिद्धि ।
इहौ समुच्चय कहत हैं जिनकी है मति सिद्धि ॥
—ललितललाम, २७६ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ४०७)

३. भाषाभूषण, १४७

४. अलंकार-मंजूषा, पृ० २००

५ काव्यदर्पण (पं० दुर्गादत्त), पृ० १५१

६. काव्यनिर्णय, १५।३५ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १४७)

७ पद्माभरण, १६५ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५६)

८. (क) समाधिः कार्यसौकर्यं कारणान्तरसंनिधेः ।
उत्कण्ठिता च तरुणी जगामास्तं च भानुमान् ॥ —कुवलयानन्द, ११८

(ख) और हेतु मिलि सुकर जहँ काज समाधि बखान ।
—पद्माभरण, १८७ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५७)

उदाहरण :

रामचन्द्र सोचत रहे, रावन-बधन उपाय।
सूपनखा ताही समय, करी ठठोली आय॥[1]

यहाँ शूर्पणखा का आकस्मिक आगमन रावण वध का आकस्मिक हेतु कहा गया है, जिसके कारण कार्य अत्यन्त सुगम हो गया। इसलिए 'समाधि' अलंकार है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) उत्कंठा तिय कों भई, अथयो दिन-उद्योत॥[2]

(२) विनय यशोदा करत है, गृह चलिये गोपाल।
घन गरज्यो बरसा भई, भागि चले नँदलाल॥[3]

(३) तियहिं मनावन पिय लग्यो तब ही घन घहरान॥[4]

(४) मीत-गमन अवरोध हित, सोचत कछू उपाय।
तब ही आय समान तें, उठी घटा घहराय॥[5]

प्रत्यनीक

'प्रत्यनीक' (प्रति+अनीक) का शाब्दिक अर्थ है 'सेना के प्रति'। जहाँ प्रबल शत्रु (से न जीत सकने के कारण उस) के मित्र या सम्बन्धी पर बल दिखाया जाय वहाँ 'प्रत्यनीक' अलंकार होता है। मित्र-पक्ष के प्रति प्रेम वर्णन में भी यह अलंकार होता है।[6]

उदाहरण

तो मुख छबि-सों हारि जग भयो कलंक समेत।
सरद-इंदु अरविंदमुखि अरविंदनि दुख देत॥[7]

चन्द्रमा कमल मुखी से हार गया, अतः वह कमलों को दुःख देने लगा। यहाँ *'प्रत्यनीक' है। इसी प्रकार निम्नांकित उदाहरणों में भी 'प्रत्यनीक' अलंकार है*

---

१ अलंकार-मंजूषा, पृ० २०१

२ भाषाभूषण, १९६

३. काव्यदर्पण (प० दुर्गादत्त), पृ० १५१

४. पद्माभरण, १९७ (पद्माकर-ग्रन्थावली, पृ० ५७)

५ अलंकार-मंजूषा, पृ० २०१

६ (क) प्रत्यनीकं बलवतः शत्रोः पक्षे पराक्रमः।
जैत्रनेत्रानुगौ कर्णावुत्पलाभ्यामधः कृतौ॥ —कुवलयानन्द, ११६

(ख) प्रत्यनीक सो, प्रबल रिपु ता हित सों करि जोर।
—भाषाभूषण, १५०

७. मतिरामसतसई, २८६ (मतिराम ग्रन्थावली, पृ० ४०८)

(१) हरिजन जानि प्रीति अति बाढ़ी । सजल नयन पुलकावलि ठाढ़ी ॥[1]
(२) नैन-समीपी स्रवन पर, कज चढ्यौ करि दौर ॥[2]
(३) मदन-गरब हरि हरि कियो, सखि परदेस-पयान ।
वही बैर-नाते अली, मदन हरत मो प्रान ॥[3]
(४) जीते घन गिरिधर जु तुम ते दाहत मोहि जोइ ॥[4]
(५) तेज मंद रवि ने कियो, बस न चल्यो तेहि सग ।
दुहुँन नाम एकै समुझि, जारत दिया पतंग ॥[5]
(६) विष्णु वदन सम विधुहिं विचारी । अबहुँ राहु दै पीड़ा भारी ॥[6]

काव्यार्थापत्ति

किसी दुष्कर कार्य की सिद्धि के द्वारा जब सुकर कार्य की सुगम सिद्धि की प्रतीति कराई जाय, तब 'काव्यार्थापत्ति' नामक अलकार होता है। इस अलकार मे प्राय इस प्रकार की शब्दावली का बोध होता है 'जब वह हो गया तो यह क्या चीज है।' इसे 'दडापूपिका-न्याय' या 'कैमुतन-न्याय' कहते हैं।[7]

उदाहरण .

मुख जीत्यो वा चद को, कहा कमल की बात ॥[8]

जब उस नायिका के मुख ने चद्रमा को जीत लिया तो कमल की क्या बात है ? अर्थात् उसका जीतना अत्यन्त सरल है।

'काव्यार्थापत्ति' के अन्य उदाहरण :

(१) जितेहु सुरासुर तब श्रम नाहीं । नर वानर केहि लेखे माहीं ॥[9]

---

१. रामचरितमानस, ५।१४।१
२. भाषाभूषण, १५०
३. काव्यनिर्णय, १७।३८ (भिखारीदास-ग्रथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १६४)
४. पद्माभरण, १६८ (पद्माकर-ग्रथावली, पृ० ५७)
५. अलकार-मजूषा, पृ० २०२
६. काव्यालोचन, पृ० २१६
७. (क) दण्डापूपिकयान्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते । —साहित्यदर्पण, १०।८३
(ख) कैमुत्येनार्थसंसिद्धि· काव्यार्थापत्तिरिष्यते ।
स जितस्त्वन्मुखेनेन्दु·, का वार्ता सरसीरुहाम् ?
—कुवलयानन्द, १२०
(ग) वह जु कियो तौ यह कहा यों काव्यार्थापत्ति ।
—पद्माभरण, १६६ (पद्माकर-ग्रथावली, पृ० ५७)
८. भाषाभूषण, १५१
९. रामचरितमानस, ५।२७।६

(२) इतो पराक्रम करि गयो, जाको दूत निसंक ।
कत यहो दुस्तर कहा, ताहि तोरिबो लंक ॥[1]

(३) जु हरधनुष तोर्‌यो तुमहिं कहा लंक रघुपति ॥[2]

(४) सिंह पछार्‌यो बाहुबल, कहा स्यार की बात ।[3]

(५) पंकज-पात की बात कहा जिन कोमलता दई जीति गुलाब की ।[4]

(६) देख यह कपोत-कण्ठ
बाहु वल्ली कर-सरोज
उन्नत उरोज पीन—क्षीण कटि—
नितम्ब-भार—चरण सुकुमार—
गति मन्द - मन्द,
छूट जाता धैर्य ऋषि मुनियों का,
देवों—भोगियों की तो बात ही निराली है ।[5]

काव्यलिंग

जब ज्ञापक हेतु[6] द्वारा किसी वस्तु का समर्थन किया जाय अथवा जहाँ समर्थनीय अर्थ का किसी पदार्थ या वाक्य के द्वारा समर्थन किया जाय, तब वहाँ 'काव्यलिंग' अलंकार होता है ।[7]

उदाहरण

कनक कनक तें सौ गुनी, मादकता अधिकाय ।
वा खाये बौरात है, या पाये बौराय ॥[8]

धतूरे से सोना सौगुना अधिक मादक है । इसका कारण उत्तरार्द्ध के वाक्यार्थ में दिया गया है जो पूर्वार्द्ध का ज्ञापक हेतु है, अतः यहाँ 'काव्यलिंग' है ।

---

१. काव्यनिर्णय, १७।८४ (भिखारीदास ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० १६१)
२. पद्माभरण, १६६ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५७)
३. अलंकार-मंजूषा, पृ० २०४
४. अलंकार-मंजूषा, पृ० २०४
५. परिमल (पंचवटी-प्रसंग ३), पृ० २२५
६. अग्नि धूम का उत्पादक हेतु है और धूम अग्नि का ज्ञापक हेतु ।
७. (क) हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिंगं निगद्यते ।
—साहित्यदर्पण, १०।६२

(ख) समर्थनीयस्यार्थस्य काव्यलिंगं समर्थनम् ।
जितोऽसि मन्द ! कन्दर्प ! मच्चित्तेऽस्ति त्रिलोचनः ॥
कुवलयानन्द, १२१

८. बिहारी-बोधिनी, ६४१

'काव्यलिंग' के अन्य उदाहरण

(१) रहिमन चुप ह्वै बैठिए, देखि दिनन को फेर।
जब नीके दिन आइहैं, बनत न लगिहै देर।।[1]

(२) तोको जीत्यो मदन ! जो, मो हिय में सिव सोय।[2]

(३) वृथा विरस बातें करति लेति न हरि को नाम।
यह न आवरज है कछू रसना तेरो नाम।।[3]

—(पदार्थहेतुक)

(४) अब न मोहि डर बिघन को करत कौनहू काज।
गननायक गौरी-तनय भयो सहायक आज।।[4]

—(काव्यार्थहेतुक)

अर्थान्तरन्यास

पहले कही गयी विशेष या सामान्य बात का क्रमश: सामान्य या विशेष बात से समर्थन करने को 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार कहते हैं।[5] यह दो प्रकार का होता है

१. सामान्य से विशेष का समर्थन

हरि-प्रसाद गोकुल बच्यो, का नहिं करहिं महान।[6]

श्रीकृष्ण की कृपा से गोकुल की रक्षा हुई—यह एक विशेष उक्ति है।

महान् व्यक्ति क्या नहीं करते—यह एक सामान्य कथन है।

यहाँ प्रथम उक्ति का समर्थन द्वितीय उक्ति द्वारा हुआ है, अत: 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है।

---

१. रहीम-रत्नावली, पृ० १६ (दोहा, १८०)

२. भाषा-भूषण, १५२

३. पद्माभरण, २०२ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५७)

४. पद्माभरण, २०३ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५७)

५. (क) सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्र सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा।।

—काव्यप्रकाश, १०।१०९ (सू० १६५)

(ख) उक्तिरर्थान्तरन्यासः स्यात् सामान्यविशेषयोः।
हनूमानब्धिमतरद्दुष्करं किं महात्मनाम्।
गुणवद्वस्तुसंसर्गाद्याति स्वल्पोऽपि गौरवम्।
पुष्पमालानुषङ्गेण सूत्रं शिरसि धार्यते।।

—कुवलयानन्द, १२२, १२३

६. अलंकार-मंजूषा, पृ २०८

इस प्रकार के 'अर्थान्तरन्यास' के अन्य उदाहरण :

(१) रघुबर के बर गिरि तरे, बड़े करैं न कहा सु ।[1]

(२) हरि त्याग्यो हरि कल्पतरु जानि इन्द्र के साहिं ।
सह न आचरज बडेन को है दुर्लभ कछु नाहिं ॥[2]

(३) नृप बलि बामन को दियो तन त्रिलोक के साहिं ।
अति दुस्तर जग में तिनहिं है अदेय कछु नाहिं ॥[3]

(४) फिर व्यूह-भेदन के लिए अभिमन्यु उद्यत क्यों न हो,
क्या वीर-बालक शत्रु का अभिमान सह सकते कहो ?[4]

(५) निर्वासित थे राम, राज्य था कानन में भी ।
सच ही है श्रीमान भोगते सुख वन में भी ॥[5]

२. विशेष से सामान्य का समर्थन

जे छोडत कुल आपनो ते पावत बहु खेद ।
लखहु बंस तजि बाँसुरिन लहे लोह सों छेद ॥[6]

यहाँ प्रथम पंक्ति में सामान्य कथन है उसका समर्थन द्वितीय पंक्ति द्वारा हुआ है जो एक विशेष कथन है ।

इस प्रकार के अन्य उदाहरण :

(१) रहिमन नीचन संग बसि, लगत कलंक न काहि ।
दूध कलालिन हाथ लखि, मद समुझैं सब ताहि ॥[7]

(२) बड़े न हूजै गुनन बिन, बिरद बड़ाई पाय ।
कहत धतूरे सों कनक, गहनो गढ़ो न जाय ॥[8]

(३) अति लघुहू संगति तें लहत उच्च पदवी स ।
कीट सु लहि संग सुमन को चढ़त ईस के सीस ॥[9]

(४) सबै सहायक सबल के, कोउ न निबल सहाय ।
पवन जगावत आगि को, दीपहिं देत बुझाय ॥[10]

---

१. भाषाभूषण, १४३
२. पद्माभरण, २०५ (पद्माकर ग्रन्थावली, पृ० ५७)
३. पद्माभरण, २०६ (पद्माकर-ग्रन्थावली, पृ० ५८)
४. जयद्रथ-वध (प्रथम सर्ग), पृ० ८
५. कानन-कुसुम (चित्रकूट—जयशंकर प्रसाद), पृ० १०२
६. पद्माभरण, २०८ (पद्माकर-ग्रन्थावली, पृ० ५८)
७. रहीम-रत्नावली, पृ० १८ (दोहा, २०७)
८. बिहारी-बोधिनी, ६३५
९. पद्माभरण, २०७ (पद्माकर-ग्रन्थावली, पृ० ५८)
१०. रस, छन्द और अलंकार, पृ० १८८

(५) अति लघु भी सतसंग से, पाते पदवी उच्च ।
चढ़ें ईश के शीश पर, सुमन संग कृमि तुच्छ ।।[1]

विकस्वर

विशेष उक्ति का जब सामान्य द्वारा समर्थन किया जाय और फिर उस सामान्य कथन का समर्थन विशेष से हो, तब वहाँ 'विकस्वर' अलंकार होता है ।[2]

उदाहरण :

हरि गिरि धार्यौ सत्पुरुष भार सहत, ज्यौं सेष ।[3]

यहाँ तीन कथन हैं :

१. श्रीकृष्ण ने गोवर्धन पर्वत उठाया । (विशेष कथन)

२. सत्पुरुष दूसरों के लिए भार सहन करते हैं । (सामान्य कथन)

३ जिस प्रकार शेषनाग…(विशेष कथन)

इनमें से दूसरा कथन पहले का समर्थन करता है और तीसरा कथन दूसरे का । अत: यहाँ 'विकस्वर' अलंकार है ।

'विकस्वर' के अन्य उदाहरण :

(१) रत्न-जनक हिमवान के कहियत हिम न कलंक ।
छिपत गुनन मे दोष इक ज्यों ससि-किरन ससंक ।।[4]

(२) बड़ी बिपति पडवसुतनि खोई हारि सुवास ।
दुख न गनत कछु सतपुरुष ज्यों हरिचंद नल राम ।[5]

(३) रत्नजात-हिमवान-हिम होता नहीं कलंक ।
छिपे गुणों मे दोष इक ज्यों मृगांक में अंक ।।[6]

---

१ रस, छन्द और अलंकार, पृ० १८४

२. (क) यस्मिन्विशेषसामान्यविशेषाः स विकस्वरः ।
स न जिग्ये महान्तो हि दुर्धर्षाः सागरा इव ।।
—कुवलयानन्द, १२४

(ख) कहि विसेष सामान्य पुनि, कहिए बहुरि विसेष।
कहत विकस्वर नाम तहँ, जे कवि अति मति लेष ।।
—ललितललाम, २६२ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ४०६)

३. भाषाभूषण, १२४

४. काव्यकल्पद्रुम (द्वितीय भाग—अलंकार मंजरी), पृ० ३६६

५. पद्माभरण, २१० (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५८)

६. काव्यदर्पण (रामदहिन मिश्र), पृ० ४५१

प्रौढ़ोक्ति

उत्कर्ष का जो कारण न हो उसे जब कारण माना जाय, तब वहाँ 'प्रौढ़ोक्ति' अलंकार होता है।[1]

उदाहरण

तेरो जस सुरसरित के पुंडरीक सो सेत ।[2]

पुंडरीक (कमल) यों ही श्वेत है, उसकी श्वेतता गंगाजल के कारण बढ़ नहीं जाती, किन्तु उपर्युक्त पंक्ति में ऐसा ही कहा गया है। यहाँ गंगा को, जो पुंड-रीक की श्वेतता का कारण नहीं है, कारण कहा गया है। इसीलिए यहाँ प्रौढ़ोक्ति है।

'प्रौढ़ोक्ति' के अन्य उदाहरण :

(१) जमुना-तीर-तमाल सों, तेरे बार असेत ॥[3]

(२) बैन अमावस-रैनि-घन, सघन तिमिर सम स्याम ॥[4]

(३) ईस सीस के चंद सों अमल अमाहू जाम ।
सुरसरि-तट के बरफ तें धवल सुजस तुव राम ॥[5]

(४) तेरा यश है श्वेत कमल ज्यों सुरगङ्गा का ।[6]

संभावना

'यदि ऐसा होता, तो ऐसा होता', जब इस प्रकार का वर्णन हो, तब 'संभा-वना' अलंकार होता है।[7]

उदाहरण

बकता होतो सेस तौ, लहतो तो गुन-पार ॥[8]

---

१ (क) प्रौढोक्तिरुत्कर्षाहेतौ तद्धेतुत्वप्रकल्पनम् ।
कचाः कलिन्दजातीरतमालस्तोममेचकाः ॥ —कुवलयानंद, १२१

(ख) जो अहेतु उत्कर्ष को, ताहि बखानत हेत ।
प्रौढ़ोक्ति तासों कहत, जे कवि सुमति सचेत ॥
—ललितललाम, ३६४ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ४०६)

२. अलंकार-मंजूषा, पृ० २११

३. भाषाभूषण, १५५

४. भाषाभूषण (पाठांतर), १५५

५ पद्माभरण, २१२ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५८)

६ उपर्युक्त 'तेरो जस सुरसरित......' का खड़ीबोली-रूपान्तर

७ (क) संभावना यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यस्य सिद्धये ।
यदि शेषो भवेद् वक्ता कथिताः स्युर्गुणास्तव ॥
—कुवलयानंद, १२६

(ख) 'जौ यों होय तौ होय यों, संभावना-विचार । —भाषाभूषण, १५६

८. भाषा भूषण, १५६

यदि शेषनाग वक्ता (वर्णन करने वाले) होते तो आपके गुणों का पार पा सकते। यहाँ शेषनाग (हजार मुखवाले) को वक्ता बनाकर संभावना की गयी है, अतः 'संभावना' अलंकार है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) जौं छबिसुधा पयोनिधि होई। परम रूप मय कच्छपु सोई॥
सोभा रजु मदरु सिंगारू। मथै पानि पंकज निज मारू॥
येहि बिधि उपजै लच्छि जब सुंदरता सुख मूल।
तदपि सकोच समेत कवि कहहिं सीय समतूल॥[1]

(२) उगै जो कातिक अंत की, छनदा छोडि कलंक।
तौ कहुँ तेरे बदन की, समता लहै मयंक॥[2]

(३) लहतो जु मुख अनंत तौ कहतो अमित पुरान॥[3]

(४) जु कहुँ पावतो आपमें द्वै अरबिंद अमंद।
तौ तेरे मुखचंद की उपमा लहतो चंद॥[4]

मिथ्याध्यवसिति

जब किसी बात का मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए किसी दूसरे मिथ्या अर्थ की कल्पना की जाय, तब वहाँ 'मिथ्याध्यवसिति' नामक अलंकार होता है।[5]

उदाहरण :

जो आँजै नभ-कुसुम-रस लखै सु अहि के कान॥[6]

सर्प के कान नहीं होते—ऐसी लोक-मान्यता है, अतः सर्प के कान देखना एक मिथ्या बात है। इस का मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए एक अन्य मिथ्या बात की कल्पना की गयी है— आकाश-कुसुम के रस का लेप। इस प्रकार

---

१ रामचरितमानस, १।२४७।७-१०

२. अलंकार-मंजूषा, पृ० २१२

३. पद्माभरण, २१३ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५८)

४. पद्माभरण, २१४ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५६)

५ (क) किंचिन्मिथ्यात्वसिद्ध्यर्थं मिथ्यार्थान्तरकल्पनम्।
मिथ्याध्यवसितिर्वेश्या वशयेत् खस्रजं वहन्॥
—कुवलयानंद, १२७

(ख) एक झुठाई सिद्ध कों झूँठो बरनन और।
तहँ मिथ्याध्यवसाय कौं कहत सुमति मति-दौर॥
—ललितललाम, २६८ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ४१०)

६. पद्माभरण, २१५ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५६)

यहाँ 'मिथ्याध्यवसिति' अलंकार है।

'मिथ्याध्यवसिति' के अन्य उदाहरण

(१) घर में पारद जो रहै, घरै नवोढा प्रीति ॥[1]

(२) ससा-सींग के धनुष लिय, गगन-कुसुम धरि माल।
खेलत बन्ध्यासुतन-संग, तुव अरि-गन छितिपाल ॥[2]

ललित

जो कुछ कहना है वह न कहकर जब केवल उसका प्रतिबिम्बमात्र कहा जाय, तब 'ललित' अलंकार होता है।[3]

उदाहरण

सेतु बाँधि करिहैं कहा, अब तौ उतर्‌यौ अबु ॥[4]

अब पुल बाँधने की क्या आवश्यकता, अब तो जल घट गया है अर्थात् अब अधिक प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता, अब तो अड़चन दूर हो गयी है। यहाँ कहना यह था कि अड़चन दूर हो गयी है, अधिक प्रयत्न की आवश्यकता नहीं है। किंतु यह न कहकर उसका प्रतिबिंब कहा गया है, अतः 'ललित' अलंकार है।

'ललित' अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) मेरि पानिनिहि बुधि का परेऊ। छाड़ भवन पर पावकु धरेऊ ॥[5]

(२) मेरी सीख सिखै न सखि मोसों उठै रिसाय।
सोयो चाहत नींद भरि सेज अँगार बिछाय ॥[6]

(३) तब न सीख मानी भटू कियो दिया र न कोइ।
भख्यो चहत फल अमृत को बिष-बीजन कौं बोइ ॥[7]

प्रहर्षण

प्रहर्षण (प्र—हृष्—ल्युट्)[8] का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है प्रकृष्ट हर्षण

---

१ भाषाभूषण, १५७

२ अलंकार मञ्जूषा, पृ० २१३

३. (क) वर्ण्ये स्याद्वर्ण्यवृत्तान्तप्रतिबिम्बस्य वर्णनम्।
ललितं निर्गते नीरे सेतुमेषा चिकीर्षति ॥ —कुवलयानंद, १२८
(ख) ललित कह्यो कछु चाहिए, ताही को प्रतिबिंबु।
—भाषाभूषण, १५८

४ भाषा-भूषण, १५८

५. रामचरितमानस, २।४७।२

६ ललितललाम, २०१ (ललितलाम-प्रकाशनी, पृ० ४१०)

७ पद्माभरण, २१७ (पद्माभरण-प्रकाशनी, पृ० ५६)

८. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ६८३

अर्थात् उत्कृष्ट कोटि के आनन्द की अभिव्यक्ति। अलंकारशास्त्र में जहाँ उक्तिवैचित्र्य से अत्यधिक हर्ष की बात कही जाय, वहाँ 'प्रहर्षण' अलंकार होता है। इस अलंकार के तीन भेद हैं :

१. प्रथम प्रहर्षण : जहाँ बिना यत्न के ही अभीष्ट अर्थ की सिद्धि हो वहाँ 'प्रथम प्रहर्षण' अलंकार होता है।[1]

उदाहरण :

जाको चित चाहत हुतो, आई दूती वेइ।[2]

जिसके लिए चित्त लालायित हो रहा था वही दूती आगयी। यहां बिना प्रयत्न के ही अभीष्ट अर्थ की सिद्धि दिखायी गयी है, अतः 'प्रथम प्रहर्षण' है।

'प्रथम प्रहर्षण' के अन्य उदाहरण

(१) नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्हीं कृपा जानि जन दीना॥[3]

(२) राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे पुनि न डसैहौं।[4]

(३) जाको रूप अनूप लखि, सखि न गयो धरि धीर।
आपुहि ते आयौ इहाँ, भायो वही अहीर॥[5]

(४) मैं भी सन्ध्या का पथ हेरे,
आ पहुँचे तुम सहज सवेरे।
धन्य कपाट खुले ये मेरे।
दूँ अब क्या नव-दान?
पधारो, भव भव के भगवान।[6]

२. द्वितीय प्रहर्षण . जब अभीष्ट अर्थ से अधिक लाभ का वर्णन हो, तब 'द्वितीय प्रहर्षण' होता है।[7]

---

१. (क) उत्कंठितार्थसंसिद्धिर्विना यत्नं प्रहर्षणम्।
तामेव ध्यायते तस्मै निसृष्टा सैव दूतिका॥ —कुवलयानन्द, १२६
(ख) जहँ उत्कंठित अर्थ की बिन उपाय ही सिद्धि।
तहाँ प्रहर्षन कहत हैं जे कविजन मतिसिद्धि॥
—ललितललाम, ३०२ (मतिराम-ग्रन्थावली, पृ० ४११)

२. भाषा-भूषण, १६०

३. रामचरितमानस, ३।८।४

४. विनयपत्रिका, १०५।१

५. अलंकार-मंजूषा, पृ० २१५

६. यशोधरा, पृ० १४४

७. (क) वाञ्छितादधिकार्थस्य संसिद्धिश्च प्रहर्षणम्।
दीपमुद्योजयेद्यावत्तावदभ्युदितो रविः॥ —कुवलयानन्द, १३०
(ख) वाछितहू तें अधिक फल, स्रम बिनु लहिए सोय। —भाषाभूषण, १६६

उदाहरण :

इक फल चहि पूजत सिवहिं तुरत लहे फल चारि।[१]

भक्त शंकर भगवान् की पूजा एक फल के लिए करता है किंतु उसने चार फल प्राप्त कर लिए। इस प्रकार अभीष्ट से अधिक फल की प्राप्ति का वर्णन होने के कारण 'द्वितीय प्रहर्षण' अलंकार हुआ।

'द्वितीय प्रहर्षण' के अन्य उदाहरण :

(१) दीपक को उद्यम कियो तौ लौं उदयो भानु।[२]

(२) चाहत मन पावन सहस गज पावत इक चाहि।
भावसिंह की दानि है जगत सराहत जाहि॥[३]

(३) ज्यों एक सुत के हेतु दशरथ थे तरसते नित्य ही,
पाये उन्होंने चार सुत है धन्य का यह कृत्य ही।[४]

३. तृतीय प्रहर्षण : किसी फल के उपाय की खोज करते हुए जब स्वयं फल की प्राप्ति का वर्णन हो तब 'तृतीय प्रहर्षण' अलंकार होता है।[५]

उदाहरण :

निधि अंजन की औषधी, खोदत लह्यो निधानु।[६]

यहाँ कहा गया है कि निधि अंजन (जिसके आँखों में लगा लेने से गड़ा धन दिखाई देने लगता है) की खोज करते-करते गड़ा हुआ धन ही मिल गया। इस प्रकार यहाँ 'तृतीय प्रहर्षण' है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण :

(१) हरि की सुधि को राधिका पठी अली के भौन।
हँसत दोउ ही मिलि गए बरनि सकै कवि कौन॥[७]

(२) भव कमलेसर पूजनहि सुमन लयो सिय जाइ।[८]

---

१. पद्माभरण, २१६ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५६)
२. भाषाभूषण, १६१
३. ललितललाम, ३०६ (मतिराम ग्रंथावली, पृ० ४११)
४. रामचरित उपाध्याय (काव्यदर्पण, रामदहिन मिश्र, पृ० ४५० पर उद्धृत)
५. (क) यत्नादुपायसिद्ध्यर्थात् साक्षाल्लाभः फलस्य च।
निध्यञ्जनौषधीमूलं खनता साधितो निधिः॥
—कुवलयानंद, १२१
(ख) जहाँ यत्न की सिद्धि को उपायहिं ते फल होय।
ताहि प्रहर्षन कहत हैं कोविद-कविवर सब कोय॥
—ललितललाम, ३०८ (मतिराम ग्रंथावली, पृ० ४१२)
६. भाषाभूषण, १६२
७. ललितललाम, ३०९ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ४१२)
८. पद्माभरण, २२० (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ५६)

विषादन

वाञ्छित अर्थ के विरुद्ध फल प्राप्त होने के वर्णन में 'विषादन' या 'विषाद' अलंकार होता है।[1]

उदाहरण :

उड़िहौं खिलिहैं कमल जब, निसि बीते परभात।
यों सोचत अलि कोस गत, तोर्‌यो करि जलजात॥[2]

किसी कमलकोश में बन्द भौंरा सोच रहा था कि कल सबेरे इस बन्दी-गृह से निकलूँगा कि इतने में ही किसी हाथी ने आकर वह कमल तोड़-मरोड़ डाला। इस प्रकार वाञ्छित फल के विरुद्ध फलप्राप्ति का वर्णन होने से 'विषादन' अलंकार है।

'विषादन' अलंकार के अन्य उदाहरण :

(१) एक बिमानहि दूषन देहीं। सुधा देखाइ दीन्ह बिषु जेहीं॥[3]

(२) हों सोई सखि सुपन में मनभावन के पास।
छोर छरा को छुवत ही आनि जगायो सास॥[4]

(३) जेता अवगुन ढूँढ़िये, गुनै हाथ परि जाय।[5]

उल्लास

एक के गुण और दोष से दूसरे को गुण और दोष जब प्राप्त हो, तब 'उल्लास' अलंकार होता है।[6] इसके चार भेद हैं:

---

१. (क) इष्यमाणविरुद्धार्थसम्प्राप्तिस्तु विषादनम्।
दीपमुद्योजयेद्यावन्निर्वाणस्तावदेव सः॥ —कुवलयानन्द, १३२

(ख) सो विषाद चित-चाह तें, उलटौ कछु ह्वै जाय।
नीबी परसत स्रुति परी, चरनायुध धुनि आय॥ —भाषाभूषण, १६२

(ग) मन इच्छित के अर्थ की प्रापति जहाँ विरुद्ध।
तहाँ बिषादहि कहत हैं जे कबिजन मति सुद्ध॥
—ललितललाम, ३१० (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ४१२)

२. अलंकार-मंजूषा, पृ० २१७

३. रामचरितमानस, २।४६।१

४. पद्माभरण, २२२ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ६०)

५. अलंकार-मंजूषा, पृ० २१७

६. (क) एकस्य गुणदोषाभ्यामुल्लासोऽन्यस्य तौ यदि।
अपि मां पावयेत् साध्वी स्नात्वेतीच्छति जाह्नवी॥
—कुवलयानन्द, १३३

(ख) औरै के गुन-दोष तें, औरै को गुन-दोष।
बरनत यों उल्लास हैं, जे पंडित मतिकोष॥
—ललितललाम, ३१२ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ४१२)

यहाँ कुब्जा की कुटिलता से श्रीकृष्ण को दोषवान् कहा गया है, अतः 'द्वितीय उल्लास' अलकार है।

'द्वितीय उल्लास' के अन्य उदाहरण .

(१) मुकता कर, करपूर कर, चातक-जीवन जोय।
मेतो बडो रहीम जल, व्याल-बदन विष होय ॥[1]

(२) मन्त्रिन के बस जो नृपति, सो न लहत सुखसाज।
मनहि बाँधि दृग देत हैं, मन कुमार कौं राज ॥[2]

(३) भए सकुचित कमल निसि, मधुकर लह्यो न मोष ॥[3]

(४) मनमोहन कौं आवतहि कियो सुभग सनमान।
लखि अजन अधरान में गोरी गह्यो गुमान ॥[4]

३ तृतीय उल्लास (गुण से दोष) जब एक के गुण से दूसरे को दोष प्राप्त हो, तब 'तृतीय उल्लास' अलकार होता है।[5]

उदाहरण :

अर्क जवास पात बिनु भएऊ। जस सुराज खल उद्यम गएऊ ॥[6]

यहाँ सुराज्य रूप गुण से दुष्टों का व्यापार जाना रूप दोष प्राप्त हुआ है, अत. 'तृतीय उल्लास' है।

'तृतीय उल्लास' के अन्य उदाहरण

(१) बरषि बिस्व हरषित करत हरत ताप अघ प्यास।
तुलसी दोष न जलद को जो जल जरै जवास ॥[7]

(२) चद अलोक ते लोक सुखी यहि कोक अभागे को सोक न छूटै।[8]

(३) बरसे बारिद के लता, तुन तरु सब हरियात।
भाग लखो या आक को, जलहू सो जरिजात ॥[9]

(४) दुख न मानि जो तजि चल्यो, जानि अँगार गँवार।
छितिपालन की माल में, तैं ही लाल सिंगार ॥[10]

---

१. रहीम-रत्नावली, पृ० १३ (दोहा, १४७)
२. ललितललाम, ३१४ (मतिराम-ग्रथावली, पृ० ४१३)
३. काव्यनिर्णय, १४।६ (भिखारीदास-ग्रथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १३४)
४. पद्माभरण, २२५ (पद्माकर-ग्रथावली, पृ० ६०)
५ बरने ते गुन और में, दोष और को होत। —अलंकार-मजूषा, पृ० २१६
६. रामचरितमानस, ४।१५।२
७. दोहावली, ३७८
८. शिवराजभूषण, २७५ (भूषण-ग्रथावली, पृ० ७६)
९. अलकार-मजूषा, पृ० २१६
१०. ललितललाम, ३१५ (मतिराम-ग्रथावली, पृ० ४१३)

१. प्रथम अवज्ञा : जब एक के गुण का दूसरे पर प्रभाव न पड़े, तब 'प्रथम अवज्ञा' अलंकार होता है।

उदाहरण

तुलसी प्रभु भूषन किए गुंजा बढ़े न मोल।[1]

प्रभु की संगति रूप गुण का गुंजा पर कोई प्रभाव न पड़ा क्योंकि उसका मूल्य नहीं बढ़ा। यहाँ 'प्रथम अवज्ञा' अलंकार है।

'प्रथम अवज्ञा' के अन्य उदाहरण :

(१) फूलइ फरइ न बेत जदपि सुधा बरषहिं जलद।
मूरुखहृदय न चेत जौ गुर मिलहिं बिरंचि सत॥[2]

(२) देखो अभाग कलानिधि को 'रघुनाथ' सदा सिव सीस पै जाग्यो।
जैसे का तैसो कलंक रह्यो मित्र संगति को गुन नेकु न लाग्यो॥[3]

(३) परनि सुधाकर-किरन कों, खुलै न पंकज-कोष॥[4]

(४) मेरे दृग वारिद वृथा, बरषत वारि प्रवाह।
उठत न अंकुर नेह को, तो उर ऊसर माह॥[5]

(५) बड़े हमारे नैन तौ तुम्हें कहा जदुराइ।[6]

(६) करि बेदान्त विचार हू सठहि विराग न होय।
रंच न मृदु मैनाक भो निसिदिन जलनिधि-सोय॥[7]

२. द्वितीय अवज्ञा : जहाँ एक के दोष का प्रभाव दूसरे पर न पड़े, वहाँ 'द्वितीय अवज्ञा' अलंकार होता है।[8]

उदाहरण :

डारन में जु करील की उलहत इकौ न पात।
ताको दोष बसंत को कछु न कह्योई जात॥[9]

करील की डाल पर पत्ते न लगने पर भी बसन्त का दोष नहीं लगता। इस प्रकार एक के दोष का प्रभाव दूसरे पर न पड़ने पर 'द्वितीय अवज्ञा'

---

१. दोहावली, ३८५
२. रामचरितमानस, ६।१६।११-१२
३. अलंकार-मंजूषा, पृ० २२०
४. भाषा-भूषण, १६४
५. ललितललाम, ३१६ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ४१३)
६. काव्यनिर्णय, १४।१२ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १३४)
७. काव्यकल्पद्रुम (द्वितीय भाग—अलंकार मंजरी), पृ० ३३६
८. औरहिं दोष न और के दोष, अवज्ञा सोउ।
—काव्यनिर्णय, १४।१४ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० १३४)
९. पद्माभरण, २३० (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ६१)

अलंकार है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण :

(१) तिमिर-भौन तुरतैं मिटैं, प्रगटै जाहि श्रदूर।
कहा दोष दिननाथ दिन, देखै जो न उलूक।।[१]

(२) कहा भयो जो तजत हैं मलिन मधुप दुख मानि।
सुबरन बरन सुवासजुत चंपक लहै न हानि।।[२]

(३) मूढ़ मति डारैं मुकुत, भूलि न त्यागत कोट।[३]

(४) दोष बसन को नेह नहीं उन्हें न कपोल को डार सु पानो।[४]

अनुज्ञा

किसी गुण की इच्छा से दोष वाली वस्तु की भी जहाँ इच्छा की जाय वहाँ 'अनुज्ञा' अलंकार होता है।[५]

उदाहरण

मुनि श्राप जो दीन्हा अति भल कीन्हा परम अनुग्रह मैं माना।
देखेउँ भरि लोचन हरि भवमोचन इहै लाभ संकर जाना।।[६]

यहाँ भगवान् के दर्शन पाने के लिए शाप को भी अच्छा कहा गया है, अतः 'अनुज्ञा' अलंकार है।

'अनुज्ञा' अलंकार के अन्य उदाहरण :

(१) रामहि चितव सुरेस सुजाना। गौतमश्रापु परम हित माना।।[७]

(२) होहु बिपति जामें सदा, हिये चढ़ें हरि आनि।।[८]

---

१. अलंकार-मंजूषा, पृ० २२१
२. ललितललाम, ३२० (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ४१४)
३. काव्यनिर्णय, १४।१४ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० १३४)
४. अलंकार-मंजूषा, पृ० २२१
५. (क) दोषस्याभ्यर्थनानुज्ञा तत्रैव गुणदर्शनात्।
विपदः सन्तु नः शश्वद्यासु संकीर्त्यते हरिः।। —कुवलयानंद, १३३
(ख) जहाँ दोष की चाह करैं ताही मैं गुन देखि।
तहाँ अनुज्ञा कहत हैं कविजन प्रगनि लेखि।।
—ललितललाम, ३२१ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ४१४)
(ग) होत अनुज्ञा दोष को, जब लीजै गुन मानि। —भाषाभूषण, १६५
६. रामचरितमानस, १।२११।६-१०
७. रामचरितमानस, १।२१०।६
८. भाषाभूषण, १६५

(३) तब करि करि कमलाननि सों मांगत भों,
लोग सब करि मनोरथ ऐसे साज के।
बैपारी जहाज के न राजा भारी राज के,
भिखारी हमें कीजै महाराज सिवराज के ॥[1]

(४) भलो भयो मग भ्रम भयो, मिले बीच घन स्याम ॥[2]

तिरस्कार

जहाँ किसी दोष से युक्त होने के कारण गुणवाली वस्तु का भी तिरस्कार किया जाय वहाँ 'तिरस्कार' अलंकार होता है।[3]

उदाहरण :

सो सुखु करमु धरमु जरि जाऊ। जहँ न रामपद पंकज भाऊ ॥[4]

यहाँ रामभक्ति से रहित सुख और धर्म का भी तिरस्कार किया गया है, अत: 'तिरस्कार' अलंकार है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण :

(१) जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो रामपद करइ न सहस सहाइ ॥[5]

(२) जाके प्रिय न राम-बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम, जद्यपि परम सनेही ॥[6]

(३) वा सोने को जारिये जासे फाटै कान।[7]

(४) जिन हौवहु सिय विभव सो गज तुरंग वर वाम।
जिनमें रत नर करत नहिं हरि-चरनन अनुराग ॥[8]

लेश

जहाँ दोष को गुण के रूप में और गुण को दोष के रूप में कल्पित और

---

१. शिवराजभूषण, २८३ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ८१)
२. काव्यनिर्णय, १४।२० (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० १३५)
३. त्यागिय आदरनीयहू, लखि जो दोष-विशेष।
तिरस्कार भूषन कहैं, जिनकी सुमति अशेष ॥
—अलंकार-मंजूषा, पृ० २२२
४. रामचरितमानस, २।२९०।१
५. रामचरितमानस, २।१८४।८-९
६. विनय-पत्रिका, १७४।१
७. अलंकार-मंजूषा, पृ० २२३
८. काव्यकल्पद्रुम (द्वितीय भाग—अलंकार मंजरी), पृ० ३८१

वर्णित किया जाय, वहाँ 'लेश' अलंकार होता है।[1] इसके दो भेद हैं :

१. दोष को गुण मानना

बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा ॥[2]

सुग्रीव राम से कहता है कि बालि मेरा सबसे बड़ा हितैषी है जिसके कारण आपके दर्शन हुए। बालि उसका शत्रु था, किन्तु सुग्रीव उस शत्रुता रूप दोष में भी गुण देखता है, अतः 'लेश' अलंकार है।

इस प्रकार के 'लेश' के अन्य उदाहरण

(१) रहिमन बिपदाहू भली, जो थोरे दिन होय।
हित अनहित या जगत में जानि परत सब कोय ॥[3]

(२) कन मज्यो ह्वै अनमनो, अंसुवा भरति ससंक।
बड़े भाग नंदलाल सों, झूठहु लगत कलंक ॥[4]

(३) कोऊ बचन न मानहु सरजा सों रन साजि।
भली करी दिय ! समर ते जिय लै आए भाजि ॥[5]

(४) छीनरन्त ह्वै ईश-दिन, बड़ भयो जगबंद।[6]

(५) कागा परत न बंध में सुनियहु सबद पुकारि ॥[7]

२. गुण में दोष की कल्पना

बंद होत सुक सारिका मधुरी बानि उचारि।[8]

यहाँ शुक और सारिका की मधुर वाणी में दोष की कल्पना करके उसे बन्धन का कारण कहा गया है, अतः यहाँ भी 'लेश' अलंकार है।

---

१. (क) लेशः स्याद्दोषगुणयोर्गुणदोषत्वकल्पनम्।
अखिलेषु विहङ्गेषु हन्त स्वच्छन्दचारिषु ॥
शुक ! पञ्जरबन्धस्ते मधुराणां गिरां फलम् ॥
—कुवलयानन्द, १३८

(ख) गुन में दोषरु, दोष में गुन-कल्पन सो लेस।
सुक ! यहि मधुरी बानि तें, बंधन लह्यो बिसेस ॥
—भाषाभूषण, १६६

२. रामचरितमानस, ४।७।१६
३. रहीम-रत्नावली, पृ० २१ (दोहा, २३३)
४. ललितललाम, ३२५ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ४१४)
५. शिवराजभूषण, २८६ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ८१)
६. काव्यनिर्णय, १४।२२ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० १३६)
७. पद्माभरण, २३३ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ६१)
८. पद्माभरण, २३३ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ६१)

इस प्रकार के 'लेश' के अन्य उदाहरण ·

(१) सुक ! यहि मधुरी बानि तें, बंधन लह्यो बिसेप ।[1]

(२) प्रतिबिंबित तो बिंब में भूतल भयो कलंक ।
निज निर्मलता दोष यह मन मे मानि मयंक ।।[2]

(३) उदैभानु राठौर वर धरि धीरज गढ़ ऐंड ।
प्रगटे फल ताको लह्यो परिगो सुरपुर पेंड ।।[3]

(४) फले सोहाए मधुर फल, आँब गए झकझोरि ।।[4]

मुद्रा

प्रस्तुत अर्थ के शब्दो द्वारा जब सूचनीय अर्थ की सूचना दी जाय, तब वहाँ 'मुद्रा' अलकार होता है ।[5] मुद्रा का अर्थ है 'मोहर' । जिस प्रकार किसी पत्र पर लगी किसी की मोहर देखते ही पता लग जाता है कि यह अमुक की है, उसी प्रकार 'मुद्रा' अलकार मे कुछ बातें सूच्य होती हैं ।

उदाहरण .

सुनि मुरली-सुर-धुनि सखी गो मति को सुविवेक ।
जमुनायक को हिय भयो सरसइ हिय धरि टेक ।।[6]

इस दोहे मे प्रस्तुत अर्थ (श्रीकृष्ण की मुरली की तान सुनकर गोपियो का आकृष्ट होना आदि) के अतिरिक्त सुर-धुनि से गगा, गो मति से गोमती, जमुना से यमुना तथा सरसइ से सरस्वती नदियो के नाम भी सूचित होते हैं, अत- यह 'मुद्रा' अलकार का उदाहरण है ।

'मुद्रा' अलकार के अन्य उदाहरण

(१) चंद्र बिंब पूरन भए, क्रूर केतु हठ दाप ।
बल सों करिहै ग्रास कह, जेहि बुध रक्षत आप ।।[7]

---

१. भाषाभूषण, १६६

२. ललितललाम, ३२६ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ४१५)

३. शिवराजभूषण, २८५ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ८१)

४. काव्यनिर्णय, १४।२४ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १३६)

५ (क) सूच्यार्थसूचनं मुद्रा प्रकृतार्थपरैः पदैः ।
नितम्बगुर्वी तरुणी दृग्युग्मविपुला च सा ।। —कुवलयानन्द, १३९

(ख) प्रकृत अर्थ मे मिलहिं पद, औरहु नाम प्रकास ।
मुद्रा तासो कहत हैं, कवि जन सहित हुलास ।।
—अलकार-मंजूषा, पृ० २२४

६ अलकार-मंजूषा, पृ० २२४

७. मुद्राराक्षस (प्रस्तावना), पृ० ३

(२) न मुदितवदना हो पुष्पिताग्रा लताती,
न सु-कुसुमविचित्रा स्रग्धरा भी दिखाती,
न ललित इससे वो हारिणी शालिनी है,
यह मृदु पद वाली सुन्दरी मालिनी है ॥[1]

(३) करुणे, क्यों रोती है ? 'उत्तर' में और अधिक तू रोई—
'मेरी विभूति है जो, उसको 'भव भूति' क्यों कहे कोई ?'[2]

रत्नावली

जब क्रमानुसार प्राकरणिक या प्रकृत अर्थों का वर्णन हो, तब वहाँ 'रत्नावली' अलंकार होता है।[3]

उदाहरण

रसिक चतुरमुख लच्छिपति, सकल ज्ञान को धाम।[4]

इसका प्रस्तुत अर्थ है हे रसिक, तुम चतुर लोगों में मुख्य हो, लक्ष्मीवान् हो तथा सम्पूर्ण ज्ञान के धाम हो। इसके साथ ही क्रम से ब्रह्मा (चतुरमुख), विष्णु (लच्छिपति) और शिव (सकल ज्ञान को धाम) के नाम भी निकलते हैं। इस प्रकार यहाँ 'रत्नावली' नामक अलंकार है।

'रत्नावली' के अन्य उदाहरण

(१) रवि ससि कुज बुध गुरु गुननि सें बिधि रच्यो नरिंद ॥[5]

(२) आदित सोम कहो कबहूँ कबहूँ कहो मंगल औ बुध होते।
औ गुरु सुक्र सनीचर को कहियो कबहूँ मुख सों नहिं रोते।
मोहि न जानि परै 'रघुनाथहि' भेंट को है दिन कौन सो चौते।
आवन जात में हारि परी तुम्हें बार बतावत आसर बोते ॥[6]

(इसमें सातों दिनों के नाम क्रम से आये हैं)

---

१. काव्यकल्पद्रुम (द्वितीय भाग—अलंकार मंजरी), पृ० ३८४
२. साकेत (नवम सर्ग), पृ० २६७
३. (क) क्रमिकं प्रकृतार्थानां न्यासं रत्नावलीं विदुः।
चतुरास्यः पतिर्लक्ष्म्याः सर्वज्ञस्त्वं महीपते। —कुवलयानन्द, १४०
(ख) प्रस्तुत अर्थनि को जहाँ क्रम तें थापन होय।
तहाँ कहत रत्नावली कवि जन बुद्धि गमोय ॥
—ललितललाम, ३२६ (मतिराम-ग्रन्थावली, पृ० ४१५)
४. भाषाभूषण, १६८
५. पद्माभरण, २३६ (पद्माकर-ग्रन्थावली, पृ० ६१)
६. अलंकार-मंजूषा, पृ० २२९

तद्गुण

अपना गुण त्यागकर दूसरे का गुण ग्रहण करना 'तद्गुण' अलंकार कहलाता है।[1]

उदाहरण :

> अधर धरत हरि के परत ओठ डीठि पट जोति।
> हरित बाँस की बाँसुरी इन्द्रधनुष सी होति॥[2]

हरे बाँस वाली बाँसुरी पर ओठो की लालिमा, दृष्टि की श्वेतता, कालिमा एव लालिमा तथा पीताम्बर की पीतिमा पडने से वह (बाँसुरी) कई रंग वाली हो जाती है। इस प्रकार वह अपने रग का गुण छोडकर दूसरे रग का गुण ग्रहण कर लेती है। अत यहाँ 'तद्गुण' अलकार है।

'तद्गुण' के अन्य उदाहरण -

(१) सिय तुव अंग रंग मिलि अधिक उदोत।
हार बेल पहिरावौं चंपक होत॥[3]

(२) बेसर मोती अधर मिलि, पद्मराग-छवि देय।[4]

(३) माल मालती की हिये सोनजुही द्युति होइ।[5]

(४) अति सुन्दर दोनो कानो में जो कहलाते शोभागार,
एक एक था भूषण जिसमें जड़े हुए थे रत्न अपार।
कर्णपूर-प्रतिबिम्ब युक्त था कान्त कपोल युग्म उस काल,
कभी श्वेत था कभी हरा था कभी-कभी होता था लाल॥[1]

अतद्गुण

जब कोई वस्तु समीपवर्ती वस्तु के गुण को ग्रहण नही करती, तब वहाँ 'अतद्गुण' अलकार होता है।[7] यह अलकार 'तद्गुण' अलकार का ठीक विपरीत है।

---

१. (क) तद्गुणः स्वगुणत्यागादन्यदीयगुणग्रहः।
पद्मरागायते नासामौक्तिकं तेऽधरत्विषा॥ —कुवलयानद, १४१
(ख) तदगुन तजि गुन आपनो, सगति को गुन लेय। —भाषा-भूषण, १६६

२. बिहारी-बोधिनी, २३

३. बरवै रामायण, १३

४. भाषाभूषण, १६६

५. पद्माभरण, २३७ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ६१)

६ काव्यकल्पद्रुम (द्वितीय भाग—अलकार मजरी), पृ० ३८६

७ सोइ अतदगुन सग तें, जब गुन लागत नाहिं। —भाषाभूषण, १७२

उदाहरण :

चंदन विष व्यापत नहीं, लपटे रहत भुजंग।[1]

यहाँ कहा गया है कि चंदन के वृक्ष पर सर्पों के निवास से भी उनमें (वृक्षों में) सर्पों के विष का प्रभाव नहीं पड़ता। अतः 'अतद्गुण' अलंकार है।

'अतद्गुण' के अन्य उदाहरण :

(१) अहि अघ अवगुन नहिं मनि गहई। हरइ गरल दुख दारिद दहई॥[2]

(२) सिव सरजा की जगत में राजति कीरति नौल।
अरि तिय दृग अंजन हरै तऊ धौल की धौल॥[3]

(३) संगति सुमति न पावहीं, परे कुमति के धंध।
राखौ मेलि कपूर में, हींग न होत सुगंध॥[4]

(४) पिय अनुरागी ना भयो, बसि रागी मन माँहि॥[5]

(५) विष-विहीन पन्नग न हुव विषहर-मनि सँग पाइ॥[6]

पूर्वरूप

जब कोई वस्तु दूसरे का गुण ग्रहण करने के पश्चात् अपने रूप को पुनः प्राप्त कर ले, तब वहाँ 'पूर्वरूप' अलंकार होता है।[7]

उदाहरण :

सेष स्याम ह्वै सिवगरें, जस तें उज्जल होत।[8]

शेषनाग श्वेत रंग के हैं। वे शंकर के नीले गले में पड़कर काले हुए, किन्तु यश के श्वेत रंग से पुनः श्वेत हो गये। इस प्रकार दूसरी वस्तु के गुण को ग्रहण करने के पश्चात् अपने रूप को पुनः प्राप्त करने के कारण 'पूर्वरूप' है।

---

१. रहीम-रत्नावली, पृ० ७ (दोहा, ७४)
२. रामचरितमानस, ७।१८३।८
३. शिवराजभूषण, २६७ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ८४)
४. बिहारी-बोधिनी, ६३८
५. भाषाभूषण, १७२
६. पद्माभरण, २८० (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ६२)
७. (क) पुनः स्वगुणसंप्राप्तिः पूर्वरूपमुदाहृतम्।
हरकण्ठांशुलिप्तोऽपि शेषस्त्वद्यशसा सितः॥ —कुवलयानंद, १४२
(ख) जहाँ और को रंग तजि गहै आपनो सेत॥
बरनत पूरबरूप तहँ कवि 'मतिराम' सचेत॥
—ललितललाम, ३३३ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ४१६)
८. भाषाभूषण, १३१

'पूर्वरूप' के अन्य उदाहरण :

(१) केस मुकुत सखि मरकत मनिमय होत ।
हाथ लेत पुनि मुकुता करत उदोत ॥[1]

(२) मुकुत-हार हरि के हिए, मरकत मनिमय होत ।
पुनि पावत रुचि राधिका, मुख मुसकानि उदोत ॥[2]

(३) हीरा भो मानिक बरन हँसतहि भयो सु सेत ॥[3]

अनुगुण

जहाँ दूसरे के सम्पर्क से अपना गुण वृद्धि को प्राप्त हो, वहाँ 'अनुगुण' अलंकार होता है ।[4]

उदाहरण :

मुक्तमाल हिय हास तें, अधिक स्वेत ह्वै जाय ।[5]

मोतियों की माला हँसी से मिलकर अधिक श्वेत हो जाती है । यहाँ हँसी के कारण मोतियों की माला की श्वेतता में वृद्धि हुई है; अत. 'अनुगुण' अलकार है ।

'अनुगुण' अलकार के अन्य उदाहरण

(१) चंपक हरवा अंग मिलि, अधिक सोहाय ।[6]

(२) कज्जल कलित अँसुवान के उमंग संग,
दूनो होत रोज रग जमुना के जल में ॥[7]

(३) नील सरोज कटाछ लहि, अधिक नील ह्वै जाइ ॥[8]

(४) मानिक-मनि करतल परसि अति ही अरुन लखाइ ।[9]

---

१ बरवै रामायण, ६

२ ललितललाम, २३४ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ४१६)

३ पद्माभरण, २३८ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ६२)

४. (क) प्राक्सिद्धस्वगुणोत्कर्षोऽनुगुणः परसंनिधेः ।
नीलोत्पलानि दधते कटाक्षैरतिनीलताम् ॥— कुवलयानंद, १४५

(ख) सम रुचि सगनि और के, बढ़त आपनी रंग ।
अनुगुन तासों कहत हैं, जे कवि बुद्धि उतंग ॥
—ललितललाम, ३३६ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ४१७)

५ भाषा-भूषण, १७३

६. बरवै रामायण, १२

७. शिवराजभूषण, २६६ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ८४)

८. काव्यनिर्णय, १४।३६ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० १३८)

९. पद्माभरण, २४१ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ६२)

मीलित

जब नीर-क्षीर न्याय के अनुसार एक वस्तु दूसरी के साथ मिलकर छिप जाय, तब वहाँ 'मीलित' अलंकार होता है।[1]

उदाहरण

पान-पीक अधरान में, सखी लखी नहिं जाय ॥
कजरारी अँखियान में, कजरा री न लखाय ॥[2]

यहाँ नायिका के अधरों की स्वाभाविक लालिमा में पान की पीक की रक्तता तथा स्वाभाविक काले नेत्रों में कज्जल का छिप जाना कहा गया है, अतः 'मीलित' अलंकार है।

'मीलित' के अन्य उदाहरण

(१) मिलि परछाहीं जोन्ह सों रहे दुहुनि के गात।
हरि राधा इक संग ही चले गली में जात ॥[3]

(२) पँखुरी लगी गुलाब की, गात न जानी जाय।[4]

(३) अरुन-बरन तिय-चरन पर, जावक लख्यो न जाय।[5]

(४) अरुन अधर में पीक की लीक न परति लखाइ ॥[6]

उन्मीलित

उपर्युक्त 'मीलित' अलंकार में जब किसी कारण-विशेष से भेद की प्रतीति हो, तब वहाँ 'उन्मीलित' अलंकार होता है।[7]

---

१. (क) मीलितं यदि सादृश्याद् भेद एव न लक्ष्यते।
रसो नालक्षि लाक्षायाश्चरणे सहजारुणे ॥
—कुवलयानन्द, १४६

(ख) मीलित सोइ सादृस्य तें, भेद जबै न लखाय।
—भाषाभूषण, १७४

(ग) सो मीलित सादृस्य तें भेद न जान्यो जाइ।
—पद्माभरण, २४२ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ९२)

२ अलंकार-मंजूषा, पृ० २३३

३. बिहारी बोधिनी, १८

४. बिहारी-बोधिनी, ६१

५. भाषा-भूषण, १७४

६ पद्माभरण, २४२ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ९२)

७ (क) भेदवैशिष्ट्ययोः स्फूर्तावुन्मीलितविशेषकौ।
—कुवलयानन्द, १४८

(ख) उन्मीलित सादृस्य तें, भेद फुरै तब मानि।
—भाषाभूषण, १७६

उदाहरण :

समझो परत सुगन्ध तें तन केसर को लेप।[1]

शरीर पर लगी हुई केसर शरीर के रंग के साथ मिलकर एक हो गयी किन्तु सुगन्ध के कारण उसकी प्रतीति होने लगी। इस प्रकार यहाँ 'उन्मीलित' अलंकार है।

'उन्मीलित' अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) चंपक हरवा अंग मिलि अधिक सोहाइ।
जानि परै सिय हियरें जब कुम्हिलाइ॥[2]

(२) कंचन तन धन बरनबर, रह्यो रंग मिलि रंग।
जानी जात सुबास हीं, केसर लाई अंग॥[3]

(३) कीरति-आगे तुहिन गिरि, छुए परत पहिचानि॥[4]

सामान्य

जब दो वस्तुओं की एकरूपता के कारण भेद न प्रतीत हो, तब वहाँ 'सामान्य' अलंकार होता है।[5]

उदाहरण :

भरतु रामहीं की अनुहारी। सहसा लखि न सकहिं नर नारी॥[6]

भरत और राम एक ही आकृति के होने के कारण लोगों के द्वारा अलग अलग पहचाने नहीं जा सकते। रामचरितमानसकार के इस वर्णन में 'सामान्य' अलंकार है।

'सामान्य' अलंकार के अन्य उदाहरण :

(१) एकरूप तुम्ह भ्राता दोऊ। तेहि भ्रम तें नहिं मारेउँ सोऊ॥[7]

---

१. पद्माभरण, २४४ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ६२)
२. बरवै रामायण, १२
३. बिहारी-बोधिनी, १४६
४. भाषाभूषण, १७६
५. (क) सामान्यं यदि सादृश्याद् विशेषो नोपलक्ष्यते।
पद्माकरप्रविष्टानां मुखं नालक्षि सुभ्रुवाम्॥
—कुवलयानन्द, १४७

(ख) सु सामान्य सादृस्य तें समुझि बिसेष परै न।
—पद्माभरण, २४३ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ६२)

६. रामचरितमानस, १।३११।६
७. रामचरितमानस, ४।८।५

(२) नाहिं फरक स्रुति-कमल अरु, तियलोचन अनिमेष ॥[1]
(३) दुरी चित्रपुतरीन में तिय पिय ताहि लहै न ॥[2]

विशेषक

सामान्य अलंकार में जहाँ किसी कारणवश दोनों वस्तुओं का भेद ज्ञात हो जाय वहाँ 'विशेषक' अलंकार होता है।[3]

उदाहरण

कागन में मृदुबानि तें मैं पिक लियो पिछान ॥[4]

कौओं के बीच कोयल की पहचान मीठी बोली के कारण हुई। इस प्रकार यहाँ दो वस्तुओं में कारणवश पहचान होने से 'विशेषक' अलंकार हुआ।

'विशेषक' के अन्य उदाहरण:

(१) तियमुख अरु पंकज लखे, ससि-दरसन तें सांझ ॥[5]
(२) मृदु बोलनि सों जानिए, मृदु बेलिनि में बाल ॥[6]
(३) मनमोहन-मनमथन कों, द्वै कहतो को जान।
जौ इनहूँ कर कुसुम को होतो बान-कमान ॥[7]

गूढोत्तर

जहाँ कुछ गूढ़, अभिप्राय सहित उत्तर का वर्णन हो, वहाँ 'गूढोत्तर' या 'उत्तर' अलंकार होता है।[8] इसके दो भेद हैं: १. कल्पित प्रश्न, २. प्रश्न-

१. भाषाभूषण, १७५
२. पद्माभरण, २४३ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ६२)
३. सु विसेषक सामान्य तें जहँ विसेष को ज्ञान।
—पद्माभरण, २४५ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ६३)
४. पद्माभरण, २४५ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ६३)
५. भाषाभूषण, १७७
६. ललितललाम, ३४७ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ४१८)
७. काव्यनिर्णय, १४।४५ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० १४०)
८. (क) किञ्चिदाकूतसहितं स्याद्गूढोत्तरमुत्तरम्।
यत्रासौ वेतसी पान्थ ! तत्रेयं सुतरा सरित् ॥—कुवलयानन्द, १४६
(ख) गूढोत्तर कछु भाव तें, उत्तर दीन्हे होत।—भाषाभूषण, १७८
(ग) अभिप्राय सों सहित जो उत्तर कोऊ देय।
तिहिं गूढोत्तर कहत हैं सुकबि सरस्वति सेय ॥
—ललितललाम, ३४८ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ४१६)
(घ) गूढोत्तर उत्तर जहाँ साभिप्राय उचार।
—पद्माभरण, २४६ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ६३)

सहित।

१. कल्पित प्रश्न : जहाँ केवल उत्तर कहा जाय और उसी उत्तर से कल्पना कर ली जाय कि ऐसा प्रश्न किया गया होगा, वहाँ प्रथम प्रकार का 'गूढोत्तर' अलंकार होता है।

उदाहरण :

सुनहु पवनसुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्हि महु जीभि बिचारी॥
तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुलनाथा॥
तामस तनु कछु साधन नाहीं। प्रीति न पद सरोज मन माहीं॥
अब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता॥[1]

यहाँ हनुमान् के बिना पूछे ही विभीषण अपना परिचय दे रहे हैं। इसमें विभीषण का गूढ अभिप्राय अपनी दीनता दिखाकर रामदूत की कृपा प्राप्त करना था। बिना पूछे ही स्वयं अपना परिचय देने में सर्वत्र यही अलंकार होता है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण :

(१) उत बेतस-तरु में पथिक, उतरन-लायक सोत।[2]

(२) ग्वालिन देहु बताइ हौं, मोहि कछू तुम देहु।
बंसीबट की छाँह में, लाल जाय लखि लेहु॥[3]

(३) घाम घरीक निवारिये, कलित ललित-अलिपुञ्ज।
जमुना तीर तमाल तरु, मिलत मालती कुञ्ज॥[4]

(४) बसौ पथिक इत आजु हौं आगे नगर उजार॥[5]

२. प्रश्न-सहित (प्रश्नोत्तर) : जब कोई कुछ बात पूछे और कोई उसका उत्तर दे, तब दूसरे प्रकार का 'गूढोत्तर' होता है। इसे 'प्रश्नोत्तर' अलंकार भी कहते हैं।

उदाहरण :

को दाता को रन चढो को जग पालनहार ?
कवि भूषन उत्तर दियो सिव नृप हरि अवतार॥[6]

यहाँ 'दाता कौन है ?' 'लडाई पर कौन चढ़ता है ?' आदि प्रश्नों के उत्तर दिये गये हैं जो 'सिव', 'नृप' आदि शब्दों द्वारा अभिव्यक्त हुए हैं, अतः

१. रामचरितमानस, ५।७।१-४
२. भाषाभूषण, १७८
३. ललितललाम, ३४६ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ४१६)
४. बिहारी-बोधिनी, ३६३
५. पद्माभरण, २४६ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ६३)
६. शिवराजभूषण, ३१३ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ८७)

यहाँ 'प्रश्नोत्तर' अलंकार है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) मातु कहाँ नृप ? तात गये सुरलोकहि, क्यों ? सुत शोक लये ।
सुत कौनसु ? राम, कहाँ हैं अबै ? बन लच्छमन सीय समेत गये ।।
बन काज कहा कहि ? केवल मो सुख, तोको कहा सुख यामें भये !
तुमको प्रभुता, धिक तोको कहा अपराध बिना सिगरेई हये ।।[1]

(२) रे कपि कौन तू ? अक्ष को घातक दूत बली रघुनंदन जू को ।
को रघुनंदन रे ? त्रिशिरा-खर-दूषण-दूषण भूषण भू को ।।
सागर कैसे तर्‌यो ? जस गोपद, काज कहा ? सिय चोरहि देखो ।
कैसे बँधायो ? जु सुन्दरि तेरी छुई दृग सोवत पातक लेखो ।।[2]

चित्र अथवा चित्रोत्तर

इस अलंकार के दो भेद हैं प्रथम एवं द्वितीय ।

१ प्रथम चित्रालंकार जिन शब्दों में प्रश्न किया जाय, जब वे ही शब्द उत्तर के भी हों तब 'प्रथम चित्रोत्तर' अलंकार होता है।[3]

उदाहरण

मुग्धा तिय की केलि-रुचि, गेह कौन में होय ।।[4]

प्रश्न—मुग्धा नायिका की केलि की इच्छा किन घर में होती है ?

उत्तर—मुग्धा नायिका की केलि की इच्छा घर के कोने में होती है।

यहाँ 'गेह कोन मैं होय' में प्रश्न और उत्तर दोनों हैं, अतः 'प्रथम चित्रोत्तर' है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण :

(१) को कहिये जल सों सुखी ? का कहिये पर स्याम ?
का कहिये जे रस बिना ? को कहिये सुख वाम ।।[5]

(२) सरद-चंद की चाँदनी, को कहिए प्रतिकूल ?
सरद-चंद की चाँदनी, कोक हिए प्रतिकूल ।।[6]

---

१. रामचन्द्रिका, १०।४

२. रामचन्द्रिका, १४।१

३. (क) प्रश्नोत्तरान्तराभिन्नमुत्तरं चित्रमुच्यते ।
केदारपोषणरताः, के खेटाः, किं चलं वयः ।।—कुवलयानन्द, १५०

(ख) चित्र, प्रश्न उत्तर दुहूँ, एक बचन मैं सोय । —भाषाभूषण, १७८

४. भाषाभूषण, १७६

५. अलंकार-मंजूषा, पृ० २४०

६. ललितललाम, ३५१ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ४१६)

(३) को कहिये निसि में दुखी ? कौन नील प्रिय बास ? ॥[1]

२. द्वितीय चित्रालंकार : जब बहुत से प्रश्नों का एक ही उत्तर हो, तब उसे 'द्वितीय चित्रालंकार' कहते हैं ।[2]

उदाहरण :

को हरि-वाहन जलधि-सुत, को है ज्ञान-जहाज ।
तहाँ चतुर उत्तर दियो, एक वचन द्विजराज ॥[3]

यहाँ अनेक प्रश्नों का एक ही उत्तर (द्विजराज) कहा गया है ।

प्रश्न (१) हरिवाहन कौन है ? (२) जलधिसुत कौन है ? (३) ज्ञान का जहाज कौन है ?

इन तीनों का एक ही उत्तर है द्विजराज जिसके तीन भिन्न-भिन्न अर्थ हैं ।

पहले प्रश्न का उत्तर है गरुड (द्विजराज अथवा पक्षिराज) ।

द्वितीय प्रश्न का उत्तर है चंद्रमा (द्विजराज) ।

तृतीय प्रश्न का उत्तर है द्विजराज—श्रेष्ठ ब्राह्मण ।

इस प्रकार अनेक प्रश्नों का एक ही उत्तर होने के कारण यहाँ 'द्वितीय चित्रालंकार' है ।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण :

(१) को भदभुव पालत सु भव ? को नित थिर जु रहंत ?
नृपप-पदवी कौन मुख, जानहु प्रिय 'जसवंत' ॥[4]

(२) को रन में सनमुख लरत ? को तमरिपु भरपूर ।
उदर-व्याधि अति कठिन का ? सुकवि 'दीन' कह 'सूर' ॥[5]

सूक्ष्म

संकेतादि से जाने हुए सूक्ष्म अर्थ को किसी युक्ति से सूचित किया जाना 'सूक्ष्म' अलंकार कहलाता है ।[6]

---

१. पद्माभरण, २४७ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ६३)

२. उत्तर इक बहु प्रस्न को चित्र, कहो को स्याम ?
कौन जु रिपु दनिमन को ? मूसलधर को ? राम ॥
—पद्माभरण, २४८ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ६३)

३. ललितललाम, ३५३ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ४१६)

४. अलंकार-मंजूषा, पृ० २४२

५. अलंकार-मंजूषा, पृ० २४२

६. (क) सूक्ष्म पराशयाभिज्ञेतरसाकूतचेष्टितम् ।
मयि पश्यति सा केशैः सीमन्तमणिमावृणोत् ॥ —कुवलयानंद, १५१

(ख) सूक्ष्म पर-आसय लखें, सैननि में कछु भाय । —भाषाभूषण, १८०

उदाहरण :

सीतहि सभय देखि रघुराई। कहा अनुज सन सयन बुझाई ॥[1]

शूर्पणखा के भयंकर रूप को देखकर सीता ने भयसूचक चेष्टा की जिसे देखकर राम ने लक्ष्मण को संकेत से शूर्पणखा के नाक-कान काटने का आदेश दिया। यहाँ 'सूक्ष्म' अलंकार है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) गौतमतिय गति सुरति करि नहिं परसति पग पानि।
मन बिहसे रघुबंसमनि प्रीति अलौकिक जानि ॥[2]

(२) सुनि केवट के बयन प्रेम लपेटे अटपटे।
बिहसे करुना अयन चितइ जानकी लखन तन ॥[3]

(३) मैं देख्यो उहिं सीसमनि, हँसनि लियो छपाय ॥[4]

(४) कर जोरत लखि हरिहि तिय लिय कज्जल दृग लाय ॥[5]

पिहित

पिहित (अपि + धा + क्त, अपे अकारलोप) का व्युत्पत्तिपरक अर्थ है : अवरुद्ध या आच्छादित।[6] अलंकारशास्त्र के सन्दर्भ में दूसरे के मन की बात जानकर क्रिया द्वारा उसे प्रकट करना 'पिहित' अलंकार कहलाता है।[7]

उदाहरण

सतीकपटु जानेउ सुरस्वामी। सबदरसी सब अंतरजामी ॥
जोरि पानि प्रभु कीन्ह प्रनामू। पितासमेत लीन्ह निज नामू ॥[8]

शंकर की पत्नी सती ने सीता का रूप धारण कर राम को धोखा देना चाहा। राम ने इस छल को जान लिया। उन्होंने हाथ जोड़कर सती को प्रणाम किया और अपना परिचय दिया। इस प्रकार क्रिया द्वारा राम ने सती पर यह प्रकट कर दिया कि उन्होंने छल जान लिया है। यहाँ 'पिहित' अलंकार है।

---

१. रामचरितमानस, ३।१७।२०
२ रामचरितमानस, १।२६५।६-१०
३. रामचरितमानस, २।१००।१३-१४
४. भाषा-भूषण, १८०
५ पद्माभरण, २४६ (पद्माकर ग्रंथावली, पृ० ६३)
६. संस्कृत-हिंदी कोश, पृ० ६१६
७. (क) पिहितं परवृत्तान्तज्ञातुः साकूतचेष्टितम्।
प्रिये गृहागते प्रातः कान्ता तल्पमकल्पयत् ॥ —कुवलयानंद, १५२
(ख) पिहित छिपी पर-बात को जानि दिखावै भाय। —भाषाभूषण, १८१
८. रामचरितमानस, १।५३।३, ७

'पिहित' अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) प्रातहि आए, सेज पिय, हँसि दाबति तिय पाय ॥[१]

(२) गैर मिसिल ठाढ़ो सिवा अन्तरजामी नाम ।
प्रकट करी रिस, साहि को सरजा करि न सलाम ॥[२]

(३) आनि मिल्यो अरि, यों गह्यो चखन चकत्ता चाव ॥
साहि तनै सरजा सिवा दियो मुच्छ पर ताव ॥[३]

(४) लाल-माल-रँग लाल लखि, बाल न बोलो बोल ।
लज्जित कियो ता दृगनि कौं, कै सामुहें कपोल ॥[४]

(५) लखि गोरहि पिय कौं जु तिय मुकुर दिखायो आज ॥[५]

व्याजोक्ति

किसी प्रकार से प्रकट हो जाने पर गुप्त रहस्य को कपट से छिपाना 'व्याजोक्ति' (व्याज + उक्ति) अलंकार कहलाता है ।[६]

उदाहरण :

सिवा बैर औरँग बदन लगी रहै नित आहि ।
कवि भूषन बूझे सदा कहै देत दुख साहि ॥[७]

शिवाजी से शत्रुता होने के कारण औरंगजेब के मुख से सदैव 'आह' निकला करती है । इसे वह यह कहकर छिपाता है कि राज्य का कार्य-भार दुःख देता है । यहाँ असली कारण को छिपाकर कल्पित कारण कहा गया है, अतः 'व्याजोक्ति' अलंकार है ।

'व्याजोक्ति' के अन्य उदाहरण :

(१) अश्वारोही भू गिर्यो, फटे वस्त्र समुदाय ।
प्रगट भये पर यों कह्यो, झाड़ी उरझ्यो जाय ॥[८]

---

१. भाषा-भूषण, १८१
२. शिवराजभूषण, ३०६ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ८७)
३. शिवराजभूषण, ३१० (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ८७)
४. काव्यनिर्णय १६।६ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १५२)
५. पद्माभरण, २५० (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ६३)
६. (क) व्याजोक्तिश्छद्मनोद्भिन्नवस्तुरूपनिगूहनम् ।
—काव्यप्रकाश, १०।११८ (सू० १८४)
(ख) व्याजोक्तिरन्यहेतूक्त्या यदाकारस्य गोपनम् ।
सखि ! पश्य गृहारामपरागैरस्मि धूसरा ॥ —कुवलयानन्द, १५३
(ग) व्याजोक्ती कछु और विधि, कहै दुरै आकार । —भाषाभूषण, १८२
७. शिवराजभूषण, ३१६ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ८८)
८. अलंकार-प्रदीप, पृ० १६३

(२) सखि सुक कीन्ह्यो कर्म यह, दंतनि जानि ग्रनार ।।[१]
(३) भलो न घर केतकि लगे उर कंटक ग्रगान ।।[२]

गूढ़ोक्ति

किसी दूसरे को कोई विशेष सूचना देने के लिए किसी ग्रन्य से जब कोई बात कही जाती है, तब 'गूढोक्ति' (गूढ+उक्ति) ग्रलकार होता है ।[३]

उदाहरण

कालिह सखी हौं जाउँगी, पूजन देव महेस ।[४]

यहाँ बात तो कही जा रही है सखी से, किन्तु कहने वाली निकटस्थ नायक को वतला रही है कि कल महादेव के मदिर मे भेंट होगी ।

'गूढोक्ति' के ग्रन्य उदाहरण

(१) पुनि ग्राउब येहि वेरिग्राँ काली । ग्रस कहि मन विहसी एक ग्राली ।।
(गूढ़ गिरा सुनि सिय सँकुचानी । भयेउ विलबु मातुभय मानी ।।)[५]
(२) यौं न प्यार विसराइए, लई मोहि तं मोल ।
मुख निरखत नँदलाल को, कहै सखी सों वोल ।।[६]
(३) घर सूनो डर चोर को करियै लाल सहाइ ।[७]

युक्ति

जव किसी मर्म को छिपाने के लिए कोई क्रिया की जाय तव 'युक्ति' ग्रलकार होता है । पूर्वविवेचित 'सूक्ष्म' ग्रौर 'पिहित' ग्रलकारो से यह भिन्न है ।[८]

---

१ भाषाभूषण, १८२
२. पद्माभरण, २५१ (पद्माकर-ग्रथावली, पृ० ६३)
३ (क) गूढोक्तिरन्योद्देश्य चेदन्य प्रति कथ्यते ।
वृषापेहि परक्षेत्रादायाति क्षेत्ररक्षक ।। —कुवलयानद, १५४
(ख) गूढोक्ति मिस ग्रौर के ग्रौरहि देइ जनाइ ।
—पद्माभरण, २५२ ((पद्माकर-ग्रथावली, पृ० ६३)
४. भाषाभूषण, १८३
५. रामचरितमानस, १।२३४।६, ७
६. ललितललाम, ३६१ (मतिराम-ग्रथावली, पृ० ४२१)
७. पद्माभरण, २५२ (पद्माकर-ग्रथावली, पृ० ६३)
८. मर्म छिपावन हेत या, मर्म जनावन हेत ।
करै क्रिया कछु 'युक्ति' तेहि, भाषत सुकवि सचेत ।।
—ग्रलकार-मंजूषा, पृ० २४६

उदाहरण :

बेद नाम कहि अँगुरिन खंडि अकास ।
पठयो सूपनखाहि लखन के पास ।।[1]

रामचन्द्र ने युक्ति से लक्ष्मण पर अपना मर्म प्रकट कर दिया और लक्ष्मण ने उस मर्म को समझकर शूर्पणखा के नाक-कान काट लिये। 'सूक्ष्म' अलंकार में दोनों ओर से संकेत या इशारे से ही बात होती है, 'युक्ति' अलंकार मे इशारे का पालन कृत्य द्वारा होता है, जैसा लक्ष्मण ने किया; इसलिए उपर्युक्त उदाहरण में 'युक्ति' है, 'सूक्ष्म' नहीं।[2]

'युक्ति' अलंकार के अन्य उदाहरण।

(१) पीय चलत आँसू चले, पोंछत नैन जँभाय।[3]

(२) प्रिय लखि पुलको सखिन में लगी सु छिरकन तोय।[4]

(३) परो मुनक के रूप पुनि, संस्कृत किय सोर।
दियो सु मुरदासंख तेहि, बनिया बुद्धि अथोर।।[5]

लोकोक्ति

जब किसी प्रसंग में लोक-प्रसिद्ध कहावत का प्रयोग किया जाय, तब वहाँ 'लोकोक्ति' अलंकार होता है।[6]

उदाहरण :

व्यर्थ मरहु जनि गाल बजाई। मनमोदकन्हि कि भूख बुताई।[7]

यहाँ अर्द्धाली के उत्तरार्द्ध भाग मे लोकोक्ति होने के कारण 'लोकोक्ति' अलंकार है।

इस अलंकार के अन्य उदाहरण :

(१) करम प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा।[8]

---

१. बरवै रामायण, २८
२. अलंकार-मंजूषा, पृ० २४६-५०
३. भाषाभूषण, १८५
४. पद्माभरण, २५६ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ६४)
५. अलंकार-मंजूषा, पृ० २४८
६. (क) लोकप्रवादानुकृतिर्लोकोक्तिरिति भण्यते। —कुवलयानन्द, १५७
(ख) लोकोक्ती कछु बचन जो, लीन्हे लोक-प्रवाद।
—भाषाभूषण, १८६
(ग) लोकोक्ति जहँ लोक की कहनावति ठहराउ।
—पद्माभरण, २५७ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ६४)
७. रामचरितमानस, १।२६६।१
८. रामचरितमानस, २।२१८।४

(२) कौन गिनै इन सौंह में, आवहिंगे बलबीर।
नैन मूँदि सब दिन रहे, जागि न अब दुख मीर॥[1]

(३) राजा करै सु न्याउ है पासा परै सु दाउ।[2]

(४) मुसकाई मिथिलेश-नन्दिनी—

"प्रथम देवरानी, फिर सौत!
अंगीकृत है मुझे, किन्तु तुम
मांगो कहीं न मेरी सौत।
मुझे नित्य दर्शन भर इनके
तुम करती रहने देना,
कहते हैं इनको ही—अँगुली
पकड़ प्रकोष्ठ पकड़ लेना!"[3]

(५) दुख सुख सब कहँ होत हैं, पौरुष तजहु न मीत।
मन के हारे हार है, मन के जीते जीत॥[4]

छेकोक्ति

छेकोक्ति (छेक + उक्ति) में 'छेक' का अर्थ है चतुर, और छेकोक्ति का अर्थ है अर्थान्तर-गर्भित लोकोक्ति। अलंकार-शास्त्र में जब लोकोक्ति का प्रयोग उपमान-वाक्य की भाँति साभिप्राय हो, तब वहाँ 'छेकोक्ति' अलंकार होता है।[5]

उदाहरण :

जे सोहात सिवराज को ते कवित्त रस मूल।
जे परमेश्वर पै चढ़ैं तेई आछे फूल॥[6]

यहाँ उत्तरार्द्ध में 'जे परमेश्वर · फूल' नामक लोकोक्ति का प्रयोग साभिप्राय तथा उपमानवाक्य के रूप में हुआ है, अतः 'छेकोक्ति' नामक अलं-

---

१. काव्यनिर्णय, १३।२५ (भिखारीदास-ग्रन्थावली, द्वितीय खंड, पृ० १६२)
२. पद्माभरण, २५७ (पद्माकर-ग्रन्थावली, पृ० ६४)
३. पंचवटी, ९६
४. काव्यदर्पण (पं० दुर्गादत्त), पृ० १६७
५ (क) छेकोक्तिर्यदि लोकोक्तेः स्यादर्थान्तरगर्भिता। —कुवलयानन्द, १५८
(ख) लोकोक्तिहिं कछु अर्थ सों, सो छेकोक्ति प्रमानि।
—भाषाभूषण, १८७
(ग) छेकोक्ति, लोकोक्ति में गर्भित अरथ जु आन।
—पद्माभरण, २५८ (पद्माकर-ग्रन्थावली, पृ० ६४)
६. शिवराजभूषण, ३१६ (भूषण-ग्रन्थावली, पृ० ८८)

बार है।

'छेकोक्ति' के अन्य उदाहरण :

(१) सत्य सराहि कहेहु बर देना। जानेहु लेइहि मागि चबेना ॥[1]

(२) कछु तेहि तें पुनि मैं नहिं राखा। समुझै खग खग ही कै भाषा ॥[2]

(३) जूठो खात सु मीठ कौं यहै बात ठिकठान ॥[3]

(४) जमुना तट दृग रावरे लगे लाल-मुख ओर।
चोरन की गति कौं सखी! जानतु है जग चोर ॥[4]

वक्रोक्ति

जहाँ श्लेष या काकु से से किसी एक के द्वारा अर्थान्तर की कल्पना की जाय, वहाँ 'वक्रोक्ति' अलंकार होता है।[5] इसमें अन्य अभिप्राय से कहे गये वाक्य का अन्य व्यक्ति द्वारा दूसरा अर्थ कल्पित किया जाता है।

उदाहरण

भिक्षुक गो कित का गिरिजे? सु तो मांगन को बलि द्वार गयो री।
नाच नच्यो कित हो भवभाम कलिंदसुता-तट नीके ठयो री ॥
भाजि गयो वृषपाल सु जानत? गोधन संग सदा सुठयो री।
सागर-सैल-सुतान के प्राज परस्पर यों परिहास भयो री ॥[6]

यहाँ भिक्षुक, नाच नच्यो और वृषपाल शब्दों से लक्ष्मी शिव का अर्थ लेती हैं और पार्वती विष्णु का। इस प्रकार यहाँ 'श्लिष्ट वक्रोक्ति' है। स्मर्तव्य है कि दूसरे की उक्ति को वक्र करने में 'वक्रोक्ति' होती है, अपनी उक्ति को वक्र करने में व्यंग्य होता है।

'काकु वक्रोक्ति' शब्दालंकार है, अर्थालंकार नहीं। उसका विवेचन शब्दालंकारों के अन्तर्गत हो चुका है।

'वक्रोक्ति' के अन्य उदाहरण :

(१) साहि तनै तेरे बैर बैरिन को कौतुक सौं,
बूझत फिरत कहौ काहे रहे तचि हो?

---

१. रामचरितमानस, २।३०।६

२ रामचरितमानस, ७।६२।६

३. पद्माभरण, २५८ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ६४)

४. काव्यकल्पद्रुम (द्वितीय भाग—अलंकार मंजरी), पृ० ४०६

५. (क) वक्रोक्तिः श्लेषकाकुभ्यामपरार्थप्रकल्पनम्।
मुञ्च मानं दिनं प्राप्तं नेह नन्दी हरान्तिके ॥ —कुवलयानंद, १५६
(ख) वक्रोक्ती स्वर श्लेष सों अर्थ-फेर जो होय। —भाषा-भूषण, १८८

६. अलंकार-मंजूषा, पृ० २५२

सरजा के डर हम आए इतै भाजि तब,
सिंह सों डराय याहू ठौर ते उकचि हौ ॥
भूषन भनत वै कहैं कि हम सिव कहैं,
तुम चतुराई सों कहत बात रचि हौ ।
सिव आरै इहाँ तौ निपट कठिनाई तुम
बैर त्रिपुरारि के त्रिलोक मैं न बचिहौ ॥[1]

(२) प्रभु बोले गिरा गभीर नीरनिधि जैसी ।
"हे भरतभद्र, अब कहो अभीप्सित अपना ।"
सब सजग हो गये, भंग हुआ ज्यों सपना ।
"हे आर्य, रहा क्या भरत-अभीप्सित अब भी ?
मिल गया अकण्टक राज्य उसे जब, तब भी ?
पाया तुमने तरु-तले अरण्य-बसेरा,
रह गया अभीप्सित शेष तदपि क्या मेरा ?
तनु तड़प तड़पकर तप्त तात ने त्यागा,
क्या रहा अभीप्सित और तथापि अभागा ?[2]

स्वभावोक्ति

बालक आदि की स्वाभाविक चेष्टाओं या प्राकृतिक दृश्य के चमत्कार-पूर्ण वर्णन अथवा स्वाभाविक गुण के वर्णन को 'स्वभावोक्ति' अलंकार कहते हैं।[3]

इसके दो भेद माने गये हैं - १. सहज, २. प्रतिज्ञाबद्ध ।

'सहज स्वभावोक्ति' का उदाहरण :

धूसर धूरि भरे तनु आए । भूपति बिहँसि गोद बैठाए ॥
भोजन करत चपल चित इत उत अवसर पाइ ।
भाजि चले किलकत मुख दधि ओदन लपटाइ ॥[4]

यहाँ बालक रामादि की स्वाभाविक चेष्टाओं का वर्णन है, अतः 'सहज स्वभावोक्ति' अलंकार है।

---

१. शिवराजभूषण, ३८२ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ८६)
२. साकेत (अष्टम सर्ग), पृ० २४६-४७
३. (क) स्वभावोक्तिस्तु डिम्भादेः स्वक्रियारूपवर्णनम् ।
—काव्यप्रकाश, १०।१११ (सू० १६८)
(ख) स्वभावोक्तिः स्वभावस्य जात्यादिस्थस्य वर्णनम् ।
— कुवलयानन्द, १६०
४ रामचरितमानस, १।२०३।९-११

'सहज स्वभावोक्ति' के अन्य उदाहरण :

(१) कहीं सुभाउ न कुलहि प्रसंसी। कालहु डरहिं न रन रघुबंसी ॥[1]

(२) रघुकुलरीति सदा चलि आई। प्रान जाहुँ बरु बचनु न जाई ॥[2]

(३) सीस मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल।
यहि बानिक मो मन बसो सदा बिहारीलाल ॥[3]

(४) छकि रसाल सौरभ सने, मधुर माधवी गंध।
ठौर ठौर झूमत झपत, भौंर झौंर मधु अंध ॥[4]

'प्रतिज्ञाबद्ध स्वभावोक्ति' के उदाहरण :

(१) एहिं तन सतिहि भेट मोहि नाहीं। सिव संकल्पु कीन्ह मन माहीं ॥[5]

(२) सुनहु भानुकुल पंकज भानू। कहौं सुभाउ न कछु अभिमानू ॥
जौं तुम्हारि अनुसासनि पावौं। कंदुक इव ब्रह्मांड उठावौं ॥
काचे घट जिमि डारौं फोरी। सकौं मेरु मूलक जिमि तोरी ॥
तव प्रताप महिमा भगवाना। को बापुरो पिनाक पुराना ॥
नाथ जानि अस आयेसु होऊ। कौतुकु करौं बिलोकिअ सोऊ ॥
कमलनाल जिमि चाप चढ़ावौं। जोजन सत प्रमान लै धावौं ॥
तोरौं छत्रकदंड जिमि तव प्रताप बल नाथ।
जौ न करौं प्रभुपद सपथ कर न धरौं धनु भाथ ॥[6]

(३) आजु रामसेवक जसु लेऊँ। भरतहि समरसिखावन देऊँ ॥
जिमि करिनिकर दलइ मृगराजू। लेइ लपेटि लवा जिमि बाजू ॥
तैसेहि भरतहि सेन समेता। सानुज निदरि निपातउँ खेता ॥
जौं सहाय कर संकरु आई। तौ मारौं रन रामदोहाई ॥[7]

भाविक

जहाँ भूत और भविष्य मे होने वाली घटनाओ का प्रत्यक्षवत् वर्णन हो वहाँ 'भाविक' अलंकार होता है।[8]

---

१. रामचरितमानस, १।२८४।४
२. रामचरितमानस, २।२८।४
३. बिहारी-बोधिनी, २
४. बिहारी-बोधिनी, ५६०
५. रामचरितमानस, १।५७।२
६. रामचरितमानस, १।२५३।३-१०
७. रामचरितमानस, २।२२९।३, ६-८
८. (क) भाविकं भूतभाव्यर्थसाक्षात्कारस्य वर्णनम्।
अद्य विलोकयेऽद्यापि युध्यन्तेऽत्र सुरासुराः ॥ —कुवलयानन्द, १६१
(ख) भाविक भूत भविष्य जो, परतछ कहै बताइ ॥ —भाषाभूषण, १६०

उदाहरण

जाकी छबि को देखि कै, होत मनहि बिसराम ।
चित्रकूट मे जानिये, अबहूँ राजत राम ॥[1]

यहाँ भूतकाल की घटना का वर्तमान काल की घटना के रूप में वर्णन किया गया है, अतः 'भाविक' अलंकार है। इसी प्रकार निम्नांकित छन्द में भावी घटना का वर्णन प्रत्यक्षवत् हुआ है, अतः यहाँ भी 'भाविक' अलंकार है

कहो जाय क्यों अलि भली, छबि प्रति-अंग अनूप ।
भावी भूषन भारहू, लसत अबहि तव रूप ॥[2]

'भाविक' अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) वृन्दावन में आज वह, लीला देखी जाइ ॥[3]

(२) जहाँ जहाँ ठाढ़ो लख्यो स्याम सुभग सिरमौर ।
उनहूँ बिन छिन गहि रहत दृगनि अजहुँ वह ठौर ॥[4]

(३) दलनि दवाई हौ जु तुम हनहि दसाननगोन ।
लखहु राम वह आज लौं धकधक धरती होत ॥[5]

(४) गहन बिपिन गिरि गैल के, जे गढ़ दृढ़ भरपूर ।
राम रावरो दल चलत, देखत हौं चकचूर ॥[6]

उदात्त

लोकोत्तर समृद्धि का वर्णन अथवा वर्णनीय विषय में बड़ों का उपलक्षण (अङ्गभाव) रूप में वर्णन 'उदात्त' अलंकार कहलाता है।[7]

उदाहरण

जेहि तेरहुति तेहि समय निहारी । तेहि लघु लगहिं भुवन दस चारी ॥
जो सपदा नीचगृह सोहा । सो बिलोकि सुरनायक मोहा ॥[8]

---

१. अलंकार-मंजूषा, पृ० २५६
२. अलंकार-मंजूषा, पृ० २५३
३. भाषाभूषण, १६०
४. बिहारी-बोधिनी, ७
५. पद्माभरण, २६४ (पद्माकर-पद्मावली, पृ० ६५)
६. अलंकार-मंजूषा, पृ० २५३
७. (क) लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते ।
यद्वापि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितं भवेत् ॥ —साहित्यदर्पण, १०।९४
(ख) उदात्तमृद्धेश्चरितं श्लाघ्यं चान्योपलक्षणम् ।
सानौ यस्याभवद् युद्धं तद् धूर्जटिकिरीटिनोः ॥ —कुवलयानन्द, १६२
(ग) उत्तरोत्तर है सोभित, परिवारै सु उदात्त । —भाषाभूषण, १६१
८. रामचरितमानस, १।२८९।७-८

यहाँ मिथिला नगरी की सम्पत्ति का लोकोत्तर वर्णन है, अत 'उदात्त' अलंकार है। इसी प्रकार निम्नांकित छंद में ससर्गजन्य बडाई अर्थात् बडो के सम्बन्ध से बडाई की प्राप्ति का वर्णन होने से 'उदात्त' अलकार है

> यह अरण्य वह है, जहाँ मानि पिता के बैन।
> बसत राम एकहि कियो, हनन निसाचर सैन ॥[1]

यहाँ राम के संसर्ग के कारण दण्डकारण्य के बडप्पन का वर्णन है, अत यहाँ भी 'उदात्त' अलकार है।

'उदात्त' अलकार के अन्य उदाहरण :

(१) सुबरनपुर मनिमय महल, रही महा छबि फैलि।
चौकी चितामनिन की, बैठी कंचन-बेलि ॥[2]

(२) सका मेघमाला सिखी पाककारी।
करै कोतवाली महादंडधारी ॥
पढै बेद ब्रह्मा सदा द्वार जाके।
कहा बापुरो शत्रु सुग्रीव ताके ॥[3]

अत्युक्ति

सौन्दर्य, शौर्य, औदार्य आदि के अत्यन्त मिथ्यापूर्ण वर्णन को 'अत्युक्ति' अलकार कहते हैं।[4]

उदाहरण :

> भूषन भार सँभारिहै, क्यों यह तन सुकुमार।
> सूधे पाय न धरत धर, सोभा ही के भार ॥[5]

यहाँ नायिका की सुकुमारता एवं सौन्दर्य का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन है, अत. 'अत्युक्ति' अलंकार है।

---

१. अलंकार-मजूषा, पृ० २५८
२. अलकार-मंजूषा, पृ० २५८
३. रामचंद्रिका, १६।२३
४. (क) अत्युक्तिरद्भुतातथ्यशौर्यौदार्यादिवर्णनम्।
त्वयि दातरि राजेन्द्र ! याचकाः कल्पशाखिनः ॥
—कुवलयानन्द, १६३
(ख) अलंकार अत्युक्ति यह, बरनत अतिसय रूप।
जाचक तेरे दान तें, भए कल्पतरु भूप ॥
—भाषाभूषण, १६२
५. बिहारी-बोधिनी, १५६

'अत्युक्ति' के अन्य उदाहरण

(१) जासु त्रास डर कहुँ डर होई। भजनप्रभाउ देखावत सोई॥[1]

(२) महामीचु दासी सदा पाँइ धोवै। प्रतीहार ह्वै कै कृपा सूर जोवै॥
छपानाथ लीन्हें रहै छत्र जाको। करैगो कहा शत्रु सुग्रीव ताको॥[2]

(३) गनत न कछु पारस पदम चिंतामनि के ताहिं।
निदरत मेरु कुबेर कौं बुध जाचक महि माहिं॥[3]

निरुक्ति

जहाँ बुद्धि की चातुरी से किसी नाम का कोई कल्पित अर्थ किया जाय, वहाँ 'निरुक्ति' अलंकार होता है।[4]

उदाहरण

कवि गन को दारिद द्विरद याही दल्यो अमान।
याते श्री सिवराज को सरजा कहत जहान॥[5]

'सरजा' शिवाजी की उपाधि है किन्तु यहाँ उन्हें सरजा (सिंह) इसलिए कहा गया है क्योंकि वे कवियों के दारिद्र्य रूपी हाथी का दलन करते हैं। 'सरजा' शब्द की इस मनमानी व्युत्पत्ति के कारण यहाँ 'निरुक्ति' अलंकार है।

'निरुक्ति' के अन्य उदाहरण :

(१) ऊधो कुबजा बस भए, निर्गुन वहै निदान॥[6]

(२) हर्‌यो रूप इन मदन को याते भो सिव नाम।
लियो बिरद सरजा सबल अरि गज दलि संग्राम॥[7]

(३) दोषाकर ससि कों कहैं, याहीं दोष सु जान॥[8]

---

१. रामचरितमानस, १।२२५।७

२. रामचंद्रिका, १६।२२

३. पद्माभरण, २७० (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ६६)

४. (क) निरुक्तिर्योगतो नाम्नामन्यार्थत्वप्रकल्पनम्।
ईदृशैश्चरितैर्जाने सत्यं दोषाकरो भवान्॥

—कुवलयानन्द, १६४

(ख) जहाँ नाम के जोग तें कियो अरथ कछु आन।
तहाँ निरुक्ति बखानहीं कवि पंडित मतिमान॥

—पद्माभरण, २७२ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ६६)

५. शिवराजभूषण, ३४४ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ६५)

६. भाषा-भूषण, १६३

७. शिवराजभूषण, ३४५ (भूषण-ग्रंथावली, पृ० ६५)

८. काव्यनिर्णय, १७।३१ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १६३)

(४) विरही नर-नारीन कों, यह ऋतु चाइ चबाइ ।
'दास' कहै याकों सरद, याही अर्थ सुनाइ ।।[1]
(५) रहत न छिन कहुँ काहु सों बनबन करत बिहार ।
यहै समुझि बिधि ने कियो मोहन नाम तुम्हार ।।[2]

प्रतिषेध

जहाँ प्रसिद्ध निषेध का पुनः निषेध किया जाय, वहाँ 'प्रतिषेध' अलंकार होता है ।[3]

उदाहरण :

अंगद कहि दसबदन सों यह न चोरिबो नारि ।
बर बानर सों रामसँग प्रानहरनि है रारि ।।[4]

यहाँ कहा गया है कि लड़ना स्त्री चुराना नहीं है । स्त्री चुराना अर्थ पहले से निषिद्ध है । उसका फिर से निषेध इसलिए किया गया है कि लड़ने में अत्यन्त बल और कौशल दिखाने की आवश्यकता होती है ।

'प्रतिषेध' के अन्य उदाहरण -

(१) जीतेहु जे भट संजुग माहीं । सुनु तापस मैं तिन्ह सम नाहीं ।।[5]
(२) न हौं ताड़का, हौं सुबाहू न मानो ।
न हौं संभुकोदंड साँचो बखानो ।।
न हौं ताल बाली, खरै, जाहि मारो ।
न हौं दूषणै सिन्धु सूधे निहारो ।।[6]
(३) जान्यो जाहि बिरोध करि, सो बिरोध मैं नाँहि ।
मैं हौं रावन राम तुम, का समुझ्यो मन माँहि ।।[7]

---

१. काव्य-निर्णय, १३।२२ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १६३)
२. पद्माभरण, २७३ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ६६)
३. (क) प्रतिषेधः प्रसिद्धस्य निषेधस्यानुकीर्तनम् ।
न द्यूतमेतत् कितव ! क्रीडनं निशितैः शरैः ।।
—कुवलयानन्द, १६२
(ख) जो प्रसिद्ध प्रतिषेध है ताको बहुरि निषेध ।
अभिप्रायहित जानिबो यहै समुझ प्रतिषेध ।।
—पद्माभरण, २७४ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ६६)
४. पद्माभरण, २७६ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ६६)
५. रामचरितमानस, ६।२०।३
६. रामचंद्रिका, १८।२२
७. अलंकार-मंजूषा, पृ० २६२

(४) धूर्त शकुनि ! जूआ न यह, तीखे बानन खेल ।[1]

(५) छुटी न गांठि जु राम सों तियनि बह्यो निहि ठाहिं ।

लियलखन को छोरिबो धनुष तोरिबो नाहिं ॥[2]

विधि

जहाँ पूर्वतः सिद्ध वस्तु का (किसी विशेष अभिप्राय से) पुनः विधान किया जाय, वहाँ 'विधि' अलंकार होता है ।[3]

उदाहरण :

तजु कर, सर मुनि-सूद्र पर द्विज सिसु जीवन हेत ।

रामगात हैं जिन तजी सीता गर्भ समेत ॥[4]

शूद्र के तप रूप अधर्म से अल्प-वयस्क ब्राह्मण-पुत्र की मृत्यु पर शूद्र पर बाण छोड़ते हुए राम की यह उक्ति अपने हाथ के प्रति है । राम का हाथ उनका अंग है, यह पूर्वतः सिद्ध है, किन्तु फिर भी 'तू राम का गात है' यह उक्ति उनका पुनः विधान करती है जिसका अभिप्राय कठोरता सूचित करना है क्योंकि उसने गर्भिणी सीता का परित्याग किया था । इस प्रकार यहाँ 'विधि' अलंकार है ।

'विधि' अलंकार के अन्य उदाहरण

(१) कोकिल है कोकिल जबै, ऋतु में करिहैं टेर ।[5]

(२) मुरली मुरली होति है, मोहन के मुख लागि ।[6]

(३) भूपति हैं भूपति वही, जाके नीति-समृद्धि ॥[7]

(४) मद मु मद समान में पंडित सो पंडित्त ।[8]

हेतु

इस अलंकार के दो भेद हैं :

१. प्रथम हेतु जहाँ कारण और कार्य दोनों का एक स्थान पर वर्णन

---

१ काव्यदर्पण (प० दुर्गादत्त), पृ० १६८

२ पद्माभरण, २७५ (पद्माकर-ग्रन्थावली, पृ० ६६)

३. (क) सिद्धस्यैव विधानं यत्तमाहुर्विध्यलंकृतिम् ।
पञ्चमोदञ्चनकाले कोकिलः कोकिलोऽभवत् ॥ —कुवलयानंद, १६६

(ख) अलंकार विधि, सिद्ध जो अर्थ साधिए फेर । —भाषाभूषण, १६५

४. काव्यकल्पद्रुम (द्वितीय भाग—अलंकार मंजरी), पृ० ४२०

५ भाषाभूषण, १६५

६ अलंकार-मंजूषा, पृ० ३६३

७. काव्यनिर्णय, १५।५३ (भिखारीदास ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १२०)

८. पद्माभरण, २७८ (पद्माकर-ग्रन्थावली, पृ० ६७)

किया जाय, वहाँ 'प्रथम हेतु' अलंकार होता है।[1]

उदाहरण :

जगत जियावन कों नए ये उनए घनस्याम ॥[2]

यहाँ 'घनस्याम' कारण और 'जगत जियावन' कार्य का एक साथ वर्णन होने से 'प्रथम हेतु' है।

'प्रथम हेतु' के अन्य उदाहरण :

(१) उयेउ अरुन अवलोकहु ताता। पङ्कज कोक लोक सुखदाता ॥[3]

(२) अरुनोदय सकुचे कुमुद उड़गन जोति मलीन ॥[4]

(३) उएउ भानु बिनु श्रम तम नासा। दुरे नखत जग तेजु प्रकासा ॥[5]

(४) उदित भयो ससि, मानिनी-मान-मिटावन मानि।[6]

(५) दरपन में निज रूप लखि, नैननि मोद उमंग।
निरमुख पियबस करन को, बढ़यो गर्व को रंग ॥[7]

२ द्वितीय हेतु : जहाँ कारण ही को कार्यरूप वर्णन करते हैं, वहाँ 'द्वितीय हेतु' अलंकार होता है।[8]

उदाहरण :

मेरी वृद्धि समृद्धि यह, तेरी कृपा बखानि।[9]

यहाँ वृद्धि-समृद्धिरूप कार्य और कृपा रूप कारण दोनों में अभेद की स्था-

---

१. (क) हेतोर्हेतुमता सार्धं वर्णनं हेतुरुच्यते।
असावुदेति शीतांशुर्मानच्छेदाय सुभ्रुवाम् ॥ —कुवलयानंद, १६७
(ख) हेतु हेतुमत साथ ही हेतु कह्यौ जिहि ठाम।
—पद्माभरण, २७६ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ६७)

२. पद्माभरण, २७६ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ६७)

३. रामचरितमानस, १।२३८।७

४. रामचरितमानस, १।२३८।६

५. रामचरितमानस, १।२३६।४

६. भाषा-भूषण, १६७

७. ललितललाम, ३६३ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ४२८)

८. (क) हेतुहेतुमतोरैक्यं हेतुं केचित् प्रचक्षते।
लक्ष्मीविलासा विदुषां कटाक्षा वेङ्कटप्रभोः ॥ —कुवलयानंद, १६८
(ख) जहाँ हेतुमत हेतु को बरनत एक सरूप।
तहाँ हेतु औरौ कहत, सब कवि, पंडित-भूप ॥
—ललितललाम, ३६४ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ४२६)

६. भाषा-भूषण, १६७

पना की गयी है, अत 'द्वितीय हेतु' है।

'द्वितीय हेतु' के अन्य उदाहरण

(१) मोहि परम पद मुक्ति सब तो पद रज घनस्याम।
तीन लोक को जीतिबो मोहि बसिबो ब्रजधाम॥[1]

(२) कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार।
मो संपति जदुपति सदा, विपति-बिदारनहार॥[2]

(३) परम पदारथ चारहू श्री राधा गोविंद॥[3]

(४) नैनन को आनन्द है जिय को जीवन जानि।
प्रगट दरप कदर्प को तेरी मृदु मुसकानि॥[4]

प्रमाण

सत्य वचन को प्रमाण कहते हैं। इस अलंकार के निम्नांकित ८ भेद हैं . १ प्रत्यक्ष प्रमाण, २ अनुमान प्रमाण, ३ उपमान प्रमाण, ४ शब्द प्रमाण, ५ आत्मतुष्टि प्रमाण, ६. अनुपलब्धि प्रमाण, ७ संभव प्रमाण और ८. अर्थापत्ति प्रमाण।

१. प्रत्यक्ष प्रमाण जहाँ ज्ञानेन्द्रियाँ और मन एक साथ मिलकर ज्ञान के विषय का साक्षात्कार करें वहाँ 'प्रत्यक्ष प्रमाण' अलंकार होता है।[5]

उदाहरण

तात जनकतनया यह सोई। धनुषजग्य जेहि कारन होई॥[6]

यह राम की उक्ति है। सीता का साक्षात्कार होने से राम ने, प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा यह जानकर कि यही जनकपुत्री सीता है जिसके लिए धनुर्यज्ञ समारोह हो रहा है, लक्ष्मण को इस बात से अवगत कराया। अत. उपर्युक्त पंक्ति में 'प्रत्यक्ष प्रमाण' नामक अलंकार है।

'प्रत्यक्ष प्रमाण' के अन्य उदाहरण :

(१) बालरूप जोवनवती, अम्ब तरन को संग।
दीन्हो दई सुनत्र कै, सतो होइ केहि ढंग॥[7]

---

१. काव्यकल्पद्रुम (द्वितीय भाग—अलंकार मञ्जरी), पृ० ४२१
२. बिहारी-बोधिनी, ७०१
३ पद्माभरण, २८० (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ६७)
४. ललितललाम, ३२५ (मतिराम-ग्रंथावली, पृ० ४२६)
५. पंच ज्ञानइंद्रिन तें जहाँ वस्तु को ज्ञान।
तहँ प्रत्यक्ष प्रमान को अलंकार उर आन॥
—पद्माभरण, ३०६ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ७१)
६ रामचरितमानस, १।२३१।१
७. काव्यनिर्णय, १७।१७ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १६०)

(२) कर सरसिज अधरा मधुर मृदु बच सुखद सुबास।
कुच कठोर जाके सु यह मिली तिया तजि त्रास ॥[1]

(३) तुव तन की सुकुमारता परसि मंद को लाल ॥
है कठोर सब सों कहत जु हौ जुही की माल ॥[2]

२. अनुमान प्रमाण जब चिह्न देखकर किसी प्रत्यक्ष हेतु द्वारा किसी परोक्ष साध्य की अनुमिति हो, तब वहाँ 'अनुमान प्रमाण' होता है,[3] जैसे धुएँ को देखकर आग का अनुमान करना, आदि आदि। जब यही अनुमान काव्यगत अथवा कविप्रतिभोत्थापित होता है तब वहाँ 'अनुमान प्रमाण' अलकार होता है।

उदाहरण .

नाचि अचानक ही उठे बिन पावस बन मोर ।
जानति हौं नन्दित करी यह दिसि नंदकिसोर ॥[4]

यहाँ मोरो के नृत्य को देखकर श्रीकृष्ण की उपस्थिति का अनुमान किया गया है, अत 'अनुमान प्रमाण' नामक अलकार है ।

'अनुमान प्रमाण' के अन्य उदाहरण .

(१) यह पावस-सम सांझ नहिं, कहा दुचितमति भूलि ।
कोक असोक बिलोकिये, रहे कोकनद फूलि ॥[5]

(२) उर बिन गुन के हार तें ए हो नदकुमार ।
हौं जानत बीसहु बिसे तुम कहुँ कियो बिहार ॥[6]

(३) धुवां देखि सब कोउ करत, आगी को अनुमान ।[7]

३. उपमान प्रमाण : जब उपमान के सादृश्य को देखकर किसी उपमेय का बोध कराया जाय, तब वहाँ 'उपमान प्रमाण' अलकार होता है ।[8]

---

१. पद्माभरण, ३०७ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ७०)
२. पद्माभरण, ३०९ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ७१)
३. सत्य हेतु के ज्ञान तें पच्छ माहिं जिहि यान ।
अलख साध्य को ज्ञान तहँ है अनुमान प्रमान ॥
—पद्माभरण, ३१३ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ७१)
४. बिहारी-बोधिनी, ११
५. काव्यनिर्णय, १७।१३ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १६०)
६. पद्माभरण, ३१४ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ७१)
७. अलकार-मजूषा, पृ० २६५
८. जु सादृस्य के ज्ञान तें अलख जु उपमितिज्ञान ।
होत जहाँ तहँ जानिये यह उपमान प्रमान ॥
—पद्माभरण, ३१५ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ७१)

उदाहरण

सो रोहिनि जानहु सखे जो है सकट समान ।[1]

यहाँ शकट (गाडी) के आकार के द्वारा रोहिणी नक्षत्र को उपमिति के आधार पर पहचाना जाता है, अत यहाँ 'उपमान प्रमाण' अलकार है ।

'उपमान प्रमाण' के अन्य उदाहरण

(१) सहस घटनि मे लखि परे ज्यो एकै रजनीस ।
त्यो घट घट मे 'दास' है, प्रतिबिंबित जगदीस ॥[2]

(२) इदीवर सो वर बरन मुख ससि की अनुहार ।
धरे तडित सम पीतपट ऐसो नदकुमार ॥[3]

४. शब्द प्रमाण : आप्त पुरुष का वाक्य 'शब्द प्रमाण' कहा जाता है ।[4] वेद, पुराण, स्मृति आदि शास्त्रो के वचन इसी के अन्तर्गत आते हैं ।

उदाहरण

परहित सरिस धर्म नहिं भाई । परपीडा सम नहिं अधमाई ॥
निर्नय सकल पुरान वेद कर । कहेउँ तात जानहिं कोबिद नर ॥[5]

यहाँ वेद और पुराण का मत व्यक्त करते हुए कहा गया है कि परहित (परोपकार) के समान और कोई दूसरा धर्म नही है और दूसरे को कष्ट पहुंचाने के समान नीचता नही है । इस प्रकार यह 'शब्द प्रमाण' का उदाहरण हुआ ।

इस अलकार के अन्य उदाहरण

(१) बिनु गुर होइ कि ग्यान ग्यान कि होइ बिराग बिनु ।
गावहिं बेद पुरान सुख कि लहिअ हरिभगति बिनु ॥[6]

(२) बेद पुरान सत अस गावा । जो जस करै सो तस फल पावा ॥[7]

(३) बिन दृग देखत सबन कों सुनत सबै बिन कान ।
बिन पग सब थल सचरत सु परमातमा जान ॥[8]

---

१. अलकार-मजूषा, पृ० २६५
२. काव्यनिर्णय, १७।१४ (भिखारीदास ग्रथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १६०)
३ पद्माभरण, ३१६ (पद्माकर-ग्रथावली, पृ० ७१)
४. जहाँ साम्य अरु वडेन को, वचन प्रमाण वखान ।
सोई शब्द प्रमान है, भाषत सुकबि सुजान ॥
—अलकार-मजूषा, पृ० २६५
५ रामचरितमानस, ७।४१।१-२
६ रामचरितमानस, ७।८६।६-१०
७ अलकार-मजूषा, पृ० २६५
८ पद्माभरण, ३१६ (पद्माकर-ग्रथावली, पृ० ७२)

५ आत्मतुष्टि प्रमाण : अपने स्वभाव या अन्तःकरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति को प्रमाण मानना 'आत्मतुष्टि प्रमाण' है।[1]

उदाहरण :

रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपंथ पगु धरै न काऊ॥
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहिं सपनेहु परनारि न हेरी॥[2]

सीता को देखते ही राम के हृदय में क्षोभ उत्पन्न हुआ। राम को अपने कुल वालों के चरित्र पर पूर्ण विश्वास है। अपनी पवित्र अंतःकरण-वृत्ति के आधार पर उन्होंने अनुमान किया कि संभव है सीता मेरी भावी पत्नी हो क्योंकि मेरा मन परस्त्री की ओर आकृष्ट हो ही नहीं सकता। अतः अपने अन्तःकरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति को प्रमाण मानने के कारण यहाँ 'आत्मतुष्टि प्रमाण' नामक अलंकार है।

'आत्मतुष्टि प्रमाण' के अन्य उदाहरण :

(१) मोहिं भरोसो जाउँगी, स्याम किसोरहिं ब्याहि।
आली मो अँखियाँ लगत, इन्हैं न रहतीं चाहि॥[3]

(२) फरकि बामदृग बामभुज कहत यहै अलि आज।
निरखि बसंत बिदेस तें हैं आवत ब्रजराज॥[4]

(३) भयो जु मेरो शुद्ध मन अभिलाषी या माँहि।
ब्याहन छत्री जोग यह संशय नेंकहु नाँहि॥
होत कछू सन्देह जब सज्जन के हिय आय।
अन्तःकरण प्रवृत्तिहीं देति ताहि निबटाय॥[5]

६. अनुपलब्धि प्रमाण : जब कोई कारण न मिले और कल्पित कारण को कारण मान लिया जाय, तब वहाँ 'अनुपलब्धि प्रमाण' नामक अलंकार होता है।[6]

---

१. अपने मन सुभाव को, दिढ़ बिस्वास जहाँहिं।
आतमतुष्टिप्रमान कबि कोबिद कहत तहाँहिं॥
—काव्यनिर्णय, १७।१८, (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १६१)

२. रामचरितमानस, १।२३१।५-६

३. काव्यनिर्णय, १७।१६ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १६१)

४. पद्माभरण, २२३ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ७२)

५. शकुन्तला नाटक, १।२२ (पृ० १७)

६. जहँ अभाव के ज्ञानहि माँही। होत विसेष जु ज्ञान तहाँ ही॥
अनुपलब्धि तहँ या बिधि जानो। कबि बरनत यों करि अनुमानो॥
—पद्माभरण, २२६ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ७२)

उदाहरण :

बालि बिध्यो बलिराज बँध्यो, कर सूली के मूल कपाल-थली है।
काम जर्यो जग, काल पर्यो बँदि सेष धर्यो बिष हाल हली है।
सिंधु मथ्यो कल कालो नथ्यो कहि 'केसव' इंद्र कुचाल चली है।
रामहु की हरी रावन बाम चहूँ जुग एक अदृष्ट बली है।[1]

इन उदाहरण में अनेक घटनाओं का वर्णन है। जब उनका मुख्य कारण समझ में न आया तब कवि ने कह दिया कि 'अदृष्ट (भाग्य) बली है'। ऐसे ही प्रमाण को 'अनुपलब्धि प्रमाण' नामक अलंकार कहा जाता है।

'अनुपलब्धि प्रमाण' के अन्य उदाहरण

(१) यों न कही कटि नाहिं तो कुच है किहि आधार।
परम इंद्रजाली मदन बिधि की चरित्र अपार॥[2]

(२) नहिं तेरे कटि सब कहत कुचथिति बिन आधार।
इंद्रजाल यह काम को लोक करत निरधार॥[3]

४. संभव प्रमाण जहाँ किसी बात का होना संभव कहा जाय चाहे वह बात न भी हो, वहाँ 'संभव प्रमाण' होता है।[4]

उदाहरण

सुनी न देखी तुव सरिस, हे वृषभानुकुमारि।
जानत हौं कहुँ होयगी, विपुला धरनि विचारि॥[5]

यहाँ यह कहा गया है कि राधा के समान यद्यपि कहीं कुछ देखा नहीं गया, फिर भी इस सम्पूर्ण पृथ्वी पर उसके समान मिल जाना संभव है। ऐसे स्थलों पर 'संभव प्रमाण' माना जाता है।

'संभव प्रमाण' के अन्य उदाहरण :

(१) उपजहिंगे ह्वैहैं भजौं, हिन्दूपति से दानि।
कहिय काल निरअवधि लखि, बड़ी बसुमती जानि॥[6]

(२) लखि तुव लोचन जन उर माहीं। कबहूँ कामसर लागत नाहीं॥
ह्वैहैं यों जड़जीव महा हौं। या हो बिपुल जगत के माहीं॥[7]

---

१. अलंकार-मंजूषा, पृ० २६६
२ काव्यनिर्णय, १७।२० (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १६१)
३ पद्माभरण, ३२७ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ७३)
४. जहँ संभव है वस्तु को, संभव जानो ताहि।
—अलंकार-मंजूषा, पृ० २६६
५ अलंकार-मंजूषा, पृ० २६७
६ काव्यनिर्णय, १७।२२ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १६१)
७ पद्माभरण, ३३१ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ७४)

(३) 'ठाकुर' कहत कछु कठिन न जानो याहि,
हिम्मत किये ते कहो कहा न सुधरि जाय ॥
चारि जने चारिहू दिसा ते चारो कोन गहि,
मेरु को हलाय कै उखारैं तौ उखरि जाय ॥[१]

८. अर्थापत्ति प्रमाण : जहाँ किसी अर्थ को किसी और ही योग से स्थापित किया जाय, वहाँ 'अर्थापत्तिप्रमाण' नामक अलंकार होता है।[२]

उदाहरण :

इतो पराक्रम करि गयो, जाको दूत निसंक ।
कंत कहो दुस्तर कहा, ताहि तोरिबो लंक ॥[३]

मंदोदरी रावण से कहती है कि जिस (राम) का दूत ऐसे पराक्रम को दिखा गया तब भला राम को लंका जीतने में क्या कठिनाई है? ऐसे स्थलों पर 'अर्थापत्तिप्रमाण' अलंकार माना जाता है।

'अर्थापत्ति प्रमाण' के अन्य उदाहरण :

(१) पिय तुम्ह ताहि जितब संग्रामा । जा के दूत केर यह कामा ॥[४]

(२) तिय कटि नाहिंन जे कहैं, तिन्हैं न मति की खोज ।
क्यों रहते आधार बिनु, गिरि से जुगल उरोज ॥[५]

उभयालंकार

जहाँ एक से अधिक अलंकार होते हैं, वहाँ 'उभयालंकार' होता है। उभयालंकार के दो भेद हैं : १ संसृष्टि और २ संकर ।

१. संसृष्टि : जब किसी रचना में दो अलंकार तिल और चावल के समान मिले हुए हों और वे अलग अलग देख पड़ें, तब वहाँ 'संसृष्टि' नामक उभयालंकार होता है।[६] ये दोनों अलंकार शब्दालंकार भी हो सकते हैं और अर्थालंकार भी तथा शब्दालंकार और अर्थालंकार का मिश्रित रूप भी हो सकता है।

उदाहरण :

लसत मंजु मुनिमंडली मध्य सीय रघुचंदु ।
ज्ञानसभाँ जनु तनु धरें भगति सच्चिदानंदु ॥[७]

---

१. अलंकार-मंजूषा, पृ० २६७
२. जहाँ अर्थ में अर्थ को, और जोग तें थाप ।
अर्थापत्तिप्रमान तहँ, कहैं सुकबि सह दाप ॥ —अलंकार-मंजूषा, पृ० २६७
३. काव्यनिर्णय, १७।२४ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १६१)
४. रामचरितमानस, ६।३६।३
५. काव्यनिर्णय, १७।२३ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० १६१)
६. तिल तंदुल के न्याय सों है संसृष्टि बखान ।
—पद्माभरण, ३३२ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ७४)
७. रामचरितमानस, २।२३८।६-१०

इस दोहे के प्रथम दो चरणों मे 'म' वर्ण का अनुप्रास, अंतिम दो चरणों में उत्प्रेक्षा (जनु शब्द से प्रकट) और भ्रम अलंकार है। इस प्रकार इस दोहे में शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों तिलतण्डुलवत् विद्यमान हैं, अत यहाँ 'संसृष्टि' है।

'संसृष्टि' के अन्य उदाहरण :

(१) दीरघ साँस न लेहि दुख, सुख साईं नहिं भूलि।
दई दई क्यों करत है, दई दई सु कबूल॥[1]

(अनुप्रास + यमक)

(२) दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहिं सुनिअ अस रामचंद्र कें राज॥[2]

(अनुप्रास + परिसंख्या)

(३) ससि सो उज्ज्वल मुख लसै, खंजन हैं मनु नैन।
अधर नासिका बिंब सुक, मधुर सुधा से बैन॥[3]

(पूर्णोपमा + उत्प्रेक्षा + भ्रम + पूर्णोपमा)

२ संकर जब दो अलंकार दूध और पानी की भाँति मिले हों तो वहाँ 'संकर' नामक उभयालंकार होता है।[4] इसके तीन भेद हैं : १. अंगांगी भाव, २ संदेह और ३ एकवाचकानुप्रवेश।

(१) अंगांगी भाव संकर : जब दो मिले हुए अलंकार अन्योन्याश्रित तथा एक दूसरे के उपकारक होकर आएँ तो 'अंगांगी भाव' संकर होता है।

उदाहरण :

आश्रम सागर सांतरस पूरन पावन पाथु।
सेन मनहुँ करुना सरित लिये जाहिं रघुनाथु॥[5]

यहाँ 'आश्रम-सागर' में रूपक तथा 'सेन मनहुँ करुना सरित' में उत्प्रेक्षा है। ये दोनों अलंकार अन्योन्याश्रित हैं। इनका मिश्रण नीर-क्षीरवत् है।

'अंगांगीभाव संकर' के अन्य उदाहरण :

(१) सुक धरि निधरक बन भजन, लूटो सब बटमार।
अधर-बिंब-सुनि गुंज गुनि, हरे न मुकुता हार॥[1]

(तद्गुण और भ्रान्तिमान् अंगांगी भाव से)

---

१. बिहारी-बोधिनी, ६६२
२. रामचरितमानस, ७।२२।६-१०
३. अलंकार-मंजूषा, पृ० २३०
४. नीर छीर के न्याय सों संकर कहत सुजान॥
—पद्माभरण, ३३२ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ७४)
५ रामचरितमानस, २।२७५।६-१०
६. अलंकार-मंजूषा, पृ० २३१

(२) अलि ए उडुगन अगिनिकन अक धूम अवधारि ।
मानहु आवत दहन ससि लै निज संग दवारि ॥[1]

(उत्प्रेक्षा का अंग रूपक)

(२) संदेह संकर : जहाँ एक ही स्थल पर दो अलंकारों की स्थिति इस प्रकार हो कि दोनों में से किसी एक का निश्चय न हो सके, वहाँ 'संदेह संकर' नामक उभयालंकार होता है।

उदाहरण :

यदपि विश्व समस्त प्रपंच से।
पृथक-से रहते नित आप हैं।
पर कहाँ जन को जग त्राण है।
प्रभु गहे पद-पंकज के बिना ।[2]

यहाँ 'पद-पंकज' में 'रूपक' अलंकार भी हो सकता है और 'वाचक-धर्म-लुप्तोपमा' भी। अतः ऐसे स्थलों पर 'संदेह-संकर' होता है।

'संदेह संकर' के अन्य उदाहरण

(१) सुनि मृदु बचन मनोहर पिय के। लोचन ललित भरे जल सिय के ॥[3]

(२) यों भूलत कोऊ कछू राखौ हिये सयान।
भजौ मधुप तजि पद्मिनिहि जानि होत गत भान ।[4]

(३) कहौ हमारी चित धरौ तजौ लाल सब बात।
नैनन कों सुख देत यह इंदुबिंब सरसात ॥[5]

(४) नेत्रानन्द विधायक अब इस चन्द्रबिंब का हुआ प्रकाश,
चमक रहे थे उडुगण उनका रहा कहीं अब है न उजास,
इस अरविंद वृंद का फिर क्यों रह सकता था चारु विकास,
आश-निरोधक-तम का अब भी हुआ न क्या निःशेष विनाश ॥[6]

(३) एकवाचकानुप्रवेश संकर : जब एक ही पद में दो अलंकार हों, तब वहाँ 'एकवाचकानुप्रवेश' नामक 'संकर' होता है।

उदाहरण :

सोइ जल अनल अनिल संघाता। होइ जलद जग जीवनदाता ॥[7]

---

१. पद्माभरण, ३३८ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ७५)
२ काव्यांग-कौमुदी (तृतीय कला), पृ० १८१
३ रामचरितमानस, २।६४।१
४ पद्माभरण, ३४० (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ७५)
५. पद्माभरण, ३४१ (पद्माकर-ग्रंथावली, पृ० ७५)
६ काव्यकल्पद्रुम (द्वितीय भाग—अलंकार मंजरी), पृ० ४३०
७ रामचरितमानस, १।७।१२

यहाँ जलद, जग, जीवन में अनुप्रास भी है और 'जीवन' में श्लेष भी। इस प्रकार इन अर्द्धाली में 'एकवाचकानुप्रवेश' नामक 'संकर' है।

'एकवाचकानुप्रवेश संकर' के अन्य उदाहरण

(१) हे हरि दीन दयाल हो, मैं माँगों सिर नाय।
तुव पद-पंकज आसरे, मन-मधुकर लगि जाय ॥[1]

(२) डर न टरै नींद न परै, हरै न काल बिपाक।
छिनक छाकि उछकै न फिरि, खरो विषम छबि-छाक ॥[2]

(३) मम हित साधन जो हुआ,
यह न हो सकता पर का कभी।
कपट रूप बना कर राम का,
कपि! विभीषण भीषण शत्रु है ॥[3]

कुछ अन्य (लक्षणामूलक) अलंकार

पाश्चात्य काव्य से हिन्दी भाषा भाषियों का सम्पर्क होने से कुछ नवीन अलंकार हिन्दी काव्य में विशेष रूप से समाविष्ट हुए हैं। यद्यपि प्राचीन कवियों की रचनाओं में भी ये अलंकार मिलते हैं, किन्तु इनकी ओर कवियों का विशेष लक्ष्य न था। आधुनिक कवियों की रचनाओं में इन अलंकारों को विशेष गौरव प्राप्त हुआ है। ये अलंकार हैं १ मानवीकरण, २. विशेषण-विपर्यय और ३. ध्वन्यर्थव्यंजना।

१ मानवीकरण अमूर्त भावों, प्रकृति के व्यापारों या जड़ पदार्थों में चेतनता का आरोप कर उन्हें मानववत् चित्रित करना ही 'मानवीकरण' है।

उदाहरण

सैकत शय्या पर दुग्ध धवल, तन्वंगी गंगा, ग्रीष्म विरल,
लेटी है श्रान्त क्लान्त, निश्चल ![4]

यहाँ गंगा (नदी) पर स्त्री की चेतनता का आरोप कर उसे एक स्त्री के रूप में चित्रित किया गया है। स्मरण रखना चाहिए कि यहाँ न तो रूपक अलंकार है और न उपमा। यह 'मानवीकरण' का उदाहरण है।

'मानवीकरण' के अन्य उदाहरण :

(१) खंडहर! खड़े हो तुम आज भी?
अद्भुत अज्ञात उस पुरातन के मलिन साज!

---

१. अलंकार मंजरी, पृ० ८३४
२ बिहारी-बोधिनी, १६४
३ काव्यदर्पण (प० दुर्गादत्त), पृ० १७२
४. पल्लविनी (नौका विहार—सुमित्रानन्दन पंत), पृ० ७८

विस्मृति की नींद से जगाते हो क्यों हमें
करुणाकर, करुणामय गीत सदा गाते हुए ?[1]

(२) दिवसावसान का समय
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह सन्ध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे धीरे धीरे,
तिमिराञ्चल में चंचलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर मधुर हैं दोनों उसके अधर,
किन्तु गम्भीर,—नहीं है उनमें हास-विलास।
हँसता है तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले-काले बालों से,
हृदय-राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक।[2]

(३) विजन-वन-वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी—स्नेह-स्वप्न-मग्न—
अमल-कोमल-तनु तरुणी—जुही की कली,
दृग बन्द किए, शिथिल,—पत्राङ्क में,
वासन्ती निशा थी;
विरह-विधुर-प्रिया-सङ्ग छोड़
किसी दूर देश में था पवन
जिसे कहते हैं मलयानिल।[3]

(४) अरे, ये पल्लव बाल!
सजा सुमनों के सौरभ हार
गूँथते वे उपहार;
अभी तो हैं ये नवल प्रवाल,
नहीं छूटी तरु डाल;
विश्व पर विस्मित चितवन डाल,
हिलाते अधर प्रवाल![4]

२. विशेषण-विपर्यय : विशेषण का लिंग और वचन के अनुसार विपर्यय (उलट-फेर) कर देना ही 'विशेषण-विपर्यय' कहलाता है।

---

१. अनामिका (खँडहर के प्रति—निराला), पृ० २६
२. परिमल (सन्ध्या-सुन्दरी—निराला), पृ० १२६
३. परिमल (जुही की कली—निराला), पृ० १७१
४. पल्लव (पल्लव—सुमित्रानन्दन पंत), पृ० १३

उदाहरण

चल चरणों का व्याकुल पनघट
कहाँ आज वह वृन्दाधाम ?[1]

यहाँ पनघट का विशेषण 'व्याकुल' रखा गया है। पनघट व्याकुल नहीं हो सकता, चरणों की व्याकुलता का आरोप यहाँ पनघट पर कर दिया गया है, अतः 'विशेषण विपर्यय' है।

'विशेषण-विपर्यय' के अन्य उदाहरण :

(१) निर्दय उँगली ! अरी ठहर जा,
पल-भर अनुकम्पा से भर जा,
यह मूर्छित मूर्छना आह-सी
निकलेगी निस्सार ।[2]

(२) अभिलाषाओं की करवट
फिर सुप्त व्यथा का जगना
सुख का सपना हो जाना
भींगी पलकों का लगना ।[3]

(३) बच्चों के तुतले भय सी,[4]

३. ध्वन्यर्थव्यंजना 'ध्वन्यर्थव्यंजना' वहाँ होती है जहाँ काव्यगत शब्दों की ध्वनि, शब्द-सामर्थ्य के बल पर प्रसंग और अर्थ का उद्बोधन कराकर एक चित्र प्रस्तुत करती है।

उदाहरण

कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि ।[5]

यहाँ कंकन किंकिणियों की मधुर ध्वनि सी निकलती प्रतीत हो रही है। इस प्रकार यहाँ ध्वनि का चित्र सा खड़ा हो जाता है।

'ध्वन्यर्थव्यंजना' के अन्य उदाहरण :

(१) घन घमंड नभ गरजत घोरा ।[6]

(२) डिगति उर्वि अति गुर्वि, सर्व पब्बै समुद्र सर।
ब्याल बधिर तेहि काल, बिकल दिगपाल चराचर।

---

१. परिमल (यमुना के प्रति—निराला), पृ० ४३
२. अजातशत्रु (जयशंकर प्रसाद), पृ० ६८
३. आँसू (जयशंकर प्रसाद), पृ० ११
४. पल्लव (छाया—सुमित्रानन्दन पंत), पृ० १०३
५. रामचरितमानस, १।२३०।१
६. रामचरितमानस, ४।१४।१

दिग्गयद लरखरत, परत दसकंठ मुक्खभर।
सुरबिमान, हिमभानु, भानु संघटित परस्पर।[1]

(३) झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर !
राग-अमर ! अम्बर में भर निज रोर !
झर झर झर निर्झर-गिरि-सर में,
घर, मरु, तरु-मर्मर, सागर में,
सरित—तड़ित-गति—चकित पवन में
मन में, विजन-गहन-कानन में,
आनन-आनन में, रव-घोर-कठोर—
राग-अमर ! अम्बर में भर निज रोर !
अरे वर्ष के हर्ष !
बरस तू बरस-बरस रसधार ![2]

१. कवितावली, १।११
२ परिमल (बादल-राग—निराला), पृ० १५६

७ | छन्द

भावप्रकाशन की क्षमता शब्द और अर्थ में होती है। इन दोनों का समन्वित रूप गद्य और पद्य नामक दो शैलियों में प्रस्फुटित होता है। इन दोनों शैलियों का नियमन व्याकरण द्वारा होता है। पद्य में गद्य के व्याकरण और पद्य के व्याकरण अर्थात् छंद शास्त्र या पिंगलशास्त्र—इन दोनों के नियमों का पालन होता है। पद्य के व्याकरण के आदि रचयिता पिंगल ऋषि थे, अतः उन्हीं के नाम पर इसका नाम पिंगलशास्त्र पड़ा। इसे छंद शास्त्र भी कहते हैं। छंदस् शब्द की व्युत्पत्ति के लिए हमारी दृष्टि छान्दोग्योपनिषद् के उस स्थल पर सहसा पड़ती है जहाँ यह कहा गया है कि देवताओं ने मौत से डरकर अपने आपको (अपनी रचनाओं को) छन्दों से ढक लिया :

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशं्स्ते छन्दोभिरच्छादयन्यदे-भिरच्छादयं्स्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ॥[1]

मौत से आच्छादन के कारण ही इन्हें 'छन्द' कहा गया क्योंकि 'छन्द' शब्द की मूल धातु 'छद' है जिसका अर्थ है 'ढक लेना'।

'छान्दोग्योपनिषद्' के इस रूपक से छन्दों की उपयोगिता पर प्रकाश पड़ता है। प्राचीन काल में मुद्रण आदि के साधन के अभाव में साहित्य का प्रचार और प्रसार मौखिक रूप में हुआ करता था। अतः कंठाग्र करने में छन्दोबद्ध रचना की जो उपयोगिता और महत्त्व है वह गद्य का नहीं। इसीलिए प्राचीन काल में छन्दों की विशेष उपयोगिता रही और छंदशास्त्र का विकास भी व्याकरण के समान ही हुआ।

छंदःशास्त्र में स्वरों का विशिष्ट महत्त्व है। ह्रस्व स्वर तथा उनसे युक्त व्यंजन ह्रस्व और दीर्घस्वर तथा उनसे युक्त व्यंजन दीर्घ कहलाते हैं। अतः अ, इ, उ, और ऋ स्वर तथा इनसे युक्त व्यंजन ह्रस्व और शेष को दीर्घ या गुरु कहते हैं। इन स्वरों अथवा इनसे युक्त व्यंजनों के उच्चारण में जो समय

---

1. छान्दोग्योपनिषद्, १।४।२

लगता है उसे मात्रा कहते हैं। ह्रस्व स्वरों की एक मात्रा और दीर्घ स्वरों की दो मात्राएँ मानी जाती हैं। छंद शास्त्र में एकमात्रा को लघु और दो मात्राओं को गुरु कहते हैं। इनके लिए संक्षिप्त वर्ण और चिह्न भी नियत है। लघु के लिए 'ल' और एक खड़ी पाई (।) तथा गुरु के लिए 'ग' और एक टेढ़ी पाई (ऽ) का प्रयोग होता है।

उच्चारण-भेद से कभी-कभी ह्रस्व को गुरु और गुरु को ह्रस्व भी माना जाता है। जब दो अक्षर मिले हुए हों तो उनके पहले का वर्ण यदि ह्रस्व हो तो दीर्घ हो जाता है, उदाहरणार्थ, 'रम्य' शब्द में म् और य मिले हैं, इनमें पहले ह्रस्व 'र' है किन्तु उच्चारण में 'र' गुरु है, अतः 'र' में दो मात्राएँ मानी जायेंगी।

यह नियम संस्कृत में तो सर्वत्र लागू होता है किन्तु हिन्दी में सर्वत्र लागू नहीं होता। हिन्दी छन्दों में गुरु और लघु की एक मात्र कसौटी उच्चारण है। यदि किसी अक्षर के उच्चारण में बल पड़ता है तो उसे गुरु अन्यथा लघु माना जाता है।

अनुस्वार एवं विसर्ग युक्त वर्ण गुरु माना जाता है किन्तु चन्द्रबिन्दु (ँ) युक्त वर्ण ह्रस्व, यथा—हँसना। इसी प्रकार हलन्त के पूर्व का वर्ण भी दीर्घ माना जाता है और हलंत की मात्रा नहीं गिनी जाती।

ए और ओ स्वर यद्यपि नियमतः गुरु हैं किन्तु कभी-कभी वे भी लघु हो जाते हैं, उदाहरणार्थ निम्नांकित पंक्ति में 'मो' और 'खे' अक्षर लघु होंगे क्योंकि उनका उच्चारण लघुवत् है :

तब लगि मोहि परिखेहु तुम्ह भाई।[1]

छन्दों की इकाई को चरण या पाद कहते हैं। सामान्यतया प्रत्येक छन्द में चार चरण या पाद होते हैं किन्तु किसी-किसी छन्द में इनसे अधिक चरण भी होते हैं, जैसे छप्पय में छह, अष्टपदी में आठ। छन्दों के दो स्थूल भेद हैं—मात्रिक और वर्णिक (वर्णवृत्त)।

जहाँ केवल मात्राओं की गणना होती है, गुरु और लघु का क्रम नियत नहीं होता, वहाँ मात्रिक छन्द होता है। वर्णवृत्त में लघु और गुरु का क्रम निश्चित रहता है और वह अनिवार्य होता है। इन दोनों भेदों के तीन-तीन उपभेद भी हैं—सम, अर्धसम और विषम।

जिन छन्दों के चारों चरणों में मात्राएँ या वर्ण समान हों, वे सम मात्रिक या सम वर्णवृत्त होते हैं।

जिन छन्दों के विषम (पहले और तीसरे) चरणों में एक समान मात्राएँ अथवा वर्ण तथा सम (दूसरे और चौथे) चरणों में एक समान मात्राएँ या वर्ण हों उन्हें अर्द्धसम छंद कहते हैं।

१. रामचरितमानस, ५।१।१०

जिन छंदों के प्रत्येक चरण की मात्राएँ अथवा वर्ण भिन्न-भिन्न हों, उन्हें विषम छन्द कहते हैं।

उपर्युक्त सम छन्दों के भी दो भेद हैं—साधारण और दंडक। मात्रिक साधारण में ३२ मात्राएँ तक होती हैं, दंडक में ३२ से अधिक। इसी प्रकार वर्णिक साधारण में २६ वर्णों तक होते हैं, इससे अधिक वर्ण वाले छन्द दण्डक कहलाते हैं। इनमें भी बाईस से लेकर छब्बीस वर्णों तक के छंदों का नाम सवैया है जिनके अनेक प्रकार हैं—मदिरा, मत्तगयंद, दुर्मिल आदि।

छन्द शास्त्र में द्विकल, त्रिकल, चौकल एवं गण पारिभाषिक शब्द हैं जिनका समझना छन्द शास्त्र के अध्येता के लिए आवश्यक है। इनमें भी गण सर्वाधिक महत्त्व का है। द्विकल, त्रिकल, चौकल का अर्थ होता है दो, तीन या चार मात्राओं का समूह तथा गण का अर्थ होता है तीन वर्णों का समूह। इसका विस्तृत विवेचन अपेक्षित है।

गण

वर्णिक छन्दों में गण का विशेष महत्त्व है। 'गण' का अर्थ है तीन वर्णों का समूह। लघु और गुरु के भेद से इसके ८ रूप हो सकते हैं, अतः गणों की संख्या ८ है। इन गणों के नाम, स्वरूप, चिह्न आदि निम्नांकित हैं[1]—

गण का नाम	स्वरूप	चिह्न	उदाहरण	देवता	फल	शुभ-अशुभ
यगण	।ऽऽ	य	यशोदा	जल	आयु	शुभ
मगण	ऽऽऽ	म	माताजी	भूमि	लक्ष्मी	शुभ
तगण	ऽऽ।	त	तालाब	आकाश	शून्य	अशुभ
रगण	ऽ।ऽ	र	रेवती	अग्नि	दाह	अशुभ
जगण	।ऽ।	ज	जहान	सूर्य	रोग	अशुभ
भगण	ऽ।।	भ	भाजन	चन्द्रमा	यश	शुभ
नगण	।।।	न	नगर	स्वर्ग	सुख	शुभ
सगण	।।ऽ	स	सरिता	वायु	विदेश	अशुभ

उपर्युक्त गणों का नाम एवं स्वरूप व्यक्त करने वाला निम्नांकित सूत्र अत्यन्त उपयोगी है :

यमाताराजभानसलगम्

इस सूत्र में किसी गणविशेष के स्वरूप जानने का नियम यह है कि जो गण जानना हो उसके आदि के अक्षर को इस सूत्र में से लीजिए और उससे

१. वृत्तरत्नाकर, पृ० ५

श्रुतबोध के अनुसार गण-लक्षण है :

आदिमध्यावसानेषु भजसा यान्ति गौरवम्।

यरता लाघवं यान्ति मनौ तु गुरुलाघवम्॥ —श्रुतबोध, ३

आगे के दो वर्ण और ले लीजिए। उदाहरणार्थ, हमें 'रगण' का स्वरूप जानना है। सूत्र में 'रा' अक्षर चौथे स्थान पर है। हमने उस 'रा' को लिया और उसके साथ अगले दो वर्ण और लिए जो 'ज' और 'भा' हैं। इस प्रकार 'रगण' का स्वरूप निश्चित हुआ : राजभा (ऽ।ऽ)

इसी प्रकार सभी गणों का स्वरूप निर्धारित किया जा सकता है। 'सगण' का स्वरूप होगा : सलगम् (सलग) ।।ऽ

गणों के देवता और उनका फल

छन्दःशास्त्र के अनुसार प्रत्येक गण का देवता होता है तथा उसका विशेष फल भी होता है। उपर्युक्त आठ गणों में से मगण, नगण, भगण और यगण तो शुभ हैं किन्तु शेष चार जगण, रगण, सगण और तगण अशुभ हैं। इस प्रकार किसी भी काव्य के प्रारम्भ में यदि उपर्युक्त अशुभ गण (जरसत) प्रयुक्त हों तो उस काव्य को सदोष और अशुभ फल वाला माना जाता है। हाँ, ईश्वर या देवता के लिए प्रयुक्त होने पर वह दोष मिट जाता है। अशुभ गण के पश्चात् शुभ गण रख देने से भी दोष में कमी आ जाती है। वृत्तों में गण-सम्बन्धी दोष नहीं माना जाता। वसन्ततिलका (त, भ, ज, ज, ग, ग) के प्रारम्भ में तगण (ऽऽ।) आयेगा ही। उसे देवता या मंगलवाचक शब्द के रूप में रखने से दोष का परिहार हो जाता है।

आजकल के नयी विचार-धारा के कवि इस दोष में विश्वास नहीं रखते।

अशुभ अक्षर

कविता के प्रारंभ में कुछ अशुभ अक्षरों का प्रयोग भी वर्जित है। इन अशुभ अक्षरों में ङ, ञ, ढ, ट, ठ, ढ, ण, त, थ, प, फ, ब, भ, म, र, ल, व, ष, और ह—ये १६ अक्षर अशुभ माने गये हैं, शेष सभी अक्षर तथा सभी स्वर शुभ हैं। इन अशुभ अक्षरों में भी ञ, ह, र, भ, ष—ये पाँच अक्षर अत्यन्त दूषित माने गये हैं। इन्हें 'दग्धाक्षर' कहते हैं। इन्हें किसी काव्य के प्रारम्भ में नहीं रखना चाहिए। किन्तु ये भी यदि गुरु (दीर्घ) हों तथा ईश्वर या देवता के नाम अथवा मंगल-वाचक शब्द के आदि में आयें तो दोष नहीं माना जाता। कुछ लोग यह दोष नर-काव्य में ही मानते हैं, देवकाव्य में नहीं।

गति और यति

छंद में 'गति' का अर्थ है लय; और 'यति' का अर्थ है विराम। गति अथवा लय छन्द का प्राण है। गति के बिना छन्द निष्प्राण है। समान मात्राएँ होते हुए भी गति अथवा लय के बिना छन्द की रचना असम्भव है। एक उदाहरण से हम अपनी बात का समर्थन करेंगे। निम्नांकित दो पंक्तियों में समान मात्राएँ

हैं किन्तु प्रथम पंक्ति 'चौपाई' नामक छंद का एक चरण है और दूसरी पंक्ति नहीं, क्योंकि इसमें गति या लय का अभाव है :

बंदौं गुरपद पदुम परागा।[1]
पदुम गुरपद परागा बंदौं।

गति अथवा लय के निर्धारण के लिए कोई नियम नहीं बनाया जा सकता यह तो केवल अभ्यास पर आश्रित है।

छंद के चरण में जब वर्णों अथवा मात्राओं की संख्या इतनी अधिक हो कि पूरे चरण को एक श्वास में न पढ़ सकें और बीच में रुकना पड़े तो जिस वर्ण पर हम ठहरते हैं उसे यति या विराम स्थल कहते हैं, सामान्यतया छंद के प्रत्येक चरण में यति या विरामस्थल भी निश्चित होता है।

तुक

'तुक' का अर्थ है चरणों के अन्तिम अक्षरों का एक सा होना जिसे 'अन्त्यानुप्रास' भी कहते हैं। यद्यपि अब यह छन्द का अनिवार्य तत्त्व नहीं है, किन्तु फिर भी इसका विशेष महत्त्व है। बहुत दिनों तक हिन्दी कविता तुकान्त होती रही किन्तु आजकल अतुकान्त कविता प्रचुर मात्रा में होने लगी है। यह निर्विवाद है कि तुकान्तता श्रुतिमधुरता की जननी है। आज भी गावों के लोग तुकान्त को महत्त्व देते हैं तथा तुकबन्दी करते हैं। समस्यापूर्तिपरक कविताओं में तुकान्त का विशेष महत्त्व रहा है।

पिंगलशास्त्र में प्राचीन काल से ही संख्यासूचक शब्दों का प्रयोग होता रहा है, अर्थात् संख्याविशेष के लिए अंक का प्रयोग न करके प्रायः उसके सूचक विशेष शब्दों का प्रयोग होता आया है। यहाँ हम कुछ अंकों के सूचक शब्दों का विवरण दे रहे हैं :

शून्य (०) के लिए आकाश तथा उसके पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग
एक (१) " मुख, आत्मा, परमात्मा, मन, सूर्य, गणेश का दाँत आदि आदि
दो (२) " पक्ष (पखवाड़ा—महीने का अर्द्ध भाग), सन्ध्या, साँप की जीभ, हाथी के दाँत आदि
तीन (३) " राम, शिव-नेत्र, मुनि, वेद, सन्ध्या आदि
चार (४) " युग, आश्रम, वर्ण, योजन, कोस आदि
पाँच (५) " कामदेव के बाण, प्राण, महायज्ञ, इन्द्रिय आदि
छः (६) " रस, दर्शन, भौंरे के पैर, ऋतु, कार्तिकेय के मुख आदि

इसी प्रकार अनेक संख्याओं के स्थान में अंकों के अर्थ में शब्दों का प्रयोग होता है।

---

1. रामचरितमानस, १।१।२७

कविता में अंकों की गणना दाहिनी ओर से बाईं ओर को होती है :

अंकानां वामतो गतिः ।

उदाहरणार्थ :

कर मुख निधि भू संख्यक सन् की चौदहवीं एप्रिल है आज !

कर=२, मुख=१, निधि=९, भू=१

दाहिनी ओर से बाईं ओर को गिनने में १९१२ आया। इस प्रकार यहाँ सन् १९१२ ईस्वी १४ अप्रैल अभिप्रेत है, २१९१ नहीं।

प्रत्यय

छन्द शास्त्र में 'प्रत्यय' शब्द भी पारिभाषिक है। छन्दों के विभिन्न भेदों, संख्याओं तथा उनकी शुद्धाशुद्धि के जानने की रीति अथवा प्रणाली को 'प्रत्यय' कहते हैं। छन्द शास्त्र में निम्नांकित ९ प्रत्यय माने गये हैं :

१ सूची, २. प्रस्तार, ३. पाताल, ४. उद्दिष्ट, ५. नष्ट, ६. मेरु, ७. खण्डमेरु, ८. पताका और ९ मर्कटी। कुछ लोग 'सूचिका' नामक दसवाँ प्रत्यय भी मानते हैं। नीचे इनका अत्यन्त संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है :

१. सूची : 'सूची' उस रीति को कहते हैं जिससे प्रत्येक जाति के मात्रिक छन्दों तथा वर्ण-वृत्तों की संख्या का ज्ञान हो ।

२. प्रस्तार : जिस विधि से वर्ण और मात्रा के किसी नियत परिमाण के वृत्तों या छन्दों के भेदों और रूपों का ज्ञान होता है उसे 'प्रस्तार' कहते हैं।

३. पाताल : इसके द्वारा प्रत्येक वर्ग के छन्द की संख्या, लघु-गुरु मात्रा तथा वर्ण आदि का बोध होता है ।

४. उद्दिष्ट : जिस क्रिया से वर्ण-प्रस्तार या मात्रा-प्रस्तार में किसी अभीष्ट वृत्त या छन्द के किसी भी रूप या भेद के स्थान का बोध होता है उसे 'उद्दिष्ट' कहा जाता है।

५. नष्ट : किसी वर्णवृत्त अथवा मात्रिक छन्द का प्रस्तार किये बिना ही उस (प्रस्तार) के अभीष्ट रूप को जानने की रीति को 'नष्ट' कहते हैं।

६ मेरु : प्रस्तार किये बिना ही किसी छन्द की संख्या, उन रूपों के लघु या गुरु की संख्या जानने की विधि 'मेरु' कहलाती है।

७. खण्डमेरु : मेरु अथवा एकावली मेरु बनाये बिना ही मेरु का काम निकालना 'खण्ड मेरु' का काम है। इससे भी प्रस्तार के अन्तर्गत लघु, गुरु के छन्दों की संख्या विदित होती है।

८. पताका : इससे किसी निश्चित लघु, गुरु वर्ण के छन्द अथवा छन्दों के स्थान का पता चलता है।

९. मर्कटी : इसमें वर्ण-प्रस्तार के सब वृत्त-भेद, मात्रा, वर्ण, गुरु-लघु की सब संख्या और मात्रा-प्रस्तार के छन्द की लघु गुरु मात्राओं और वर्णों की समग्र संख्या का ज्ञान होता है।

मर्कटी के अन्तर्गत ही 'सूचिका' भी ली जा सकती है। इसमें लघु-गुरु की सब संख्या जानी जाती है।

मात्रिक छन्द प्रकरण

सम मात्रिक छन्द

२ मात्राओं के छन्द (ब्रह्मवर्ग या पाक्षिक वर्ग—२ भेद)

इस वर्ग के अन्तर्गत केवल दो ही छन्द आ सकते हैं, या तो प्रत्येक चरण में एक दीर्घ वर्ण हो या दो ह्रस्व वर्ण, जैसा कि निम्नांकित उदाहरणों से स्पष्ट है :

(१)	श्री,	(२)	रवि,
	ह्री,		छवि।
	माँ,		कवि,
	गा।[1]		हवि।[2]

३ मात्राओं के छन्द (त्रिदेव वर्ग या राम वर्ग—३ भेद)

इस वर्ग के अन्तर्गत वे तीन छन्द आएँगे जिनमें प्रत्येक चरण में या तो तीन ह्रस्व वर्ण आयें या एक ह्रस्व और एक दीर्घ वर्ण, जैसा कि निम्नांकित उदाहरणों से स्पष्ट है :

(१)	वरण,	(२)	धुम,	(३)	उमा।
	करण,		धाम।		समा।
	चरण,		टाम,		मही।
	शरण।[3]		टाम।[4]		मही।[5]

४ मात्राओं के छन्द (विधिमुख वर्ग या वैदिक वर्ग—५ भेद)

इसमें किसी भी चतुष्क (ııऽ, ıऽı, ऽıı, ıııı) की आवृत्ति हो सकती है

१. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २४१
२. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २४१
३. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २४१-४२
४. लेखक
५. लेखक

तथा अलग-अलग चरणों में चतुष्क भिन्न प्रस्तार में भी आ सकते हैं।

उदाहरण :

पद - जल,
चञ्चल।
हिमधर,
गिरिवर।[1]

५ मात्राओं के छन्द (पञ्चानन वर्ग या याज्ञिक वर्ग—८ भेद)

इस वर्ग में निम्नांकित पचकों में से किसी भी पचमात्रिक लय को आधार मान कर रचना की जा सकती है

SIS, SSI, ISS, IIIS, SIII, ISII, IISI, IIIII

उदाहरण :

कामिनी,
मानिनी,
यामिनी,
स्वामिनी।[2]

६ मात्राओं वाले छन्द (षडानन वर्ग या ऋतु वर्ग—१३ भेद)

बगहंस

इस छन्द के प्रत्येक चरण में ६ मात्राएं होती हैं तथा चरण के अन्त में लघु वर्ण आता है।

उदाहरण :

(१) राग द्वेष,
उभय क्लेश।
मन विनीत,
जगत जीत॥[3]

(२) चिर पावन
सुजन चरण,
अर्पित तन
मन जीवन![4]

७ मात्राओं वाले छन्द (लौकिक वर्ग—२१ भेद)

सुगति

इस छन्द के प्रत्येक चरण में चौकल और त्रिकल के योग से ७

---

१. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २४२
२ आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २४२
३. काव्य दर्पण (प० दुर्गादत्त), पृ० १६०
४. स्वर्णधूलि (सुमित्रानन्दन पंत), पृ० ४५

मात्राएँ होती हैं।[1] कहीं-कहीं इसका नाम 'सुमगति' भी लिखा है।

उदाहरण :

(१) कृपासिंधो।
दीनबंधो।
सर्व सुरपति।
देहि सुमगति॥[2]

(२) कोमल लते!
पादप-रते!!
आलिंगिते।
अनुरञ्जिते।[3]

८ मात्राओं वाले छन्द (वासव वर्ग—३४ भेद)

छवि

इस छन्द के प्रत्येक चरण में ८ मात्राएँ होती हैं, चरण के अन्त में गुरु लघु (ऽ।) आते हैं।[4]

उदाहरण :

(१) मानव चरित्र,
निज रख पवित्र।
यह धरणि जान,
दर्पण समान॥[5]

(२) अज्ञान चूर्ण
हों ज्ञान पूर्ण,
मानव समूह,
हो एक व्यूह![6]

अखंड

इस छन्द में समात्मक दो चौकलों का प्रयोग होता है, साथ ही, पचक और त्रिकल का योग भी मान्य है।[7]

उदाहरण :

धवल हिमाचल,
निर्झर चंचल,
गंगा का जल,
यमुना का जल।[8]

---

१. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २४३
२. छन्दार्णव, ५।४४ (भिखारीदास-ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृ० १८५)
३. चन्द्राकर (आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २४४ पर उद्धृत)
४. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २४४
५. काव्य दर्पण (प० दुर्गादत्त), पृ० १६१
६. युगवाणी (सुमित्रानन्दन पन्त), पृ० ७३
७. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २४४
८. मी० वी० राव, पचमी (आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २४४ पर उद्धृत)

मुक्ति

इस छन्द मे दो त्रिकल और एक गुरु (ऽ) मिलकर कुल ८ मात्राएँ होती हैं ।[1]

उदाहरण :

जाति-जाति में,
देश-देश मे,
मुक्ति-प्रेम का,
विश्व-प्रेम का ।[2]

मधुभार

इस छन्द के प्रत्येक चरण मे ८ मात्राएं होती हैं; चरण के अन्त मे जगण (।ऽ।) होता है ।[3]

उदाहरण :

ऊँचे अवास ।
बहु ध्वज प्रकास ।
सोभा विलास ।
सोभै प्रकास ।।[4]

९ मात्राओं वाले छन्द (अंक वर्ग—५५ भेद)

हारी

इस छन्द के प्रत्येक चरण मे ९ मात्राएं होती हैं, चरण के अन्त मे दो गुरु (ऽऽ) आते हैं ।[5]

उदाहरण :

(१) तो मानु भारी ।
ठाने पियारी ।

(२) आलस्य त्यागो,
श्रम से न भागो ।

---

१. आधुनिक हिन्दी-काव्य मे छन्द-योजना, पृ० २४४
२. मुक्ति की मशाल, पृ० ५५ (आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २४४ पर उद्धृत)
३. मानक हिन्दी कोश (चौथा खण्ड), पृ० २८१
४. रामचंद्रिका, १।३७
५. मानक हिन्दी कोश (पाँचवाँ खण्ड, पृ० ५४४) तथा भाषा-शब्द-कोष (डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'), पृ० १९९६ मे इसे वर्णवृत्त माना गया है जिसका लक्षण है : तगण (ऽऽ।)+दो गुरु (ऽऽ)

सोतें सुखारी।
होती महा री ॥[1]

यदि कीर्ति चाहो,
प्रण को निबाहो ॥[2]

वसुमती

प्रत्येक चरण मे ६ मात्राएँ।[3]

उदाहरण :

सो शुभ्र ससि सो।
जो दान मसि सो।
साजै जसुमती।
सारी वसुमती।[4]

१० मात्राओं वाले छन्द (दैशिक वर्ग—८६ भेद)

ज्योति

इसके प्रत्येक चरण मे १० मात्राएँ होती हैं।[5]

उदाहरण

कैसे गए भूल ?
बोलो सरल प्राण !
आती नहीं क्या,…तुमको कभी याद,
वह मदभरी रात, वह मद भरी रात,
सुख के सरल फूल,
अब तो बने बाण।[6]

दीप

इस छन्द के प्रत्येक चरण में १० मात्राएँ होती हैं, चरण के अन्त में

---

१. छन्दार्णव, ५।६० (भिखारीदास-ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृ० १८७)
२. काव्य दर्पण (प० दुर्गादत्त), पृ० १६१
३. मानक हिन्दी कोश (पाँचवाँ खण्ड, पृ० ७५) में इसे वर्णवृत्त कहा गया है जिसका लक्षण है : प्रत्येक चरण में क्रमशः तगण (SSI) और रगण (SIS)
४. छन्दार्णव, ५।६१ (भिखारीदास ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृ० १८७)
५. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २४४
६. चित्रा (आधुनिक हिन्दी-काव्य मे छन्द-योजना, पृ० २४५ पर उद्धृत)

क्रमशः गुरु लघु (ऽ।) आते हैं।[१] कहीं-कहीं इसका नाम 'दीपक' भी उल्लिखित है।

उदाहरण :

वह पुरुष है धन्य,
सहसा नहीं अन्य।
दे धर्म को दान,
जो देह धन-प्राण।[२]

११ मात्राओं वाले छन्द (रौद्रवर्ग—१४४ भेद)

आभीर (अहीर)

इस छन्द के प्रत्येक चरण मे ११ मात्राएँ होती हैं, चरण के अन्त में जगण (।ऽ।) आता है,[३] कहीं-कहीं चरण के अन्त मे केवल गुरु लघु (ऽ।) का विधान भी है।

उदाहरण :

(१) अति सुन्दर अति साधु।
थिर न रहत पल आधु।
परम तपोमय मानि।
दंडधारिणी जानि॥[४]

(२) सुरभित मन्द बयार
सरसे सुमन सुडार।
गूँज रहे मधुकार
धन्य वसन्त बहार।[५]

समानिका

इस छन्द के प्रत्येक चरण मे ११ मात्राएँ होती हैं। यह छन्द समानिका

---

१. मानक हिन्दी कोश (तीसरा खण्ड), पृ० ७३; 'आधुनिक हिन्दी-काव्य मे छन्द-योजना', पृ० २४५ मे डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल ने इसका लक्षण कुछ भिन्न माना है। उनके अनुसार प्रत्येक चरण की तीसरी और आठवी मात्रा लघु होती है तथा चरण के अन्त मे गुरु (ऽ) वर्ण भी सभव है। उन्होंने श्रीधर पाठक के भारत गीत (सान्ध्य अटन) से निम्नांकित उदाहरण उद्धृत किया है :

विजन वन-प्रान्त था,
प्रकृति-मुख शान्त था,
अटन का समय था,
रजनि का उदय था।

२. काव्य दर्पण (प० दुर्गादत्त), पृ० १६१
३ मानक हिन्दी कोश (पहला खण्ड), पृ० २७४
४. रामचन्द्रिका, १।२८
५ मैथिलीशरण गुप्त (हिन्दी-छन्दरचना, पृ० ८६ पर उद्धृत)

वृत्त (रगण, जगण और गुरु) का मात्रिक स्वरूप है। अतः प्रत्येक चरण की तीसरी, छठी और नवीं मात्रा लघु होती है।[1]

उदाहरण :

सात सौ सवारियाँ,
हैं सभी कुमारियाँ।
सुन नवीन नारियाँ,
हो गये मगन मियाँ ॥[2]

प्रात

षष्ठक और पंचक के संयोग से इस छन्द के प्रत्येक चरण में ११ मात्राएँ होती हैं।[3]

उदाहरण :

जीवन के पन्थ पर,
जय भी है, हार भी।
मिलते अवरोध तो,
खुलते हैं द्वार भी ॥[4]

शिव

इस छन्द के प्रत्येक चरण में ११ मात्राएँ होती हैं। चरण के अन्त में सगण (IIS), रगण (SIS) अथवा नगण (III) पड़ता है। इसके प्रत्येक चरण की तीसरी, छठी और नवीं मात्राएँ लघु होती हैं। ५, ६ मात्राओं पर यति पड़ती है।[5]

उदाहरण :

कंठ कंठ गा उठा,
शून्य शून्य छा उठा—
सत्य नाम सत्य है,
राम नाम सत्य है ![6]

---

१. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २४६
२. जौहर (छठी चिनगारी), पृ० ८०
३ आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २४६
४. दिवाकरप्रकाश मस्तितोषी (आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २४७ पर उद्धृत)
५. मानक हिन्दी कोश (चौथा खंड), पृ० १७४
६. साकेत (नवम सर्ग), पृ० २१६

१२ मात्राओं वाले छन्द (आदित्य वर्ग—२३३ भेद)

दिक्पाल

१२ मात्राओं वाले इन छन्द के प्रत्येक चरण की पाँचवीं और आठवीं मात्रा लघु होती है।[1]

उदाहरण :

बन की गली-गली में,
हँसती चली कली में,
गुंजार काकली में,
गुलजार रँगरली में,
(अलि आज धूमता है।[2])

सारक

इसके प्रत्येक चरण में १२ मात्राएँ होती हैं, इसका प्रवाह सममूलक होता है। यह छन्द 'सार' छन्द के दूसरे अंश के आधार पर निर्मित होता है।[3]

उदाहरण :

जगम जग-प्रांगण में,
जीवन संघर्षण में,
नव युग परिवर्तन में,
मन के पीले पत्तो,
(झरो, झरो, झरो)[4]

लीला

इस छन्द के प्रत्येक चरण में चार त्रिकल होते हैं। कभी कभी दो त्रिकलों के स्थान पर सममूलक छक्कल भी रखे जाते हैं।[5] कहीं कहीं इसके लक्षण में चरण के अन्त में जगण (ISI) रखने का भी विधान है।[6]

---

१. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द योजना, पृ० २४८
२ सी० वी० राव, पथमो (आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २४८ पर उद्धृत)
३. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २४८
४. ग्राम्या (सुमित्रानन्दन पंत), पृ० ६७ (आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २४८ पर उद्धृत)
५. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २४८
६ मानक हिंदी कोश (चौथा खण्ड), पृ० ५८५

उदाहरण :

> निखिल नायिका ललाम,
> हम ब्रज की रहीं वाम,
> प्रीति-रीति में प्रकाम,
> बिकीं बँधी, बिना दाम ।[1]

अनघ

एक सप्तक (ऽऽ।ऽ) और एक तगण (ऽऽ।) के योग से इस छन्द के प्रत्येक चरण में १२ मात्राएँ होती हैं। श्री मैथिलीशरण गुप्त ने 'अनघ' में इस छन्द का प्रयोग किया है।[2]

उदाहरण :

> प्रभु यों न हो वर-पूर्ति,
> यह है मनुज की मूर्ति,
> ये वरद बाहु विशाल,
> रक्षक रहें चिरकाल ।[3]

तोमर

इस छन्द के प्रत्येक चरण में १२ मात्राएँ आती हैं। चरण के अन्त में क्रमशः गुरु लघु (ऽ।) आते हैं।[4]

उदाहरण :

(१) तब चले बान कराल ।
फुंकरत जनु बहु ब्याल ॥
कोपेउ समर श्रीराम ।
चले बिसिख निसित निकाम ॥[5]

(२) प्रस्थान,—वन की ओर,
या लोक-मन की ओर ?
होकर न धन की ओर,
हैं राम जन की ओर ।[6]

१३ मात्राओं के छन्द (महाभागवत वर्ग—३७७ भेद)

चन्द्रमणि

इस छन्द के प्रत्येक चरण में १३ मात्राएँ होती हैं, आठ और पाँच

१. स्वर्णधूलि (सुमित्रानन्दन पंत), पृ० १४७
२. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २४६
३. अनघ, पृ० ११
४ मानक हिन्दी कोश (दूसरा खण्ड), पृ० ५८२
५. रामचरितमानस, ३।२०।१-२
६. साकेत (चतुर्थ सर्ग), पृ० १२३

मात्राओं पर विराम होता है।[1] इसका एक नाम 'उल्लाला' भी है।

उदाहरण :

मेरा सुत भी अन्त मे
पड़ मघ के अघ-दन्त मे
निकल न जावे हाथ से,
फँसे न उसके साथ से।[2]

१४ मात्राओं वाले छन्द (मानव वर्ग—६१० भेद)

प्रतिभा, विजात या विधाताकल्प

इस छन्द के प्रत्येक चरण मे १४ मात्राएँ होती हैं, प्रत्येक चरण की पहली और आठवीं मात्रा लघु होती है।[3]

उदाहरण .

चरित है मूल्य जीवन का।
वचन प्रतिबिम्ब है मन का।
सुयश है प्राय सज्जन की।
सुजनता है प्रभा धन की॥[4]

सखी

इस छन्द के प्रत्येक चरण मे १४ मात्राएँ होती हैं, चरण के अन्त मे भगण (ऽ।।), मगण (ऽऽऽ) या यगण (।ऽऽ) आता है, किन्तु कही कहीं इस नियम के अपवाद भी मिलते हैं।[5]

उदाहरण :

हम सब भी साथ चलेंगी।
सेवाएँ सभी करेंगी।
पर घर पर बैठी रह कर।
नित आहें नहीं भरेंगी॥[6]

---

१. मानक हिन्दी कोश (पहला खण्ड), पृ० ३८२
'उल्लाला' के अन्य नाम (चन्द्रमणि) के लिए देखिए : मानक हिन्दी कोश (दूसरा खण्ड), पृ० १८६
२ अनघ, पृ० ८१
३. आधुनिक हिन्दी-काव्य मे छन्द-योजना, पृ० २५७
४. रामनरेश त्रिपाठी, स्फुट (आधुनिक हिन्दी-काव्य मे छन्द-योजना, पृ० २५७ पर उद्धृत)
५. मानक हिन्दी कोश (पाँचवाँ खण्ड), पृ० २५०
६. वैदेही वनवास, ६।५७ (पृ० ७४)

हाकलि अथवा हाकलिका[1]

इस समप्रवाही छन्द के प्रत्येक चरण में १४ मात्राएँ इस ढंग से आती हैं कि तीन चौकल हों और एक गुरु (ऽ), किन्तु कहीं कहीं त्रिकलों का प्रयोग भी होता है।

उदाहरण

(१) परतिय गुरतिय तूल गनै।
परधन गरल समान मनै।
हिय नित रघुबर नाम ररै।
तासु कहा कलिकाल करै॥[2]

(२) कुश से सद्य स्नान किये,
पीताम्बर परिधान किये,
पवित्रता में पगी हुई,
देवार्चन में लगी हुई।[3]

मानव

जहाँ चारों पदों में एक साथ तीन-तीन चौकल न पड़ें, वहाँ 'हाकलि' छन्द को 'मानव' छन्द की संज्ञा प्रदान की जाती है।[4] प्रसाद जी के 'आँसू' में इस छन्द का प्रयोग हुआ है।

उदाहरण :

जो घनीभूत पीड़ा थी
मस्तक में स्मृति-सी छायी
दुर्दिन में आँसू बनकर
वह आज बरसने आयी।[5]

मधुमालती

इस छन्द के प्रत्येक चरण में १४ मात्राएँ इस प्रकार आती हैं कि पाँचवीं और बारहवीं मात्रा लघु होती है।[6]

उदाहरण :

इस शोक के सम्बन्ध से—
सब देखते थे ध्यान से—

---

१. भिखारीदास ने (छन्दार्णव, ५।११५ में) इसे 'हाकलिका' कहा है।
२. छन्दार्णव, ५।११५ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खण्ड, पृ० १६४)
३. साकेत (चतुर्थ सर्ग), पृ० ६३
४. छन्द प्रभाकर, पृ० ४७ (आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २५३)
५. आँसू (जयशंकर प्रसाद), पृ० १४
६. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २५४

बस एक मूर्ति घृणामयी,
वह थी कठोरा केकयी ![1]

मनोरमा

इस छन्द के प्रत्येक चरण मे १४ मात्राएँ इस प्रकार आती हैं कि तीसरी और दसवी मात्रा लघु होती है।[2]

उदाहरण .

रात आधी हो रही थी,
मौन दुनियाँ सो रही थी।
मोतियों के तरल दाने,
नियति तृण पर बो रही थी ॥[3]

सुलक्षण

इस छन्द के प्रत्येक चरण मे १४ मात्राएँ इस प्रकार आती हैं कि प्रत्येक चरण की सातवी और चौदहवी मात्रा लघु हो। इसमे प्राय.चौकल के पश्चात् एक गुरु और एक लघु आता है।[4]

उदाहरण .

नभ में आँधियो का गान,
सागर में उठे तूफान
तट को छोड़कर कुछ दूर,
जब था बढ़ चुका जलयान।[5]

---

१ साकेत (षष्ठ सर्ग), पृ० १८१
२ (क) आधुनिक हिन्दी-काव्य मे छन्द-योजना, पृ० २५५
(ख) मानक हिन्दी कोश (चौथा खण्ड), पृ० २६२ मे इसका नाम 'मनोरम' दिया गया है तथा इसे 'सखी' छन्द का एक भेद माना गया है।
(ग) इसी नामका एक वर्ण वृत्त भी है जिसका लक्षण है . चार सगण (।।ऽ) और दो लघु (।।)
३ जौहर (१२ वी चिनगारी), पृ० १३५
४. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २५६
५ उदयाचल (शम्भूनाथसिंह), पृ० २४ (आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २५६ पर उद्धृत)

१४ मात्राओ वाले छन्द का प्रथम अक्षर लघु और अन्तिम अक्षर गुरु हो तो उसे 'प्रतिभा' और यदि केवल अन्त्याक्षर गुरु हो तो उसे 'कलिका' नाम दिया जाता है।

१५ मात्राओं वाले छन्द : (तैथिक वर्ग—९८७ भेद)

गोपी

इस छन्द के प्रत्येक चरण में १५ मात्राएँ होती हैं। 'शृंगार' छन्द की अन्तिम लघु मात्रा का लोप करने से यह छन्द बनता है। इस छन्द के प्रत्येक चरण के प्रारम्भ में त्रिकल और अन्त में गुरु (ऽ) आता है।[1]

उदाहरण :

चाँदनी छिटिक छिटिक छवि से।
छबीली बनती रहती थी॥
सुधाकर-कर से वसुधा पर।
सुधा की धारा बहती थी॥[2]

चौपई अथवा जयकरी

इस छन्द के प्रत्येक चरण में १५ मात्राएँ इस प्रकार आती हैं कि चरण के अन्त में क्रमशः गुरु लघु (ऽ।) वर्ण रखे जायें।[3] यह छन्द 'चौपाई' छन्द की अन्तिम गुरु मात्रा को लघु कर देने से बनता है।

उदाहरण :

(१) चहहु जु साँचो निज कल्यान
तौ सब मिलि भारत-सन्तान।
जपहु निरन्तर एक जबान,
हिन्दू, हिन्दी हिन्दुस्तान॥[4]

(२) वीर, दिखाओ धीर विवेक,
बिछा बड़ी सी चादर एक,
रख उस पर पावन पाषाण,
सभी उठाओ, पाओ प्राण।[5]

---

१. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २५७
२. वैदेही-वनवास, १०।३
३. मानक हिन्दी कोश (दूसरा खण्ड), पृ० २८६
४. प्रतापनारायण मिश्र (हिन्दी छन्द-रचना, पृ० ६८ पर उद्धृत)
५. काबा और कर्बला (काबा), पृ० १५
जब 'चौपई' छन्द के सभी चरणों के अन्त में तगण (ऽऽ।) हो तो उसे 'पुनीत' छन्द; जगण (।ऽ।) हो तो 'गोपाल' छन्द और यदि ।ऽ हो तो 'चौबोला' छन्द बनता है।

महालक्ष्मी

यह छन्द 'महालक्ष्मी' वर्णवृत (तीन रगण SIS) का मात्रिक रूप है। इसके प्रत्येक चरण में १५ मात्राएँ होती हैं तथा प्रत्येक चरण की तीसरी, आठवीं और तेरहवीं मात्रा लघु होती है।[1]

उदाहरण :

गिरि-शिखर पर सघन घन खिले
दामिनी संग प्रिय, मन मिले,
कह रहे रूप-रस वार से,
'हम बरसते अभी प्यार से'।[2]

गोपाल

'गोपाल' छन्द के प्रत्येक चरण में ८, ७, के विराम से १५ मात्राएँ होती हैं तथा चरण के अन्त में जगण (ISI) आता है।[3]

उदाहरण -

इसके आगे ? बिदा विशेष,
हुए दम्पती फिर अनिमेष।
किन्तु जहाँ हैं मनोनियोग,
वहाँ कहाँ का विरह वियोग ?'[4]

चौबोला

'चौबोला' छन्द के प्रत्येक चरण में १५ मात्राएँ इस प्रकार होती हैं कि चरण के अन्त में क्रमश. लघु-गुरु (IS) आयें।[5]

उदाहरण :

(१) मुख रोगी ज्यों मौने रहै।
बात बनाय एक द्वै कहै॥

(२) मित्र सफल निज जीवन करो,
हृदय बीच शुभ गुण गण धरो।

---

१. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २५६
२. यक्षिणी के प्रतिथि (श्रीमती मालती शुक्ल) —आधुनिक हिंदी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २५६ पर उद्धृत।
३ मानक हिन्दी कोश (दूसरा खण्ड), पृ० १३८
४ साकेत (प्रथम सर्ग, अंतिम छंद), पृ० ४२
५. मानक हिन्दी कोश (दूसरा खण्ड), पृ० २६०
'चौबोला' नामक एक वर्णवृत्त भी होता है जिसका लक्षण है. तीन भगण (SII), लघु (I) और गुरु (S)

बन्धु वर्ग पहिचानै नहीं ।
मानो सन्निपात की गही ॥[1]

मेल सदा उन्नति की गहो,
नेता मन समाज में रहो ॥[2]

१६ मात्राओं वाले छन्द (सस्कारी वर्ग—१५६७ भेद)

पादाकुलक

चार चौकलों के योग से जब छन्द के प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ आयें, तो वहाँ 'पादाकुलक' छन्द होता है।[3]

उदाहरण .

(१) लोभी लपट लोलपचारा। जे ताकहिं परधनु परदारा ॥
पावउँ मैं तिन्ह कै गति घोरा। जौं जननी एहु समत मोरा ॥[4]

(२) खोलो मुख से घूँघट खोलो,
हे चिर अवगुण्ठनमयि बोलो ।
क्या तुम केवल चिर अवगुण्ठन,
अथवा भीतर जीवन कम्पन ?[5]

पद्धरि

इस छन्द के प्रत्येक चरण मे चार चौकल होते हैं, प्रत्येक चरण के अन्त मे जगण (।ऽ।) तथा आठ, आठ मात्राओं पर यति आती है।[6] केशवदास ने इस छन्द का नाम 'पद्धटिका' लिखा है।[7]

उदाहरण ·

(१) सुभ मोतिन की दुलरी सुदेस ।
जनु बेदन के आखर सुवेस ।
गजमोतिन की माला बिसाल ।
मन मानहु संतन के रसाल ॥[8]

---

१. रामचंद्रिका, २३।१४
२. रामनरेश त्रिपाठी (काव्यदर्पण, पं० दुर्गादत्त, पृ० १६३ पर उद्धृत)
३. भानु कवि—मानक हिन्दी कोश (तीसरा खण्ड), पृ० ४७६
४. रामचरितमानस, २।१६७।३-४
५. पल्लविनी (छाया—सुमित्रानन्दन पंत), पृ० २३८—आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २६० पर उद्धृत
६. मानक हिन्दी कोश (तीसरा खण्ड), पृ० ३८७
७. प्रथम चतुष्कल तीन धरि ४,४ जगन दै अन्त ।
इहि विधि 'पद्धटिका' रचहु 'केशव' कवि बुधिवन्त ॥
—छन्दमाला, २।३८ (केशव-ग्रथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ४४३)
८. रामचन्द्रचन्द्रिका, ६।४६ (केशव-ग्रथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० २६०)

(२) अम्बर में कुन्तल-जाल देख,
पद के नीचे पाताल देख,
मुट्ठी में तीनों काल देख,
मेरा स्वरूप विकराल देख ।[1]

अरिल्ल

इस छन्द के प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं, चरण के अन्त में भगण (ऽ।।) अथवा यगण (।ऽऽ) आता है किन्तु जगण (।ऽ।) का आना निषिद्ध है ।[2]

उदाहरण .

(१) गुरुपद रज मृदु मंजुल अंजन । नयन अमिअ दृगदोष विभंजन ॥
तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन । बरनउँ रामचरित भवमोचन ॥[3]

(२) मुद मंगल मय संतसमाजू । जो जग जंगम तीरथराजू ॥
रामभगति जहँ सुरसरिधारा । सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा ॥[4]

(३) फूलि फूलि तरु फूल बढ़ावत ।
मोदत महामोद उपजावत ।
उड़त पराग न चित्त उड़ावत ।
भ्रमर भ्रमत नहिं जीव भ्रमावत ॥[5]

(४) क्या क्षण क्षण में चौंक रही मैं ?
सुनती तुझसे आज यही मैं ।
तो सखि, क्या जीवन न जनाऊँ ?
इस क्षणदा को विफल बनाऊँ ?[6]

डिल्ला

यह समप्रवाही १६ मात्राओं का छन्द है । इसके प्रत्येक चरण के अन्त में भगण (ऽ।।) आता है ।[7]

---

१. रश्मिरथी (रामधारी सिंह 'दिनकर'), ३।२६
२. मानक हिन्दी कोश (पहला खण्ड), पृ० १७६
३. रामचरितमानस, १।२।१-२
४ रामचरितमानस, १।२।७-८
५ रामचन्द्रिका, १।३१
६. साकेत (नवम सर्ग), पृ० २८३
७. मानक हिन्दी कोश (दूसरा खण्ड), पृ० ४७२
'डिल्ला' नामक एक वर्णवृत्त भी होता है जिसके प्रत्येक चरण में दो सगण (।।ऽ) होते हैं ।

उदाहरण :

(१) मार्गनिरक्षय रघुकुलनायक। धृत वर चाप रुचिर कर सायक।
मोह महा घनपटल प्रभंजन। संशय विपिन अनल सुररंजन।[1]

(२) यथा पाँच पुत्र हो जाने पर,
सुत के धन-धाम गंवाने पर,
या महानाश के छाने पर,
अथवा मन के घबराने पर।[2]

पज्झटिका

इस छन्द के प्रत्येक चरण मे १६ मात्राएँ इस प्रकार आती हैं कि प्रत्येक चरण का द्वितीय अष्टक गुरु (ऽ) से ही प्रारंभ होता है और गुरु (ऽ) से ही उसका अन्त होता है।[3]

उदाहरण

(१) मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥
नृपकिरीट तरुनीतनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई॥[4]

(२) सिर पर कुलीनता का टीका,
भीतर जीवन का रस फीका,
अपना न नाम जो ले सकते,
परिचय न तेज से दे सकते।[5]

सिंह अथवा सिंहविलोकित

इस छन्द के प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ इस प्रकार आती हैं कि प्रत्येक चरण के आदि में दो लघु वर्ण (।।) तथा चरण के अन्त में सगण (।।ऽ) आता है।[6]

---

१. रामचरितमानस, ६।११५।१-२
२. रश्मिरथी (तृतीय सर्ग), पृ० ४६
३. मानक हिन्दी कोश (तीसरा खण्ड), पृ० ३६० में इसे 'पज्झटिका' (पद्धटिका) कहा गया है तथा आठवीं और छठी मात्रा पर गुरु होना कहा गया है और साथ ही साथ चरण के अन्त में जगण (।ऽ।) का निषेध भी किया गया है।
४. रामचरितमानस, १।११।१-२
५ रश्मिरथी, पृ० ५५ (आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना, पृ० २६०)
६. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना, पृ० २६०

उदाहरण :

(१) सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई । लहहिं भगति गति संपति नई ।
खगपति रामकथा मैं बरनी । स्वमति बिलास त्रास दुख हरनी ।[1]

(२) अति मुनि तन मन तहं मोहि रह्यो ।
कछु बुधि बल बचन न जाय कह्यो ।
पशु पक्षि नारि नर निरखि तबै ।
दिन रामचन्द्र गुण गनत सबै ॥[2]

(३) रथ मानो एक रिक्त घन था,
जल भी न था, न वह गर्जन था।
वह बिजली भी थी हाय ! नहीं,
विधि-विधि पर कहीं उपाय नहीं ।[3]

विश्वलोक

इस छन्द के प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ इस प्रकार आती हैं कि पहले चौकल के बाद जगण (ISI) आता है ।[4]

उदाहरण

टूटी महीप की हृत्तन्त्री,
बोले विषाद पूर्वक मन्त्री—
"हे आर्य राम-मुख देखोगे,
दुख देख क्या न सुख देखोगे ?[5]

पदपादाकुलक

इस छन्द के प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं, चरण के आदि में द्विकल (ऽ या ।।) ही होना चाहिए, त्रिकल नहीं । 'पादाकुलक' में चौकल ही आते हैं किन्तु इसमें दो मात्राओं के पश्चात् कहीं भी त्रिकल आ सकता है । यह छन्द पादाकुलक की अपेक्षा चौपाई के अधिक निकट है ।[6]

उदाहरण :

(१) निसि प्रबेस मुनि आयसु दीन्हा । सबहीं संध्याबंदनु कीन्हा ॥
कहत कथा इतिहास पुरानी । रुचिर रजनि जुग जाम सिरानी ॥[7]

---

१ रामचरितमानस, ७।१५।५-६
२. रामचन्द्रिका, १।४४
३. साकेत (षष्ठ सर्ग), पृ० १७०
४. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २६१
५ साकेत (षष्ठ सर्ग) पृ० १७५
६. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २६६
७. रामचरितमानस, १।२२६।१-२

(२) नृप राम राम ही रटते थे,
युग के समान पल कटते थे।
फिर भी सुमन्त्र हैं साथ गये,
गुह-दशा देख रघुनाथ गये।[1]

मत्तसमक या मात्रासमक

इसके प्रत्येक चरण में चार चतुष्कल के रूप में १६ मात्राएँ होती हैं, प्रत्येक चरण का अन्ताक्षर गुरु तथा नवमी मात्रा लघु अक्षर पर पड़नी चाहिए।[2]

उदाहरण

(१) तब नृप दूत निकट बैठारे। मधुर मनोहर बचन उचारे॥
भैया कहहु कुसल दोउ बारे। तुम्ह नीकें निज नयन निहारे॥[3]

(२) जब रजनी आकर प्राप्त हुई,
बाहर ही सांझ समाप्त हुई,
नीरव गति से, उदास उर में,
तब सचिव प्रविष्ट हुए पुर में।[4]

चौपाई

इस छन्द के प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं, चरण के अन्त में जगण (।ऽ।) अथवा तगण (ऽऽ।) नहीं आने चाहिए; सामान्यतया चरण के अन्त में सगण (।।ऽ) आता है।[5]

उदाहरण :

(१) तब सरजा बोला बरिबंडा। जनहु सदूर केर भुजदंडा॥
कोपि गरजि मारेसि तस बाजा। जानहु परी टूटि सिर गाजा॥[6]

---

१. साकेत (षष्ठ सर्ग), पृ० १६६
२. (क) आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २६१
(ख) मानक हिन्दी कोश (चौथा खण्ड), पृ० ३३६ के अनुसार इसके प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ और अन्ताक्षर गुरु (ऽ) होना चाहिए।
३. रामचरितमानस, १।२६१।३-४
४. साकेत (षष्ठ सर्ग), पृ० १०२
५. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २६२
६. पद्मावत, १३।१३।१-२ (जायसी-ग्रन्थावली, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० २८१)

(२) आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल थल नभ बासी॥
सीय राम मय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी॥[1]

(३) हम इह काज जगत में आये। धर्म हेतु गुरुदेव पठाये।
जहाँ तहाँ तुम धरम उवारो। दुष्ट दोखियन पकरि पछारो।[2]

शृंगार

१६ मात्राओं के चरण वाले छन्द में यदि आदि मे त्रिकल, मध्य मे सम-प्रवाह और अन्त में गुरुलघ्वात्मक (ऽ।) त्रिकल हो तो उसे 'शृंगार' छन्द कहते हैं।[3]

उदाहरण:

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग;
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।[4]

विहंग

इस छंद के भी प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं,। यह जलोद्धतगति (।ऽ। ऽऽ।ऽ। ऽऽ) का मात्रिक रूप है।[5] उर्दू में इस छन्द का बहुत प्रचार है।

उदाहरण:

न छेड़ना उस अतीत स्मृति से,
खिंचे हुए बीन तार कोकिल।
करुण रागिनी तड़प उठेगी
सुना न ऐसी पुकार कोकिल॥[6]

१७ मात्राओं के छन्द (महासंस्कारी वर्ग—२५८४ भेद)

राम

इस छन्द के प्रत्येक चरण में ९, ८ के विराम से १७ मात्राएँ इस प्रकार

---

१. रामचरितमानस, १।८।१-२
२. गुरु गोविन्दसिंह (विचित्र नाटक)—कविताकौमुदी, पहला भाग, पृ० ४४२ पर उद्धृत
३. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २६६
४. कामायनी (श्रद्धा सर्ग), पृ० ४६
५. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २६७
६. स्कन्दगुप्त (जयशंकर प्रसाद), पृ० १६

होती है कि त्रिकल के बाद तीन चौकल और उसके पश्चात् गुरु रखा जाता है।[1]

उदाहरण :

चले फिर रघुवर माँ से मिलने,
बढ़ाया घन-सा प्राणानिल ने !
चले पीछे लक्ष्मण भी ऐसे—
भाद्र के पीछे आश्विन जैसे।[2]

चन्द्र

इस छन्द के प्रत्येक चरण में १७ मात्राएँ इस प्रकार आती हैं कि प्रत्येक चरण की तीसरी, आठवीं और तेरहवीं मात्रा लघु होती है।[3]

उदाहरण :

भग्न मन यदि विकल काम-रण में,
देखते ही न युग शम्भु क्षण में,
छवि विवश हो, तरुण प्रेम-लीला,
व्यर्थ तो सुन्दरी रूप-शीला।[4]

उर्मिला

इस छन्द के प्रत्येक चरण में १७ मात्राएँ होती हैं, प्रत्येक चरण के अन्तिम दो अक्षर क्रमश: गुरु लघु (ऽ।) होते हैं। इसकी तीसरी और दसवीं मात्रा अनिवार्यतः लघु होती है। यह छन्द करुण एवं विप्रलंभ के लिए अधिक उपयुक्त होता है।[5]

उदाहरण :

क्या यही साकेत है जगदीश !
थी जिसे अलका झुकाती शीश।

---

१. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना, पृ० २६७
मानक हिन्दी कोश (चौथा खण्ड) पृ० ५०१ में इसके लक्षण के अन्तर्गत चरण के अन्त में यगण (।ऽऽ) रखने का विधान है तथा ६, ८ मात्राओं पर विराम।

२. साकेत (तृतीय सर्ग), पृ० ६१

३. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना, पृ० २६७-६८

४. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २६८

५. आधुनिक हिंदी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २६८
कहीं कहीं इसे 'धीर' की संज्ञा प्रदान की गयी है (हिन्दी-छन्द-रचना, पृ० १०५)

क्या हुए वे नित्य के आनन्द ?
शान्ति या अवसन्नता यह मन्द ?[1]

पारिजात

इस छन्द के प्रत्येक चरण में १७ मात्राएँ इस प्रकार आती हैं कि तीसरी, आठवीं और ग्यारहवीं मात्रा लघु होती है।[2]

उदाहरण :

हो तरंगायमान कवि-मानस
सिन्धु-सम भाव-रत्न जनता है
स्थान बदले सुधा गरल मुक्ता
स्वाति वर वारि बिन्दु बनता है।[3]

श्येनिका

इस छन्द के प्रत्येक चरण में ५ त्रिकल और एक गुरु मिलाकर १७ मात्राएँ होती हैं। यह संस्कृत के श्येनिका वृत्त [रगण (ऽ।ऽ), जगण (।ऽ।), रगण (ऽ।ऽ), लघु (।) और गुरु (ऽ)] का मात्रिक रूप है।[4]

उदाहरण :

बढ़ रहा शरीर, आयु घट रही,
चित्र बन रहा, लकीर मिट रही,
आ रहा समीप लक्ष्य के पथिक,*
राह किन्तु दूर दूर हट रही।[5]

अणिमा

१७ मात्राओं के चरण वाले इस छन्द के अंत में अधिकांशत रगण (ऽ।ऽ) आता है।[6]

---

१. साकेत (सप्तम सर्ग), पृ० १८६
२. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २६८
३. पारिजात (हरिऔध), मुखपृष्ठ पर उद्धृत
४. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २६८
* 'पथिक' में उच्चारण की दृष्टि से 'थि' पर बल पड़ता है, अतः उसे गुरु मानना होगा और क (जिसका उच्चारण क् वत् है) का लोप मानना पड़ेगा।
५ विभावरी (नीरज) —आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २६६ पर उद्धृत
६. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २६६

उदाहरण :

समझे युग रागानुग युक्ति रे—
ज्ञान परम, मिले चरम युक्ति से;
सुन्दरता के, अनुपम उक्ति के
बँधे हुए श्लोक पूर्ण कर चरण ।[1]

बाला

इस छन्द के प्रत्येक चरण में तीन पचक और गुरु मिलकर १७ मात्राएँ होती हैं। चरण के अन्त में गुरु (ऽ) के स्थान पर दो लघु (।।) भी आ सकते हैं।[2]

उदाहरण :

रागिनी प्रेम की कौन गाता।
आ रहा आज मुझको बुलाता।।
क्यों न जाऊँ मिलन के लिए मैं।
साज सिंगार अपना किये मैं।।[3]

१८ मात्राओं वाले छंद (पौराणिक वर्ग—४१८१ भेद)

चामरी

इस छन्द के प्रत्येक चरण में १८ मात्राएँ होती हैं जिनमें से पहली, चौथी, सातवीं, दसवीं, तेरहवीं और सोलहवीं मात्रा लघु होती है।[4]

उदाहरण :

मयंक-रश्मि पूर्व से लहक रही,
प्रसुप्त नीड़-वासिनी चहक रही,
शरद प्रफुल्ल मालिका महक रही,
दहक रहा बुझा हुआ अंगार फिर।[5]

सिन्धुजा

इस छन्द के प्रत्येक चरण में १८ मात्राएँ होती हैं, ८ और १० मात्राओं

---

१ गीतिका (निराला), ६८ (पृ० ६६)
२. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २६६
३ चन्द्राकर (आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना, पृ० २७० पर उद्धृत)
४. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द योजना, पृ० २७०
५. मिलनयामिनी (बच्चन), पृ० १६८ (आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना, पृ० २७० पर उद्धृत)

पर यति आती है। चरण का पूर्वार्द्ध दो त्रिकलों और गुरु के योग से तथा उत्तरार्ध दो त्रिकलों और चौकल के योग से बनता है।[1]

उदाहरण :

मुदित 'सिन्धुजा', विहँस रही कैसी।
कली कमल की, कहीं खिली ऐसी?
बोल मधुर तू, हृदय खिले मेरा।
बढ़े स्वस्थ बन, मंजु रूप तेरा।[2]

शैशव

इस छन्दके प्रत्येक चरण में १८ मात्राएँ होती हैं जिनमें से पाँचवी, दसवी और पद्रहवी मात्रा लघु होती है। यह छन्द बाल-साहित्य के अनुकूल है।[3]

उदाहरण :

धीरे चलो, पाँव दोनों सँभाल।
डगमग कहीं और होवे न चाल।।
लाओ, खिलौना पड़ा दूर-दूर।
दौड़ो, उठाओ बनो वीर शूर।।[4]

शक्ति

इस छन्द के प्रत्येक चरण मे १८ मात्राएँ इस प्रकार आती हैं कि पहली, छठी, ग्यारहवी और सोलहवीं मात्रा लघु होती है। यह छद भुजंगी वृत्त-[तीन यगण (ISS), लघु (I) और गुरु (S)] का मात्रिक रूप है।[5]

उदाहरण :

(१) अरे उठ कि अब तो सवेरा हुआ
नहीं दूर तेरा अँधेरा हुआ।
बहुत दूर करना तुझे है सफर।
नहीं ज्ञात है राह घर की किधर।।[6]

(२) नयन में तुम्हें और भर लूँ, रुको!
प्रिये! मैं तुम्हें प्यार कर लूँ, रुको।

---

१. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २७०
२. चन्द्राकर (आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २७० पर उद्धृत)
३. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २७१
४. चन्द्राकर (आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २७१ पर उद्धृत)
५. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २७१
६. रामनरेश त्रिपाठी (हिन्दी-छन्द-रचना, पृ० १०७ पर उद्धृत)

हृदय में अभी प्यास कितनी भरी।
कहाँ तुम चलीं? बोल दो, सुन्दरी।[1]

तरलनयन

इसके प्रत्येक चरण में १८ मात्राएँ होती हैं जिनमें से प्राय तीसरी, छठी, नवी, बारहवी, पन्द्रहवी और अठारहवी मात्रा लघु होती है।[2]

उदाहरण

देवदूत, दीप्तिमान, विश्वमित्र,
तुम कुबेर सोम अग वीर्यवान।
प्रश्व से प्रसन्न मातरिश्व सम,
अग नय-धूम रचे जातुधान।[3]

उर्मिला सखी

इस छन्द के प्रत्येक चरण में १८ मात्राएं इस प्रकार होती हैं कि तीसरी और दसवी मात्रा लघु होती है। यह छन्द 'उर्मिला' छन्द के अन्तिम लघु अक्षर को गुरु कर देने से बनता है। इसका आधार भी द्वितीय सप्तक (ऽ।ऽ) है।[4]

उदाहरण

वायदे बेकार, भूलों बातें।
देखते ही राह बीती रातें।
बेमुरव्वत तुम नहीं हो ऐसे।
मान हो, पर, मान के मन कैसे![5]

महेन्द्रजा

यह भी १८ मात्राओं वाला छन्द है। यह छद इन्द्रवज्रा वृत्त (दो तगण, जगण और दो गुरु) का मात्रिक रूप है। इसके प्रत्येक चरण की पाँचवी और चौदहवीं मात्रा अनिवार्यत लघु होती है। चरण का अन्तिम वर्ण गुरु होता है। यह छन्द ओजगुण के अधिक अनुकूल है।[6]

---

१ चन्द्राकर (आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना, पृ० २३१ पर उद्धृत)
२ आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २३१
३ वही, पृ० २३१
४ वही, पृ० २७८
५ वही, पृ० २३२
६. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द योजना, पृ० २३२

उदाहरण :

टूटे बवंडर चिन्ता नहीं हो।
गरजे समुन्दर चिन्ता नहीं हो।
बरसे अंगारे चिन्ता नहीं हो।
हिम्मत न ढीली तेरी कभी हो।[1]

ग्रह

१८ मात्राओं वाले इस छन्द की पहली और दसवी मात्रा लघु होती है।[2]

उदाहरण -

किसी पर मरना यही तो दुख है !
'उपेक्षा करना' मुझे भी सुख है;
हमारे उर में न सुख पाओगे;
मिला है किसको कहाँ जाओगे ?[3]

पुराण

१८ मात्राओं वाले इस छन्द का प्रयोग मुक्तक कविता मे ही समव है। अपवादरूप इस छन्द के किसी चरण मे कम मात्राएँ भी मिलती हैं।[4]

उदाहरण

हाथ मारते फिरे कहाँ के हैं,
ये गफलत से घिरे जहाँ के हैं,
अपनी तरणी तिरे यहाँ के हैं,
इनसे जैसा चाहे कह ले।[5] (१६ मात्राएँ)

१६ मात्राओं के छन्द (महापौराणिक वर्ग—६७६५ भेद)

पीयूषवर्ष

इस छन्द के प्रत्येक चरण मे १६ मात्राएँ होती हैं; १०,६ पर यति तथा चरण के अन्त्याक्षर क्रमशः लघु गुरु होते हैं। इस छद की तीसरी, दसवीं और

---

१. आधुनिक हिंदी काव्य मे छन्द-योजना, पृ० २७२
२. वही, पृ० २७२
३. झरना (जयशंकर प्रसाद), पृ० ८४
४. आधुनिक हिन्दी-काव्य मे छन्द-योजना, पृ० २७२
५. बेला (निराला), गीत २६ (आधुनिक हिंदी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २७२)

सत्रहवीं मात्रा अनिवार्यतः लघु होती है। यह छन्द शृंगार की कोमल भावनाओं के अनुरूप है।[1]

उदाहरण

(१) ध्यान कर करके प्रिया के त्याग का—
और उसके शील का, अनुराग का।
नृप निरन्तर व्यग्र ही रहने लगे,
जो न सहने योग्य था सहने लगे ॥[2]

(२) ब्रह्म की हैं चार जैसी पूर्तियाँ,
ठीक वैसी चार माया-मूर्तियाँ।
धन्य दशरथ जनक-पुण्योत्कर्ष है,
धन्य भगवद्भूमि—भारतवर्ष है![3]

इस छन्द में यदि १०, ६ पर यति न रखी जाय तो उसे 'आनन्दवर्धक' छन्द की संज्ञा दी जाती है।[4]

उदाहरण :

नाक का मोती अधर की कान्ति से,
बीज दाडिम का समझकर भ्रान्ति से,
देखकर सहसा हुआ शुक मौन है,
सोचता है, अन्य शुक यह कौन है।[5]

सुमेरु

इस छन्द के प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं, १२,७ पर यति पड़ती है। कभी-कभी यति १०,६ पर पड़ती है। प्रत्येक चरण की पहली, आठवीं और पन्द्रहवीं मात्रा लघु होती है।[6]

उदाहरण :

विदा होकर प्रिया से वीर लक्ष्मण—
हुए नत राम के आगे उसी क्षण।

---

१ आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २७३
२. शकुन्तला (कर्तव्य—मैथिलीशरण गुप्त), पृ० ३५
३. साकेत (प्रथम सर्ग), पृ० १६
४. देखिए 'हिन्दी-छन्द-रचना', पृ० १०८
किन्तु मानक हिन्दी कोश (तृतीय खण्ड), पृ० ५२२ में पीयूष-वर्ष और आनन्दवर्धक नामक छन्दों को एक ही माना गया है।
५ साकेत (प्रथम सर्ग), पृ० २६
६ मानक हिन्दी कोश (पाँचवाँ खण्ड), पृ० ४०६

हृदय से राम ने उनको लगाया,
कहा—"प्रत्यक्ष यह साम्राज्य पाया।"[1]

विष्वकमाला

यह छन्द संस्कृत विष्वक्माला (तीन तगण SSI और दो गुरु) के आधार पर बनता है, अतः ५ वीं, १० वीं और १५ वीं मात्रा अनिवार्यत लघु होनी चाहिए; इस प्रकार इस छंद के प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं।[2]

उदाहरण

लंका सरोजस्थिता वेदहस्ता,
आद्या जया विश्व वाणी प्रशस्ता,
मात पुरा कीर्तिमति, भीतिध्वस्ता,
जागो, करो जाति महिमाभिरामा।[3]

भुजंगक

इस छन्द के प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं जिनमें से पहली, छठी, ग्यारहवीं और सोलहवीं मात्रा लघु होती है। यह छंद भुजगप्रयात (चार यगण ISS) के अन्तिम गुरु अक्षर को लघु कर देने से बनता है । फारसी के प्रसिद्ध कवि फिरदौसी ने अपने 'शाहनामा' में इसी छन्द का प्रयोग किया है।[4]

उदाहरण

विजेता बनेंगे सदा देशवीर,
रहें मातृभू-पुत्र गंभीर-धीर।
न कश्मीर की भूमि हो छिन्न-भिन्न,
रहेगी रहो हिन्द से ये अभिन्न।[5]

दोल

दो त्रिकलों तथा रगणात्मक (SIS) पञ्चक के बाद यति आकर यदि पश्चमूलक त्रिकल और रगणात्मक पंचक का योग हो तो 'दोल' नामक १६ मात्राओं वाला छन्द होता है।[6]

---

१. साकेत (तृतीय सर्ग), पृ० ७०
२ आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २७४
३ शम्पा (कु० चन्द्रप्रकाश सिंह), पृ० ८ (आधुनिक हिंदी-काव्य में छंद-योजना, पृ० २७५)
४ आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २७५
५ चन्द्राकर (आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २७५ पर उद्धृत)
६ आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २७५

उदाहरण :

आज खिली माधवी, मंजु मालती।
नयन किरण हेम का, हार लालती॥
पवन-पुलक अंग मे, राग-रंग मे।
ये वसन्त नित्य हो, मोद संग मे॥[१]

२० मात्राओं के छन्द (महादैशिक वर्ग—१०९४ भेद)

योग

छन्द प्रभाकर के अनुसार इस छन्द के प्रत्येक चरण में १२, ८ पर यति होती है और चरण के अन्त में यगण (।ऽऽ) आता है।[२] आधुनिक युग में इस नियम का पालन होता नहीं दीखता।[३]

उदाहरण

मुक्त जहाँ मन की गति, जीवन में रति,
भव-मानवता में जन-जीवन परिणति!
संस्कृत वाणी, भाव, कर्म, संस्कृत मन,
सुन्दर हों जन-वास, वसन, सुन्दर तन![४]

शास्त्र

इस छन्द के प्रत्येक चरण में २० मात्राएँ होती हैं। चरण का अन्तिम वर्ण लघु होने के कारण इस छन्द की लय प्रभावपूर्ण नहीं है। अधिकांशतः इस छन्द के प्रत्येक चरण में चतुर्थ सप्तक (।ऽऽऽ) की दो आवृत्तियों के साथ यगण (।ऽऽ) और लघु (।) आता है।[५]

उदाहरण :

हृदय है व्यर्थ अनुरागी बिना त्याग।
रहा है साध्य मानव का प्रणय याग॥
न लय होता अगर जल में कभी क्षीर।
भला कैसे मना चलता भरी पीर॥[६]

---

१ चन्द्राकर (आधुनिक हिन्दी-काव्य मे छन्द-योजना, पृ० २३५ पर उद्धृत)
२. आधुनिक हिन्दी-काव्य मे छन्द-योजना, पृ० २३६
३. आधुनिक हिन्दी-काव्य मे छन्द-योजना, पृ० २३६
अब 'योग' और 'हंसगति' नामक छन्द अभिन्न हो गये हैं।
४. युगवाणी (नव संस्कृति—सुमित्रानन्दन पंत), पृ० २४
५. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २३६
६ शृंगार-सुक्ति (चन्द्राकर)—आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २३६ पर उद्धृत

अरुण

इस छन्द के प्रत्येक चरण में २० मात्राएँ इस प्रकार होती हैं कि तीसरी, आठवीं, तेरहवीं और अठारहवीं मात्रा लघु होती है। यह छन्द स्रग्विणी वृत्त (चार रगण ऽ।ऽ) के आधार पर बना है।[1]

उदाहरण :

रोध की, शोध निज बोध, मिथ्याकथा,
सर्वथा दूर होगी, यहाँ जो व्यथा,
इष्ट अनि मिष्ट होता नहीं अन्यथा,
सिद्धि लह जाय, बह जाय संसार रे।[2]

भुजंगप्रयाता

इसके प्रत्येक चरण में २० मात्राएँ होती हैं जिनमें से पहली, छठी, ग्यारहवीं और सोलहवीं मात्रा लघु होती है। इस छन्द का आधार भुजंगप्रयात वृत्त (चार यगण ।ऽऽ) है।[3]

उदाहरण :

बहिन आज फूली समाती न मन में।
तड़ित् आज फूली समाती न घन में।।
घटा है न फूली समाती गगन में।
लता आज फूली समाती न वन में।।[4]

पीयूषराशि

इस छंद के प्रत्येक चरण में २० मात्राएँ होती हैं। यह छन्द 'पीयूषवर्ष' छन्द के अन्त में लघु मात्रा के योग से निर्मित होता है।[5]

उदाहरण :

पूर्व में लज्जित उषा नव शोभमान।
धन्य, पाकर रवि-हृदय का प्रेम-दान।

---

१. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द योजना, पृ० २७६
२. मेघमाला (कु० चन्द्रप्रकाश सिंह), पृ० ६१—आधुनिक हिंदी-काव्य में छंद-योजना, पृ० २७७ पर उद्धृत
३. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २७७
४. मुकुल (राखी की चुनौती—सुभद्राकुमारी चौहान), पृ० ७६
५. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २७८

लीन होती आप प्रिय में सानुराग।
विश्व भर में दीप्त है सुन्दर सुहाग॥[1]

सारंग

इस छन्द के प्रत्येक चरण में २० मात्राएँ होती हैं जिनमें से पाँचवीं, दसवीं, पन्द्रहवीं और बीसवीं मात्रा लघु होती है। यह छन्द सारंग वृत्त (चार तगण ऽऽ।) का मात्रिक रूप है।[2]

उदाहरण

वह श्यामता शस्य-भू की परम कान्ति।
होगी कहाँ पुण्य 'पर्यंदापुरी'—शान्ति॥
है जन्मदाता सदा तीर्थ सा ग्राम।
मैं हूँ प्रणत ध्यान कर मोद का धाम॥[3]

राग

इसके प्रत्येक चरण में २० मात्राएँ होती हैं। यह छन्द पंचचामर परिवार का होने के कारण तरंगायमान क्षिप्रगतिशाली है। यह छन्द राग वृत्त (रगण, जगण, रगण, जगण और गुरु) का मात्रिक रूप है।[4]

उदाहरण

बाट जोहती जहाँ सखी सहेलियाँ।
संगिनी अधीर आज की नवेलियाँ॥
और वह पिता उदार स्नेह का धनी।
तुम जहाँ किशोरि! रूपगर्विता बनीं॥[5]

सोहर

इस छन्द का प्रयोग लोक-गीतों में हुआ है। गोस्वामी तुलसीदास ने 'रामललानहछू' की रचना इसी छन्द में की है, इस छंद के प्रत्येक चरण में २० से

१. प्रभात (श्रीमती मालती शुक्ल)—आधुनिक हिंदी-काव्य में छन्द योजना, पृ० २७८ पर उद्धृत
२. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २७६
आजकल 'मजुलतिका' छन्द 'सारंग' के साथ घनिष्ठ हो गया है।
—आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २७६
३. चन्द्राकर (आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २७६ पर उद्धृत)
४ आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २७६
५ गोपाल सिंह नेपाली (कवि भारती, पृ० ६२०)—आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २७६

२२ मात्राएँ तक होती हैं।[1]

उदाहरण :

> आदि सारदा गनपति गौरि मनाइय हो।
> रामलला कर नहछू गाइ सुनाइय हो॥
> जेहि गाये सिधि होइ परम निधि पाइय हो।
> कोटि जनम कर पातक दूरि सो जाइय हो॥[2]

मंगल

'मंगल' नामक छन्द के प्रत्येक चरण में २० मात्राएँ होती हैं तथा इसमें दो चरण होते हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने 'जानकीमंगल' और 'पार्वतीमंगल' की रचना इसी छन्द में की है।[3]

उदाहरण :

> बिनइ गुरहि गुनिगनहि गिरिहि गननाथहि।
> हृदयँ आनि सिय राम धरे धनु भाथहि॥[4]

२१ मात्राओं के छन्द (त्रैलोक वर्ग—१७७११ भेद)

चन्द्रायण

इस छन्द के प्रत्येक चरण में २१ मात्राएँ होती हैं, जगणान्त (ISI) ग्यारहवीं मात्रा पर यति होती है। चरण के अन्त में रगण (SIS) श्रुतिमधुर होता है।[5]

उदाहरण :

> "कवे, दाशरथि राम आज कृतकृत्य है,
> करता तुम्हें प्रणाम सपरिकर भृत्य है।"
> "राम, तुम्हारा वृत्त आप ही काव्य है,
> कोई कवि बन जाय, सहज सम्भाव्य है॥"[6]

प्लवंगम

इस छन्द के प्रत्येक चरण में २१ मात्राएँ होती हैं, आठवीं मात्रा पर यति

---

१. तुलसी-साहित्य-रत्नाकर, पृ० ४०२
२. रामलला नहछू, १
३. तुलसी-साहित्य-रत्नाकर, पृ० ४०२
४. पार्वतीमंगल, १
५. मानक हिन्दी कोश (दूसरा खण्ड), पृ० २२७
६. साकेत (पंचम सर्ग), पृ० १५६

आती है। भानुजी के अनुसार इसके प्रत्येक चरण के अन्त में जगण (ISI) और गुरु (S) होना चाहिए, किन्तु आधुनिक काल मे जगण (ISI) एव गुरु (S) के स्थान मे तगण (SSI) एव गुरु (S) भी आते हैं।[1]

उदाहरण -

> है जग नश्वर, यहाँ विषय सुख तुच्छ है,
> जन्म मरण का, स्थान दु ख का गुच्छ है।
> याते हरिजन, सग सदा मन दीजिए,
> राम-कृष्ण-गुण ग्राम नाम रस भीजिए॥[2]

तिलोकी

इस छन्द के प्रत्येक चरण मे २१ मात्राएँ होती हैं। चरण के अन्त मे लघु (I) और गुरु (S) होता है।[3] यह छन्द 'चन्द्रायण' और 'प्लवगम' दोनो के मेल से बनता है।[4]

उदाहरण

> काली चादर ओढ़ रही थी यामिनी।
> जिसमे विद्युत सुनहले बूटे थे बने॥
> तिमिर-पु ज के अग्रदूत थे घूमते।
> दिशा वधूटो के व्याकुल दृग सामने॥[5]

सिन्धु

इस छन्द के प्रत्येक चरण मे २१ मात्राएँ इस प्रकार आती हैं कि तीसरी, दसवी तथा सत्रहवी मात्रा लघु होती है।[6]

उदाहरण

> क्या नहीं नर ने इसे रौरव बनाया,
> क्या न तुमने स्वर्ग है इस पर बसाया,
> विश्व आतप ने हमें जब-जब तपाया,
> नील नीरद क्या तुम्हीं ने को न छाया।[7]

१. आधुनिक हिन्दी-काव्य मे छन्द-योजना, पृ० २८०
२ काव्य दर्पण (प० दुर्गादत्त), पृ० १६६
३. मानक हिन्दी कोश (दूसरा खण्ड), पृ० ५५४
४ आधुनिक हिन्दी-काव्य मे छन्द-योजना, पृ० २८१
५ वैदेही-वनवास, ६।२
६. आधुनिक हिन्दी-काव्य मे छन्द योजना, पृ० २८१
७ वासन्ती (मोहनलाल द्विवेदी), पृ० ५०—आधुनिक हिन्दी काव्य मे छ०-यो० योजना, पृ० २८१

प्रणय

२१ मात्राओं वाला यह छन्द कुंडल छन्द के अन्तिम गुरु वर्ण को लघु कर देने से बनता है। इसमें तीन षष्ठक (३+३ या ४+२) और गुरु-लघु का योग होता है।[1]

उदाहरण :

> शरद-इंदु का सिंगार रजित अभिसार।
> नयनों में नयनों का, बरस रहा प्यार॥
> मग्न हुआ हृदय, वहीं विमल प्रणय-धार।
> वंदन-अभिनंदन में, इंगित-अभिचार॥[2]

प्रवासी

इस छन्द के प्रत्येक चरण में २१ मात्राएँ इस प्रकार होती हैं कि प्रत्येक चरण की प्रथम, अष्टम एवं पंचदश मात्रा लघु होती है।[3]

उदाहरण

> वचन पलटें कि भेजें राम को वन में,
> उभय विध मृत्यु निश्चित जानकर मन में,
> हुए जीवन मरण के मध्य धृत-से वे;
> रहे बस अर्द्ध जीवित, अर्द्ध मृत-से वे।[4]

२२ मात्राओं के छंद (महारौद्र वर्ग—२८६५७ भेद)

राधिका

इस छन्द के प्रत्येक चरण में २२ मात्राएँ इस प्रकार होती हैं कि यति १३, ९ पर अथवा १०, १२ पर पड़े। 'लावनी' इसी छन्द में होती है।[5]

उदाहरण .

(१)
> औरों के हाथों यहाँ नहीं पलती हूँ,
> अपने पैरों पर खड़ी आप चलती हूँ।
> श्रमवारिबिंदु फल स्वास्थ्यशुक्ति फलती हूँ,
> अपने अंचल से व्यजन आप झलती हूँ।[6]

---

१. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २८१
२ चन्द्राकर (प्रणय-गीत, शरदुत्सव)—आधुनिक हिंदी-काव्य मे छंद-योजना पृ० २८२ पर उद्धृत
३. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २८२
४ साकेत (द्वितीय सर्ग), पृ० ६८
५ मानक हिन्दी कोश (चौथा खण्ड), पृ० ५००
६. साकेत (अष्टम सर्ग), पृ० २२३

(२) यह सच है तो फिर लौट चलो घर भैया,
अपराधिन मैं हूँ तात, तुम्हारी मैया।
दुर्बलता का ही चिह्न विशेष शपथ है,
पर, अबलाजन के लिए कौन-सा पथ है?[१]

दिग्वधू

इस छन्द के प्रत्येक चरण में २२ मात्राएँ इस प्रकार होती हैं कि पाँचवीं, आठवीं, सत्रहवीं और बीसवीं मात्रा लघु होती है। दिक्पाल छन्द के अन्तिम गुरु अक्षर को हटाकर इस छन्द का निर्माण होता है। यति १२, १० पर पड़ती है।[२]

उदाहरण :

तेरे सुहास से शशि! आकाश छा गया।
शुभ योग पूर्णिमा का, स्वयमेव आ गया॥
लख रूप का महोत्सव, मेरे नयन खिले।
छवि-लोक में तुम्हारे, ज्यों मुक्ति से मिले॥[३]

कुंडल

इस छन्द के प्रत्येक पाद में २२ मात्राएँ होती हैं। १२, १० पर यति पड़ती है। चरण के अन्त में दो गुरु (ऽऽ) आते हैं। यह एक संगीतात्मक छन्द है।[४]

उदाहरण :

(१) तू दयालु, दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी॥
नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो?
मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो॥[५]

(२) मैं भी कृतकृत्य आज बीर बस, आ तू।
स्वाधिकार भागी बन भूरि भूरि भा तू।

---

१. साकेत (अष्टम सर्ग), पृ० २४८
२. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २८२
३. चन्द्राकर (प्रणय-गीत, स्मृतियाँ)— आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २८३ पर उद्धृत
४. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २८३
५. विनय-पत्रिका, ७९।१-२

सत्प्रकाश और अमृत एक साथ पा तू,
बुद्ध-शरण, धर्म-शरण, संघ शरण जा तू।[1]

प्रभाती

इस छन्द के प्रत्येक पाद में २२ मात्राएँ होती हैं। १२, १० पर यति पड़ती है; चरण के अन्त में एक गुरु (ऽ) या सगण (।।ऽ) आता है। इस छन्द का एक अन्य नाम 'उड़ियाना' भी है।[2]

उदाहरण :

ठुमुकि चलत रामचंद्र, बाजत पैंजनियाँ,
धाय मात गोद लेत, दसरथ की रनियाँ।
तन, मन, धन, वारि मजु, बोलती बचनियाँ,
कमल बदन बोल मधुर, मद सी हँसनियाँ॥[3]

लावनी

इस छंद में छह चरण होते हैं, प्रत्येक चरण में २२ मात्राएँ होती हैं, १३, ९ पर यति पड़ती है।[4] 'राधिका' छंद का प्रचार इसी में है।

उदाहरण

सम्राट स्वयं प्राणेश, सचिव देवर हैं।
देते आकर आशीष हमें मुनिवर हैं।
धन तुच्छ यहाँ,—यद्यपि असंख्य आकर हैं,
पानी पीते मृग-सिंह एक तट पर हैं।
सीता रानी को यहाँ लाभ ही लाया,
मेरी कुटिया में राजभवन मन भाया।[5]

रास

इस छंद के प्रत्येक चरण में २२ मात्राएँ इस प्रकार आती हैं कि ८, ८, ६ पर यति होती है और चरण के अन्त में सगण (।।ऽ), भगण (ऽ।।) अथवा दो गुरु (ऽऽ) आते हैं।[6]

---

१. यशोधरा, पृ० १४७
२. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छंद-योजना, पृ० २८४
३. काव्यदर्पण (प० दुर्गादत्त), पृ० १६६
४. काव्यदर्पण (प० दुर्गादत्त), पृ० १६७
५. साकेत (अष्टम सर्ग), पृ० २२२
६. (क) मानक हिन्दी कोश (चौथा खण्ड), पृ० ५०६
(ख) आधुनिक हिन्दी-काव्य में छंद-योजना, पृ० २८३

उदाहरण :

तुम अंधकार, जीवन को ज्योतित करतीं,
तुम विष हो, उर में मधुर सुरा सी झरतीं,
तुम मरण, विश्व में मधुर चेतना भरतीं,
तुम निखिल भयंकर, भीति जगत की हरतीं ![1]

कोकिलक

इस छन्द के प्रत्येक चरण में २२ मात्राएँ इस प्रकार आती हैं कि १६ मात्राओं के बाद यति पड़ती है तथा उसके पश्चात् दो त्रिकल प्रयुक्त होते हैं।[2]

उदाहरण

तुझपर मुझपर हाथ फेरते साथ यहाँ,
शशक, विदित हैं तुझे आज वे नाथ कहाँ ?
तेरी ही प्रिय जन्मभूमि में, दूर नहीं,
जा तू भी कहना कि ऊर्मिला क्रूर यहीं ![3]

सुखदा

इस छन्द के प्रत्येक चरण में २२ मात्राएँ इस प्रकार होती हैं कि १२, १० पर यति आती है और अन्त में गुरु (ऽ) आता है। यह छन्द 'सार' और 'विष्णुपद' नामक छन्दों के द्वितीय खंडों को क्रमशः रखने से बनता है।[4]

उदाहरण

उषा काल में उपवन, नलिनी मुसकाती।
अस्फुट स्वर में जैसे, अलिनी कुछ गाती॥
मुदित 'मिथुजा' प्रान, वैसी ही लगती।
दिव्य चेतना गृह में, मुखरित बन जाती।[5]

वेला

यह एक नया छन्द है। इसके प्रत्येक चरण में २२ मात्राएँ होती हैं, तथा

---

१ युगवाणी (कवि—सुमित्रानन्दन पंत), पृ० १०२
२ आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २८४
३. साकेत (नवम सर्ग), पृ० २८०-६
४. आधुनिक हिन्दी (काव्य में छन्द) योजना, पृ० २८४
५. किन्तु भाग्य न्यून [illegible] आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द योजना, पृ० २८ हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना।
सरिता, ३८।१-२

पाँचवी, आठवी, ग्यारहवी, चौदहवी, सत्रहवी और बीसवी मात्रा लघु होती है।[1]

उदाहरण :

ये टहनी से हवा कि छेड़छाड़ थी मगर,
खिलकर सुगध से किसी का दिल बदल गया।
खामोश फतह पाने को रोका नहीं रुका,
मुश्किल मुकाम जिंदगी का जब सहल गया।।[2]

२३ मात्राओं के छंद (रौद्राक वर्ग—४६३६८ भेद)

रजनी

इस छद के प्रत्येक चरण मे २३ मात्राएँ इस प्रकार होती है कि तीसरी दसवी और सत्रहवी मात्रा लघु होती है।[3]

उदाहरण .

(१) मधुमयी कुसुमित क्षणो से शुचि सुवासित सी,
इठुकर आलिंगिता सी अमृत-भाषित सी,
सब दिशाओं में सरस उल्लास सा भरती,
जा रही चंचल हृदय को देह को करती।[4]

(२) स्वर्ग के सम्राट को जाकर खबर कर दे,
"रोज ही आकाश चढते जा रहे हैं वे,
रोकिये, जैसे बने इन स्वप्नवालो को
स्वर्ग की ही ओर बढते आ रहे हैं वे।।"[5]

हीर

इस छद के प्रत्येक चरण मे २३ मात्राएँ होती हैं तथा ६, ६ और ११ पर यति पडती है।[6]

---

१. आधुनिक हिन्दी-काव्य मे छद-योजना, पृ० २८५
२ वेला (निराला), गीत ७५ (आधुनिक हिंदी-काव्य में छद-योजना पृ० २८५ पर उद्धृत)
३. आधुनिक हिन्दी-काव्य मे छंद-योजना, पृ० २८५
४. प्रणयगीत (देवराज), पृ० १४—आधुनिक हिन्दी-काव्य में छद-योजना पृ० २८५ पर उद्धृत
५ सामधेनी (रामधारी सिंह 'दिनकर'), पृ० २१
६. मानक हिंदी कोश (पाँचवां भाग), पृ० ५५३

उदाहरण :

सोए तरु-वन में खग सरसी में जलजात,
सजग गगन के तारक भू प्रहरी प्रख्यात,
सोमो जग-दृगतारक भूलो पलक-निपात,
चपल वायु सा मानस पा स्मृतियों के घात।[1]

निश्चल

इस छंद के प्रत्येक चरण में २३ मात्राएँ इस प्रकार होती हैं कि १६, ७ पर यति पड़े तथा चरण के अंत में गुरु लघु (ऽ।) आयें। रोला छंद की अंतिम गुरु मात्रा को लघु कर देने से यह छंद बनता है।[2]

उदाहरण :

एक रात उर्वशी अप्सरा-मणि सविलास,
दिव-विभूति-सी हुई उपस्थित उनके पास।
नूपुर-रव से मुखर बनाती मृदु मुसकान,
नर को करने चली अप्सरा सुधा-प्रदान![3]

२४ मात्राओं के छंद (अवतारी वर्ग—७५०२५ भेद)

रोला

इस छंद के प्रत्येक चरण में २४ मात्राएँ होती हैं, ११ और १३ पर यति पड़ती है।[4]

उदाहरण

मातृदलित हम तुम्हें कदापि न होने देंगे,
किसी लौह के साथ कहीं भी लोहा लेंगे।

---

१ पल्लविनी (निद्रा के गीत—सुमित्रानंदन पंत), पृ० २२२
२ आधुनिक हिन्दी-काव्य में छंद-योजना, पृ० २८६
३. जयभारत (अन्नलाभ, मैथिलीशरण गुप्त), पृ० १६२
विशेष . रौद्राक वर्ग के अन्य मुख्य छंद हैं :
१. उपमान (१३, १०, अंत ऽऽ), २ जग (१०, ८, ५; अंत ऽ।);
३ सम्पदा (११, १२; अंत ऽ।), ४ अवतार (१३, १०)
५. सुजान (१४, ९, अंत ऽ।); ६. मोहन (५, ६, ६, ६)
देखिए, आधुनिक हिन्दी-काव्य में छंद-योजना, पृ० २८६
४. मानक हिन्दी कोश (चौथा खण्ड), पृ० ५३२
जिस रोला के चारों पदों में ग्यारहवीं मात्रा लघु हो, उसे 'काव्यछंद' कहते हैं। —आधुनिक हिन्दी-काव्य में छंद-योजना, पृ० २८७

अतुल हमारी चमू समरसज्जा से सज्जित,
जाग पड़ी है एक रोषरस में विनिमज्जित।[1]

दिक्पाल

इस छंद के प्रत्येक चरण में २४ मात्राएँ होती हैं, १२, १२ पर यति पड़ती है। चरण की पाँचवीं, आठवीं, सत्रहवीं और बीसवीं मात्रा अनिवार्यतः लघु होती है। इससे लय में विशेष मधुरता आ जाती है।[2]

उदाहरण :

मैं ढूँढ़ता तुझे था, जब कुंज और वन में।
तू खोजता मुझे था, तब दीन के वतन में।
तू आह बन किसी की, मुझको पुकारता था।
मैं था तुझे बुलाता, संगीत में भजन में॥[3]

रूपमाला

इस छन्द के प्रत्येक चरण मे २४ मात्राएँ इस प्रकार होती हैं कि तीसरी, दसवीं और सत्रहवीं मात्रा लघु हो तथा १४, १० पर यति पड़े। चरण के अन्तिम वर्ण क्रमशः गुरु और लघु (ऽ।) होने चाहिए।[4] इसका एक नाम 'मदन' भी है।

उदाहरण :

चूमता था भूमितल को अर्द्ध विधु-सा भाल,
बिछ रहे थे प्रेम के दृग-जाल बनकर बाल।
छत्र-सा सिर पर उठा था प्राणपति का हाथ,
हो रही थी प्रकृति अपने आप पूर्ण सनाथ।[5]

शक्तिपूजा

इस छन्द के निर्माता निराला जी हैं। इसके प्रत्येक चरण मे २४ मात्राएँ इस प्रकार होती हैं कि प्रायः तीन अष्टक (ऽ।ऽ।) बन जायें। प्रत्येक चरण के अन्त मे गुरु लघु (ऽ।) आते हैं। 'राम की शक्तिपूजा' मे इस छन्द के

---

१. उन्मुक्त (सियारामशरण गुप्त), पृ० ३५
२. (क) आधुनिक हिन्दी काव्य में छंद-योजना, पृ० २६१
(ख) मानक हिन्दी कोश (तीसरा खण्ड), पृ० ५८
३. रामनरेश त्रिपाठी (हिंदी छंद प्रकाश, पृ० ५८)
४. आधुनिक हिन्दी-काव्य मे छन्द-योजना, पृ० २६०
५. साकेत (प्रथम सर्ग), पृ० ४१

कुछ उदाहरण प्राप्त हैं।[1]

उदाहरण :

शत घूर्णावर्त, तरंग-भंग उठते पहाड़,
जल राशि राशि-जल पर चढ़ता खाता पछाड़,
तोड़ता बन्ध—प्रतिसन्ध धरा, हो स्फीत वक्ष,
दिग्विजय-अर्थ प्रतिपल समर्थ बढ़ता समक्ष।[2]

सारस

इस छन्द के प्रत्येक चरण में २४ मात्राएँ इस प्रकार होती हैं कि १२ मात्राओं के पश्चात् यति आती है तथा चरण का अन्तिम वर्ण गुरु होता है। इस छन्द में त्रिकलों का विशेष महत्त्व है। पहली यति चार त्रिकलों के बाद आती है। इसका वृत्तरूप पंचचामर (जगण, रगण, जगण, रगण, जगण और गुरु) है। मात्रिक रूप में इसकी पहली, चौथी, सातवीं, दसवीं, तेरहवीं, सोलहवीं, उन्नीसवीं और बाइसवीं मात्रा लघु होती है।[3]

उदाहरण

प्रतीति प्रीति प्राण में, चरण धरो, चरण धरो!
हृदय सुमन, प्रणय सुरभि, ग्रहण करो, ग्रहण करो!
लिए हो हाथ हाथ में, न तुम डरो, न तुम डरो!
सृजन विकास की दिशा वहन करो, वहन करो![4]

२५ मात्राओं के छन्द (महावतारी वर्ग—१२१३९३ भेद)

मुक्तामणि

इस छन्द के प्रत्येक चरण में २५ मात्राएँ होती हैं; १३, १२ पर यति पड़ती है। चरण के अन्त में दो गुरु (ऽऽ) आते हैं।[5]

उदाहरण

(१) उन्नतिशील सुजान के, जीवन की सब लीला।
सतत चलो निधि से करो, अपना चरित सजीला।

---

१. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना, पृ० २६०
२. अनामिका (राम की शक्ति-पूजा—निराला), पृ० १५७
३. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २६१
४. स्वर्णधूलि, मानसी (सुमित्रानन्दन पन्त), मानवी दृश्य, पृ० १६१
२४ मात्राओं वाले वर्ग में एक छन्द 'शोभन' या 'सिंहिका' भी है जिसके प्रत्येक चरण में १४ और १० के विराम से २४ मात्राएँ होती हैं तथा चरण के अन्त में जगण (।ऽ।) आता है।—मानक हिन्दी कोश (पाँचवाँ खण्ड), पृ० १६८
५. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २६२

रखो हृदय मे भाव नित, उन्नत करने वाला।
यथा कृपण के कठ में, मुक्तामणि की माला ॥[1]

(२) कुण्डल ललित कपोल पर, सुछवि देत हैं ऐसे।
घन मे चपला चमकि अति, लग नीकी द्युति जैसे॥
चन्दन खौर विराज शुचि, मनु लछमी अति राजै।
सब आभा तिहुँ लोक की, मुख के आगे लाजै॥[2]

२६ मात्राओं के छन्द (महाभागवत वर्ग—१९६४१८ भेद)

कामरूप

इस छन्द के प्रत्येक चरण मे २६ मात्राएँ होती हैं। यति ९, ७ और १० पर पडती है। चरण के अन्तिम अक्षर क्रमश गुरु लघु (ऽ।) होते हैं।[3]

उदाहरण

सित पख सुदसमी विजय तिथि सुर वैद्य नखत प्रकास।
कपि भालु दल युत चले रघुपति निरखि समय सुभास।
तब कुँवर मुख, मख, शस्त्र चित बुधि वीर्य विक्रम प्रूढ।
नभ भूमि जहँ तहँ, भरे वनचर, रामकृपा अखण्ड।[4]

गीतिका

इस छन्द के प्रत्येक चरण मे २६ मात्राएँ होती हैं, १४, १२ अथवा १६, १० पर यति पडती है। प्रत्येक चरण की तीसरी, दसवी, सत्रहवीं और चौबीसवी मात्रा लघु होती है। चरण के अन्त मे क्रमश लघु गुरु (।ऽ) आते हैं। यह छन्द 'हरिगीतिका' छन्द की पहली दो मात्राओ को कम करने से बनता है।[5] 'चचरी' तथा 'चर्चरी' इसके अन्य नाम हैं।

उदाहरण :

(१) लोक-शिक्षा के लिए अवतार जिसने था लिया,
निर्विकार निरीह होकर नर-सदृश कौतुक किया।

---

१. रामनरेश त्रिपाठी (काव्य दर्पण, प० दुर्गादत्त, पृ० १९९ पर उद्धृत)
२. नायक (हिन्दी छन्द-प्रकाश, पृ० ५९ पर उद्धृत)
३. मानक हिन्दी कोश (पहला खण्ड), पृ० ५१२
४. छन्द-प्रभाकर (जगन्नाथ प्रसाद 'भानु')—काव्यदर्पण (पं० दुर्गादत्त), पृ० १९९ पर उद्धृत
५ (क) आधुनिक हिन्दी-काव्य मे छन्द-योजना, पृ० २९३
(ख) मानक हिन्दी कोश (दूसरा खण्ड), पृ० १०६

राम नाम ललाम जिसका सर्व-मंगल धाम है,
प्रथम उस सर्वेश को श्रद्धा समेत प्रणाम है।[1]

(२) उस रुदन्ती विरहिणी के रुदन-रस के लेप से,
और पाकर ताप उसके प्रिय विरह विक्षेप से,
वर्ण-वर्ण सदैव जिनके हों विभूषण कर्ण के,
क्यों न बनते कविजनों के ताम्रपत्र सुवर्ण के ?[2]

विष्णुपद

इसके प्रत्येक चरण में २६ मात्राएँ इस प्रकार होती हैं कि १६, १० पर यति आती है। चरण के अन्त में गुरु (ऽ) आता है। 'सार' छन्द का अन्तिम गुरु (ऽ) कम कर देने से यह छन्द बनता है।[3]

उदाहरण

"तात, यहूदी भी मनुष्य हैं, जैसे और सभी,
हम भी ऐसे ही जावेंगे सब कुछ छोड़ कभी।
उसका गुण-स्मरण ही अच्छा, जो जन चला गया,
सबके लिए रहे हम सबमें, आदर और दया।"[4]

दिगम्बरी

इसके प्रत्येक चरण में २६ मात्राएँ इस प्रकार होती हैं कि पहली, आठवीं, पन्द्रहवीं और बाइसवीं मात्रा लघु होती हैं। चरण के अन्त में प्रायः दो गुरु (ऽऽ) होते हैं अथवा सगण (।।ऽ) आता है।[5]

उदाहरण

तिमिर के भाल पर चढ़कर विभा के बाण वाले,
खड़े हैं मुन्तजिर कब से नये अभियान वाले।
प्रतीक्षा है, सुनें कब व्यालिनी! फुंकार तेरा,
विदारित कब करेगा व्योम को हुंकार तेरा ?[6]

गीता

इस छन्द के प्रत्येक चरण में २६ मात्राएँ इस प्रकार होती हैं कि १४,

---

१. रंग में भंग (मैथिलीशरण गुप्त), १
२. साकेत (नवम सर्ग), पृ० २६६
३. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २६२
४. काबा और कर्बला (यहूदी—मैथिलीशरण गुप्त), पृ० ३६
५. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २६४
६. हुंकार (रामधारी सिंह 'दिनकर'), पृ० २४

१२ पर यति पड़ती है। चरण के अन्त में क्रमशः गुरु लघु (ऽ।) आते हैं।[1]

उदाहरण :

भय रहित जीना भय रहित मरना उचित है मित्र।
भय सहित जीवन मरण हैं दोनों महा अपवित्र॥
निर्भय रहो दृढ़ हो गहो वर बोध वर्धक पंथ।
यह दे रहा उपदेश है हरि कथित गीता ग्रन्थ॥[2]

झूलना[3]

इस छन्द के प्रत्येक चरण में २६ मात्राएँ होती हैं। चरण के अन्त में गुरु लघु (ऽ।) आते हैं।

उदाहरण.

यहि भाँति पूजा पूजि जीव जु भक्त परम कहाय।
भव भक्तिरसभागीरथी महँ देइ दुखनि बहाय॥
पुनि महाकर्ता महात्यागी महाभोगी होय।
अति शुद्ध भाव रमै रमापति पूजिहैं सब कोय॥[4]

२७ मात्राओं के छन्द (नाक्षत्रिक वर्ग—३१७८११ भेद)

सरसी

इस छन्द के प्रत्येक चरण में २७ मात्राएँ इस प्रकार होती हैं कि १६, ११ पर यति पड़े तथा चरण के अन्त में क्रमशः गुरु लघु (ऽ।) आयें।[5]

उदाहरण :

काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह की पंचरंगी कर दूर,
एक रंग तन, मन, वाणी में भरले तू भरपूर।

---

१. मानक हिन्दी कोश (दूसरा खण्ड), पृ० १०६
२. काव्य दर्पण (प० दुर्गादत्त), पृ० २००
३. रामचंद्रिका, २५।३४, ३३।३२
'झूलना' नामक एक मात्रिक सम दंडक भी है जिसके प्रत्येक चरण में ३७ मात्राएँ होती हैं। इसी नाम का एक वर्णवृत्त भी है जिसके प्रत्येक चरण में क्रमश. सगण (।।ऽ), दो जगण (।ऽ।), भगण (ऽ।।), रगण (ऽ।ऽ), सगण (।।ऽ) और लघु (।) आते हैं।—मानक हिन्दी कोश (दूसरा खंड), पृ० ४१७-१८
४. रामचंद्रिका, २५।३४
५. मानक हिन्दी कोश (पाँचवाँ खण्ड), पृ० २९९
इस छंद के अन्य नाम हैं : सुमंद्र, सुमंदर और कबीर।

प्रेम पसार न भूल भलाई, वैर-विरोध बिसार।
भक्ति भाव से भज ईश्वर को धर्म दया उर धार॥[1]

२८ मात्राओं के छन्द (यौगिक वर्ग—५१४२२९ भेद)

सार

इस छन्द के प्रत्येक चरण में २८ मात्राएँ होती हैं। १६, १२ पर यति पड़ती है। चरण के अन्त में दो गुरु (ऽऽ), सगण (॥ऽ) अथवा भगण (ऽ॥) आता है। इस छन्द के अन्य नाम 'दोवै', 'नरेन्द्र' और 'ललितपद' भी हैं।[2]

उदाहरण

(१) पैदा कर जिस देश जाति ने, तुमको पाला-पोसा।
किये हुए हैं वे निज हित का तुमसे बड़ा भरोसा।
उससे होना उऋण प्रथम है, सत्कर्तव्य तुम्हारा।
फिर दे सकते हो वसुधा को, शेष स्वजीवन सारा॥[3]

(२) बुँदेले हर बोलों के मुख, हमने सुनी कहानी।
खूब लड़ी मरदानी वह थी, झाँसी वाली रानी॥
यह समाधि यह चिर समाधि है, झाँसी की रानी की।
अन्तिम लीलास्थली यही है, लक्ष्मी मरदानी की॥[4]

(३) पाया था सो खोया हमने, क्या खोकर क्या पाया ?
रहे न हममें राम हमारे, मिली न हमको माया !
यह विषाद ! वह हर्ष कहाँ अब देता था जो फेरी,
जीवन के पहले प्रभात में आँख खुली जब मेरी।[5]

हरिगीतिका

यह एक अत्यन्त लोक-प्रिय छन्द है। इस छन्द के प्रत्येक चरण में २८ मात्राएँ इस प्रकार आती हैं कि १६, १२ पर विराम पड़े। इस छन्द की पाँचवीं, बारहवीं, उन्नीसवीं और छब्बीसवीं मात्रा लघु होती है। यह मैथिलीशरण गुप्त का प्रिय छन्द है। उन्होंने 'भारत-भारती' और 'जयद्रथ-वध' में इसका विशद प्रयोग किया है। गुप्त जी ने कभी १६ मात्राओं पर

---

१. शंकर-सर्वस्व (पं० नाथूराम शंकर शर्मा), पृ० १३३
२ (क) मानक हिन्दी कोश (पाँचवाँ खण्ड), पृ० ३४८
(ख) आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० २६५
३ रामनरेश त्रिपाठी (हिन्दी छन्दप्रकाश, पृ० ६२ पर उद्धृत)
४. त्रिधारा (सुभद्रा कुमारी चौहान)—कवि भारती (पृ० २०१) में संगृहीत
५ साकेत (नवम सर्ग), पृ० २७७

और कभी १४ मात्राओं पर यति मानी है।[1]

उदाहरण :

(१) कोउ आजु राज समाज में बल शंभु को धनु कर्षिहै।
पुनि श्रौन के परिमान तानि सो चित्त मे अति हर्षिहै।
वह राज होइ कि रंक 'केशवदास' सो सुख पाइहै।
नृपकन्यका यह तासु के उर पुष्पमालहिं नाइहै॥[2]

(२) अधिकार खोकर बैठ रहना, यह महा दुष्कर्म है;
न्यायार्थ अपने बन्धु को भी दण्ड देना धर्म है।
इस तत्व पर ही कौरवों से पाण्डवों का रण हुआ,
जो भव्य भारतवर्ष के कल्पान्त का कारण हुआ।[3]

(३) हे ईश ! बहु उपकार तुमने सर्वदा हम पर किये,
उपहार प्रत्युपकार मे क्या दें तुम्हें इसके लिए ?
है क्या हमारा सृष्टि मे ? यह सब तुम्हीं से है बनी,
सन्तत ऋणी हैं हम तुम्हारे, तुम हमारे हो धनी॥[4]

(४) मानस-भवन में आर्यजन जिसकी उतारें आरती—
भगवान ! भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती।
हो भद्रभावोद्भाविनी वह भारती हे भगवते।
सीतापते ! सीतापते !! गीतामते ! गीतामते !![5]

विधाता

इस छन्द के प्रत्येक चरण में २८ मात्राएँ इस प्रकार होती हैं कि १४, १४ पर यति पड़े। इसके निर्माण में सप्तक (ISSS) की ४ आवृत्तियों का प्रयोग होता है, अत प्रत्येक चरण की पहली, आठवीं, पन्द्रहवीं और बाइसवीं मात्रा लघु होती है। यह छन्द शृंगार रस के लिए अधिक उपयुक्त है।[6] आजकल यह आम गजल की तर्ज पर चलता है।

उदाहरण :

जगेंगे जाति के सारे प्रबन्धों को टटोलेंगे,
जनों को सत्य-सत्ता की तुला से ठीक तोलेंगे।

---

१. आधुनिक हिन्दी-काव्य मे छन्द-योजना, पृ० २६७-६८
२ रामचन्द्रिका, ३।३१
३. जयद्रथ-वध (प्रथम सर्ग), पृ० ५
४. जयद्रथ-वध (सप्तम सर्ग), पृ० ६३
५. भारत-भारती, १
६. आधुनिक हिन्दी-काव्य मे छन्द-योजना, पृ० २६६

बने गे न्याय के नेगी दलों की पोल खोलेंगे,
करेंगे प्रेम की पूजा रसीले बोल बोलेंगे।[1]

मानवीय

इस छन्द के प्रत्येक चरण में २८ मात्राएँ होती हैं। यह छन्द 'मानव' छन्द की दो आवृत्तियों से बनता है।[2]

उदाहरण -

बालों में श्याम घटाएँ मानो में बिजली चमकी।
है शोभा अजब निराली शैशव यौवन सगम की॥
गालो पर ऊषा आ आ लज्जा से छिप छिप जाती।
बालापन रुठ चला है नहि आता बहुत बुलाती।[3]

माधवमालती

इस छन्द के प्रत्येक चरण में २८ मात्राएँ इस प्रकार होती हैं कि तीसरी, दसवीं, सत्रहवीं और चौबीसवी मात्रा लघु हो। यह छन्द वियोग शृंगार में सर्वाधिक सफल होता है।[4]

उदाहरण

सृष्टि के प्रारम्भ में मैंने उषा के गाल चूमे,
बाल रवि के भाग्यवाले दीप्त भाल विशाल चूमे।
प्रथम सध्या के अरुण दृग चूमकर मैंने सुलाये,
तारिकाकलि से सुसज्जित नव निशा के बाल चूमे।[5]

मणिबन्धक

इस छन्द में प्रत्येक चरण में १४, १४ के विराम से २८ मात्राएँ होती हैं। यह छन्द मणिबन्ध (भगण ऽ।।, मगण ऽऽऽ और सगण ।।ऽ)[6] का दुगुना होता है। यह छन्द शृंगार प्रगीतो में अधिक शोभा देता है।[7]

---

१. शकर सर्वस्व (प० नाथूराम शकर शर्मा), पृ० ८६
२. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० ३००
३. नूरजहाँ (गुरुभक्त सिंह), छठवाँ सर्ग, पृ० ४५
४. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० ३००
५. मधुकलश (कवि की वासना—बच्चन), पृ० ३५
६. छन्दार्णव, ५।१०६ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खण्ड, पृ० १६३)
७. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द योजना, पृ० ३०१

उदाहरण :

मानस-मन्दिर में प्रोज्ज्वल, आकर्षक दीपशिखा सी।
शारद सरिता-अञ्चल मे, मृदु-नर्तित इंदु-विभा सी॥
पल्लवित प्रणय-कानन मे, मोहक वसंत-महिमा सी।
तुम मथित क्षीर-सागर पर, इंदिरा रूप-प्रतिमा सी॥[1]

नन्दन[2]

१६, १२ मात्राओं की यति से इस छन्द के प्रत्येक चरण मे २८ मात्राएँ होती हैं। यह छन्द संभोग शृंगार और प्रकृति वर्णन के अनुकूल है। श्री सुमित्रानन्दन पन्त ने इस छन्द का आविष्कार किया है। इसके प्रत्येक चरण का आरंभ विषम मात्रिक होता है तथा चरण के अन्त में गुरु लघु (ऽ।) आते हैं।[3]

उदाहरण :

कौन तुम अतुल, अरूप, अनाम ?
अये अभिनव, अभिराम !
मृदुलता ही है बस आकार,
मधुरिमा छवि, शृंगार;
न अंगों मे है रंग उभार,
न मृदु उर मे उद्गार;[4]

२९ मात्राओं के छंद (महायौगिक वर्ग—८३२०४० भेद)

मरहठा

इस छन्द के प्रत्येक चरण मे २९ मात्राएँ इस प्रकार होती हैं कि १०, ८, ११ पर यति पड़े। चरण के अन्त मे गुरु लघु (ऽ।) आते हैं।[5]

उदाहरण :

एक दिन रघुनायक, सीय सहायक, रतिनायक अनुहारि।
शुभ गोदावरि तट, बिमल पंचवट, बैठे हुते मुरारि॥

---

१. चन्द्राकर, स्मृति-कल्पना (आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० ३०१ पर उद्धृत)

२ 'नंदन' एक वर्णवृत्त भी है जिसका लक्षण है : प्रत्येक चरण में क्रमशः नगण (।।।), जगण (।ऽ।), भगण (ऽ।।), जगण (।ऽ।) और दो रगण (ऽ।ऽ)—मानक हिन्दी कोश (तीसरा खण्ड), पृ० १६४

३ आधुनिक हिन्दी-काव्य मे छन्द-योजना, पृ० ३०१

४. पल्लव (शिशु—सुमित्रानन्दन पंत), पृ० ११३

५. मानक हिन्दी कोश (चौथा खंड), पृ० २९८

छबि देखत ही मन, मदन मथ्यो तन, सूर्पनखा तेहि काल।
अति सुंदर तनु धरि, कछु धीरज धरि, बोली बचन रसाल॥[1]

मरहठामाधवी

प्राचीन काल में यह छन्द झूलना शैली में प्रयुक्त होता था और ११, ८, १० मात्राओं पर यति होती थी और अन्त में लघु गुरु (।ऽ) आते थे किन्तु अब इस छन्द में १६, १३ पर यति होती है और लघु गुरु (।ऽ) पूर्ववत् रहते हैं। यह छन्द सार छन्द के अन्तिम गुरु वर्णों के स्थान पर लघु-गुरु रखने से बनता है।[2]

उदाहरण

अरे, पलट दी है काया ही इस केशव ने काल की,
बलिहारी, बलिहारी, जय जय गिरिधारी-गोपाल की।
अति कर दी अच्युत ने आहा ! भर दी गति-मति और ही,
घर लेता है ठीक ठिकाना वह चाहे जिस ठौर ही।[3]

जयलक्ष्मी

इसमें चार षष्ठक और रगण (ऽ।ऽ) मिलकर २९ मात्राओं की पूर्ति करते हैं। हर्ष, उल्लास और ओजपूर्ण सशक्त भावों की अभिव्यक्ति के लिए यह छन्द उपयुक्त है। यह एक नवीन छन्द है।[4]

उदाहरण

शारदीय कुमुद-कली मृदुमुख में नवल कांति इंदुजा।
मैना शिशु के समान मधुर-मधुर बोल रही 'सिंधुजा'॥
धन्य भाग्य जयलक्ष्मी आई शिशु रूप धरे गेह में।
स्वर्ण-कांति दीप-शिखा दीप्त हुई दम्पति के स्नेह में॥[5]

३० मात्राओं के छन्द (महादैशिक वर्ग—१३४६२६९ भेद)

उत्कंठा

यह एक नवीन छन्द है। इसके प्रत्येक चरण में ३० मात्राएँ होती हैं तथा १६, १४ पर यति आती है। सम चरण (१४ मात्राएँ) षष्ठक और दो

---

१. रामचंद्रिका, ११।२२
२. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० ३०२
३. द्वापर (ग्वाल-बाल—मैथिलीशरण गुप्त), पृ० ६६-६७
४. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० ३०२
५. चन्द्राकर (आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० ३०२ पर उद्धृत)

विकलों के योग से बनता है। अन्त में गुरु लघु (ऽ।) का आना अनिवार्य है।[1]

उदाहरण :

> किस शुभ घटना की रटना-सी लगा रहा है अंतरंग ?
> क्यों यह प्रकृति प्रसन्न हो उठी ? नहीं कहीं कुछ राग रंग।
> उठती है अंतर में कैसी एक मिलन जैसी उमंग,
> लहराती है रोम रोम में अहा ! अमृत की-सी तरंग ![2]

गोपीवल्लभ

इस छंद में 'गोपी' छंद की दो आवृत्तियां होती हैं और 'गोपी' छंद 'शृंगार' छंद की अन्तिम लघु मात्रा को हटाकर बनता है। इस प्रकार इस छंद के प्रत्येक चरण में ३० मात्राएँ होती हैं।[3]

उदाहरण :

> उठो प्रिय देव ! न अब हिचको, स्वपत्नी को आ अपना लो।
> न सकुचो तुम कुबेरमाता, तुरत तुम जयमाला डालो।[4]

चवपैया या चौपैया

इस छंद के प्रत्येक चरण में ३० मात्राएँ होती हैं, १०, ८, १२ पर यति पड़ती है, अन्त में गुरु होता है।[5]

उदाहरण :

> भए प्रगट कृपाला परम दयाला कौसल्याहितकारी।
> हरषित महतारी मुनिमनहारी अद्भुत रूप बिचारी।
> लोचन अभिरामं तनु घनस्यामं निज आयुध भुज चारी।
> भूषन बनमाला नयन बिसाला सोभासिंधु खरारी।[6]

ताटंक

'ताटंक' के प्रत्येक चरण में ३० मात्राएँ होती हैं, १६, १४ पर यति पड़ती है। अन्त में तीन गुरु (ऽऽऽ) होने चाहिए।[7]

---

१. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छंद-योजना, पृ० २०३
२. यशोधरा (मैथिलीशरण गुप्त), पृ० १११
३. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छंद-योजना, पृ० २०४
४. विक्रमादित्य (गुरुभक्त सिंह) : आधुनिक हिन्दी-काव्य में छंद-योजना, पृ० २०४ पर उद्धृत।
५. मानक हिंदी कोश (दूसरा खण्ड), पृ० २६०
६. रामचरितमानस, १।१६२।१-४
७. मानक हिन्दी कोश (दूसरा खंड), पृ० ५३०

उदाहरण :

(१) देव ! तुम्हारे कई उपासक कई ढंग से आते हैं।
सेवा में बहुमूल्य भेंट वे कई रंग की लाते हैं॥
धूम धाम से साज-बाज से वे मन्दिर में आते हैं।
मुक्तामणि बहुमूल्य वस्तुएँ, लाकर तुम्हें चढ़ाते हैं॥[1]

(२) सिंहासन हिल उठे, राजवंशों ने भृकुटी तानी थी,
बूढ़े भारत में भी आयी फिर से नयी जवानी थी,
गुमी हुई आज़ादी की कीमत सबने पहचानी थी,
दूर फिरंगी को करने की सबने मन में ठानी थी।[2]

जिस ताटंक के चारों चरणों के अन्त में दो गुरु (ऽऽ) आयें उसे 'ककुभ' छंद कहते हैं।[3]

लावनी

'लावनी' छंद 'ताटंक' का ही एक भेद है। अन्तर केवल इतना ही है कि इसके अन्त में मगण (ऽऽऽ) के होने का प्रतिबन्ध नहीं है। इस प्रकार इसके भी प्रत्येक चरण में ३० मात्राएँ होती हैं तथा १६, १४ पर यति पड़ती है।[4]

उदाहरण :

चाह नहीं, मैं सुरबाला के गहनों में गूँथा जाऊँ,
चाह नहीं, प्रेमी माला में बिंध प्यारी को ललचाऊँ।
चाह नहीं, सम्राटों के शव पर हे हरि ! डाला जाऊँ,
चाह नहीं, देवों के सिर पर चढ़ूँ, भाग्य पर इठलाऊँ।
(मुझे तोड़ लेना वनमाली।
उस पथ में तुम देना फेंक॥
मातृभूमि पर शीश चढ़ाने।
जिस पथ जावें वीर अनेक॥)[5]

इन में से प्रथम चार पंक्तियाँ 'लावनी' छंद की हैं।

३१ मात्राओं के छन्द (अश्वावतारी वर्ग—२१७८३०९ भेद)

वीर

इसके प्रत्येक चरण में ३१ मात्राएँ इस क्रम से होती हैं कि १६, १५ ।

---

१. मुकुल (ठुकरा दो या प्यार करो—सुभद्राकुमारी चौहान), पृ० २४
२. मुकुल (झाँसी की रानी—सुभद्राकुमारी चौहान), पृ० ६४
३. आधुनिक हिंदी-काव्य में छंद-योजना, पृ० ३०३
४ हिन्दी-छन्द-रचना, पृ० १८३
५ मरण-ज्वार (पुष्प की अभिलाषा—माखनलाल चतुर्वेदी), पृ० १५

यति पड़े। प्रत्येक चरण के अन्त में क्रमश गुरु लघु (ऽ।) का होना आवश्यक है। इस छंद के आविष्कर्ता जगनिक भट्ट हैं जिन्होंने आल्हा-ऊदल की वीरता का वर्णन बड़े ही ओजपूर्ण शब्दों में किया है। आधुनिक काव्यग्रंथों में भी इस छंद का प्रयोग हुआ है। इसका लोकप्रिय नाम 'आल्हा' है। नीचे दोनों (प्राचीन एवम् अर्वाचीन) उदाहरण दिए जाते हैं :

(१) मुर्छा लौटी तब नाहर की, आगे बढ़े पिथौरा राय।
मों सें हाथिन के हलका मां, इकले घिरे कनौजी राय ॥
सात लाख से चढ़यो पिथौरा, नदी बेतवा के मैदान।
आठ कोस लों चलै सिरोही, नाहीं सूझै अपुन बिरान ॥[1]

(२) अरे राम ! कैसे हम झेलें, अपनी लज्जा, उसका शोक ?
गया हमारे ही पापों से, अपना राष्ट्रपिता परलोक !
हे भगवान, उदित होते हैं, क्या अब भी तेरे रवि-सोम ?
आंखें रहते देख रहे हैं हम क्यों केवल तम का तोम ॥[2]

मधुमालती लता

इस छंद के प्रत्येक चरण में ३१ मात्राएँ इस प्रकार होती हैं कि ४ सप्तक (ऽ।ऽऽ) और एक गुरु लघु (ऽ।) हो जाय।[3]

उदाहरण :

यह खुला नभ, यह खुला नभ, खिल रही ये चांदनी अनमोल,
यह अमृत की दृष्टि खिलती कुमुदिनी सी सृष्टि दृग उर खोल।[4]

गोपी-शृंगार

इस छंद का प्रत्येक चरण क्रमश 'गोपी' और 'शृंगार' छंदों के चरणों के योग से बनता है। इस प्रकार इसके प्रत्येक चरण में ३१ मात्राएँ होती हैं तथा १५, १६ पर यति होती है।[5]

उदाहरण :

हृदय की दारुण ज्वाला से, हुए व्याकुल हम उस दिन पूर्ण।
देखती प्यासी आँखें यों, रस भरी आंखों को मदपूर्ण।[6]
उषा आभास चन्द्रिका में, पवन-परिमल परिपूरित सङ्ग ॥
बढ़ रही थी प्राची में वह, बदलता था नभ का कुछ ढङ्ग ॥

---

१. आल्हखंड (काव्य-प्रदीप, पृ० ३३२ पर उद्धृत)
२. अंजलि और अर्घ्य (मैथिलीशरण गुप्त), पृ० ७
३. आधुनिक हिंदी-काव्य में छंद-योजना, पृ० ३०६
४. पनागवन (गन्नोंखेत की बात—नरेन्द्र शर्मा)—आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० ३०६ पर उद्धृत
५. आधुनिक हिंदी-काव्य में छंद-योजना, पृ० ३०६
६. झरना (प्यास—जयशंकर प्रसाद), पृ० ४५, ४६

उदाहरण :

सिव विष्णु ईश बहु रूप तुही, नभ तारा, चन्द्र सुधाकर है।
अम्बर धारानल शक्ति स्वधा, स्वाहा जल, पौन दिवाकर है॥
हम अंशा अंश समझते हैं, सब खाक जाल से पाक रहें।
सुन लालबिहारी ललित ललन, हम तो तेरे ही चाकर हैं॥[1]

समानसवाई

इस छद के प्रत्येक चरण में ३२ मात्राएँ होती हैं, १६, १६ पर यति होती है तथा अत में गुरु और दो लघु (ऽ।।) होते हैं।[2]

उदाहरण :

निर्भय स्वागत करो मृत्यु का
मृत्यु एक है विश्राम-स्थल।
जीव जहाँ से फिर चलता है
धारण कर नवजीवन-सम्बल।
मृत्यु एक सरिता है जिसमें
श्रम से कातर जीव नहाकर।
फिर नूतन धारण करता है
काया-रूपी वस्त्र बहाकर॥[3]

मत्तसवैया

यह छन्द पदपादाकुलक के दो चरणों के योग से बनता है, अत इसके भी प्रत्येक चरण में ३२ मात्राएँ होती हैं और १६, १६ पर यति होती है।[4]

उदाहरण :

(१) क्षणभगुरता से रूठे-से ! ये किसे मनाते जाते हैं ?
ये मार्ग बनाते आये थे, अब उसे जनाते जाते हैं।
इनके दृढ चरण-चिन्ह अपने माथे पर पथ है लिखा रहा,
निज का, निज भावी पथिकों का, वह भाग्य खुला-सा दिखा रहा।[5]

(२) कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ जिससे उथल पुथल मच जाए,
एक हिलोर इधर से आए एक हिलोर उधर से आए,

---

१ काव्य दर्पण (प० दुर्गादत्त), पृ० २०३
२. आधुनिक हिंदी-काव्य मे छद-योजना, पृ० ३०७
३ स्वप्न (रामनरेश त्रिपाठी), ५।२०
४. आधुनिक हिंदी काव्य में छद-योजना, पृ० ३०७
५. जय भारत (स्वर्गारोहण—मैथिलीशरण गुप्त), पृ० ४३७

प्राणों के लाले पड़ जाएँ, त्राहि त्राहि-रव नभ में छाए,
नाश और सत्यानाशों का धुआँधार जग में छा जाए।[1]

शृंगार-राग

यह छन्द शृंगार छन्द का दुगुना होता है। इसके प्रत्येक चरण में ३२ मात्राएँ इस प्रकार आती हैं कि १६ पर यति आवे और चरण के अन्त में युग्मक अन्त्यानुप्रास। यह छन्द शृंगार रस के उपयुक्त है।[2]

उदाहरण—

प्रकृति के यौवन का शृंगार करेंगे कभी न बासी फूल;
मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र आह उत्सुक है उनकी धूल।
पुरातनता का यह निर्मोक सहन करती न प्रकृति पल एक,
नित्य नूतनता का आनंद किये है परिवर्तन में टेक।[3]

शृंगारहार

यह भी ३२ मात्राओं वाला छन्द है और 'शृंगार' की दो आवृत्तियों से बनता है। चरण के प्रारम्भ में त्रिकल और अन्त में गुरु लघु होते हैं। चरण के पूर्वार्द्ध के अन्त में ।ऽ भी आ सकते हैं। इस अन्तिम लक्षण के कारण यह शृंगार-राग से भिन्न है।[4]

उदाहरण—

हिमालय के आँगन में उसे प्रथम किरणों का दे उपहार।
उषा ने हँस अभिनन्दन किया और पहनाया हीरक-हार।
जगे हम, लगे जगाने विश्व लोक में फैला फिर आलोक।
व्योम तम पुंज हुआ तब नष्ट, अखिल संसृति हो उठी अशोक॥[5]

पद्मावती

इस छंद के प्रत्येक चरण में ३२ मात्राएँ इस प्रकार होती हैं कि १०, ८, १४ पर यति पड़े।[6] चरण के अन्त में दो गुरु आते हैं।

---

१. विप्लव गायन (बालकृष्ण शर्मा 'नवीन')—काव्यधारा, पृ० १३५
२. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छंद-योजना, पृ० ३०८
३. कामायनी (श्रद्धा सर्ग), पृ० ५५
४. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छंद-योजना, पृ० ३०८
५. स्कन्दगुप्त (जयशंकर प्रसाद), पृ० १४९
६. मानक हिन्दी कोश (तीसरा खण्ड), पृ० ३८९
इसका दूसरा नाम 'कमलावती' छंद भी है (मानक हिन्दी कोश, पहला खण्ड, पृ० ४५७)

उदाहरण :

बाजे बहु बाजें, तारनि साजें, सुनि सुर लाजें, दुख भाजें।
नाचें नवनारी, सुमन सिंगारी, गति मनुहारी, सुख साजें॥
वीनानि बजावें, गीतनि गावें, मुनिन रिझावें मन भावें।
भूषन पट दीजें, सब रस भीजें, देखत जीजें, छवि छावें॥[1]

३७ मात्राओं के छंद (दण्डक)

हंसाल या हंसालि

इस छंद के प्रत्येक चरण में ३७ मात्राएँ होती हैं, २०, १७ पर यति होती है, अन्त में यगण (ISS) होता है।[2]

उदाहरण :

तो सही चतुर तू जानि परवीन अति,
परै जनि पींजरे मोह कूवा।
पाइ उत्तम जनम लाइ पै चपल मन,
गाय गोविन्द गुन जीत जूवा॥
आप ही आप अज्ञान नलिनी बँध्यो,
बिना प्रभु विमुख कै बेर मूआ।
दास 'सुन्दर' कहै परम पद तौ लहै,
राम हरि राम हरि बोल सूआ॥[3]

झूलना

इस छंद के प्रत्येक चरण में ३७ मात्राएँ होती हैं, १०, १०, १०, ७ पर यति होती है तथा चरण के अन्त में यगण (ISS) आता है।[4]

उदाहरण :

कौन की हांक पर चौंक चंडीस, विधि,
चंडकर थकित फिरि तुरँग हांके।
कौन के तेज बलसीम भट भीम से,
भीमता निरखि कर नयन ढांके।

---

१. रामचन्द्रिका, ८।१६
२. मानक हिन्दी कोश (पाँचवाँ खण्ड), पृ० ५०८
इसे 'झूलना' नामक मात्रिक दण्डक छंद का एक भेद कहा गया है।
३ काव्य दर्पण (पं० दुर्गादत्त), पृ० २०३
४. मानक हिन्दी कोश (दूसरा खण्ड), पृ० ६१७

दास तुलसीस के बिरद बरनत बिदुष,
बीर बिरदैत बर बैरि धाँके।
नाक नरलोक पाताल कोउ कहत किन,
कहाँ हनुमान से बीर बाँके॥[1]

करखा या कड़खा

इस छंद के प्रत्येक चरण में ३७ मात्राएँ इस प्रकार होती हैं कि ८, १२, ८, ९ पर यति पड़े। चरण के अन्त में यगण (।ऽऽ) रहता है।[2]

उदाहरण

नमो नरसिंह, बलवन्त नरसिंह प्रभु, सन्त-हित काज अवतार धारो।
खम्भ ते निकसि, नृ हिरणकश्यप पटक, झटक दै नखन, झट उर बिदारो।
ब्रह्म रुद्रादि, सिर नाय जय जय कहत, भक्त प्रह्लाद, निज गोद लीनो।
प्रीति सों चाटि, दै राज सुख साज सब, नरायनदास, वर अभय दीनो।[3]

४० मात्राओं के छन्द (दण्डक)

विजया

इस दण्डक के प्रत्येक चरण में ४० मात्राएँ होती हैं, १०, १०, १०, १० पर यति पड़ती है, चरण के अन्त में रगण (ऽ।ऽ) आता है।[4]

उदाहरण

प्रथम टंकोर झुकि, झारि संसार मद,
चंड कोदंड रह्यो, मंडि नवखंड को।
चालि अचला अचल, घालि दिग्पाल बल,
पालि ऋषिराज के, बचन परचंड को॥
सोधु दै ईस को, बोधु जगदीस को,
क्रोध उपजाय, भृगुनंद बरिबंड को।
बाधि वर स्वर्ग को, साधि अपवर्ग,
धनुभंग को सब्द गयो, भेदि ब्रह्मंड को॥[5]

मदनहरा

इस दण्डक के भी प्रत्येक चरण में ४० मात्राएँ होती हैं, १०, ८, १४, ८

१. कवितावली (सुन्दरकाण्ड), ६।१५
२. मानक हिन्दी कोश (पहला खण्ड), पृ० ४३८
३. छन्दप्रभाकर (हिन्दी-छन्द रचना, पृ० १२६)
४. मानक हिन्दी कोश (तीसरा खण्ड), पृ० ५५
५. रामचन्द्रिका ५।४२

पर यति पडती है। चरण के आदि में दो लघु और अन्त में एक गुरु आते हैं।[1] कहीं-कहीं इसका नाम 'मदनहर' भी लिखा है।

उदाहरण :

संग सीता लछिमन, श्री रघुनन्दन,
मातन के शुभ पाइ परे, सब दुःख हरे।
अँसुवन अन्हवाये, भागनि आये,
जीवन पाये अंक भरे, अरु अंक धरे॥
वर बदन निहारैं, सरबसु वारैं,
देहिं सबै सबहीन घनो, बहु लेहिं घनो।
तन मन न सँभारैं, यहै विचारैं,
भाग बडो यह है अपनो, किधौं है सपनो॥[2]

४६ मात्राओं के छन्द (दण्डक)

हरिप्रिया

इस दण्डक के प्रत्येक चरण में ४६ मात्राएँ होती हैं, १२, १२, १२, १० पर विराम होता है, अंत में दो गुरु होते हैं।[3] इसका एक अन्य नाम 'चचरी' भी है।[4]

उदाहरण :

पौढ़िये कृपानिधान, देवदेव रामचन्द्र,
चंद्रिका समेत चंद्र, रैनि चित्त मोहैं।
मनहुँ सुमन-सुमति संगु, रचे रुचिर सुकृत रंग,
आनंदमय अंग अंग, सकल सुखन सोहैं॥
ललित लतन के विलास, भ्रमरवृन्द ह्वै उदास,
अमल कमल-कोश आसपास बास कीन्हें।
तजि तजि माया दुरत, भवत रावरे अनंत,
तव पद कर नैन, बैन मानहु मन दीन्हें॥[5]

दण्डकों में केवल ये दण्डक ही सर्वाधिक लोकप्रिय हैं, अतः केवल इन्हीं का निरूपण किया गया है।

---

१ मानक हिन्दी कोश (चौथा खण्ड) पृ०, २७८
२. रामचद्रिका, २२।१६
३. मानक हिन्दी कोश (पाँचवाँ खण्ड), पृ० ५२५
४. मानक हिन्दी कोश (दूसरा खण्ड), पृ० १८१
५. रामचद्रिका, २६।२०

अर्द्धसम मात्रिक छन्द

ये छन्द भी सामान्यतः चार पदों या चरणों के होते हैं। इन छन्दों के चारों चरणों की मात्राएँ समान नहीं होतीं, प्रथम एवं तृतीय चरण में मात्राएँ एक सी होती हैं तथा द्वितीय एवं चतुर्थ चरण की मात्राएँ एक-सी। अर्द्धसम मात्रिक छन्द छोटे-छोटे छन्द होने के कारण प्रायः दो पंक्तियों में लिखे जाते हैं, प्रथम एवं द्वितीय चरण एक पंक्ति में तथा तृतीय एवं चतुर्थ चरण दूसरी पंक्ति में। छन्द की इन दो पंक्तियों को दो दल कहते हैं। छन्द की लघुता के कारण ही इनकी यति प्रायः चरण के अन्त में पड़ती है। इन छन्दों के प्रथम एवं तृतीय चरणों को विषम चरण तथा द्वितीय एवं चतुर्थ चरणों को सम चरण कहते हैं। नीचे हम हिन्दी के मुख्य मुख्य अर्द्धसम मात्रिक छन्दों का परिचय दे रहे हैं

बरवै

इस छन्द के विषम (प्रथम एवं तृतीय) चरणों में १२-१२ मात्राएँ तथा सम (द्वितीय एवं चतुर्थ) चरणों में ७-७ मात्राएँ होती हैं। सम चरणों के अन्त में प्रायः जगण (ISI) या तगण (SSI) पड़ता है।[१]

उदाहरण :

(१) सिय मुख सरद कमल जिमि किमि कहि जाइ।
 निसि मलीन वह निसि दिन यह बिगसाइ॥[२]

(२) अवधि-शिला का उर पर था गुरु भार,
 तिल तिल काट रही थी दृग-जल-धार।[३]

दोहा

इसके विषम चरणों में १३-१३ और सम चरणों में ११-११ मात्राएँ होती हैं। विषम चरणों के आदि में जगण (ISI) नहीं पड़ना चाहिए और सम चरणों के अन्त में लघु (I) होना चाहिए।[४]

उदाहरण :

(१) जौं जगदीस तौ अति भलो जौं महीस तौ भाग।
 तुलसी चाहत जनम भरि राम चरन अनुराग॥[५]

---

१. मानक हिन्दी कोश (चौथा खण्ड), पृ० ७३

२. बरवै रामायण, ११

३. साकेत (नवम सर्ग), पृ० ३४१

४. मानक हिन्दी कोश (तीसरा खण्ड), पृ० १२८
 जहाँ दोहे के आदि में जगण (ISI) आए उसे 'चण्डालिनी' छन्द कहते हैं।

५. दोहावली (तुलसीदास), ८१

(२) काची काया मन अथिर, थिर थिर काम करत।
ज्यूं ज्यूं नर निधडक फिरै, त्यूं त्यूं काल हसत ॥[1]

(३) हरि सा हीरा छाँडि कै, करै आन की आस।
ते नर जमपुर जाहिंगे, सत भाषै रैदास ॥[2]

(४) मानस-मन्दिर में सती, पति की प्रतिमा थाप,
जलती सी उस विरह में, बनी आरती आप।[3]

दोहकीय

इस छंद के प्रथम और तृतीय चरणों मे दोहे के समान १३ मात्राएँ होती हैं किन्तु द्वितीय और चतुर्थ चरण दोहे के सम चरणों के पूर्व दो मात्राएँ लगाकर बनते हैं। प्रसादजी ने इस छंद का प्रयोग दोहे के आधार पर किया है।[4]

उदाहरण

धमनी की तन्त्री बजी, तू रहा लगाये कान।
बलिहारी मैं, कौन तू हैं मेरा जीवन-प्रान ॥[5]

सोरठा

सोरठे के विषम (प्रथम और तृतीय) चरणों मे ११-११ तथा सम (द्वितीय और चतुर्थ) चरणो मे १३-१३ मात्राएँ होती हैं। यह दोहे का ठीक उलटा होता है।[6] सोरठे के पहले और तीसरे चरणो की तुक मिलती है, दूसरे और चौथे चरणों की नहीं, किन्तु कुछ सोरठे ऐसे भी हैं जिनके विषम एवं सम दोनों चरणों की तुक अलग-अलग मिलती है। ऐसे सोरठे राम-चरितमानस के प्रारम्भ मे विशेषत हैं।

सामान्य सोरठे का उदाहरण .

कोउ बिश्राम कि पाव तात सहज संतोष बिनु।
चलै कि जल बिनु नाव कोटि जतन पचि पचि मरिअ ॥[7]

विशिष्ट सोरठे के उदाहरण

(१) मूक होइ वाचाल पंगु चढ़ै गिरिबर गहन।
जासु कृपा सो दयाल द्रवौ सकल कलिमल दहन ॥[8]

---

१. कबीर-ग्रंथावली, पृ० ७६
२ रैदास (कविता-कौमुदी, पहला भाग, पृ० १८२)
३. साकेत (नवम सर्ग), पृ० २६८
४. आधुनिक हिन्दी-काव्य मे छन्द-योजना, पृ० ३१७
५. स्कन्दगुप्त (जयशंकर प्रसाद), प्रथम अंक, पृ० ४३
६ मानक हिन्दी कोश (पांचवां खण्ड), पृ० ४५६
७. रामचरितमानस, ७।८६।११-१२; दोहावली, २७५
८. रामचरितमानस, १।१।१६-२०

(२) लिखकर लोहित लेख, डूब गया है दिन अहा!
व्योम सिन्धु सखि, देख, तारक-बुद्बुद दे रहा![1]

उल्लाल

इसके विषम चरणों में १५-१५ और सम चरणों में १३-१३ मात्राएँ होती हैं।[2]

उदाहरण

(१) करते अभिषेक पयोद हैं बलिहारी इस वेष की।
हे मातृभूमि, तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की॥[3]

(२) हे शरणदायिनी देवि तू, करती सबका त्राण है।
हे मातृभूमि! सन्तान हम, तू जननी, तू प्राण है॥[4]

आर्या

इस छन्द के पहले और तीसरे चरण में १२-१२ मात्राएँ, दूसरे चरण में १८ मात्राएँ तथा चौथे चरण में १५ मात्राएँ होती हैं। सम चरणों के अंत में गुरु अवश्य आना चाहिए।[5]

उदाहरण

पहले आँखों में थे, मानस में कूद मग्न प्रिय अब थे,
छींटे वहीं उड़े थे बड़े बड़े अश्रु वे कब थे?[6]

गीति

इस छंद के विषम चरणों में १२-१२ मात्राएँ और सम चरणों में १८-१८ मात्राएँ होती हैं।[7]

उदाहरण

करती, क्यों रोती है? 'उत्तर' में और अधिक तू रोई—
'मेरी विभूति है जो, उसको 'भव भूति' क्यों कहे कोई?'[8]

---

१. साकेत (नवम सर्ग), पृ० २८१
२. मानक हिन्दी काव्य (पहला खण्ड), पृ० ३८२
इसी से मिलता जुलता १३ मात्राओं वाला सम मात्रिक छंद 'उल्लाला' है। उल्लाल में इन दोनों का प्रयोग दृष्टिगत होता है।
३. मातृभूमि (मैथिलीशरण गुप्त)—कवि-भारती (पृ० ६१) में संगृहीत
४. मातृभूमि (मैथिलीशरण गुप्त)—कवि-भारती (पृ० ६२) में संगृहीत
५. आधुनिक हिन्दी काव्य में छंद-योजना', पृ० ३१८
६. साकेत (नवम सर्ग), पृ० २६६
७. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छंद-योजना, पृ० ३१९
८. साकेत (नवम सर्ग), पृ० २६७

आर्यागीति

इस छद के विषम चरणो में १२-१२ मात्राएं और सम चरणों में २०-२० मात्राएं होती हैं।[1]

उदाहरण :

"वह जड फल सड़ जावे, पर चेतन भावना तभी वह तेरी
अर्पित हुई,उन्हें है, वत्स, यही मति तथा यही गति मेरी।"[2]

उपगीति

इस छद के विषम चरणो में १२-१२ मात्राएँ और सम चरणों में १५-१५ मात्राएँ होती हैं। विषम गणो में जगण (।ऽ।) नहीं होता और अन्त में गुरु (ऽ) अनिवार्यत आता है।[3]

उदाहरण :

हृदयस्थित स्वामी की स्वजनि, उचित क्यों नहीं अर्चा,
मन सब उन्हें चढ़ावे, चन्दन की एक क्या चर्चा?[4]

•

विषम मात्रिक छन्द

उपर्युक्त सममात्रिक और अर्द्धसम मात्रिक छन्दो के अतिरिक्त कुछ और भी छन्द हैं जिनका हिन्दी मे प्रयोग हुआ है। इन छन्दो को विषम छन्द कहा जाता है। हिन्दी में विषमपादी छन्द दो प्रकार के हैं—एक तो वे जो दो छन्दो के सम्मिश्रण से बनते हैं जैसे कुडलिया, छप्पय आदि, और दूसरे वे जो एक ही छन्द के चार से अधिक पदो वाले रूप होते हैं। इन्हे प्रवर्धितपादी छन्द की संज्ञा दी जाती है। कबीर, सूर, तुलसी आदि के गेय पदो की गणना इन दूसरे प्रकार के छन्दो मे की जाती है। अब हम इन दोनो प्रकार के विषम-पादी छन्दो का परिचय देते हैं।

संयुक्त छन्द

कुंडलिया

यह छन्द दोहा और रोला के मिश्रण से बनता है। दोहे के दो दल कुंडलिया के प्रथम दो चरण माने जाते हैं और रोला के चार चरण, कुंडलिया के शेष चार चरण। इस प्रकार कुंडलिया छन्द मे छह चरण होते हैं। इस छद मे

१. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छद-योजना, पृ० ३१६
२. यशोधरा (मैथिलीशरण गुप्त), पृ० ५२
३. आधुनिक हिन्दी-काव्य मे छद-योजना, पृ० ३१६
४. साकेत (नवम सर्ग), पृ० २८८

एक विशेषता यह है कि दोहे का प्रथम चरण जिस शब्द से प्रारम्भ होता है वही शब्द कुंडलिया के अन्त में आता है। दूसरी विशेषता यह है कि दोहे का चौथा चरण रोला के प्रथम पाद के रूप में आता है।[1]

उदाहरण

(१) टूटै टूटनहार तरु वायुहिं दीजत दोष।
स्यों अब हर के धनुष को हम पर कीजत रोष॥
हम पर कीजत रोष काल गति जानि न जाई।
होनहार ह्वै रहै मिटै मेटी न मिटाई॥
होनहार ह्वै रहै मोह मद सब को छूटै।
होय तिनूका वज्र वज्र तिनुका ह्वै टूटै॥[2]

(२) दौलत पाय न कीजिये, सपने में अभिमान।
चंचल जल दिन चारि को, ठाँउ न रहत निदान॥
ठाँउ न रहत निदान, जियत जग में यश लीजै।
मीठे वचन सुनाय, विनय सब ही सों कीजै॥
कह गिरिधर कविराय, अरे यह सब घर डोलत।
पाहुन निशि दिन चारि, रहत सब ही के दौलत॥[3]

(३) पैहौ कीरति जगत में पीछे धरो न पाँव।
छत्रीकुल के तिलक हे महासमर या ठाँव॥
महासमर या ठाँव चलैं सर कुंत कृपानैं।
रहैं बीरगण गाजि पीर उर मैं नहिं आनैं॥
बरनैं दीनदयाल हरसि जो तेग चलैहौ।
ह्वैहौ जीते जसी मरे सुरलोकहिं पैहौ॥[4]

(४) चौदह चक्कर खायगी जब यह भूमि अभंग,
घूमेंगे इस ओर तब प्रियतम प्रभु के संग।
प्रियतम प्रभु के संग आवेंगे तब हे सजनी,
अब दिन पर दिन गिनो और रजनी पर रजनी।
पर पल पल से रहा यहाँ प्राणों से टक्कर,
कलह मूल यह भूमि लगावे चौदह चक्कर।[5]

---

१. मानक हिंदी कोश (पहला खण्ड), पृ० ५३६
२. रामचंद्रिका, ७।२०
३. गिरिधर कविराय (काव्यधारा, पृ० ७२ पर संकलित)
४. अन्योक्तिकल्पद्रुम, ३।२ (दीनदयालगिरि-ग्रंथावली में संगृहीत)
५. साकेत (नवम सर्ग), पृ० ३०८

छप्पय

रोला (२४ मात्राएँ) और उल्लाला या उल्लाल (२६ या २८ मात्राएँ) के मिश्रण से छप्पय छन्द बनता है। छप्पय के प्रथम चार चरण रोला के चार चरण होते हैं और छप्पय के अन्तिम दो चरण उल्लाला या उल्लाल (१३+१३ या १५+१३ मात्राएँ) के चार चरण होते हैं जो दो दलों (पंक्तियों) में लिखे जाते हैं। इस प्रकार छप्पय में छह चरण होते हैं।[1]

उदाहरण :

(१) तरनि-तनूजा-तट तमाल तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सों जल-परसन हित मनहुँ सुहाये॥
किधौं मुकुर में लखत उझकि सब निज निज सोभा।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा॥
मनु आतप वारन तीर को सिमिटि सबै छाये रहत।
कै हरि सेवा हित नै रहे निरखि नैन मन सुख लहत॥[2]

(२) इसी भूमि पर राम कृष्ण ने जन्म लिया है,
ऋषि-मुनियों ने प्रथम ज्ञान-विस्तार किया है।
है क्या कोई देश यहाँ से जो न जिया है?
सदुपदेश-पीयूष सभी ने यहाँ पिया है।
नर क्या, इसको अवलोक कर कहते हैं सुर भी यही—
जय-जय भारतवासी कृती, जय-जय-जय भारतमही॥[3]

(३) नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुन्दर है,
सूर्य-चन्द्र युग मुकुट, मेखला रत्नाकर है।
नदियाँ प्रेम-प्रवाह, फूल तारे मंडन हैं,
बंदीजन खग-वृन्द, शेष-फन सिंहासन है।
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेष की,
हे मातृभूमि, तू सत्य ही सगुण मूर्ति सर्वेश की॥[4]

(४) चेरी भी वह आज कहाँ, कल थी जो रानी,
दानी प्रभु ने दिया उसे क्यों मन यह मानी?
अबला जीवन, हाय! तुम्हारी यही कहानी—
आँचल में है दूध और आँखों में पानी!

---

१. मानक हिंदी कोश (दूसरा खण्ड), पृ० २६६
२. चन्द्रावली नाटिका (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र), पृ० ६२
३. मौर्य-विजय (सियारामशरण गुप्त), पृ० ११
४. मातृभूमि (मैथिलीशरण गुप्त)—कविभारती (पृ० ६१) में संगृहीत

मेरा शिशु-संसार यह, दूध पिये, परिपुष्ट हो,
पानी के ही पात्र तुम, प्रभो ! रुष्ट या तुष्ट हो।[1]

प्रवर्धितपादी छंद

ये प्राय एक ही छन्द के चार से अधिक चरण वाले छन्द हैं। चतुष्पादी न होने के कारण ही इन्हें विषम छन्द कहा जाता है। इनमें से षट्पादी छन्दो का प्रचलन अत्यधिक है। इन्हें षट्पादी के अतिरिक्त मिलिन्दपादी भी कहा जाता है। इनमे से सार, विधाता, सरसी, आदि अनेक छन्दो के छह चरण रखकर षट्पादी या मिलिन्दपादी छंद बनाए जाते हैं। ये सभी विषम छंद हैं।

इन्ही प्रवर्धितपादी छन्दो के अन्तर्गत सूर, तुलसी आदि के उन गेय पदो की गणना की जाती है जिनमे एक पाद पादाकुलक या चौपाई का टेक के रूप मे रखकर पीछे सार, विधाता, सरसी, हरिगीतिका आदि के अनेक चरण रखे जाते हैं।

उदाहरणार्थ तुलसी का निम्नांकित पद लीजिए

जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।
काको नाम पतित पावन जग, केहि अति दीन पियारे ।।
कौने देव बराइ बिरद हित हठि हठि अधम उधारे।
खग, मृग, व्याध, पषान, विटप जड़, जवन कवन सुर तारे ।।
देव, दनुज, मुनि, नाग, मनुज, सब, माया-बिबस बिचारे।
तिनके हाथ दासतुलसी प्रभु, कहा अपनपौ हारे ।।[2]

इस पद मे पहले १६ मात्राओं की टेक है, तत्पश्चात २८ मात्राओ (१६, १२) के छन्द (सार या ललितपद) के पाँच चरण हैं।

इसी प्रकार 'नवीन' जी का निम्नांकित छन्द 'सरसी' नामक छन्द के छह चरणों के योग से बना है.

त्रेता युग की कथा पुरानी, अकथित, अमथित, गेय,
उसको कर के स्रवित द्रवित तू बन जा अमर, अजेय;
प्यार भरे, मनुहार ढरे दृग, इनकी झाँकी देख,
भरी चली चल अवध, विपिन में परे लखन-पद-रेख;
थी ऊर्म्मिला स्वामिनी तेरी, लक्ष्मण तेरे देव;
शरणागत को पार लगाना है दम्पति की टेव।[3]

---

१. यशोधरा (मैथिलीशरण गुप्त), पृ० ४३
२. विनय-पत्रिका (गोस्वामी तुलसीदास), १०१
३. ऊर्म्मिला (बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'), द्वितीय सर्ग, पृ० १६६

प्रवर्द्धितपादी छन्दों के कुछ और उदाहरण :

(१) काहे रे बन खोजन जाई।
सर्व निवासी सदा अलेपा तोही संग समाई ॥
पुष्प मध्य ज्यों बास बसत है मुकुर माँहि जस छाई।
तैसे ही हरि बसै निरन्तर घट ही खोजो भाई ॥
बाहर भीतर एकै जानो यह गुरु ज्ञान बताई।
जन 'नानक' बिन आपा चीन्हें मिटै न भ्रम की काई ॥[१]

(२) मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ?
कित्ती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी !
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वैहै लाँबी-मोटी।
काढ़त-गुहत न्हवावत जैहै नागिनि सी भुईं लोटी।
काँचो दूध पियावत पचि पचि, देति न माखन रोटी।
सूरज चिरजीवौ दोउ भैया, हरि-हलधर की जोटी ॥[२]

मिश्र वर्ग के छन्द

आधुनिक युग मे मिश्र छन्दों का प्रचुर मात्रा मे प्रयोग हुआ है। ये मिश्र छन्द प्रायः चार चरणों अथवा चार दलों से अधिक योग से निर्मित होते हैं। चार चरणों के वे छन्द, जिनके पहले और तीसरे चरण मे एक छन्द की लय होती है और दूसरे तथा चौथे चरण में दूसरे छन्द की लय होती है, मिश्र छन्द ही समझे जाने चाहिएँ। नीचे हम कुछ आधुनिक काव्य में प्रयुक्त मिश्र छन्दों का विवरण दे रहे हैं। ये छन्द प्रथम चरण या दल की मात्रा के क्रम से है।[३]

आठ मात्राएँ :

पक्ष सिद्ध हो,
लक्ष विद्ध हो,
राम ! नाम हो तेरा,
धर्म वृद्धि हो,
मर्म-शुद्धि हो,
सब तेरे, तू मेरा।[४]

इस छन्द के प्रथम दो चरण आठ मात्राओं के और तीसरा चरण १२

१. गुरु नानक (कविता-कौमुदी, पहला भाग, पृ० १६१)
२ सूरसागर, १०।१७५ (सूरसागर, पहला खंड, पृ० ३१६-२०)
३. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० ३२२
४. साकेत, चतुर्थ सर्ग, पृ० १२३

मात्राओं का है, इस खण्ड की दो आवृत्तियों से यह सम्पूर्ण छन्द बना है। लय की दृष्टि से प्रथम तीन चरण मिलकर सार छन्द के एक चरण के बराबर हैं।[1]

१३ मात्राएँ

> भक्त नहीं जाते कहीं,
> आते हैं भगवान,
> यशोधरा के अर्थ हैं,
> अब भी यह अभिमान।
> मैं निज राज-भवन में,
> सखि, प्रियतम हैं वन में।[2]

इस छन्द में दोहे और सारंग के दो चरणों का योग है।

इसी प्रकार निम्नांकित छन्द में दोहे और 'शृंगार' छन्द के दो चरणों का योग है

> उडने को है तडपता मेरा भावानन्द,
> व्यर्थ उसे पुचकार कर फुसलाते हैं छन्द।
> दिलाकर पद-गौरव का ध्यान।
> स्वजनि, रोता है मेरा गान।[3]

१४ मात्राएँ

> उसका मान लाभ महान,
> उसकी वृद्धि, सुयश सिद्धि,
> उसका गौरव सदा बढ़ाना ही मेरा उद्देश।[4]

इस छन्द में 'सुगति' छन्द के दो चरण और 'सरसी' छन्द का एक चरण है।

१६ मात्राएँ :

(१)

> अम्बर में कुन्तल जाल देख,
> पद के नीचे पाताल देख,
> मुट्ठी में तीनों काल देख,
> मेरा स्वरूप विकराल देख।

---

१. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० ३२३
२. यशोधरा (मैथिलीशरण गुप्त), पृ० ३६
३. साकेत (नवम सर्ग), पृ० २२३
४. पथप्रदीप (गोकुलचन्द शर्मा), राष्ट्रगीत, पृ० ४
(आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना, पृ० ३२३ पर उद्धृत)

सब जन्म मुझी से पाते हैं।
फिर लौट मुझी में आते हैं।[1]

इस में 'पद्धरि' के चार चरण और 'पदपादाकुलक' के दो चरण हैं।

(२) लहरें अपनापन खो न सकीं,
पायल का शिंजन हो न सकीं,
युग चरण घेरकर रो न सकीं,
विवसन आभा जल में बिखेर
मुकुलों का बन्ध खिला न सकीं;
जीवन की अयि रूपसी प्रथम!
तू पहिली सुरा पिला न सकी।[2]

इसमें चौपाई और मत्तसवैया का मेल है।

(३) ग्रन्थि हृदय की खोल रहा हूँ,
उन्मन-सा कुछ बोल रहा हूँ,
मन का अलस खेल यह गुनगुन, सचमुच, गीत बना न रहा मैं।[3]

यह छन्द 'चौपाई' की अर्द्धाली और 'मत्तसवाई' के एक चरण के योग से बना है।

(४) आलि, काल है काल अन्त में,
उष्ण रहे चाहे वह शीत,
आया यह हेमन्त दयाकर,
देख हमें सन्तप्त-सभीत।
आगत का स्वागत समुचित है, पर क्या आँसू लेकर?
प्रिय होते तो लेती उसको मैं घी गुड़ दे देकर।[4]

यह छंद 'चौर' और 'सार' नामक छंदों के दो दो चरणों के योग से बना है।

(५) यदि वह स्वर्ग कल्पना ही है,
यदि वह शुद्ध जल्पना ही है।
तब भी हमें भूमि माता को, अनुपम स्वर्ग बनाना है।
जो देवोपम है उसको ही, इस धरती पर लाना है॥[5]

यह छन्द 'चौपाई' और 'ताटंक' के दो दो चरणों के योग से बना है।

---

१. रश्मिरथी, सर्ग ३, पृ० ३१
२. रसवन्ती (रामधारी सिंह 'दिनकर'), पृ० ६२
३. रसवन्ती (रामधारी सिंह 'दिनकर'), पृ० ६७
४. साकेत (नवम सर्ग), पृ० ३०४
५. विनोबा-स्तवन (बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'), पृ० ३०

(१) निशिकर ने आ शरद-निशा में,
बरसाया मधु दशों दिशा में,
विचरण करके नभोदेश में, गमन किया निज धाम।
पर चकोर ने कहा श्रान्त हो,
प्रिय-वियोग दुख से अशान्त हो,
गया छोड़ करके जीवन-धन, मुझे कहां ? हा राम ![1]

उपर्युक्त छन्द मे पहले 'चौपाई' के दो चरण हैं फिर 'सरसी' का एक चरण, तत्पश्चात् 'चौपाई' के दो चरण है और फिर 'सरसी' का एक चरण।

१६ मात्राएँ :

धूल हो कर्पूर की भी श्वेतिमा,
पूर्ण चन्द्रप्रकाश में ही पीतिमा,
क्षीर-सागर की छटा हो लोल, कर अवलोकना,
आप ही सम आप हैं बस, अचल आभाशोभना ![2]

इस छद मे सर्वप्रथम 'पीयूषवर्ष' के दो चरण हैं तत्पश्चात् 'गीतिका' के दो चरण।

२० मात्राएँ

निम्नांकित छन्द मे दो चरण 'पीयूषराशि' नामक छन्द के और दो चरण 'गीतिक' (गीतिका + लघु) छन्द के हैं

देवता का भाव व्यापक है अपार,
देवधारा ! देवदारा ! देवदार !
देव-ऋषियों का तप स्थल, देवमाया का विलास,
देव-देव महेश-प्रिय ! जय अचल देव प्रभा-निवास।[3]

२४ मात्राएँ :

मधु धारा सी गगन से यही सारी रात।
विरह विरहिणि के नयन में वे हुई बरसात ॥
कर दिया जिसके नयन ने जगत कण कण स्नात।
कौन कह सकता भला उसकी व्यथा की बात ॥

१. मुकुटधर पाण्डेय (कवि-भारती, पृ० ८७३)
२. रजनगिरि कैलाश (राय देवी प्रसाद 'पूर्ण')—आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० ३२५ पर उद्धृत
३. रजनगिरि कैलाश (राय देवी प्रसाद 'पूर्ण')—आधुनिक हिन्दी-काव्य मे छन्द योजना, पृ० ३२५ पर उद्धृत

वह गली हिम तुल्य, सोती हो रही दुनियां।
दुख में उपेक्षा पूर्ण होती हो रही दुनियां॥[1]

यहाँ प्रथम चार चरण रूपमाला (२४ मात्राएँ) के तथा अन्तिम दो चरण रजनी (२३ मात्राएँ) छन्द के हैं।

(२) समय के बनमालियों की कलम के वरदान,
डालियों, कांटो भरी के ऐ मृदुल अहसान।
मुग्ध मस्तों के हृदय के मुँदे तत्त्व अगाध,
चपल अलि की परम संचित गूँजने की साध।
बाग की बागी हवा की मानिनी खिलवाड,
पहन कर तेरा मुकुट इठला रहा है झाड।
खोल मत निज पंखियों का द्वार,
री सजनि, बन-राजि की शृंगार।[2]

इसमें रूपमाला (२४ मात्राएँ) के छह चरण और उर्मिला छन्द (१७ मात्राएँ) के दो चरण हैं।

२७ मात्राएँ :

(१) किसी देश ने लिली चुनी है सुन्दरता की खान,
कहीं गुलाब चुना लोगों ने भरा अनोखी शान।
थिसल कहीं, शैमराक कहीं औ आइरस कहीं अमूल,
पर सहस्रदल युक्त कमल है श्री भारत का फूल।
और कमल भारत का फूल,
वह लक्ष्मी देवी का फूल,
वह जातीय हमारा फूल।[3]

यहाँ सरसी (२७ मात्राएँ, चरणान्त ऽ।) के चार चरण और चौपई (१५ मात्राएँ, चरणान्त ऽ।) के तीन चरण हैं।

(२) तेरी पृथ्वी की प्रदक्षिणा देख रहे रवि सोम,
वह अचला है करे भले ही गर्जन तर्जन व्योम।
न भय मे, लीला से हूँ लोल,
सखे ! मेरे मत बन्धन खोल।[4]

---

१ श्रीमती मालती शुक्ल (आधुनिक हिंदी-काव्य में छन्द योजना, पृ० ३२६ पर उद्धृत)
२ हिमकिरीटिनी (माखनलाल चतुर्वेदी), पृ० १४७-४८
३ सहस्रदल कमल (श्रीनारायण चतुर्वेदी)—आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० ३२६ पर उद्धृत
४. झंकार (मैथिलीशरण गुप्त), पृ० २३

इस छन्द में सरसी (२७ मात्राएँ, चरणान्त ऽ।) और शृंगार छन्द (१६ मात्राएँ, चरणान्त ऽ।) के दो-दो चरण हैं।

२८ मात्राएँ

(१) किसी देश का विजय चिन्ह है मञ्जुल लॉरल माला।
कहीं कहीं पर जय का सूचक प्रालिव मुकुट निराला॥
मेपल पत्र कीर्ति का सूचक किसी देश का प्यारा।
पर शतपत्र शान्ति का द्योतक है यह कमल हमारा॥
कमल योगियों का है फूल,
यह भारत माँ के अनुकूल,
वैसा सुन्दर और न फूल।[1]

यहाँ सार (२८ मात्राएँ, चरणान्त ऽऽ) के चार चरण और चौपई (१५ मात्राएँ, चरणान्त ऽ।) के तीन चरण हैं।

(२) "जय हो" जग में जले जहाँ भी, नमन पुनीत अनल को,
जिस नर में भी बसे, हमारा नमन तेज को, बल को।
किसी वृन्त पर खिले विपिन में, पर, नमस्य है फूल,
सुधी खोजते नहीं गुणों का आदि, शक्ति का मूल।[2]

इस छन्द में सार और सरसी छन्दों के दो-दो चरणों का योग है।

(३) "कह तो झूठ-मूठ बहला दूँ? पर वह होगी छाया,
मुझको भी शैशव में शशि की थी ऐसी ही माया।
किन्तु प्रभु बन कर अब मैंने उसको तुझमें पाया,
पिता बनेगा, तभी पायगा तू वह धन मन भाया।"
'अम्ब, पुत्र ही अच्छा यह मैं,
झेलूँ इतनी झंझट क्यों?"
"पुत्र हुआ, तो पिता न होगा?
यह विरक्ति भी नटखट! क्यों?"[3]

यहाँ सार छन्द के चार चरण और नाटक के दो चरण हैं।

अब हम कुछ उन नवीन छन्दों का विवरण प्रस्तुत करेंगे जिनमें चार से अधिक चरण होते हैं और उनके अन्त्यानुप्रास (अन्त्यक्रम) भी भिन्न होते हैं।

---

१ सहस्रदल कमल (श्रीनारायण चतुर्वेदी)—आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना, पृ० ३२७ पर उद्धृत
२. रश्मिरथी (रामधारी सिंह 'दिनकर'), प्रथम सर्ग, पृ० १
३. यशोधरा (मैथिलीशरण गुप्त), पृ० ५१

इन्हें दो वर्गों में विभक्त किया गया है

१. सम विकर्षाधार, २. विषम विकर्षाधार।

'विकर्ष' का शाब्दिक अर्थ है - क्रमायोजन अर्थात् पंक्तियों का विशेष प्रकार के क्रम में रखना। सम विकर्षाधार छन्दों में समान मात्रा के चरण आद्योपान्त रखे जाते हैं, केवल अन्त्यक्रम में नवीनता होती है। विषम विकर्षाधार के छन्दों में विभिन्न परिसंख्यान के चरणों का संयोग होता है। इस वर्ग के छन्दों में किन्हीं निश्चित दो छन्दों का योग न होकर विभिन्न लयों के विविध परिसंख्यानों का मेल होता है।

१. समविकर्षाधार

१२ मात्राएँ :

(१)	मुझको पुकारती क्यों ?	क
	मैं छोड़ स्वप्न छाया	ख
	इस दूर देश आया	ख
	मरुदेश के पथिक से	ग
	यह कौन खेल भाया ?	ख
	छिप कुञ्ज में स्वरों के,	घ
	शर तान मारती क्यों ?[१]	क

यह दिक्पाल (१२ मात्राएँ, पांचवीं और आठवीं मात्रा लघु) छन्द है। इसकी पहली और सातवीं, दूसरी, तीसरी और पांचवीं के अन्त्यानुप्रास एक से हैं तथा शेष दोनों के भिन्न भिन्न। ये क, ख, ख, ग, ख, घ, क द्वारा व्यक्त किये गये हैं।

(२)	अजेय तू अभी बना !	क
	न मंजिलें मिलीं कभी,	ख
	न मुश्किलें हिलीं कभी,	ख
	मगर क़दम थमे नहीं,	ग
	क़रार-कील जो ठना।	क
	अजेय तू अभी बना ![२]	क

यह प्रमाणिका वृत्त (क्रमशः जगण, रगण, लघु और गुरु) का मात्रिक रूप है। जैसा कि क, ख, ग आदि द्वारा सूचित है इसके पहले, पांचवें और

---

१. उदयाचल (शम्भूनाथ सिंह), पृ० १४ (आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० ३३२ पर उद्धृत)

२. सतरंगिनी (अजेय—हरिवंश राय 'बच्चन'), पृ० ६७

छठे तथा दूसरे और तीसरे चरणों के अन्त्यानुप्रास मिलते हैं, चौथे का बिल्कुल भिन्न है।

१४ मात्राएँ

आगे आगे अम्ब जहाँ, क
मैं पीछे चुपचाप वहाँ! क
खोज फिरी तू कहाँ कहाँ, क
फिर कर क्यों न निहार गई? ख
हार गई माँ, हार गई![1] ख

यह हाकलि छन्द (तीन चौकल + गुरु) है जो क, क, क और ख, ख के अन्त्यक्रम में नियोजित है।

१५ मात्राएँ

(१) हरियाली से ढँक मृदु गात, क
कानों में भर सौ सौ बात, क
हमें बुलाते हैं अविराम ख
विश्व पुलकते तरु के पात, क
कुसुमित पलनों में अभिराम![2] ख

यह चौपई (१५ मात्राएँ चरणान्त ऽ।) छन्द है जो क, क, ख, क, ख के अन्त्यक्रम में विशिष्ट है।

(२) ताल ताल में थिरक अमन्द, क
सौ सौ छन्दों में स्वच्छन्द क
गाती हो निस्तल के गान, ख
सिन्धु गिरा सी अगम, अनन्त, ग
इन्दु करों से नित अम्लान ख
तारों के नीरव आख्यान, ख
अम्बर के रहस्य द्युतिमान![3] ख

यह भी चौपई छन्द है। इसका अन्त्यक्रम है क, क, ख, ग, ख, ख, ख जैसा कि ऊपर अंकित है।

---

१ यशोधरा (मैथिलीशरण गुप्त), पृ० ५३
२ पल्लव (विश्व वेणु—सुमित्रानन्दन पन्त), पृ० १०२
३. पल्लव (वीचि विलास—सुमित्रानन्दन पन्त), पृ० ७३

१६ मात्राएँ

(१)	देख वसुधा का यौवन भार	क
	गूँज उठता है जब मधुमास,	ख
	विधुर उर के-से मृदु उद्‌गार	क
	कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्‌वास;	ख
	न जाने, सौरभ के मिस कौन	ग
	संदेशा मुझे भेजता मौन ![1]	ग

यह शृंगार छंद (१६ मात्राएँ, चरणान्त ऽ।) है जो क, ख, क, ख, ग, ग के अन्त्यक्रम से नियोजित है।

(२)	उस दिन जब जीवन के पथ में,	क
	लोगों की आँखें ललचाईं,	ख
	स्वयं माँगने को कुछ आई।	ख
	मधु सरिता उफनी अकुलाई,	ख
	देने को अपना संचित धन।[2]	ग

इन पंक्तियों में चौपाई के चरणों को क, ख, ख, ख, ग के अन्त्यक्रम से विकृष्ट किया गया है :

(३)	दल विरल डालियाँ भरी मुकुल	क
	झुकतीं सौरभ रस लिये अतुल	क
	अपने विषाद विष में मूच्छित	ख
	काँटों से बिंध कर बार बार,	ग
	धीरे से वह उठता पुकार—	ग
	मुझको न मिला रे कभी प्यार।[3]	ग

यहाँ पद्धरि (१६ मात्राएँ, अन्त में ।ऽ।) छंद को आधार बनाकर क, क, ख, ग, ग, ग के अन्त्यक्रम से नियोजित किया गया है।

१९ मात्राएँ

अटक जीवन के विशेष विचार में,	क
भटकती फिरती स्वयं मँझधार में,	क
सहज कर्षण कूल, कुंज, कछार में,	क
विषमता है किन्तु वायु-विकार में,	क

---

१. पल्लव (मौन निमंत्रण—सुमित्रानंदन पंत), पृ० ६०
२. लहर (जयशंकर प्रसाद), पृ० १७
३. लहर (जयशंकर प्रसाद), पृ० ३५

और चारों ओर चक्कर हैं कई, ख
ऊर्मि हूँ मैं इस भवार्णव की नई !¹ ख

यहाँ 'पीयूषवर्ष' छंद क, क, क, क, ख, ख के अन्त्यक्रम से नियोजित है।

२० मात्राएँ

यहाँ राह अपनी बनाने चले हम, क
यहाँ प्यास अपनी बुझाने चले हम, क
जहाँ हाथ औ पाँव की जिन्दगी हो, ख
नयी एक दुनियाँ बसाने चले हम। क
विषम भूमि को सम बनाना हमें है, ग
निठुर व्योम को भी झुकाना हमें है, ग
न अपने लिये विश्व भर के लिये हो, घ
धरा-व्योम को हम रखेंगे उलटकर। च
विषम भूमि नीचे निठुर व्योम ऊपर।² घ

यहाँ भुजंगप्रयात छंद (२० मात्राएँ, पहली, छठी, ग्यारहवीं और सोलहवीं मात्रा लघु) क, क, ख, क, ग, ग, घ, च, च के अन्त्यक्रम से नियोजित है।

२२ मात्राएँ

आओ, प्रिय ! भव में भाव-विभाव भरें हम, क
डूबेंगे नहीं कदापि, तरें न तरें हम। क
कैवल्य-काम भी काम, स्वधर्म धरें हम, क
संसार - हेतु शत बार सहर्ष मरें हम। क
तुम, सुनो क्षेम से, प्रेम - गीत मैं गाऊँ। ख
कह मुक्ति, भला, किस लिए तुझे मैं पाऊँ ?³ ख

यहाँ राधिका छंद (२२ मात्राएँ; १३, ९ अथवा १०, १२ पर यति) क, क, क, क, ख, ख के अन्त्यक्रम में नियोजित है।

२४ मात्राएँ

साँसें भरता है पृथ्वी पर खड़ा खंडहर, क
शहनाइयाँ यहाँ वधुओं को गृह में लातीं, ख

---

१. साकेत (नवम सर्ग), पृ० ३२५
२. उदयाचल (शम्भूनाथ सिंह), पृ० १५—आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० ३४०-४१ पर उद्धृत
३. यशोधरा (मैथिलीशरण गुप्त), पृ० १०६

पुर-नारियां मधुर मंगल गीतों को गातीं, ख
वहां वधू मिलती वर से आंखें नीचे कर।[1] क

यहां रोला छंद क, ख, ख, क के अन्त्यक्रम से विनियोजित है।

२८ मात्राएँ

जाओ नाथ! अमृत लाओ तुम, मुझमें मेरा पानी, क
चेरी ही मैं बहुत तुम्हारी, मुक्ति तुम्हारी रानी। क
प्रिय तुम तपो, सहूँ मैं भरसक, देखूँ बस हे दानी— क
कहां तुम्हारी गुण-गाथा में मेरी करुण कहानी? क
तुम्हें अप्सरा-विघ्न न व्यापे यशोधराकरधारी। ख
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा, अब है मेरी बारी।[2] ख

यहां सार छंद (२८ मात्राएँ, १६, १२ पर यति, चरणान्त में ऽऽ) क, क, क, क, ख, ख के अन्त्यक्रम से सज्जित है।

इसी प्रकार कोई भी छंद किसी भी अन्त्यक्रम से विकृष्ट किया जा सकता है।

२ विषम विकर्षाधार

इस वर्ग में वे छन्द आते हैं जिनके चरण विषम अथवा असमान होते हैं किन्तु उनमें लय-मैत्री होती है। इन छन्दों की विशेषता यह है कि जिस रूप में वे पहली इकाई में प्रयुक्त होते हैं, दूसरी इकाइयों में भी वे उसी क्रम से समग्र रूप में प्रयुक्त होते हैं, उनके चरणों का क्रम अपरिवर्तित रहता है। नीचे हम प्रथम चरण के मात्रा-क्रम से विषम विकर्षाधारों का संक्षिप्त विवरण दे रहे हैं।

७ मात्राएँ :

हे भगवान! क (७ मात्राएँ)
तेरा ध्यान— क (७ ,,)
जो करता हूं क्यों करता हूं? ख (१६ ,,)
सुख के अर्थ? ग (७ ,,)

---

१. झरना (चन्द्रकुंवर बर्त्वाल), पृ० १८५—आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० ३४४ पर उद्धृत
२. यशोधरा (मैथिलीशरण गुप्त), पृ० ३८

तो हूँ व्यर्थ। ग (७ मात्राएँ)
सुख से तो पशु भी चरता है।[1] ख (१६ मात्राएँ)

इस विकल्प का अन्त्यक्रम है क, क, ग, ग, ग, ख।

८ मात्राएँ

गीत जगा जो, (८ मात्राएँ)
गले लगा लो, (८ ,,)
हुआ अँधर जो, सहज सगा हो, (१६ मात्राएँ)
करे पार जो है अति दुस्तर।[2] (१६ ,,)

यहाँ ८ और १६ मात्राएँ चौपाई व अष्टक के आधार पर हैं, अतः दोनों भिन्न विस्तार वाले चरणों का संयोग संभव हुआ है।

९ मात्राएँ

जलन छाती की, (९ मात्राएँ)
बड़ी सहता हूँ, (९ ,,)
मिलो मत मुझमें (९ ,,)
यही कहता हूँ, (९ ,,)
बड़ी हो दया तुम्हारी।[3] (१३ मात्राएँ)

ये दोनों लयें शृंगार छन्द की आदिम अंश हैं, इसीलिए लय-साम्य के कारण ९ मात्राएँ और १३ मात्राएँ एक साथ आ सकी हैं।

११ मात्राएँ

(१) खुलकर किरणालोक। क
मैं था जीवन ज्योतिर्मय, कहीं नहीं था शोक। क
आज लखा मैंने अनिल, तरला था निश्वास। ख
'चित्रित तेरे रूप से', मुझे न था विश्वास।[4] ख

यहाँ प्रथम चरण में ११ मात्राएँ (दोहे का सम चरण) हैं तथा शेष चरण दोहे के प्रथम एवं द्वितीय चरणों के योग के समान हैं। इस विकल्प का अन्त्यक्रम क, क, ख, ख है।

---

१. झंकार (ध्यान—मैथिलीशरण गुप्त), पृ० ५६
२. अपरा (सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला') पृ० १६३
३. झरना (उपेक्षा करना—जयशंकर प्रसाद), पृ० ८५
४. ग्राम्या (सुमित्रानन्दन पन्त), पृ० ४६—आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० ३८७ पर उद्धृत

(२)	मधुवेला है आज	क (११ मात्राएँ)
	अरे तू जीवन-पाटल फूल !	ख (१६ ,,)
	आई दुख की रात मोतियों की देने जयमाल,	ग (१६, ११ ,,)
	सुख की मंद बतास खोलती पलकें दे दे ताल;	ग (१६, ११ ,,)
	डर मत रे सुकुमार !	घ (११ ,,)
	तुझे दुलराने आये शूल !	ख (१६ ,,)
	अरे तू जीवन-पाटल फूल ।[1]	ख (१६ ,,)

इस विकर्य का अन्त्यक्रम क, ख, ग, ग, घ, ख, ख है। यहाँ यह लक्ष्य करने योग्य है कि १६ मात्राओं का अन्तिम लयनिपात (११ मात्राएँ) सरसी (२७ मात्राओं) के अन्तिम लयनिपात (११ मात्राओं) से मिलता है, इसीलिए ११, १६, २७, २७, ११, १६, १६ मात्राओं के चरण एक साथ आ सके हैं।

१२ मात्राएँ

क्षण-भर की भाषा में,	क (१२ मात्राएँ)
नव-नव अभिलाषा में,	क (१२ ,,)
उगते पल्लव से कोमल शाखा में,	क (८, १२ ,,)
आए थे जो निष्ठुर कर से	ख (१६ ,,)
मल गये,	ग (६ ,,)
मेरे प्रिय सब बुरे गये, सब	घ (१६ ,,)
भले गये ![2]	ग (६ ,,)

यहाँ सभी चरण सम-प्रवाही हैं, इसीलिए भिन्न-भिन्न मात्राएँ (१२, १२, २०, १६, ६, १६, ६) एक साथ आ सकीं। इस विवर्य का आधार क, क, क, ख, ग, घ, ग है।

१४ मात्राएँ

(१)	हम राज्य लिए मरते हैं ?	क (१४ मात्राएँ)
	सच्चा राज्य परन्तु हमारे कर्षक ही करते हैं।	क (१६,१२ ,,)
	जिनके खेतों में है अन्न,	ख (१५ ,,)
	कौन अधिक उनसे सम्पन्न ?	ख (१५ ,,)

---

१. नीरजा (महादेवी वर्मा), पृ० ८२

२. परिमल (वृत्ति—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'), पृ० ६६

पत्नी-सहित विचरते हैं वे, भव-वैभव भरते हैं, ख (१६,१२ मा०)
हम राज्य लिए मरते हैं !¹ क (१४ ,,)

यहाँ सभी चरण समप्रवाही हैं, केवल तीसरे और चौथे चरण का लय-निपात भिन्न है। विवर्पाधार का अन्त्यक्रम है—क, ख, ख, ख, ख, क जो १४, २८, १५, १५, २८, १४ के मात्राक्रम से आयोजित हैं।

(२) इस नील विषाद गगन में— क (१४ मात्राएँ)
सुख चपला-सा दुख-घन में, क (१४ ,,)
चिर विरह नवीन मिलन में, क (१४ ,,)
इस मरु-मरीचिका-वन में— क (१४ ,,)
उलझा है चञ्चल मन कुरंग।² ख (१६ ,,)

यह निवर्पाधार क, क, क, क, ख के अन्त्यक्रम से निर्मित है। मात्राक्रम १४, १४, १४, १४, १६ है। यद्यपि अंतिम चरण (०ढरि) का लय-निपात भिन्न है, किन्तु छन्द की समाप्ति होने के कारण यहाँ निपात-भेद भी नवीनता उत्पन्न करता है।

(३) अब भी समय नहीं आया ? क (१४ मात्राएँ)
कब तक करे प्रतीक्षा काया, जिये यहाँ तक जाया ? ख (१६,१२ ,,)
होती है मुझको यह शंका, क्षमा करो हे नाथ, ख (१६,११ ,,)
समय तुम्हारे साथ नहीं क्या, तुम्हीं समय के साथ ? ख (१६,११ ,,)
कहाँ योग मन भाया ? क (१२ ,,)
अब भी समय नहीं आया ?³ क (१४ ,,)

उपर्युक्त सभी चरण समप्रवाही हैं। इस विवर्प का अन्त्यक्रम क, ख, ख, ख, क, क है तथा मात्राक्रम १४, २८, २७, २७, १२, १४ है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि सरसी के विषमान्त चरणों के पश्चात् छन्दान्त में निपात मिलाने के लिए समात्मक १२ मात्राएँ रखी गयी हैं।

१५ मात्राएँ

(१) पलो मुख-युन्तों की कलियाँ— क (१५ मात्राएँ)
विटप उर की अवलम्बित हार ख (१६ ,,)
विजन-मन-मुदित सहेलरियाँ— क (१५ ,,)
स्नेह-उपवन की सुख, शृंगार, ख (१६ ,,)

---

१. साकेत (नवम सर्ग), पृ० ३०३
२. लहर (जयशंकर प्रसाद), पृ० ४८
३. यशोधरा (मैथिलीशरण गुप्त), पृ० १३१

आज खुल-खुल गिरतीं असहाय, ग (१६ ,,)
विटप वक्षस्थल से निरुपाय।[1] ग (१६ ,,)

इस विवर्त मे प्रथम चरण १५ मात्राओ का है जो शृंगार छन्द (१६ मात्राएँ, आदि मे त्रिकल, मध्य मे समप्रवाह तथा अन्त मे गलात्मक ऽ। त्रिकल) की अंतिम लघु मात्रा को कम करके बना है, अत शृंगार के चरणो से केवल लय-निपात मे भेद है, प्रारंभ-लय तथा मध्य-लय पूर्णतया समान हैं। यहाँ मात्राक्रम १५, १६, १५, १६, १६, १६ है तथा अन्त्यक्रम है क, ख, क, ख, ग, ग।

(२) मरण सुन्दर बन आया री! क (१५ मात्राएँ)
शरण मेरे मन भाया री! क (१५ ,,)
आली, मेरे मनस्ताप से पिघला वह इस बार! ख (१६,११ ,,)
रहा कराल कठोर काल सो हुआ सदय सुकुमार! ख (१६,११ ,,)
नर्म सहचर-सा छाया री! क (१५ ,,)
मरण सुन्दर बन आया री![2] क (१५ ,,)

'यशोधरा' की इन पंक्तियो मे सर्वप्रथम 'गोपी' छंद (१५ मात्राएँ, आदि मे त्रिकल, अन्त मे गुरु) के दो चरण हैं तत्पश्चात् 'सरसी' छंद (१६, ११ की यति से २७ मात्राएँ, अन्त मे ऽ।) के दो चरण हैं और फिर 'गोपी' छंद के दो चरण। ये सभी चरण समप्रवाही है। इस विवर्त का अन्त्यक्रम है क, क, ख, ख, क, क तथा मात्रा-क्रम १५, १५, २७, २७, १५, १५ है।

१६ मात्राएँ

(१) मेरी ही पृथिवी का पानी, क (१६ मात्राएँ)
ले लेकर यह अन्तरिक्ष सखि, आज बना है दानी! क (१६,१२ ,,)
मेरी ही धरती का धूम, ख (१५ ,,)
बना आज आली, घन घूम। ख (१५ ,,)
गरज रहा गज-सा झुक झूम, ख (१५ ,,)
ढाल रहा मद मानी। क (१२ ,,)
मेरी ही पृथिवी का पानी।[3] क (१६ ,,)

इस विवर्त के सभी चरण समप्रवाही हैं। विवर्त का मात्राक्रम १६, २८ (१६, १२), १५, १५, १५, १२, १६ है तथा अन्त्यक्रम क, क, ख, ख, ख, क, क है।

---

१. परिमल (स्मृति—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'), पृ० १०३
२ यशोधरा (मैथिलीशरण गुप्त), पृ० ४०
३ साकेत (मैथिलीशरण गुप्त), पृ० २६२

(२) सखि, वे मुझसे कह कर जाते,	क	(१६ मात्राएँ)
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ बाधा ही पाते ?	क	(२८ ,,)
मुझको बहुत उन्होंने माना,	ख	(१६ ,,)
फिर भी क्या पूरा पहचाना ?	ख	(१६ ,,)
मैंने मुख्य उसी को जाना,	ख	(१६ ,,)
जो वे मन में लाते।	क	(१२ ,,)
सखि, वे मुझसे कहकर जाते।[1]	क	(१६ ,,)

इस छन्द के सभी चरण समप्रवाही हैं। विवर्य का अन्त्यक्रम क, क, ख, ख, ख, क, क है तथा मात्राक्रम १६, २८, १६, १६, १६, १२, १६ है।

(३) देखा शारदा नील-वसना	क	(१६ मात्राएँ)
हैं सम्मुख स्वयं सृष्टि-रशना,	क	(१६ ,,)
जीवन-समीर-शुचि-निःश्वसना, वरदात्री,	ख (क, ख)	२२ (१६+६) मात्राएँ
वीणा वह स्वयं सुवादित स्वर	ग	(१६ ,,)
फूटी तर अमृताक्षर-निर्झर,	ग	(१६ ,,)
यह विश्व हंस, हैं चरण सुघर जिस पर श्री।[2]	ख (ग, ख)	२२ (१६+६) मा०

निराला के 'तुलसीदास' की इन पंक्तियों के विवर्याधार का अन्त्यक्रम क, क, ख (क, ख), ग, ग, ख (ग, ख) है तथा मात्राक्रम १६, १६, २२ (१६+६), १६, १६, २२ (१६+६) है। यहाँ तीसरे और छठे चरण की २२ मात्राएँ चौपाई में समप्रवाही षष्ठक (६ मात्राओं) के जोड़ने से बनी हैं। इस प्रकार छन्द के दोनों भाग (पूर्वार्द्ध एवम् उत्तरार्द्ध) चौपाई के दो चरणों में २२ मात्राओं के चरण के योग से बने हैं। इस प्रकार के दो खंडों से छन्द का निर्माण हुआ है। साथ ही यह भी लक्ष्य करने योग्य है कि १६ मात्राओं वाले चरणों का अन्त्यानुप्रास तथा १६ मात्राओं के बाद पूर्व चरण का अन्तरन्त्यानुप्रास दोनों मिलते हैं।

२० मात्राएँ

लगे जो उपल पद, हुए उत्पल ज्ञात,	क	२० मात्राएँ	(५+५+५+५)
कंटक चुने, जागरण बने अवदात,	क	२० ,,	,,
स्मृति में रहा पार करता हुआ रात,	क	२० ,,	,,
अवसन्न भी हूँ प्रसन्न मैं प्राप्त वर—	ख	२० ,,	,,
प्राप्त तव द्वार पर।[3]	ख	१० ,,	(५+५)

---

१. यशोधरा (मैथिलीशरण गुप्त), पृ० २८
२. तुलसीदास (सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'), ८७ (पृ० ५४)
३. अपरा (प्राप्त तव द्वार पर— सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'), पृ० ३३

इस विकर्ष का आधार पञ्चक है। यह पञ्चक तगणात्मक (SSI) और यगणात्मक (ISS) दोनों प्रकार का है। इसका अन्त्यक्रम क, क, क, ख, ख है तथा मात्राक्रम २०, २०, २०, २०, १० है।

२३ मात्राएँ

मानिनि, मान तजो लो, रही तुम्हारी बान !
२३ मात्राएँ (४+८+११)
दानिनि, आया स्वयं द्वार पर यह तव तत्रभवान।
२७ मा० (८+८+११)
किसकी भिक्षा न लूँ, कहो मैं ? मुझको सभी समान;
२७ मा० (८+८+११)
अपनाने के योग्य यही तो जो हैं आर्त-अजान।[1]
२७ मा० (८+८+११)

इस विकर्ष में २३ मात्राओं (१२, ११) के दोहक या छन्दक (टेक) है तथा शेष चरण २७, २७ मात्राओं के है जो 'सरसी' छन्द के चरण हैं। इन सभी के लय-निपात दोहे के सम चरणों के से हैं, अतः समान हैं। इसीलिए इनका मेल सम्भव हो सका।

२४ मात्राएँ

किस अनन्त का नीला अंचल हिला-हिलाकर क २४ मा० (८+८+८)
आती हो तुम सजी मण्डलाकार ? ख १६ ,, (८+८+३)
एक रागिनी में अपना स्वर मिला-मिलाकर क २४ ,, (८+८+८)
गाती हो ये कैसे गीत उदार ? ख १६ ,, (८+८+३)
सोह रहा है हरा क्षीण कटि में, अम्बर शैवाल, ग
२७ ,, (८+८+८+३)
गाती आप, आप देती सुकुमार करों से ताल। ग
२७ ,, (८+८+८+३)
चचल चरण बढ़ाती हो, घ १४ ,, (८+६)
किससे मिलने जाती हो ?[2] घ १४ ,, (८+६)

यह विकर्ष अष्टक की आवृत्तियों से बना है। इसका मात्राक्रम २४, १६, २४, १६, २७, २७, १४, १४ है और अन्त्यक्रम क, ख, क, ख, ग, ग, घ, घ है।

---

१. यशोधरा (मैथिलीशरण गुप्त), पृ० १४३
२. परिमल (तरंगों के प्रति—सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'), पृ० ७६

२६ मात्राएँ

मैं निहत्था जा रहा हूँ इस अँधेरी रात में, क (७+७+७+५ मा०)
हिंस्र जीव लगे हुए हैं प्राणियों की घात में। क (७+७+७+५ ,,)
गूँजती गिरि गह्वरों में गर्जना है, ख (७+७+७ ,,)
विषम पथ में गर्जना है तर्जना है। ख (७+७+७ ,,)
किन्तु डरूँ क्यों मैं, हे प्यारे! ग (८+८ ,,)
तेरे पीछे जाता हूँ, घ (८+६ ,,)
माना तुझे नहीं, पर तेरी च (८+८ ,,)
उज्ज्वल आभा पाता हूँ घ (८+६ ,,)
विमुख करने की मुझे क्या शक्ति है उत्पात में, क
(७+७+७+५ ,,)
मैं निहत्था जा रहा हूँ इस अँधेरी रात में।[1] क (७+७+७+५ ,,)

इस विवर्त के प्रथम चार चरण तथा अन्तिम दो चरण सप्तक के आधार पर तथा मध्य के चार चरण अष्टक के आधार पर हैं। अष्टक वाले चरणों में लय परिवर्तित हुई है जो एक नवीनता है। इस विवर्त का मात्राक्रम २६, २६, २१, २१, १६, १४, १६, १४, २६, २६ है तथा अन्त्यक्रम क, क, ख, ख, ग, घ, च, घ, क, क है।

२७ मात्राएँ

अभिनन्दन में दिया प्रकृति की प्रति अनुपम उपहार, क (१६, ११ मा०)
शान्त वायु मंडल में गोपित किया सौरभ-संचार, क (१६, ११ ,,)
भोगता जिसे प्रेम सानन्द। ख (१६ ,,)
लहराता जब दिक्-प्रान्तर में तेरा अंचल श्याम, ग (१६, ११ ,,)
प्रेमिक जन आलिंगन करते भाव बद्ध अभिराम, ग (१६, ११ ,,)
दीप्त उष्मा में अमितानन्द।।[2] ख (१६ ,,)

इस विवर्त में सरसी (२७ मात्राएँ, १६, ११ पर यति, चरणान्त ऽ।) और शृंगार (१६ मात्राएँ, आदि में त्रिकल, मध्य में समप्रवाह और अन्त में गलात्मक ऽ। त्रिकल) छंदों का मेल हुआ है। पहला, दूसरा, चौथा और पाँचवाँ चरण 'सरसी' का तथा तीसरा और छठा चरण 'शृंगार' छंद का है। सरसी का अन्त और शृंगार का आदि दोनों ही विषम-मात्रिक हैं, अतः दोनों के संयोग से समात्मकता आ गयी है। इसका अन्त्यक्रम क, क, ख, ग, ग, ख है।

---

१ झंकार (प्रस्थान—मैथिलीशरण गुप्त), पृ० ३६
२. रजनीगीत (चन्द्राकर)—आधुनिक हिन्दी-काव्य में छंद योजना, पृ० ३६८ पर उद्धृत।

वर्णवृत्त प्रकरण

सम वर्णवृत्त

जिन छन्दों के चारों चरणों में वर्णों के ह्रस्व एवं दीर्घ का क्रम नियत रहता है उन्हें समवृत्त कहते हैं। इनके दो भेद हैं १ जातिक, २ दंडक। २६ वर्णों तक के चरण वाले वृत्तों को जातिक तथा २६ से अधिक वर्णों वाले वृत्तों को दंडक कहा जाता है।

जातिक प्रकरण

१ अक्षर वाले वृत्त (उक्ता जाति)

श्री

यह एक एकाक्षरी वृत्त है जिसके प्रत्येक चरण में एक गुरु वर्ण (ऽ) होता है।[1]

उदाहरण :

(१) सो,
धी।
री,
धो॥[2]

(२) जं।
है।
श्री।
की॥[3]

मधु

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में दो लघु वर्ण आते हैं।[4]

उदाहरण :

नित।
जिय।
छघु।
मधु॥[5]

२ अक्षरों वाले वृत्त (अत्युक्ता जाति)

मही

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमश लघु (।) और गुरु (ऽ) मिलकर दो

---

१. मानक हिन्दी कोश (पाँचवाँ खण्ड), पृ० २०१
२. रामचन्द्रिका, १।८
३. छंदार्णव, ५।८ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खण्ड, पृ० १८२)
४. मानक हिंदी कोश (चौथा खण्ड), पृ० २८०
५. छंदार्णव, ५।९ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खण्ड, पृ० १८२)

वर्ण होते हैं।[1]

उदाहरण

(१) रमा।
समा।
मही।
मही।।[2]

(२) रमा।
समा।
हरी।
करी।।[3]

सार

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमश गुरु (ऽ) और लघु (।) मिलकर दो वर्ण होते हैं।[4]

उदाहरण :

(१) राम,
नाम।
सत्य,
धाम।।[5]

(२) ऐनि।
नैनि।
चारु।
सारु।।[6]

कामा

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में दो गुरु वर्ण (ऽऽ) होते हैं।[7]

उदाहरण :

रामैं।
नामैं।
धामैं।
कामैं।।[8]

---

१. मानक हिंदी कोश (चौथा खण्ड), पृ० ३२६
'छंदमाला' में इसे 'नारायण' छंद कहा गया है और उसका लक्षण इस प्रकार दिया गया है :

लघु दीरघ को जहँ बरन द्वै प्रस्तार गनि लेहु।
वह 'नारायन' छंद है सुखदायक श्रीगेहु।।

—छंदमाला, १।६ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ४३१)

२. छन्दार्णव, ५।१० (भिखारीदास ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० १८२)

३. छन्दमाला, १।६ का उदाहरण (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ४३१)

४. मानक हिंदी कोश (पाँचवाँ खंड), पृ० ३४८

५. रामचंद्रिका, १।६

६. छन्दार्णव, ५।११ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० १८२)

७. मानक हिंदी कोश (पहला खंड), पृ० ५१३

८. छन्दार्णव, ५।१४ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० १८२)

३ अक्षरों वाले वृत्त (मध्या जाति)

कमल

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में तीन लघु वर्ण (।।।) होते हैं।

उदाहरण :

चरन।
बरन।
अमल।
कमल।।[1]

रमण

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में एक सगण (।।ऽ) होता है।[2] भिखारीदास ने इसे 'रमणी' छंद कहा है।[3]

उदाहरण :

(१) दुख क्यों
टरिहैं।
हरि जू
हरिहैं।।[4]

(२) धरनी।
बरनी।
रमनी।
रमनी।।[5]

नरिन्द

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में एक जगण (।ऽ।) होता है।

उदाहरण :

सँभारु।
सवारु।
परिन्द।
नरिन्द।।[6]

---

१. छंदार्णव, ५।१२ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० १८२)

२. (क) द्वै लघु दीजै आदिहीं, एक अन्त गुरु जानि।
रमनिरमन के रमन कों 'रमन' छंद करि मानि॥
—छंदमाला, १।७ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ४३१)

(ख) मानक हिन्दी कोश (चौथा खंड), पृ० ४७६

३. छंदार्णव, ५।१५ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० १८२)

४. रामचंद्रिका, १।११

५. छंदार्णव, ५।१५ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० १८२)

६. छंदार्णव, ५।१६ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० १८३)

मंदर

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में एक भगण (ऽ।।) होता है।[1]

उदाहरण :

ध्यावत।
स्यावत।
चंदर।
मंदर।।[2]

शशि

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में एक यगण (।ऽऽ) होता है।

उदाहरण :

मही में।
सही में।
जसी से।
ससी से।।[3]

प्रिया

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में एक रगण (ऽ।ऽ) होता है। इस वृत्त का दूसरा नाम 'मृगी' है।[4]

उदाहरण :

हे सखी।
पत्थरी।
सो हिया।
री प्रिया।।[5]

पंचाल

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में एक तगण (ऽऽ।) होता है।[6]

---

१. मानक हिन्दी कोश (चौथा खंड), पृ० २६०
२. छंदार्णव, ४।१७ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० १८३)
३. छंदार्णव, ४।२० (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० १८३)
४. मानक हिन्दी कोश (तीसरा खंड), पृ० ६६३
५. छंदार्णव, ४।२१ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० १८३)
६. मानक हिन्दी कोश (तीसरा खंड), पृ० २४५

उदाहरण :

नच्चंत।
गावंत।
दैं ताल।
पचाल॥[1]

ताली

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में एक मगण (ऽऽऽ) होता है।
उदाहरण :

नच्चैं हैं।
सम्भू पै।
बेताली।
दैं ताली॥[2]

४ अक्षरों वाले वृत्त (प्रतिष्ठा जाति)

हरि

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में चार लघु वर्ण (।।।।) होते हैं।
उदाहरण :

जग महि
सुख नहिं।
भ्रम तजि।
हरि भजि॥[3]

तरणिजा

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमशः एक नगण और एक गुरु (।।।ऽ) होता है।[4]
उदाहरण :

(१) बरणिबो।
बरण सो॥
जगत को।
शरण सो॥[5]

(२) उर धरो।
पुरुष सो।
वरनिजा।
तरनिजा॥[6]

---

१. छंदार्णव, ५।२३ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० १८३)
२. छंदार्णव, ५।२० (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० १८४)
३. छंदार्णव, ५।१८ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० १८३)
४. मानक हिन्दी कोश (दूसरा खंड), पृ० ५१४
५. रामचंद्रिका, १।१२
६. छंदार्णव, ५।२२ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० १८३)

वीर

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमश एक सगण और एक लघु वर्ण (।।ऽ। होता है।

उदाहरण

हर पीर।
प्रभु भीर।
बड़ धीर।
रघुबीर॥[१]

रामा

इस वृत्त के प्रत्येक चरण मे क्रमश दो लघु और दो गुरु (।।ऽऽ) होने हैं

उदाहरण

जग माहीं।
सुख नाहीं।
तजि कामैं।
भजि रामैं॥[२]

इसी प्रकार वृद्धि (।ऽ।।), निधि (ऽ।।।), कला (ऽ।।ऽ), मुद्रा (।ऽऽ।), धार या मदन (ऽ।ऽ।), कृष्ण (ऽऽ।।) आदि वृत्तों की गणना भी इसी श्रेणी या जाति के अन्तर्गत की जा सकती है।

५ अक्षरों वाले वृत्त (सुप्रतिष्ठा जाति)

प्रिया

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमश. सगण, लघु और गुरु (।।ऽ।ऽ) हो हैं। इसका एक अन्य नाम 'माया' भी है।[३]

उदाहरण

सुख कंद हैं।
रघुनन्दजू॥
जग यों कहैं।
जगवंद जू॥[४]

---

१. छंदार्णव, ५।२४ (भिखारीदास ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० १८३)
२ छंदार्णव, ५।२१ (भिखारीदास ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० १८४)
३ सगन लघु गुरु आदि लघु 'माया' छन्द बखानु। —छन्दमाला, १।११ (केशव ग्रंथावली, खण्ड २, पृ० ४३०)
४. रामचन्द्रिका, १।११

यमक

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में पाँच लघु वर्ण (।।।।।) होते हैं।

उदाहरण :

श्रुति कहहि।
हरि जनहि।
ध्रुवत नहि।
जमक वहि॥[1]

हंस

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमश एक भगण (ऽ।।) और दो गुरु (ऽऽ) होते हैं। इसे 'पक्ति' भी कहते हैं।[2]

उदाहरण :

आवत जाना।
राज के[3] लोगा।
मूरति धारी।
मानहु भोगा॥[4]

वाक्य (।।।ऽ।), नायक (।।ऽ।।), हर (।ऽ।।।), विष्णु (ऽ।।।।) आदि वृत्तों की गणना इसी श्रेणी में की जाती है।

६ अक्षरों वाले वृत्त (गायत्री जाति)

डिल्ला

इस वृत्त के प्रत्येक चरण मे दो सगण (।।ऽ) होते हैं। इस वृत्त के अन्य नाम हैं : तिलका, तिल्ला और तिल्लाना।[5]

उदाहरण :

(१) नर नारि सबै।
भयभीत तबै।
अवरज्जु यहै।
सब दैवि कहै॥[6]

(२) इस नीरव में,
उनके बन में।
यदि पातक है,
तब क्या भय है॥[7]

---

१. छंदार्णव, ५।२७ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० १८४)
२. मानक हिन्दी कोश (पाँचवाँ खंड), पृ० ५०७
३. लघुवत् पढ़ें।
४. रामचंद्रिका, २।१
५. मानक हिन्दी कोश (दूसरा खण्ड), पृ० ४७२, ५५२
६. रामचंद्रिका, ४।२
७. काव्य दर्पण (पं० दुर्गादत्त), पृ० २०८, २०६

शशिवदना

'शशिवदना' नामक वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमशः एक नगण (।।।) और एक यगण (।ऽऽ) होता है।[१] इसके अन्य नाम हैं - चौवसा, चउरसा और पादाकुलक।[२]

उदाहरण

(१) मुनि मुनिराई।	(२) जगगुरु जान्यो।
जग सुखदाई।	त्रिभुवन मान्यो।
कहि अब सोई।	मम गति मारो।
जेहि जस होई॥[३]	समय विचारो॥[४]

मंथान

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में दो तगण (ऽऽ।) होते हैं।[५]

उदाहरण

बानो कही बान।
कीनी न सो कान।
अद्यापि मानी न।
रे वदि कानीन॥[६]

सुखदा

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमशः एक तगण (ऽऽ।) और एक यगण (।ऽऽ) होता है।[७]

उदाहरण

माया सब रूठी।
जानी जग झूठी।

---

१. शशिवदना न्यौ॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।८
२. मानक हिन्दी कोश (पाँचवाँ खण्ड), पृ० १५३
३. रामचन्द्रचन्द्रिका, ३।७ (केशव-ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० २३६)
४. रामचन्द्रचन्द्रिका, ७।४६ (केशव-ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० २६६)
५. (क) तगन जुगल पद वर्न करि मानो मन मथान॥
—छंदमाला, १।१२ (केशव ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ४३३)
(ख) मानक हिन्दी कोश (चौथा खंड), पृ० २५६
६. रामचन्द्रचन्द्रिका, ४।७ (केशव ग्रन्थावली, द्वितीय खंड, पृ० २४३)
७. आदि अन्त गुरु दोय दै मध्य दोय लघु मानि।
कहि 'केशव' पद वरन का 'सुखदा' छंद बखानि॥
—छंदमाला, १।१३ (केशव-ग्रन्थावली, द्वितीय खंड, पृ० ४३३)

एक हरि सांचो।
बैराग न पांचो ॥[1]

विजोहा

'विजोहा' नामक वृत्त के प्रत्येक चरण में दो रगण (SIS) होते हैं।[2] इस वृत्त के अन्य नाम हैं : जोहा, विमोहा, विजोरा और विज्जोहा।

उदाहरण :

रामकोदंड दै।
राजपुत्री किते।
टूक द्वै तीन कै।
जाउँ लंकाहि लै ॥[3]

मोहन

'मोहन' छंद के प्रत्येक चरण में एक सगण (IIS) और एक जगण (ISI) होता है।[4]

उदाहरण

जन राजवंत।
जग जोगवंत।
तिनको उदोत।
केहि भांति होत ॥[5]

मालती

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में दो जगण (ISI) होते हैं।[6]

---

१. केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ४३१
२. रगन दोय पटबर्नजुत विज्जोहा परमान।
—छंदमाला, १।१२ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ४३२)
३. रामचंद्रचंद्रिका, ४।४ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० २४३)
४. मानक हिन्दी कोश (चौथा खंड), पृ० ४२५
५. रामचंद्रचंद्रिका, ५।२१ (केशव ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० २४६)
६. छंदमाला, १।१० के अनुसार 'मालती' छंद के प्रत्येक चरण में नगण (III) और जगण (ISI) के योग से छह वर्ण होते हैं। मानक हिन्दी कोश (चौथा खंड), पृ० ३५० के अनुसार 'मालती' छंद के प्रत्येक चरण में क्रमशः नगण (III), दो जगण (ISI) और एक रगण (SIS) होता है, इस प्रकार १२ अक्षरों का भी 'मालती' छंद होता है।

उदाहरण

जु पै जिय जोर ।
तजो सब सोर ।
सरासन तोरि ।
लहौ सुख कोरि ॥[1]

वसुमती

'वसुमती' छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः एक तगण (ssı) और एक सगण (ııs) होता है ।[2]

उदाहरण :

सो शुभ्र ससि सो ।
जो दान असि सो ।
साजै जसुमती ।
सारी वसुमती ॥[3]

विद्युन्माला

'विद्युन्माला' के प्रत्येक चरण में दो मगण (sss) होते हैं ।[4] इस वृत्त का एक नाम 'शेषराज' भी है ।

उदाहरण

पुष्पों से हो बाला,
छात्रों से हो शाला,
शोभै मेघों से ही
शून्ये विद्युन्माला ।[5]

स्रग्विणी

'स्रग्विणी' नामक वृत्त के प्रत्येक चरण में दो रगण (sıs) होते हैं ।[6]

---

१. रामचन्द्रचन्द्रिका, ५।८ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० २४३)
२. त्सौ चेद्वसुमती ॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।६
३. छन्दार्णव, ५।६१ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० १८७)
४. विद्युन्माला मौ म ॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।१०
५. वृत्तरत्नाकर, ३।१० के संस्कृत उदाहरण के आधार पर ।
६. स्याद्रौ स्रग्विणी ॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।११

उदाहरण :

सुप्रिया सुन्दरी
संग है जाहि के।
मानवात्मा वही
है सुखी धन्य है ॥[1]

सोमराजी

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में दो यगण (ISS) होते हैं।[2]
उदाहरण :

करी अग्निअर्चा।
मिटी प्रेतचर्चा।
सबै राजधानी।
भई दीन बानी ॥[3]

दुमंदर

'दुमदर' नामक छंद के प्रत्येक चरण में दो भगण (SII) होते हैं।[4]
उदाहरण :

बाल - पयोधर।
मो हिय सो हर।
मानस - मंदर।
मानु दु मंदर ॥[5]

शंकर

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमश: एक रगण (SIS) और एक जगण (ISI) होता है।[6]

उदाहरण :

बात तात मानि।
चित्त मास आनि।

---

१. वृत्तरत्नाकर, ३।११ के संस्कृत उदाहरण के आधार पर।
२. यौ सोमराजी ॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।१२
३. रामचंद्रचंद्रिका, १०।११ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० २८०)
४. छंदार्णव, १०।२८ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० २३८)
५. छंदार्णव, १०।२८ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० २३८)
६. रगन जगन पदवर्नमय सो संकर जगवंद ॥
—छंदमाला, १।११ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ४३२)

एक राम सत्य ।
दूसरो असत्य ॥[1]

७ वर्ण वाले वृत्त (उष्णिक् जाति)

कुमारललिता

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमश: जगण (ISI), सगण (IIS) और एक गुरु (S) आते हैं ।[2]

उदाहरण

(१) विरंचि गुण देखें ।
गिरा गुणनि लेखें ।
अनंत मुख गावें ।
विशेष हि न पावें ॥[3]

(२) क्रिया भरत कीनी ।
वियोग रस भीनी ।
तजी गति नवीनी ।
मुकुन्द पद लीनी ॥[4]

समानिका

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमश: रगण (SIS), जगण (ISI) और एक गुरु (S) होता है । इसके अन्य नाम हैं समानी और प्रमाणिका ।[5]

उदाहरण

देखि देखि कै सभा ।
विप्र मोहियो प्रभा ।
राजमंडली लसैं ।
देवलोक को हँसैं ॥[6]

मधुमती

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में दो नगण (III) और एक गुरु (S) होते हैं ।[7]

१. छन्दमाला, १।११ का उदाहरण (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ४३२)
२. कुमारललिता ज्सौग् ॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।१६
३. रामचंद्रिका, १।१५
४. रामचंद्रिका, १०।१२
५. आदि एक गुरु मानिजै जगन रगन तिन माह ।
कीजो प्रगट 'प्रमानिका' सम्नवर्न कविनाह ॥
—छन्दमाला, १।१५ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ४३३)
छन्दमाला, १।१५ में इसे 'प्रमानिका' तथा रामचंद्रिका, २।४ और छन्दार्णव, १०।१० में इसे 'समानिका' कहा गया है ।
६. रामचंद्रिका, २।८
७. मानक हिन्दी कोश (चौथा खंड), पृ० २८१

उदाहरण :

तप निक्सत हो।
धरि कव सिर हो।
विमल बनलती।
सुरभि मधुमती ॥[1]

८ वर्ण वाले वृत्त (अनुष्टप् जाति)

अनुष्टुप् या श्लोक

यह अष्टाक्षरी वृत्तों का प्रतिनिधि छन्द है। इसका लोकप्रिय नाम 'श्लोक' है। इसके प्रत्येक चरण में आठ अक्षर होते हैं जिनमें से प्रत्येक चरण का पांचवां अक्षर लघु और छठा अक्षर गुरु होता है। इसके अतिरिक्त पहले और तीसरे चरण का सातवां अक्षर गुरु तथा दूसरे और चौथे चरण का सातवां अक्षर लघु होता है।[2]

उदाहरण .

(१) यो ददाति सतां शंभु कैवल्यमपि दुर्लभं।
खलानां दण्डकृद्योसौ शंकरः शं तनोतु मां ॥[3]

(२) स्वस्तिवाद विरक्तों का,
और ही कुछ वस्तु है।
वाक्यों में उनके होता,
ईश का एवमस्तु है ॥[4]

(३) सखी ने अंक में खींचा,
दु खिनी पड सो रही,
स्वप्न में हँसती थी हा!
सखी यों देख रो रही।[5]

विद्युन्माला

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में दो मगण (ऽऽऽ) और दो गुरु (ऽऽ) आते हैं। इस प्रकार इस छन्द के आठों वर्ण गुरु होते हैं।[6]

उदाहरण :

गंगा माता तेरी धारा।
काटे फन्दा मेरा सारा ॥

---

१. छन्दार्णव, ५।२४ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० १८६)
२. श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥ —श्रुतबोध, १०
३ रामचरितमानस, ६।१११-१२
४. रामनरेश त्रिपाठी (हिन्दी छन्दप्रकाश, पृ० ७६ पर उद्धृत)
५. साकेत (दशम सर्ग), पृ० ३८७
६. मो मो गो गो विद्युन्माला ॥—वृत्तरत्नाकर, ३।१६

विद्युन्माला जैसी सोहै।
वीची माला तेरी मोहै॥[1]

चित्रपदा

दो भगण (ऽ।।) और दो गुरु वर्णों के योग से इस वृत्त के प्रत्येक चरण में आठ वर्ण होते हैं।[2]

उदाहरण

(१) सीय जहीं पहिराई।
रामहि माल सोहाई।
दुन्दुभि देव बजाये।
फूल तहीं बरसाये॥[3]

(२) अंगद यों सुनि बानी।
चित्त महा रिस आनी॥
ठेलि कै लोग अनैसे।
जाय सभा महँ बैसे॥[4]

माणवक

इस वृत्त के प्रत्येक पाद में क्रमशः भगण (ऽ।।), तगण (ऽऽ।), लघु (।) और गुरु (ऽ) आते हैं।[5] इसका अन्य नाम 'मानवक्रीडा' है।

उदाहरण :

धन्य जसोदाहि कही।
नंद बड़ो भाग सही।
ईस्वर ह्वै जाहि घरै।
मानव को क्रीड़ करै।[6]

बोधक

'बोधक' वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमशः तगण (ऽऽ।), नगण (।।।) और दो गुरु (ऽऽ) होते हैं।[7]

उदाहरण :

झूठे हय गय तेरे।
लक्ष्मी हय गय चेरे।

---

१. सुधादेवी (हिन्दी छन्दप्रकाश, पृ० ७८ पर उद्धृत)
२ भौ गिति चित्रपदा ग॥—वृत्तरत्नाकर, ३।२०
३. रामचंद्रिका, ५।४७
४ रामचंद्रिका, १६।३
५ माणवक भात्तलगा॥—वृत्तरत्नाकर, ३।२१
६ छन्दार्णव, ५।६१ (भिखारीदास-ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृ० १६१)
७ आदि भन गुरु दोय दै मध्य रचो लघु चारि।
अष्टवर्न 'केशव' कहत बोधक छन्द विचारि॥—छन्दमाला, १।१६ (केशव-ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ४३४)

सीतापति अति साचे।
तासों कवनहु राचे।[1]

मल्लिका

इस वृत्त के प्रत्येक पाद में आठ अक्षर इस प्रकार आते हैं कि क्रमश रगण (ऽ।ऽ), जगण (।ऽ।), गुरु (ऽ) और लघु (।) हों।[2] इस वृत्त के अन्य नाम हैं : समानी, समानिका तथा मदनमल्लिका।

उदाहरण :

देश देश के नरेश।
शोभिजे सबै सुबेश॥
जानिये न आदि अंत।
कौन दास कौन संत॥[3]

नगस्वरूपिणी

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमश. जगण (।ऽ।), रगण (ऽ।ऽ), लघु (।) और गुरु (ऽ) आते हैं। इसे 'प्रमाणिका' भी कहते हैं।[4]

उदाहरण :

(१) नमामि भक्तवत्सलं कृपालुशीलकोमलं
भजामि ते पदांबुजं अकामिनां स्वधामदं॥[5]

(२) भलो बुरो न तू गुनै।
वृथा कथा कहै सुनै॥

(३) स्वदेश के महत्त्व का।
स्वराज के सुतत्त्व का।

---

१. केशव-ग्रंथावली (द्वितीय खण्ड), पृ० ४३४
२. (क) जौ समानिका गलौ च॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।२४
(ख) जगन रगन रचि आदि गुरु एक अंत लघु लेखि।
सुनो 'मल्लिका' छन्द यह अष्ट बरन पद देखि॥—छन्दमाला, १।१६
(केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ४३३)
३. रामचंद्रिका, ३।५
४. (क) प्रमाणिका जरौ लगौ॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।२५
(ख) आठवर्न को बर्न जहँ क्रमहीं लघु गुरु होइ।
कहियत नगस्वरूपिणी छन्द सकल कबिलोइ॥ —छन्दमाला, १।१७
(केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ४३४)
५. रामचरितमानस, ३।४।१-२

न राम देव गाइहैं॥ विवेक बार-बार हो।
न देवलोक पाइहैं॥[1] अनेकधा विचार हो।[2]

नाराचक अथवा नराचिका

तगण (SSI), रगण (SIS), लघु (I) और गुरु (S) के योग से इस वृत्त के प्रत्येक चरण में आठ अक्षर होते हैं।[3]

उदाहरण :

भौंहैं करो कमान हैं।
नैना प्रचंड बान हैं।
रेखा मिटै जो लै दई।
नराचिका यही भई॥[4]

मदनमोहनी

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमशः तगण (SSI), जगण (ISI), गुरु (S) और लघु (I) होते हैं।[5]

उदाहरण

जावौं सब जानि दागु।
तावौं तजिकै सु भागु।
जारै बिन जीव दुक्ख।
सोचै रहि पाइ सुक्ख।[6]

तुरंगम

दो नगण (III) और दो गुरु (SS) के योग से इस वृत्त के प्रत्येक चरण में आठ वर्ण होते हैं।[7]

---

१ रामचंद्रिका, १।१६
२. हिन्दी-छन्द-रचना, पृ० ३४ (मदन कवि के पद से परिवर्तित)
३. मानक हिन्दी कोश (तीसरा खण्ड), पृ० २१६
४ छन्दार्णव, ४।१०० (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खण्ड, पृ० १६७)
५ तगन आदि दै जगन पुनि गुरु लघु दीजत अंत।
'मदनमोहनी' छन्द यह अष्टवर्न मुनि कंत॥—छन्दमाला, १।१८ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ४३४)
६ छन्दमाला, १।१८ पर उदाहरण (केशव ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ४३४)
७. मानक हिन्दी कोश (दूसरा खण्ड), पृ० ५६३

उदाहरण :

बहुत बदन जाके।
विविध बचन ताके।
बहुभुज युत जोई।
सबल कहिय सोई ॥[1]

कमला

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमश नगण (।।।), सगण (।।ऽ), लघु (।) और गुरु (ऽ) आते हैं।[2]

उदाहरण :

तुम प्रबल जौ हुते। भुजबलनि संजुते ॥
पितहि भुव ल्यावते। जगत जस पावते ॥[3]

९ वर्ण वाले वृत्त (बृहती जाति)

तोमर (वर्णवृत्त)

ऊपर 'तोमर' मात्रिक छन्द का वर्णन हो चुका है। इसी नाम का वर्णवृत्त भी होता है जिसके प्रत्येक चरण मे क्रमश सगण (।।ऽ) और दो जगण (।ऽ।) होते हैं।[4]

उदाहरण :

(१) मुनि दान-मानसहस।
रघुवंस के अवतंस।
मन मांह जो अति नेहु।
यक वस्तु मांगहि देहु ॥[5]

(२) पितु आनिये केहि ओक।
दिय दक्षिणा सब लोक ॥
यह जानु रावन दीन।
पितु ब्रह्म के रस लीन ॥[6]

---

१. रामचंद्रिका, ४।१०
२. छन्दार्णव, ५।७०-७२ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खण्ड, पृ० १८८) के अनुसार 'कमल' छन्द का लक्षण है : प्रत्येक चरण मे क्रमशः नगण (।।।), सगण (।।ऽ), लघु (।) और गुरु (ऽ) तथा 'कमला' और 'रतिपद' दोनों छन्दों का लक्षण है प्रत्येक चरण में क्रमश दो नगण (।।।) और सगण (।।ऽ)
३. रामचन्द्रचंद्रिका, ४।१३ (केशव ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० २४४)
४. छन्दमाला, १।२७ (केशव ग्रंथावली, खण्ड २, पृ० ४३५)
५ रामचंद्रिका, २।१३
६. रामचंद्रिका, ४।१४

हलमुखी

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमशः रगण (SIS), नगण (III) और सगण (IIS) होते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर ९ वर्ण प्रत्येक पाद में होते हैं।[1] इसे 'हरमुख' भी कहते हैं।[2]

उदाहरण

धन्य जन्म निज कहती।
प्रान वारतहि रहती।
देखि ग्वारि सहि सुख कों।
मैनगर्बहर मुख कों॥[3]

भुजगशिशुभृता

इस वृत्त के प्रत्येक पाद में क्रमशः दो नगण (III) और एक मगण (SSS) आते हैं।[4]

उदाहरण

प्रिय सुख-दुख हैं सारा।
जनम मरण भी प्यारा।
हम इस जग को भावें।
यह हम तज ना पावें।[5]

नागसुरूपिणी

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमशः जगण (ISI), रगण (SIS) और जगण (ISI) होते हैं।[6]

उदाहरण

भले बुरे जपौ जु ईस।
बिराजमान चंद्र सीस।
सिवा बिलास सोभमान।
सु सिद्धि रिद्धि देन दान॥[7]

---

१. वृहत्याम्—रान्नसाविह हलमुखी॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।२६
२. छन्दार्णव ५।८६ (भिखारीदास ग्रंथावली, प्रथम खण्ड, पृ० १६०)
३. छन्दार्णव, ५।८६ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० १६०)
४. भुजगशिशुभृता नौ म॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।३०
५. प्यारेलाल शर्मा (हिन्दी-छन्द-रचना, पृ० ३५ पर उद्धृत)
६. आदि मन रचि जगन सुभ मध्य रगन रचि मित्त।
प्रगटहु 'नागसुरूपिनी' नव प्रकार धरि चित्त॥
—छन्दमाला, १।२१ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ४३४)
७. केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ४३४

मणिबन्ध

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमश भगण (ऽ।।), मगण (ऽऽऽ) और सगण (।।ऽ) होते हैं।[1]

उदाहरण :

आपुहि राख्यो जो न चहै।
कर्म लिख्यो तो पाइ रहै।
कर्महि लागै हाथ सोऊ।
जो मनि बांध्यो गांठि कोऊ।।[2]

महालक्ष्मी

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में तीन रगण (ऽ।ऽ) होते हैं।[4]

उदाहरण :

सास्त्रज्ञाता बड़ो सो भनो।
बुद्धिवंतो बड़ो सो गनो।
सोइ सूरो सोई संत है।
जो महालक्ष्मीवंत है।।[5]

मद्रिका [प्रत्येक चरण में क्रमश रगण (ऽ।ऽ), नगण (।।।) और रगण (ऽ।ऽ)][6] आदि कुछ अन्य वृत्त भी 'बृहती जाति' के अन्तर्गत आते हैं, किन्तु हिन्दी में उनका प्रयोग अत्यन्त न्यून तथा नगण्य है, अत उनका विवरण नहीं दिया गया।

१० वर्णों वाले वृत्त (पंक्ति जाति)

चम्पकमाला

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में भगण (ऽ।।), मगण (ऽऽऽ), सगण (।।ऽ) और एक गुरु वर्ण (ऽ) के क्रम से १० वर्ण होते हैं।[7] इसके अन्य नाम हैं रुक्मवती और रुक्मवती[8]।

---

१. मानक हिन्दी कोश (चौथा खंड), पृ० २७३
२. लघुवत् पढ़ें।
३. छन्दार्णव, ५।१०६ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० १६३)
४. मानक हिन्दी कोश (चौथा खण्ड), पृ० ३२२
५. छन्दार्णव, ५।१२६ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खण्ड, पृ० १६५)
६. मद्रिका भवति रो नरौ। —वृत्तरत्नाकर, ३।३१
७. चम्पकमाला चेद् भमसाद्ग.। —वृत्तरत्नाकर, ३।३४
८. मानक हिन्दी कोश (चौथा खंड), पृ० ५१४

उदाहरण

(१) शान्ति नहीं तो जीवन क्या है ?
कान्ति नहीं तो यौवन क्या है ?
प्रेम नहीं तो आदर क्या है ?
प्यास नहीं तो सागर क्या है ?[1]

(२) चाह नहीं तो वैभव फीका।
खेल नहीं तो शैशव फीका॥
मान नहीं तो जीवन फीका।
रूप नहीं तो यौवन फीका॥[2]

हंसी

क्रमश मगण (SSS), भगण (SII), नगण (III) और एक गुरु (S) के योग से इस वृत्त के प्रत्येक चरण में १० वर्ण होते हैं।[3]

उदाहरण

आई वक्षोपरि चिक्कनई।
छूटी लागी तन लरिकई।
लागी हंसी मन मृदु हरै।
बाला हंसी गति पग धरै॥[4]

मत्ता

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमशः मगण (SSS), भगण (SII), सगण (IIS) और एक गुरु वर्ण (S) होता है।[5]

उदाहरण

आयो आली विषम वसंता।
कैसे जीवी निसर न कंता।
फूले टेसू करि वन रत्ता।
चौहों गूंजे मधुकर मत्ता॥[6]

---

१ रामनरेश त्रिपाठी (हिन्दी छन्द-रचना, पृ० ३६ पर उद्धृत)
२. सुधा देवी (हिन्दी छन्दप्रकाश, पृ० ७६-८० पर उद्धृत)
३ ज्ञेया हंसी मभनगयुता। —वृत्तरत्नाकर, ३।२७
४ छन्दार्णव, ५।१२२ (भिखारीदास ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृ० १९५)
५. ज्ञेया मत्ता मभसगयुक्ता। —वृत्तरत्नाकर, ३।३८
६ छन्दार्णव, ५।१३६ (भिखारीदास-ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृ० १९६)

अमृतगति

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमशः नगण (III), जगण (ISI), नगण (III) और एक गुरु (S) होते हैं।[1]

उदाहरण :

सुमति महामुनि सुनिये।
तन धन कै मन गुनिये।
मन महँ होय सु कहिये।
धनि सु जु आपुन लहिये॥[2]

बाला

'बाला' के प्रत्येक चरण में क्रमशः तीन रगण (SIS) और एक गुरु (S) होते हैं।[3]

उदाहरण :

मोर के पंख को मुकुट आला।
कंठ में सोहनी सुवनमाला।
स्याम घनरूप तन दृग बिसाला।
देखि री देखि गोपाल बाला॥[4]

संयुक्ता

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमशः सगण (IIS), दो जगण (ISI) और एक गुरु (S) होता है।[5]

उदाहरण :

यह कौन को दल देखिये ?
यह राम को प्रभु लेखिये।
कहि कौन राम न जानियो ?
सर ताड़का जिन मारियो॥[6]

---

१. मानक हिन्दी कोश (पहला खण्ड), पृ० १६७
२. रामचंद्रिका, ३।१४
३. मानक हिन्दी कोश (चौथा खण्ड), पृ० १२०
४. छन्दार्णव, ५।१६१ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खण्ड, पृ० १६६)
५. सगन एक रचि जगन द्वै अन एक गुरु मानि।
दसधा वर्न बखानियै 'संजुत्ता' परमानि॥
—छन्दमाला, १।२६ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ४३५)
६. रामचंद्रिका, ७।६

तोमर

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमश नगण (।।।), दो सगण (।।ऽ) तथा एक लघु वर्ण (।) होता है।[1]

उदाहरण

> सह भरथ लक्ष्मन राम।
> बहु विधि किये परनाम।
> नृपु रिपिहि भायसु दीन।
> नर अजय हो परवीन ॥[2]

सारवती अथवा हरिणी

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमश तीन भगण (ऽ।।) और एक गुरु (ऽ) मिलकर १० वर्ण होते हैं।[3]

उदाहरण

> मोहि चलौ बन संग लिये।
> पुत्र तुम्हें हम देखि जिये ॥
> औधपुरी महँ गाज परै।
> कै अब राज भरथ्थ करै ॥[4]

शुद्धविराट् [प्रत्येक चरण में क्रमश मगण (ऽऽऽ), सगण (।।ऽ), जगण (।ऽ।) और गुरु (ऽ)][5], पणव [प्रत्येक चरण में क्रमश. मगण (ऽऽऽ), नगण (।।।), यगण (।ऽऽ) और गुरु (ऽ)][6], मयूरसारिणी [प्रत्येक चरण में क्रमश: रगण (ऽ।ऽ), जगण (।ऽ।), रगण (ऽ।ऽ) और गुरु (ऽ)][7] दीपकमाला (प्रत्येक चरण में क्रमश. भगण (ऽ।।), मगण (ऽऽऽ), जगण (।ऽ।) और गुरु (ऽ)][8],

---

१. नगन आदि पुनि सगन द्वै एक अंत लघु आनि।
   दस अक्षर को वर्न कहि 'तोमर' छन्द बखानि ॥
   —छन्दमाला, १।२५ (केशव ग्रथावली, द्वितीय खड, पृ० ४३५)
२. छन्दमाला, १।२५ पर उदाहरण (केशव-ग्रथावली, द्वितीय खड, पृ०४३५)
३. भगन तीनि रचि आदि पुनि अंत देहु गुरु एक।
   'हरिणी' छन्द बखानिजै दसधा वर्न विवेक ॥
   —छन्दमाला, १।२३ (केशव-ग्रथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ४३५)
४. रामचन्द्रचन्द्रिका, ६।१० (केशव-ग्रथावली, खड २, पृ० २७४)
५. म्सौ ज्गौ शुद्धविराडिद मतम् ॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।३२
६. म्नौ म्यौ चेति पणवनामेदम् ॥ वृत्तरत्नाकर, ३।३३
७. जौ रगौ मयूरसारिणी स्यात् ॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।३५
८. दीपकमाला चेद् भमौ जगौ ॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।३६

मनोरमा [प्रत्येक चरण में क्रमश. नगण (।।।), रगण (ऽ।ऽ), जगण (।ऽ।) और गुरु (ऽ)],[1] उपस्थिता [प्रत्येक चरण में क्रमश. तगण (ऽऽ।), दो जगण (।ऽ।) और गुरु (ऽ)][2] आदि कुछ अन्य वृत्त भी इस वर्ग के हैं, किन्तु हिन्दी में उनका प्रयोग अधिक नहीं हुआ, अत. उनका विस्तृत विवरण नहीं दिया गया।

११ वर्णों वाले वृत्त (त्रिष्टुभ् जाति)

इन्द्रवज्रा

११ वर्ण वाले इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमश. दो तगण (ऽऽ।), जगण (।ऽ।) और दो गुरु (ऽऽ) होते हैं।[3]

उदाहरण :

(१) नीलांबुजश्यामलकोमलागं सीतासमारोपितवामभागं।
पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथं॥[4]

(२) मेरो बड़ो भूल कहा कहौं रे।
तेरो कह्यौ दूत सबै सहौं रे।
वै जो सबै चाहत तोहि मार्‍यो।
मारौं कहा तोहि जो दैव मार्‍यो॥[5]

(३) मैं राज्य की चाह नहीं करूँगा।
हे जो तुम्हें इष्ट वही करूँगा॥
सन्तान जो सत्यवती जनेगी।
राज्याधिकारी वह ही बनेगी॥[6]

उपेन्द्रवज्रा

क्रमश. जगण (।ऽ।), तगण (ऽऽ।), जगण (।ऽ।) और दो गुरु वर्णों (ऽऽ) के योग से इस वृत्त के प्रत्येक चरण में ११ वर्ण होते हैं।[7]

---

१. नरजगैर्भवेन्मनोरमा। —वृत्तरत्नाकर, ३।३९
२. त्जौ जो गुरुणेयमुपस्थिता। —वृत्तरत्नाकर, ३।४०
३. स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः। —वृत्तरत्नाकर, ३।४१
४. रामचरितमानस, ३।१।७-८
५. रामचन्द्रिका, १६।२०
६. मैथिलीशरण गुप्त (हिन्दी छन्दप्रकाश, पृ० ८० पर उद्धृत)
७. उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।४२

उदाहरण

(१) त्वमेव माता च पिता त्वमेव*, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव* ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव*, त्वमेव सर्वं मम देव देव* ॥[1]

(२) नराच श्रीराम जहीं धरेंगे ।
अशेष माथे कटि भू परेंगे ॥
सिखा सिवा स्वान गहे तिहारी ।
फिरैं चहूँ ओर निरैं बिहारी ॥[2]

(३) मिलाप था दूर अभी धनी का,
विलाप ही था बस था बनी का ।
अपूर्व आलाप वही हमारा,
यथा विपंची दिर दार दारा ![3]

उपजाति

इन्द्रवज्रा और उपेन्द्रवज्रा के मिश्रण से उपजाति छन्द बनता है । इसमें एक या अधिक इन्द्रवज्रा के चरणों के साथ एक या अधिक उपेन्द्रवज्रा के चरण रखे जाते हैं । इस प्रकार १६ प्रकार के उपजाति छन्द हो सकते हैं ।

उदाहरण

परोपकारी बन वीर आओ । (उपेन्द्रवज्रा)
नीचे पड़े भारत को उठाओ । (इन्द्रवज्रा)
हे मित्र त्यागो मद मोह माया । (इन्द्रवज्रा)
नहीं रहेगी यह नित्य काया ॥[4] (उपेन्द्रवज्रा)

दोधक

तीन भगण (ऽ।।) और दो गुरु (ऽऽ) के योग से इस वृत्त के प्रत्येक पाद में ११ अक्षर होते हैं ।[5] इसका एक नाम 'बन्धु' भी है ।[6]

उदाहरण -

बाण न बात तुम्हें कहि आवै ।
सोइ कहौ जिय तोहि जो[7] भावै ।

*दोधकवत् पढ़ें ।

१. हिन्दी छन्द रचना, पृ० ४१
२ रामचन्द्रिका, १६।२१
३ साकेत (नवम सर्ग), पृ० २६६
४ रामनरेश त्रिपाठी (हिन्दी-छन्द-रचना, पृ० ४२ पर उद्धृत)
५ दोधकवृत्तमिदं भभभाद् गौ ॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।४५
६ मानक हिन्दी कोश (चौथा खण्ड), पृ० ४२
७ लघुवत् पढ़ें ।

का करिहौ हम योंही[1] बरेंगे।
हैहयराज करो सो[2] करेंगे ॥[3]

शालिनी

इस वृत्त के प्रत्येक चरण मे ११ वर्ण इस प्रकार होते हैं कि क्रमश मगण (sss), दो तगण (ssı) और दो गुरु (ss) आयें तथा ४ और ७ अक्षरो पर विराम पड़े।[4]

उदाहरण :

क्या क्या होगा साथ, मैं क्या बताऊँ ?
है ही क्या, हा ! आज जो मैं जताऊँ ?
तो भी तूली, पुस्तिका और वीणा,
चौथी मैं हूँ, पांचवीं तू प्रवीणा।[5]

वातोर्मी

क्रमश. मगण (sss), भगण (sıı), तगण (ssı) और दो गुरु (ss) के योग से ११ अक्षर जिस वृत्त के प्रत्येक चरण मे आयें उसे 'वातोर्मी' नामक वर्णवृत्त कहते हैं। इसमे भी 'शालिनी' के समान ही ४ और ७ अक्षरो पर यति पड़ती है।[6] भिखारीदास ने ७, ४ अक्षरो पर यति मानी है।[7]

उदाहरण : कैसे याको कहिये, नेकु नाहीं।
नीवी बांधी रहती, याहि माहीं।
तातें ऐसो बरनै, बुद्धि मेरी।
वातोर्मी है सजनी, लंक तेरी ॥[8]

मौक्तिकमाला

११ अक्षर के चरण वाले वृत्त मे यदि क्रमश. भगण (sıı), तगण (ssı), नगण (ııı) और दो गुरु (ss) आयें तथा ५, ६ अक्षरो पर यति पड़े तो उसे 'मौक्तिकमाला' वृत्त कहा जाता है।[9] इसे 'श्री'[10] और

---

१ लघुवत् पढ़ें।
२. लघुवत् पढ़ें।
३. रामचंद्रिका, ४।२२
४. शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः ॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।४६
५. साकेत (नवम सर्ग), पृ० २७०
६ वातोर्मीय गदिता म्भौ तगौ ग । —वृत्तरत्नाकर, ३।४७
७ छन्दार्णव, १२।६ (भिखारीदास-ग्रथावली, प्रथम खण्ड, पृ० २४८)
८. छन्दार्णव, १२।७ (भिखारीदास-ग्रथावली, प्रथम खण्ड, पृ० २४८)
९. मानक हिन्दी कोश (चौथा खड), पृ० ४२७
१० पञ्चरसैः श्रीर्भतनगगैः स्यात् । —वृत्तरत्नाकर, ३।४८

'अनुकूला'[1] भी कहते हैं।

उदाहरण

(१) पावक पूज्यो समिध सुधारी।
आहुति दीनी सब सुखकारी।
दै तब कन्या बहु धन दीन्हों।
भाँवरि पारि जगत जस लीन्हों ॥[2]

(२) सीय न पाई अवधि विनासी।
होहु सबै सागरतटवासी।
जो घर जैये सकुच अनंता।
मोहि न छोडै जनकनिहंता ॥[3]

रथोद्धता

इस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः रगण (SIS), नगण (III), रगण (SIS), एक लघु (I) और एक गुरु (S) आते हैं। पादान्त में यति पड़ती है।[4]

उदाहरण

(१) कुंदइंदुदरगौरसुन्दरं
अंबिकापतिमभीष्टसिद्धिदं।
कारुणीककलकंजलोचनं
नौमि शंकरमनंगमोचनं ॥[5]

(२) चित्रकूट तब राम जू तज्यो।
जाइ यज्ञथल अत्रि को भज्यो ॥
राम लक्ष्मण समेत देखियो।
आपुनो सफल जन्म लेखियो ॥[6]

स्वागता

११ अक्षरों वाले इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमशः रगण (SIS), नगण

---

१. भगन तगन पुनि नगन है द्वै गुरु अंतहि देखि।
'अनुकूला' यह छंद है ग्यारह अक्षर लेखि ॥
—छंदमाला, १।२७ (केशव-ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ४३६)

२. रामचन्द्रिका, ६।६

३. रामचन्द्रिका, १३।२४

४. रौ नराविह रथोद्धता लगौ। —वृत्तरत्नाकर, ३।४१

५. रामचरितमानस, ७।१।७-८

६. रामचन्द्रिका, ११।१

(III), भगण (SII) और दो गुरु (SS) आते हैं। यति पादान्त में पड़ती है।[1]

उदाहरण -

तात मातु जन सोदर जानौ।
देवर जेठ सगे सब मानौ॥
पुत्र पुत्रसुत श्री छविछाई।
हैं विहीन भरता दुखदाई॥[2]

इन्दिरा

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमश नगण (III), दो रगण (SIS), लघु (I) और गुरु (S) के योग से ११ अक्षर होते हैं।[3] इसके अन्य नाम हैं 'कनकमंजरी' और 'भामिनी'।

उदाहरण -

तनु तपा हुआ शुद्ध हेम है,
सुलभ योग है और क्षेम है।
उदित उर्मिला-भाग्य धन्य है,
अब कृती कहां कौन अन्य है![4]

भुजंगी

क्रमश तीन यगण (ISS), लघु (I) एव गुरु (S) के योग से ११ अक्षरों के चरण वाले छन्द का नाम 'भुजंगी' है।[5]

उदाहरण :

यही वाटिका थी, यही थी मही,
यही चन्द्र था, चांदनी थी यही।
यही वल्लकी मे लिए गोद में,
उसे छेड़ती थी महामोद मे॥[6]

हारकलिका

इस वृत्त के प्रत्येक चरण मे क्रमश. तीन भगण (SII), लघु (I) एव

---

१. स्वागतेति रनभाद् गुरुयुग्मम्। —वृत्तरत्नाकर, ३।५२
२ रामचंद्रचंद्रिका, ६।१५ (केशव ग्रंथावली, खड २, पृ० २७४)
३. यदि नरौ रलौ गस्तदेन्दिरा। —वृत्तरत्नाकर, पृ० ५७
४ साकेत (नवम सर्ग), पृ० ३३३
५. मानक हिन्दी कोश (चौथा खण्ड), पृ० २२७
६ साकेत (नवम सर्ग), पृ० ३२६

गुरु (s) होते हैं।[1] इसके अन्य नाम हैं 'कली' और 'चौबोला'।

उदाहरण :

सग लिये ऋषि शिष्यन घने।
पावक से तपतेजनि सने।
देखत बाग तडागन भले।
देखन औधपुरी कहं चले।[2]

मोटनक

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमश तगण (ssı), दो जगण (ısı), लघु (ı) और गुरु (s) होते हैं।[3]

उदाहरण

आये दशरत्थ बरात सजे।
दिग्पाल गयदनि देखि लजे।
चार्यो दल दूलह चारु बने।
मोहे सुर औरनि कौन गने॥[4]

विध्वंकमाला

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमश तीन तगण (ssı) और दो गुरु (ss) होते हैं।[5] इसके अन्य नाम 'सुपर्णप्रयात'[6] और 'धीर'[7] हैं।

उदाहरण :

योद्धा भगे वीर शत्रुघ्न आये।
कोदड लीन्हें महा रोष छाये॥

---

१. तीनि भगन जहं कीजिए लघु इक इक गुरु अत।
हाकलिका सो छन्द है बरनत कवि बुधिवत॥
—रामचद्रचन्द्रिका (परिशिष्ट २), केशव-ग्रथावली (खण्ड २), पृ० ४२२

२. रामचन्द्रिका, १।३६

३. मानक हिन्दी कोश (चौथा खण्ड), पृ० ४२०

४. रामचन्द्रिका, ६।२

५. विध्वकमाला भवेतो तगौ ग.। —छन्दोमञ्जरी, २।६१ (पृ० ६१)

६. तगन तीनि गुरु अन्त है करि कबित्त अवदात।
ग्यारह अक्षर स्वच्छ पद देहु 'सुपर्णप्रयात'॥
—छन्दमाला, १।२८ (केशव-ग्रथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ४३६)

७. मानक हिन्दी कोश (तीसरा खण्ड), पृ० १७३

ठाढ़ो तहाँ एक बाल बिलोक्यो।
रोक्यो तहाँ जोर नाराच मोक्यो ॥[1]

सुमुखी [क्रमशः नगण (ııı), दो जगण (ısı), लघु (ı) और गुरु (s)][2], सान्द्रपद [क्रमशः भगण (sıı), तगण (ssı), नगण (ııı), गुरु (s) और लघु (ı)][3], भ्रमरविलसिता [क्रमशः मगण (sss), भगण (sıı), नगण (ııı), लघु (ı) और गुरु (s)],[4] शिखण्डित [क्रमशः जगण (ısı), सगण (ııs), तगण (ssı) और दो गुरु (ss)][5], वृत्ता [क्रमशः दो नगण (ııı), सगण (ııs) और दो गुरु (ss)][6], भद्रिका [क्रमशः दो नगण (ııı), रगण (sıs), लघु (ı) और गुरु (s)][7], श्येनिका [क्रमशः रगण (sıs), जगण (ısı), रगण (sıs), लघु (ı) और गुरु (s)][8], उपस्थित [क्रमशः जगण (ısı), सगण (ııs), तगण (ssı) और दो गुरु (ss)][9] आदि कुछ अन्य वृत्त भी इसी (त्रिष्टुभ्) जाति के हैं जिनका हिन्दी में प्रयोग नहीं मिलता।

१२ अक्षरों वाले वृत्त (जगती वर्ग)

चन्द्रवर्त्म

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमशः रगण (sıs), नगण (ııı), भगण (sıı) और सगण (ııs) होते हैं।[10] इसे 'चंद्रब्रह्म' भी कहते हैं।[11]

उदाहरण :

स्नान दान तप जाप जो[12] करियो।
सोधि सोधि उर मांझ जु धरियो।

---

१. रामचन्द्रिका, ३५।१५
२. नजजलगैर्गदिता सुमुखी ॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।४४
३. सान्द्रपदं भ्तौ नगलघुभिश्च ॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।४६
४. म्भौ न्लौ गः स्याद् भ्रमरविलसिता ॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।५०
५. शिखण्डितमिदं ज्सौ तौ गुरुश्चेत् ॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।५३
६. ननसगगुरुरचिता वृत्ता ॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।५४
७. ननरलगुरुभिश्च भद्रिका ॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।५५
८. श्येनिका रजौ रलौ गुरुर्यदा ॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।५६
९. उपस्थितमिदं ज्सौ ताद् गकारौ ॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।५७
१०. चद्रवर्त्मगदितं तु रनभसैः ॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।५८
११. रगन नगन पुनि भगन यह अंत सगन को आनि।
'चद्रब्रह्म' यह छन्द है बारह बरन बखानि ॥
—छन्दमाला, १।३६ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ४३८)
१२. लघुवत् पढ़ें।

दीन जान हम जो मन गहियो।
रामचन्द्र सबरी फल लहियो॥[1]

वंशस्थ

इस द्वादशाक्षरी वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमशः जगण (ISI), तगण (SSI), जगण (ISI) और रगण (SIS) होते हैं।[2] 'छन्दमाला' में इसे 'वंशस्वनित' कहा गया है।[3]

उदाहरण

(१) प्रसन्नतां या न गताभिषेकत-
स्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे
सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा॥[4]

(२) तपी जपी विप्रन छिप्रही हरौं।
अदेव द्वेषी सब देव संहरौं।
सिया न देहौं यह नेम जी धरौं।
अमानुषी भूमि अवानरी करौं॥[5]

(३) ललामता कोमलता स्वकीय से।
अनूपता पल्लव पत्र पुंज से।
सलोचनों को करती प्रलुब्ध थी।
अलोकनीया—लतिका लवंग की॥[6]

(४) कुचक्रियों में भय त्रास मानना,
असह्य होना बलवान व्यक्ति को।
हुताश के सम्मुख भी न दीन हो,
मनस्वियों की यह कर्मनीति है॥[7]

इन्द्रवज्रा

क्रमशः दो तगण (SSI), जगण (ISI) और रगण (SIS) के योग से १२ अक्षर जिस वृत्त के प्रत्येक चरण में आयें उसे 'इन्द्रवज्रा' नामक वृत्त कहते हैं।[8]

उदाहरण

आते यहाँ नाथ निहारने हमें,
उद्धारने या सखि, तारने हमें?

---

१. रामचन्द्रिका, ११।२

२. जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ। —वृत्तरत्नाकर, ३।५६

३. जगन तगन पुनि जगन करि अंत रगन रचि मित्र।
'वंशस्वनित' सु छन्द यह बारह बरन विचित्र॥
—छन्दमाला, १।४१ (केशव-ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ४३८)

४. रामचरितमानस, २।१।५-६

५. रामचन्द्रिका, १६।१०

६. प्रियप्रवास, ६।५६

७. अनगराज, ६।४८

८. स्यादिन्द्रवज्रा ततजं गसंयुतं॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।६०

या जानने को, किस भाँति जी रहे ?
तो जान लें वे, हम अश्रु पी रहे ![1]

तोटक

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में ४ सगण (IIS) होते हैं ।[2] 'छन्दमाला' में इसे 'मोदक' कहा गया है ।

उदाहरण

(१) जय राम रमारमन समनं भवताप भयाकुल पाहि जनं ।
अवधेस सुरेस रमेस बिभो सरनागत मागत पाहि प्रभो ।[3]

(२) सखि नील नभस्सर में उतरा
यह हंस अहा ! तरता तरता,
अब तारक-मौक्तिक शेष नहीं,
निकला जिनको चरता चरता ।[4]

(३) निज गौरव का, नित ज्ञान रहे ।
'हम भी कुछ हैं', यह ध्यान रहे ॥
सब जाय अभी, पर मान रहे ।
मरणोत्तर गुंजित गान रहे ॥[5]

द्रुतविलम्बित

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमश नगण (III), दो भगण (SII) और रगण (SIS) होते हैं ।[6]

उदाहरण :

(१) उरसि अंगद लाज कछू गहो ।
जनक घातक बात वृथा कहो ।

(२) दिवस का अवसान समीप था ।
गगन था कुछ लोहित हो चला ।

---

१. साकेत (नवम सर्ग), पृ० ३३१

२ इह तोटकमम्बुधिसैः प्रथितम् ॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।६१
बारह वर्न बखानिजै प्रतिपद आनँदकन्द ।
चारि सगन को कीजियत 'केसव' मोदक छन्द ॥
—छन्दमाला, १।३४ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ४३७)

३ रामचरितमानस, ७।१४।१-२

४. साकेत (नवम सर्ग), पृ० २८६

५. मैथिलीशरण गुप्त (हिन्दी छन्दप्रकाश, पृ० ८७ पर उद्धृत)

६ द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ ॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।६२

सहित लक्ष्मण रामहिं संहरौं ।
सकल बानर राज तुम्हें करौं ।।[1]

तरुशिखा पर थी अब राजती ।
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा ।।[2]

(३) श्रवण कीर्तन वन्दन दासता ।
स्मरण आत्म-निवेदन अर्चना ।
सहित सख्य तथा पद-सेवना ।
निगदिता नवधा प्रभु-भक्ति है ।।[3]

(४) सखि, विचार कभी उठता यही—
अवधि पूर्ण हुई, प्रिय आ गये ।
तदपि मैं मिलते सकुचा रही,
वह वही, पर आज नये नये ?[4]

मौक्तिकदाम

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में ४ जगण (ISI) होते हैं ।[5]

उदाहरण

गये तहँ राम जहाँ निज मात ।
कही यह बात कि हौं बन जात ।।
कछू जनि जी दुख पावहु माइ ।
सु देहु असीस मिलौं फिरि आइ ।।[6]

कुसुमविचित्रा

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमश नगण (III), यगण (ISS), नगण (III) और यगण (ISS) आते हैं ।[7]

उदाहरण

तव निकसो रावण-सुत सूरो ।
जेइ रण जीत्यो हरि-बल पूरो ।।
तप बल माया-तम उपजायो ।
कपि-दल के मन संभ्रम छायो ।।[8]

---

१. रामचन्द्रिका, १६।१८
२. प्रियप्रवास, १।१
३. प्रियप्रवास, १६।११५
४. साकेत (नवम सर्ग), पृ० ३३१
५ चतुर्जगणं वद मौक्तिकदाम ।। —वृत्तरत्नाकर, ३।६४
६. रामचन्द्रिका, ६।७
७ नयसहितौ न्यौ कुसुमविचित्रा ।। —वृत्तरत्नाकर, ३।६७
८. रामचन्द्रिका, १७।८

जलोद्धतगति

'जलोद्धतगति' के प्रत्येक पाद में क्रमश: जगण (।ऽ।), सगण (।।ऽ), जगण (।ऽ।) और सगण (।।ऽ) आते हैं। ६, ६ पर यति पड़ती है।[1]

उदाहरण :

असार जग को ससार समझो।
प्रपंच लख के उदास मत हो॥
डिगो न विचलो चलो संभल के।
प्रसन्न मन से स्वधर्म पथ में॥[2]

भुजंगप्रयात

'भुजंगप्रयात' के प्रत्येक चरण में चार यगण (।ऽऽ) होते हैं।[3]

उदाहरण :

(१) नमामीशमीशाननिर्वाणरूपं विभुं व्यापकं ब्रह्मवेदस्वरूपं।
निजं निर्गुणं निर्विकल्पं निरीहं चिदाकाशमाकाशवासं भजेहं॥[4]

(२) सदा मेघमाला शिखी पाककारी।
करै कोतवाली महादंडधारी॥
पढ़ै वेद ब्रह्मा सदा द्वार जाके।
कहा बापुरो शत्रु सुग्रीव ताके॥[5]

(३) बनाती रसोई, सभी को खिलाती,
इसी काम में आज मैं तृप्ति पाती।
रहा किन्तु मेरे लिए एक रोना
खिलाऊँ किसे मैं अलोना सलोना ?[6]

स्रग्विणी

'स्रग्विणी' के प्रत्येक चरण में चार रगण (ऽ।ऽ) होते हैं।[7] इसके अन्य

---

१ रसैर्जसजसा जलोद्धतगति ॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।६८
२ जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' (हिन्दी छन्दप्रकाश, पृ० ८६ पर उद्धृत)
३. भुजंगप्रयातं भवेद्यैश्चतुर्भि: ॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।७०
४. रामचरितमानस, ७।१०८।१-२
५. रामचन्द्रिका, १६।२३
६. साकेत (नवम सर्ग), पृ० २७१
७ रैश्चतुर्भिर्युता स्रग्विणी सम्मता ॥ —वृत्तरत्नाकर ३।७१

नाम हैं 'पद्मिनी'[1] और 'लक्ष्मीधर'[2]।

उदाहरण :

(१) अच्युतं केशव रामनारायणम् ।
कृष्णदामोदर वासुदेव हरिम् ।
श्रीधर माधव गोपिकावल्लभम् ।
जानकीनायक रामचन्द्र भजे ॥[3]

(२) राम आगे चले मध्य सीता चली ।
बंधु पाछे भये सोभ सोभै भली ।
देखि देही सबै कोटिधा कै भनो ।
जीव जीवेश के बीच माया मनो ।[4]

प्रमिताक्षरा

इस वृत्त के प्रत्येक पाद में क्रमशः सगण (IIS), जगण (ISI) और दो सगण (IIS) आते हैं ।[5]

उदाहरण

(१) हरवाय जाय सिय पांय परी ।
ऋषिनारि सूँघि सिर गोद धरी ।
बहु अगराग अंग अंग रचे ।
बहु भाँति ताहि उपदेश दये ॥[6]

(२) अब भी समक्ष वह नाथ खड़े,
वह विन्दु किन्तु यह हाथ पड़े ।
न वियोग है न यह योग सखी,
कह, कौन भाग्य भय भोग सखी ?[7]

जलधरमाला

१२ अक्षरों वाले वृत्त के प्रत्येक पाद में यदि क्रमशः मगण (SSS), भगण

---

१. द्वितीय पञ्चम चैव षष्ठमेकादश तथा ।
पादे यत्र लघूनि स्युः पद्मिनी नाम सा यथा ॥ —नाट्यशास्त्र, १६।१४७

२. प्राकृत-पिंगलकार ने इसे 'लक्ष्मीधर' कहा है ।

३. हिन्दी-छन्द-रचना, पृ० ४८ पर उद्धृत

४. रामचन्द्रिका, ११।३

५. प्रमिताक्षरा सजससैरुदिता ॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।५६

६. रामचन्द्रिका, ११।६

७. साकेत (नवम सर्ग), पृ० २३१

(SII), सगण (IIS) और मगण (SSS) आयें तथा ४, ८ अक्षरों पर यति आये, तो उसे 'जलधरमाला' कहते हैं।[1]

उदाहरण :

चौहीं नच्चैं विपुल कलापी ऐ री।
पी-पी बोलैं पपिहव पापी बैरी।
कैसे राखैं बिरहिनि बाला जी कों,
जारैं कारी जलधरमाला ही कों॥[2]

मालती

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमश नगण (III), दो जगण (ISI) और रगण (SIS) होते हैं। ७, ५ अक्षरों पर यति पड़ती है।[3]

उदाहरण :

बिपिन बिराध बलिष्ठ देखियो।
नृपतनया भयभीत लेखियो।
तब रघुनायक बान कै हयो।
निज निरबान सुपंथ कों ठयो॥[4]

तामरस

'तामरस' छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमश. नगण (III), दो जगण (ISI) और यगण (ISS) होते हैं।[5]

---

१. अब्ध्यङ्गैः स्याज्जलधरमाला म्भौ स्मौ॥ —वृत्तरत्नाकर, ३।७६
२. छन्दार्णव, ५।१७५ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खण्ड, पृ० २०१)
३. भवति नजावथ मालती जरौ। —वृत्तरत्नाकर, ३।८०
छन्दमाला, १।४० के अनुसार 'मालती' छन्द में क्रमश नगण (III), २ जगण (ISI) और सगण (IIS) होते हैं।
उदाहरण :

बिपिन बिलोकि बिलोकन दरी।
बिचर बिभोर बिकाम न करी।
बन निरखैं न रहे सुधि तरी।
तुमहि न हौं दरसौं इन हरी।

—केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ४३८
४. रामचन्द्रचन्द्रिका, ११।८ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० २८३)
५. (क) इह वद तामरसं नजजाद्य। —वृत्तरत्नाकर, ३।८१
(ख) मानक हिन्दी कोश (दूसरा खण्ड), पृ० ५३४

उदाहरण :

जब ऋषिराज विनै कर लीनो।
सुनि सबके करुणा रस भीनो॥
दशरथ राय यहै जिय मानी।
यह वह एक भई रजधानी॥[1]

सुन्दरी

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में ४ भगण ((ऽ।।) होते हैं।[2]

उदाहरण

(१) शक्ति करौ नहिं भक्ति करौ अब।
सो न नयो तिल शीश नये सब।
देख्यौ[3] मैं[3] राजकुमारन के बर।
चाप चढ़्यो नहिं आप चढ़े खर॥[4]

(२) हो निज देश सुधार सखा, तब।
उन्नति के कुछ काम करो जब।
केवल हैं उपदेश वृथा सब।
भूख मिटै मनमोदक से कब।[5]

वारिधर

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमशः रगण (ऽ।ऽ), नगण (।।।) और दो भगण (ऽ।।) होते हैं।[6]

उदाहरण :

राजपुत्रि यक बात सुनौ पुनि।
रामचन्द्र मन मांह कही गुनि॥
राति दौह जमराज जनौ जनु।
जाननानि तन जानत कै मनु॥[7]

---

१. रामचंद्रिका, ६।२२
२ चारि भगन को 'सुंदरी' छन्द छबीलो होय।
रचि पद बारम्बर्न का बरनन कविकुललोय॥
—छन्दमाला, १।३३ (केशव ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ४३७)
३ मधुवत् पढ़ें।
४ रामचंद्रिका, ३।३३
५ छन्दरत्नावली (हिन्दी छन्द रचना, पृ० ४५ पर उद्धृत)
६ मानक हिन्दी कोश (पाँचवाँ खण्ड), पृ० २६
७ रामचंद्रिका, १०।८६

गौरी

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमशः तगण (ऽऽ।), दो जगण (।ऽ।) और यगण (।ऽऽ) के योग से १२ अक्षर होते हैं।[1]

उदाहरण :

तातें ऋषिराज सबै तुम छांड़ौ।
भूदेव सनाढ्यन के पद मांड़ौ।
दीन्हों तिनको तुम हौ बड़ रूरो।
चौहूँ युग होय तपोबल पूरो ॥[2]

सारंग या मैनावली [प्रत्येक चरण में चार तगण (ऽऽ।)],[3] पुट [प्रत्येक चरण में क्रमशः दो नगण (।।।), मगण (ऽऽऽ) और यगण (।ऽऽ)],[4] प्रमुदितवदना, प्रभा, चंचलाक्षिका या मंदाकिनी [प्रत्येक चरण में क्रमशः दो नगण (।।।) और दो रगण (ऽ।ऽ)],[5] प्रियंवदा [प्रत्येक चरण में क्रमशः नगण (।।।), भगण (ऽ।।), जगण (।ऽ।) और रगण (ऽ।ऽ)][6], मोचचामर अथवा विभावरी [प्रत्येक चरण में क्रमशः जगण (।ऽ।), रगण (ऽ।ऽ), जगण (।ऽ।) और रगण (ऽ।ऽ)][7], मणिमाला या पुष्पविचित्रा [प्रत्येक चरण में क्रमशः तगण (ऽऽ।), यगण (।ऽऽ), तगण (ऽऽ।) और यगण (।ऽऽ)][8], ललिता [प्रत्येक चरण में क्रमशः तगण (ऽऽ।), भगण (ऽ।।), जगण (।ऽ।) और रगण (ऽ।ऽ)][9], उज्ज्वला [प्रत्येक चरण में क्रमशः दो नगण (।।।), भगण (ऽ।।) और रगण (ऽ।ऽ)][10] वैश्वदेवी [प्रत्येक चरण में क्रमशः दो मगण (ऽऽऽ) और दो यगण (।ऽऽ)][11] पञ्चचामर [प्रत्येक चरण में क्रमशः जगण (।ऽ।), रगण (ऽ।ऽ), जगण (।ऽ।) और रगण (ऽ।ऽ)][12]

---

१. रामचंद्रचंद्रिका, परिशिष्ट २ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ४२६)
२. रामचंद्रिका, २१।१६
३. भाषा-शब्द-कोश, पृ० १८५५; मानक हिन्दी कोश (पांचवां खंड), पृ० ३४७
४. वसुयुगविरतिर्नौ म्यौ पुटोऽयम्। —वृत्तरत्नाकर, ३।६५
५. प्रमुदितवदना भवेन्नौ रौ। —वृत्तरत्नाकर, ३।६६
६. भुवि भवेन्नभजरैः प्रियंवदा। —वृत्तरत्नाकर, ३।७२
७. जरौ जरौ वदस्व मोचचामरम्। —वृत्तरत्नाकर, ३।७३
८. त्यौ त्यौ मणिमाला छिन्ना गुहवक्त्रैः। —वृत्तरत्नाकर, ३।७४
९. धीरैरभाणि ललिता तभौ जरौ। —वृत्तरत्नाकर, ३।७५
१०. ननभरसहितामिहोज्ज्वला। —वृत्तरत्नाकर, ३।७७
११. पञ्चाश्वैश्छिन्ना वैश्वदेवी ममौ यौ। —वृत्तरत्नाकर, ३।७८
१२. जभौ जरौ वदति पञ्चचामरम्। —वृत्तरत्नाकर, ३।८२

आदि कुछ और वृत्त भी इसी वर्ग में आते हैं जिनका प्रयोग हिन्दी में अत्यल्प है।

१३ अक्षरों वाले वृत्त (अतिजगती जाति)

क्षमा

अतिजगती वर्ग के इस वृत्त के प्रत्येक चरण में 'वृत्तरत्नाकर' के अनुसार क्रमश दो नगण (।।।), दो तगण (ऽऽ।) और एक गुरु (ऽ) होते हैं तथा ७, ६ अक्षरों पर यति पड़ती है।[1] भिखारीदास के अनुसार इसका लक्षण है क्रमश दो नगण, तगण, रगण और एक गुरु वर्ण।[2]

उदाहरण :

> निज दल बर नारी, सतै जु पालै।
> भुवि तरुन घनी हूं, भजै गोपालै।
> तव धनि धनि जी में धह्यो परै जू।
> जब समरथ हूं कै, क्षमा करै जू॥[3]

प्रहर्षिणी

१३ अक्षर के पाद वाले वृत्त के प्रत्येक चरण में यदि क्रमश. मगण (ऽऽऽ), नगण (।।।), जगण (।ऽ।), रगण (ऽ।ऽ) और एक गुरु (ऽ) आयें तथा ३, १० अक्षरों पर यति आये तो उसे 'प्रहर्षिणी वृत्त' कहते हैं।[4]

उदाहरण -

> पायो तूं, रिस करि कौन सुरुख राधे।
> बौरी वैरिनि बहु कौन बैर साधे।
> तेरी तौ अँखियउ मधुवर्षिनी है।
> सौतिनु को जनिउ महाप्रहर्षिनी है॥[5]

मत्तमयूर

'मत्तमयूर' के प्रत्येक पाद में क्रमश मगण (ऽऽऽ), तगण (ऽऽ।), यगण (।ऽऽ), सगण (।।ऽ) और एक गुरु (ऽ) आता है तथा ४, ६ वर्णों पर विराम

---

१. सुरगरमयनिनौ तत्तौ ग॰ क्षमा। —वृत्तरत्नाकर, ३।८३
२ छन्दार्णव, १२।४० (भिखारीदास-ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृ० २५२)
३. छन्दार्णव, १२।४१ (भिखारीदास ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृ० २५२)
४. म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयति प्रहर्षिणीयम्। —वृत्तरत्नाकर, ३।८४
५. छन्दार्णव, १२।२७ (भिखारीदास-ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृ० २५०)

होता है।[1]

उदाहरण :

देख्यो वाही अंगप्रभा को सुनि बाला।
जान्यो ह्वं है आवति कारी घनमाला।
आयो चाहै आय धरी मे बनमाली।
नच्चं कूकं मत्तमयूरी सुनि आली॥[2]

मंजुभाषिणी

इस वृत्त के प्रत्येक पाद मे क्रमशः सगण (IIS), जगण (ISI), सग (IIS), जगण (ISI) और एक गुरु (S) के योग से १३ अक्षर होते हैं।[3]

उदाहरण

चुप बैठि, राम शुभ नाम लीजिए।
गुण से अतीत गुण-गान कीजिए॥
मत वाम दाम पर चित्त दीजिए।
तजि मोह जाल हरि-भक्ति भीजिए॥[4]

नवनंदिनी

इस वृत्त का प्रत्येक पाद क्रमश. सगण (IIS), जगण (ISI), २ सगर (IIS) तथा एक गुरु (S) से युक्त होता है।[5] इस वृत्त के अन्य नाम 'सिंहनाद और 'कलहंस' भी हैं।

उदाहरण :

अरिकाज लाज तजि कै उठि धायो।
धिक तोहि मोहि समुझावन आयो।
तजि रामनाम यह बोल उचार्यो।
सिर माँझ लात पग लागत मार्यो॥[6]

---

१. वेदै रन्ध्रैर्म्तौ यसगा मत्तमयूरम्। — वृत्तरत्नाकर, ३।८६

२ छन्दार्णव, ५।१६६ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खण्ड, पृ० २०५)

३ सजसा जगौ भवति मंजुभाषिणी।—वृत्तरत्नाकर, ३।८८

४. गिरीश (हिन्दी छन्दप्रकाश, पृ० ८६-६० पर उद्धृत)

५. (क) नवनंदिनी सजससैर्गुरुयुक्तैः।—वृत्तरत्नाकर, ३।६१
 (ख) आदि सगन तिहि जगन पुनि सगन दोय गुरु एक।
 छंद भलो 'कलहंस' यह तेरह बरन बिबेक॥
 —छंदमाला, १।४६ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ४३६)

६. रामचंद्रिका, १५।१३

तारक

'तारक' छन्द के प्रत्येक पाद मे क्रमश चार सगण (IIS) और एक गुरु (S) मिलकर १३ अक्षर होते हैं।[1]

उदाहरण

यह कीरति और नरेसन सोहै।
सुनि देव अदेवन को मन मोहै।
हम को बपुरा सुनिये ऋषिराई।
सब गाँउ छ सातक की ठकुराई॥[2]

पंकजवाटिका

'पंकजवाटिका' के प्रत्येक चरण मे क्रमश. भगण (SII), नगण (III), दो जगण (ISI) और लघु (I) आते हैं।[3] इसे 'रघु' छन्द भी कहते हैं।

उदाहरण

राम चलत नृप के युग लोचन।
बारि भरित भये[4] बारिद-रोचन।
पायन परि ऋषि के सजि मौनहिं।
केशव उठि गए[5] भीतर भौनहिं॥[5]

कमल

इस वृत्त के प्रत्येक चरण म क्रमश २ सगण (IIS), १ नगण (III) और एक गुरु (S) होते हैं।[6]

उदाहरण

तरु चन्दन उज्वलता तन धरे।
लपटी नव नागलता मन हरे।

---

१ चारि सगन पुनि एक गुरु 'तारक' छंद बनाउ।
सोभन तेरह बरन को 'केसव' ताहि सुनाउ॥
—छंदमाला, १।४५ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ४३६)

२. रामचंद्रिका, ५।२३

३. आदि एक गुरु नगन द्वै भगन नगन द्वै देखि।
छंद सु 'पंकजवाटिका' तेरह अक्षर लेखि॥
—छंदमाला, १।४४ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ४३६)

४ लघुवत् पढ़ें।

५ रामचंद्रिका, २।२७

६ रामचंद्रिका, ३२।१७

नृप देखि दिगम्बर बन्दन करे।
जनु चन्द्रकलाधर रूपहि भरे॥[1]

रुचिरा अथवा प्रभावती [प्रत्येक चरण में क्रमश जगण (ISI), भगण (SII), सगण (IIS), जगण (ISI) और गुरु (S) तथा ४, ९ पर विराम][2], मञ्जुहासिनी [प्रत्येक चरण में क्रमश जगण (ISI), तगण (SSI), सगण (IIS), जगण (ISI) और गुरु (S)][3], कुटिलगति [प्रत्येक चरण में क्रमश नगण (III), जगण (ISI), दो तगण (SSI) और गुरु (S) तथा ७, ६ पर यति][4] आदि छन्द और वृत्त भी इसी वर्ग में आते है जिनका प्रयोग हिन्दी मे बहुत कम हुआ है।

१४ अक्षरों वाले वृत्त (शक्वरी जाति)

अपराजिता

इस वृत्त के प्रत्येक चरण मे क्रमश दो नगण (III), रगण (SIS), सगण (IIS), ह्रस्व (I) और दीर्घाक्षर (S) होते हैं। ७, ७ अक्षरो पर यति पड़ती है।[5]

उदाहरण -

विनम सुनहि चंडमुण्डविनासिनी।
जनदुखहरि कोटि चंदप्रकासिनी।
सरन सरन हैं सदा सुख साजिता।
द्रवहि द्रवहि 'दास' को अपराजिता॥[6]

हरिलीला

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमश तगण (SSI), भगण (SII), २ जगण (ISI), गुरु (S) और लघु (I) होते हैं।[7]

---

१ रामचन्द्रिका, ३२।१७

२. चतुर्ग्रहैरिह रुचिरा जभौ स्जगा।—वृत्तरत्नाकर, ३।८५

३ जतौ सजौ गो भवति मञ्जुहासिनी।—वृत्तरत्नाकर, ३।९०

४ कुटिलगतिर्नजौ सप्तभिस्तौ गुना।—वृत्तरत्नाकर, ३।९२

५ ननरसलघुगैः स्वरैरपराजिता।—वृत्तरत्नाकर, ३।९४

६. छन्दार्णव, १२।५१ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खण्ड, पृ० २५४)

७ रामचन्द्रिका, ३०।३२
छन्दमाला, १।४७ (केशव-ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ४३६) के अनुसार 'हरिलीला' का लक्षण है—दो तगण (SSI), भगण (SII), सगण (IIS) और दो लघु (II)
रगन रगन रचि नगन पुनि जगन अंत लघु आनि।
चौदह अक्षर आदि गुरु 'हरिलीला' उर आनि॥

उदाहरण

बैठे विशुद्ध गृह ग्रग्रज ग्रग्र जाय।
देखी वसन्त ऋतु सुन्दर मोददाय।
बौरे रसाल कुल कोमल केलि काल।
मानो ग्रनङ्ग-ध्वज राजत थी विशाल॥[1]

वसन्ततिलका

इस (शक्वरी) जाति का यह सर्वाधिक प्रसिद्ध वृत्त है। इसके प्रत्येक चरण मे क्रमश तगण (ऽऽ।), भगण (ऽ।।), २ जगण (।ऽ।) ग्रौर दो गुरु (ऽऽ) होते हैं। काश्यप ऋषि ने इसे 'सिंहोद्धता', सैतव मुनि ने 'उद्धर्षिणी' ग्रौर पिंगलाचार्य ने इसे 'मधुमाधवी' नाम दिया है।[2]

उदाहरण

(१) नान्या स्पृहा रघुपते हृदयेऽस्मदीये
सत्यं वदामि च भवानखिलान्तरात्मा।
भक्तिं प्रयच्छ रघुपुङ्गव निर्भरां मे
कामादिदोषरहितं कुरु मानसं च॥[3]

(२) जो ग्राप ग्राकर यहाँ करते लड़ाई,
देते चले समर मे मुझको बड़ाई।
मैं धन्य भाग्य ग्रपना यह मानती हूँ;
मैं भी ग्रवश्य कुछ हूँ, यह जानती हूँ॥[4]

इन्दुवदना

इस वृत्त के प्रत्येक चरण मे क्रमश भगण (ऽ।।), जगण (।ऽ।), सगण (।।ऽ), नगण (।।।) ग्रौर दो गुरु होते हैं।[5]

---

१. रामचन्द्रिका, ३०।३२
२. उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ ग.।
सिंहोद्धतेयमुदिता मुनिकाश्यपेन।
उद्धर्षिणीति गदिता किल सैतवेन।
रामेण सैव गदिता मधुमाधवीति। —वृत्तरत्नाकर, ३।९६
३. रामचरितमानस, ५।१।५-६
४. यशोधरा (मैथिलीशरण गुप्त), पृ० २४
५ इन्दुवदना भजसनैः सगुरुयुग्मैः। —वृत्तरत्नाकर, ३।९८

उदाहरण :

दीपक्र रंक सकलंक अति जोई।
घाटि अरु बाढ़ि पुनि माम प्रति होई।
भाग अवलोकि इहि इंदु बिच आली।
इंदुबदना कहत मोहि बनमाली ॥[1]

मनोरमा

'मनोरमा' के प्रत्येक चरण में क्रमश ४ सगण (IIS) और दो लघु (I) होते हैं।[2]

उदाहरण :

हम हैं दशरत्थ महीपति के सुत।
सुभ राम सु लच्छन नामक सजुत।
यह सासन दै पठये नृप कानन।
मुनि पालहु घालहु राक्षस के गन ॥[3]

प्रहरणकलिता (प्रत्येक चरण में क्रमश दो नगण (III), भगण (SII), नगण (III), लघु (I) और गुरु (S)][4], वसुधा [प्रत्येक चरण में क्रमश सगण (IIS), जगण (ISI), सगण (IIS), यगण (ISS), लघु (I) और गुरु (S)][5], धृति [क्रमशः नगण (III), जगण (ISI), भगण (SII), जगण (ISI), लघु (I) और गुरु (S)][6], वासन्ती [क्रमश मगण (SSS), तगण (SSI), नगण (III), मगण (SSS) और दो गुरु (SS)][7], वसन्त या नान्दीमुखी [क्रमशः २ नगण (III), २ तगण (SSI) और दो गुरु (SS) तथा ७, ७ पर यति][8] आदि कुछ और वृत्त भी इसी वर्ग के हैं जिनका हिन्दी में प्रयोग अत्यन्त न्यून है।

---

१. छन्दार्णव, ५।१७० (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खण्ड, पृ० २००)
२. चारि सगन द्वै अंत लघु चौदह वर्न प्रमान।
'मनोरमा' यह छन्द है 'केसवदास' सुजान ॥
—छन्दमाला, १।४६ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ४४०)
३. रामचन्द्रिका, ११।३४
४. ननभनलगिति प्रहरणकलिता। —वृत्तरत्नाकर, ३।६५
५. सजसायलगाश्च वसुधा रसग्रहैः। —वृत्तरत्नाकर, ३।६७
६ नजभजलगुता धृतिरिय कथिता। —वृत्तरत्नाकर, ३।१०१
७. मस्तौ नो मो गौ यदि गदिता वासन्तीयम्। —वृत्तरत्नाकर, ३।१०५
८. भवति ननततं सप्तभिर्गौ वसन्त। —वृत्तरत्नाकर, ३।१०६

१५ अक्षरों के वृत्त (अतिशक्वरी वर्ग)

शशिकला

१५ अक्षरों के चरण वाले इस वृत्त के प्रत्येक पाद में १४ अक्षर लघु और एक दीर्घ वर्ण होता है तथा ७ ८ अक्षरों पर यति पड़ती है।[1] इसका एक नाम 'चन्द्रावती' भी है।

उदाहरण

> वन महँ विकट विविध दुख सुनिये।
> गिरि गहवर मग अगमहिं गुनिये॥
> कहुँ अहि हरि कहुँ निशिचर चरहीं।
> कहुँ दव दहन दुसह दुखकरहीं॥[2]

मालिनी

'मालिनी' इस वर्ग का सर्वाधिक लोकप्रिय छन्द है। इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमश दो नगण (।।।), मगण (ऽऽऽ) और दो यगण (।ऽऽ) होते हैं तथा ८, ७ वर्णों पर यति पड़ती है।[3]

उदाहरण :

(१)
> अतुलितबलधाम स्वर्णशैलाभदेहं
> दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यं।
> सकलगुणनिधानं वानराणामधीशं
> रघुपतिवरदूतं वातजातं नमामि॥[4]

(२)
> प्रिय सुत, अब मेरा आ गया काल-सा है,
> इस समय तुम्हारी भेंट की लालसा है।

---

१ द्विहतहयलघुरथ गिति शशिकला। —वृत्तरत्नाकर, ३।१०७
इसी 'शशिकला' छन्द में यदि ६, ६ अक्षरों पर यति आये तो उसे 'स्रग' या 'माला' छन्द कहते हैं तथा यदि ८, ७ अक्षरों पर यति पड़े तो उसे 'मणिगुणनिकर' छन्द कहते हैं। —वृत्तरत्नाकर, ३।१०८, १०६
केशवदास का निम्नांकित 'सुप्रिया' छन्द इसी 'मणिगुणनिकर' का रूप है :

> कहुँ द्विजगण मिलि सुख श्रुति पढ़ही।
> कहुँ हरि हरि हर हर रट रटहीं।
> कहुँ मृगपति मृगशिशु पय पिवहीं।
> कहुँ मुनिगण चित्रवत हरि हिय ही॥ —रामचन्द्रिका, ३।२

२. रामचन्द्रिका, ६।२५
३ ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः। —वृत्तरत्नाकर, ३।११०
४. रामचरितमानस, ५।१।७-८

तनु शिथिल हुआ है, क्षीणता आ गयी है,
अति जटिल जरा की जीर्णता आ गयी है ॥[1]

मनहरन

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमश. नगण (।।।), सगण (।।ऽ) और तीन रगण (ऽ।ऽ) होते हैं ।[2]

उदाहरण

अति निकट गोदावरी पापसंहारिणी ।
चल तरंगतुंगावली चारु संचारिणी ॥
अलि कमल सौगंध लीला मनोहारिणी ।
बहु नयन देवेश-शोभा मनोधारिणी ॥[3]

चामर[4]

'चामर' छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमश रगण (ऽ।ऽ), जगण (।ऽ।), रगण (ऽ।ऽ), जगण (।ऽ।) और रगण (ऽ।ऽ) होते हैं ।[5]

उदाहरण :

(१) बेद मंत्र तंत्र शोधि अस्त्र शस्त्र दै भले ।
रामचंद्र लक्ष्मनै सु विप्र छिप्र लै चले ।
लोभ छोभ मोह गर्व काम कामना हई ।
नींद भूख प्यास त्रास बासना सबै गई ।[6]

---

१. पत्रावली (मैथिलीशरण गुप्त), पृ० १६

२. (क) मानक हिन्दी कोश (चौथा खण्ड), पृ० २८६ के अनुसार 'मनहरण' नामक वर्णवृत्त के प्रत्येक चरण में ५ सगण (।।ऽ) होते हैं। इसे 'नलिनी' और 'भ्रमरावली' भी कहते हैं ।

(ख) छंदमाला, १।५५ के अनुसार 'मनहरण' छंद १६ अक्षरों [५ भगण (ऽ।।)+एक गुरु (ऽ)] का होता है । इसके 'अश्वगति' 'विशेषक', 'नील', 'लीला' आदि नाम हैं ।

३. रामचंद्रिका, ११।२३

४. इस छन्द के अन्य नाम हैं : उत्सव, तूणक तथा देवराज ।

५. प्रतिपद गुरु लघु देहु क्रम पंद्रह बरन बनाउ ।
चामर छन्द-कवित्त कहि 'केसवराइ' सुनाउ ॥
—छंदमाला, १।५३ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ४४१)

६. रामचंद्रिका, २।२८

(२) हो गया स्वतन्त्र देश भाव भी स्वतन्त्र हों।
व्यक्ति की स्वतन्त्रता प्रभूत मूल मन्त्र हों॥
कर्म-योग सिद्धि एक मानवीय धर्म हो।
लोक-प्रेम, भोग-दान, विश्व-श्रेय-मर्म हो॥[1]

निशिपाल अथवा निशिपालिका

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमशः भगण (ऽ।।), जगण (।ऽ।), सगण (।।ऽ), नगण (।।।) और रगण (ऽ।ऽ) होते हैं।[2]

उदाहरण :

शत्रु, सम मित्र हम चित्त पहिचानहीं।
दूतविधि भूत कबहूँ न उर आनहीं॥
आप मुख देखि अभिलाष अभिलाषहू।
राखि भुज सीस तव और कहँ राखहू॥[3]

चन्द्रलेखा [क्रमशः मगण (ऽऽऽ), रगण (ऽ।ऽ), मगण (ऽऽऽ) और दो यगण (।ऽऽ) तथा ७ ८ पर विराम][4], चन्द्रकान्ता [क्रमशः २ रगण (ऽ।ऽ), मगण (ऽऽऽ) और दो यगण (।ऽऽ) तथा ७ ८ पर विराम][5] आदि कुछ और वृत्त भी इसी वर्ग के हैं जो हिन्दी में बहुत कम व्यवहृत हुए हैं।

१६ अक्षरों के वृत्त

अश्वगति

इस वृत्त के और भी कई नाम हैं मनहरण, विम्बिक, नील तथा लीला। इसके प्रत्येक पाद में ५ भगण (ऽ।।) और एक गुरु वर्ण (ऽ) के योग से १६ अक्षर होते हैं।[6]

---

१. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० १८२
२. भगन जगन रचि सगन पुनि नगन रगन दै अंत।
छन्द कहौ 'निसिपालिका' पंद्रह बरन कहंत॥
—छन्दमाला, १।५२ (केशव ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ४४१)
३. रामचन्द्रिका, १६।१६
४. म्रौ म्यौ यान्तौ भवति सप्ताष्टभिश्चन्द्रलेखा। —वृत्तरत्नाकर, ३।११३
५. चन्द्रकान्ताभिधा रौ म्यौ या विराम स्वराष्टौ। —वृत्तरत्नाकर, ३।११६
६. पंचभकारकृताश्वगतिर्यदि चान्त्यगुरु। —वृत्तरत्नाकर, ३।१२१
छन्दमाला, १।५५ में इसे 'मनहरण' छन्द कहा गया है।

उदाहरण :

साधु कथा कथिये दिन केशवदास जहाँ।
निग्रह केवल है मन को दिनमान तहाँ।
पावन बास सदा ऋषि को सुख को बरषै।
को बरणै कवि ताहि बिलोकत जी हरषै॥[1]

पंचचामर

इस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमश जगण (ISI), रगण (SIS), जगण (ISI), रगण (SIS), जगण (ISI) और गुरु (S) आते हैं।[2] इस छन्द के अन्य नाम हैं : नागराज, नाराच चामरी और कलिन्दनन्दिनी।

उदाहरण :

(१) पढ़ी विरंचि मौन वेद जीव सोर छंडि रे।
कुवेर बेर कै कही न जक्षभीर मंडि रे॥
दिनेस जाइ दूरि बैठि नारदादि सगहीं।
न बोलि चंद मंदबुद्धि इन्द्र की सभा नहीं॥[3]

(२) हिमाद्रि तुंग शृंग से प्रबुद्ध शुद्ध भारती—
स्वयंप्रभा समुज्ज्वला स्वतन्त्रता पुकारती—
अमर्त्य वीरपुत्र हो, दृढ़-प्रतिज्ञ सोच लो,
प्रशस्त पुण्य पंथ है—बढ़े चलो, बढ़े चलो॥[4]

चंचला

इस वृत्त को 'ब्रह्मरूपक' की संज्ञा भी प्रदान की गयी है। इसके प्रत्येक चरण में क्रमश रगण (SIS), जगण (ISI), रगण (SIS), जगण (ISI), रगण (SIS) और एक लघु वर्ण (I) के योग से १६ अक्षर होते हैं।[5]

उदाहरण :

(१) रक्षिवे को[6] जज्ञकूल बैठे[6] वीर सावधान।
होन लाग होम के जहाँ तहाँ सबै बिधान।

---

१ रामचंद्रिका, ३।४

२. जरौ जरौ जगाविद वदनि पंचचामरम्। —वृत्तरत्नाकर, ३।१२२

३. रामचन्द्रचन्द्रिका, १६।२ (केशव ग्रंथावली, खंड २, पृ० ३१३)

४ चंद्रगुप्त (जयशंकर प्रसाद), चतुर्थ अंक, पृ० १७७

५. गुरु लघु क्रमहीं देहु पद षोडस वर्न निहारि।
छन्द 'ब्रह्मरूपक' करौ 'केसव' वर्न विचारि॥
—छन्दमाला, १।५६ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ४४२)

६. लघुवत् पढ़ें।

भीम भाँति ताड़का सुभंग लागि करन आइ।
बान तानि राम पै न नारि जानि छाँड़ि जाइ॥[1]

(२) गा रहीं कहीं पिकी रसाल कुंज में समोद।
पुष्पिता नवीन मंजरी कहीं करे विनोद॥
मित्र पुष्पबाण संग आज आ गया वसन्त।
रम्य रूप देख के प्रसन्न हो गये दिगन्त॥[2]

वाणिनी [क्रमशः नगण (।।।), जगण (।ऽ।), भगण (ऽ।।), जगण (।ऽ।), रगण (ऽ।ऽ) और गुरु (ऽ)][3] मणिकल्पलता [क्रमशः नगण (।।।), जगण (।ऽ।), रगण (ऽ।ऽ) दो भगण (ऽ।।) और एक गुरु (ऽ)][4] आदि कुछ और वृत्त भी इसी वर्ग के अन्तर्गत आते हैं।

१७ अक्षरों के वृत्त (अत्यष्टि वर्ग)

शिखरिणी

यह एक अत्यन्त लोकप्रिय छन्द है। इसमें गेय तत्त्व का अधिक अंश विद्यमान है। प्रायः लोग इसका सस्वर पाठ करते हैं। इसके प्रत्येक पाद में क्रमशः यगण (।ऽऽ), मगण (ऽऽऽ), नगण (।।।), सगण (।।ऽ), भगण (ऽ।।), लघु (।) और गुरु (ऽ) होते हैं तथा ६, ११ वर्णों पर यति पड़ती है।[5]

उदाहरण :

मिली मैं स्वामी से पर कह सकी क्या सँभल के?
बहे आँसू होके सखि, सब उपालंभ गल के।
उन्हें हो आई जो निरख मुझको नीरव दया,
उसी की पीड़ा का अनुभव मुझे हा! रह गया![6]

पृथ्वी

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमशः जगण (।ऽ।), सगण (।।ऽ), जगण (।ऽ।), सगण (।।ऽ), यगण (।ऽऽ), लघु (।) और गुरु (ऽ) आते हैं तथा ८ और

---

१. रामचन्द्रिका ३।५ (केशव ग्रंथावली, खंड २, पृ० २३६)
२. आधुनिक हिन्दी काव्य में छन्द-योजना पृ० १८३
३. नजभजरैः सदा भवति वाणिनी गयुक्तैः। —वृत्तरत्नाकर, ३।११६
४. नजरभभैश्च गेन च स्यान्मणिकल्पलता। —वृत्तरत्नाकर, ३।१२०
५. रसै रुद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी। —वृत्तरत्नाकर, ३।१०३
६. साकेत (नवम सर्ग), पृ० २७३

६ अक्षरों पर विराम होना है।[1]

उदाहरण :

(१) अगस्त ऋषिराज जू वचन एक मेरो सुनो।
प्रशस्त सब भाँति भूतल सुदेश जी मे गुनो।
सनीर तरु खंड मंडित समृद्ध शोभा धरै।
तहाँ हम निवास कौं विमल पर्णशाला करै॥[2]

(२) निहार सखि, सारिका कुछ कहे बिना शान्त-सी,
दिये श्रवण हैं यहाँ, इधर मैं हुई भ्रान्त-सी।
इसे पिशुन जान तू, सुन सुभाषिणी है बनी—
'धरो' खगि, किसे धरूँ ? धृति लिये गये हैं धनी।[3]

रूपमाला

इस सप्तदशाक्षरी वृत्त के प्रत्येक चरण मे क्रमश रगण (ऽ।ऽ), सगण (।।ऽ), दो जगण (।ऽ।), भगण (ऽ।।), गुरु (ऽ) और लघु (।) आते हैं।[4]

उदाहरण :

रामचंद्रचरित्र कौं जु सुनै सदा सुख पाइ।
ताहि पुत्र कलत्र संपति देत हैं रघुराइ।
स्नान दान असेष तीरथ पुन्य को फल होइ।
नारि को नर विप्र क्षत्रिय बैसु सूद्र जु कोइ।[5]

मन्दाक्रान्ता[6]

'मन्दाक्रान्ता' के प्रत्येक चरण मे क्रमश. मगण (ऽऽऽ), भगण (ऽ।।),

---

१. जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरु । —वृत्तरत्नाकर, ३।१२४
(भरत ने नाट्यशास्त्र, १६।८७ मे पृथ्वी छन्द को 'विलम्बितगति' कहा है तथा आचार्य हेमचन्द्र ने 'छन्दोनुशासन' मे इसे 'वृन्दारक' की संज्ञा प्रदान की है।)

२. रामचन्द्रिका, ११।२४

३. साकेत (नवम सर्ग), पृ० २८८

४. आदि देहु र स जगन द्वै भगन गुरु लघु अन्त।
प्रगट 'रूपमाला' करौ सज्जन लोग चहन्त॥
—छंदमाला, १।५७ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ४४२)

५. छंदमाला, १।५७ का उदाहरण (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ४४२)

६. भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र (१६।८३) में मन्दाक्रान्ता का नाम 'श्रीधरा' दिया है, किन्तु प्रचलित और लोकप्रिय नाम 'मन्दाक्रान्ता' ही है।

नगण (।।।), दो तगण (ऽऽ।), और दो गुरु (ऽऽ) होते हैं तथा ४, ६ और ७ अक्षरों पर यति पड़ती है।[1]

उदाहरण

(१) दो वंशों में प्रकट करके पावनी लोक-लीला,
सौ पुत्रों से अधिक जिनकी पुत्रियाँ पूतशीला,
त्यागी भी हैं शरण जिनके, जो अनासक्त गेही,
राजा-योगी जय जनक वे पुण्यदेही विदेही।[2]

(२) ब्रह्म-ज्ञानी जनकपुर की शुद्ध-सी मेखला है ?
या नारी की मृदुल कटि की धर्म की शृंखला है ?
किंवा माला जनक-यश की शुभ्र पुष्पों मयी है ?
या लोगों के विमल हिय से गान-धारा बही है ?[3]

रूपकान्ता

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमशः जगण (।ऽ।), रगण (ऽ।ऽ), जगण (।ऽ।), रगण (ऽ।ऽ), जगण (।ऽ।), गुरु (ऽ) और लघु (।) होते हैं, इस प्रकार इसके प्रत्येक चरण में लघु-गुरु के आठ युग्म तथा एक लघु मिलकर १७ अक्षर होते हैं।

उदाहरण :

अशेष पुन्य पाप के कलाप आपने बहाय।
विदेहराज ज्यों सदेह भक्त राम को कहाय॥
लहै सुभुक्ति लोक लोक अंत मुक्ति होहि ताहि।
कहै सुनै पढ़ै गुनै जु रामचन्द्र-चन्द्रिकाहि॥[4]

१८ वर्णों वाले वृत्त (धृति वर्ग)

चचरी अथवा हरनर्तन

'चचला', 'मालिकोत्तरमालिका', 'विबुधप्रिया', 'उज्ज्वल' आदि इसके अन्य नाम हैं। इस वृत्त के प्रत्येक पाद में १८ वर्ण निम्नांकित क्रम से रखे जाते हैं : रगण (ऽ।ऽ), सगण (।।ऽ), दो जगण (।ऽ।), भगण (ऽ।।) और

---

१. मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैम्भौं नतौ ताद् गुरू चेत्।
—वृत्तरत्नाकर, ३।१२७

२ साकेत (नवम सर्ग), पृ० २६७

३ उर्मिला (बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'), प्रथम सर्ग, पृ० १३

४. रामचंद्रिका, ३६।३६ (अन्तिम छन्द)

रगण (ऽ।ऽ); ८, ५, ५ वर्णों पर यति का विधान है।[1]

उदाहरण :

> लंक लाय दियो बली हनुमंत संतन गाइयो।
> सिंधु बाँधत सोधि कै नल छीर छीट बहाइयो।
> ताहि तोहि समेत अंध उखारि हौं उलटी करौं।
> आजु राज कहाँ विभीषण बैठिहैं तेहि ते डरौं॥[3]

चित्रलेखा

१८ वर्णों वाले इस वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमश: मगण (ऽऽऽ), भगण (ऽ।।), नगण (।।।) और तीन यगण (।ऽऽ) होते हैं तथा ११, ७ पर यति पड़ती है।[4]

उदाहरण :

> आई बेला विरह दुखमयी प्रेम की वाटिका में।
> दोनों प्रेमी प्रतिक्षण अति ही उन्मने हो रहे थे॥
> कोई भी तो कुछ कह न सका कंठ था रुद्ध ऐसा।
> चित्रों जैसे अचल दृग किये देखते ही रहे वे॥[5]

सुगीत

१८ वर्णों वाले इस छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमश: जगण (।ऽ।), भगण (ऽ।।), रगण (ऽ।ऽ), सगण (।।ऽ) और दो जगण (।ऽ।) होते हैं।[6]

उदाहरण :

> सनाढ्य जाति गुनाढ्य है जगसिद्ध सुद्ध सुभाव।
> सुकृष्णदत्त प्रसिद्ध हैं महि मिश्र पण्डितराव।

---

१. (क) सौ जजौ भरमयुतौ करिवाणर्तुर्हरनर्तनम्।
—वृत्तरत्नाकर, ३।१३४

(ख) सगन जगन द्वै भगन पुनि रगन आदि अरु अंत।
अष्टादस अक्षरन को चंचरी छन्द कहंत॥
—छंदमाला, १।५६ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ४४२)

२. लघुवत् पढ़ें।

३. रामचंद्रिका, १६।२३

४. मन्दाक्रान्ता नभरलघुयुता कीर्तिता चित्रलेखा।
—छंदोमंजरी, २।१७६ (पृ० १२७)

५. काव्य दर्पण (पं० दुर्गादत्त), पृ० २१७

६. रामचंद्रिका, १।४

गणेश सो सुत पाइयो बुध काशिनाथ अगाध।
अशेष शास्त्र विचारि कै जिन जानियो मत साध ॥[1]

हीर या हीरक

यह भी एक अठारह अक्षरों वाला वृत्त है। इसके प्रत्येक चरण में क्रमश भगण (ऽ।।), सगण (।।ऽ), नगण (।।।), जगण (।ऽ।), नगण (।।।) और रगण (ऽ।ऽ) होते हैं।[2]

उदाहरण

पण्डित गण मण्डित गुण दण्डित मति देखिये।
क्षत्रियवर धर्म प्रवर क्रुद्ध समर लेखिये।
वैश्य सहित सत्य रहित पाप प्रगट मानिये।
शूद्र सकति विप्र भगति जीव जगत जानिये ॥[3]

नंदन

'नंदन' के प्रत्येक चरण में क्रमश नगण (।।।), जगण (।ऽ।), भगण (ऽ।।), जगण (।ऽ।) और दो रगण (ऽ।ऽ) होते हैं।[4]

उदाहरण

मनु मुनि सो कह्यो, चहत जो दह्यो, विथा के गनै।
तजि सब आमरै, जगत को करै, एहो तूं घनै।
भवभ्रम को हनै, भगति सों सनै, सनै सों मनै।
जसुमतिनंदनै, गरुडस्यंदनै, करै वंदनै ॥[5]

१९ वर्णों वाले वृत्त (अतिधृति वर्ग)

शार्दूलविक्रीडित

इस वर्ग का यही सर्वाधिक प्रचलित एवं लोकप्रिय छन्द है। इसके प्रत्येक चरण में क्रमश मगण (ऽऽऽ), सगण (।।ऽ), जगण (।ऽ।), सगण (।।ऽ), दो तगण (ऽऽ।) और एक गुरु (ऽ) होते हैं। यति १२, ७ अक्षरों पर पड़ती है।[6]

१. रामचंद्रिका, १।४

२ (क) चारि लघुन आदिहि गुरु तीनि चलनि कीजियै।
अन्त रगन ताहि सबहि हीरक कहि दीजियै।
—रामचंद्रचंद्रिका, परिशिष्ट २ (केशव-ग्रंथावली, खंड २, पृ० ४२२)
(ख) मानक हिन्दी कोश (पांचवां खण्ड), पृ० ५५७

३. रामचंद्रिका, ११४३

४ मानक हिन्दी कोश (तीसरा खण्ड), पृ० १६८

५. छंदार्णव, १२।८३ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० २६०)

६ सूर्याश्वैर्मसजस्तता. सगुरव शार्दूलविक्रीडितम्। —वृत्तरत्नाकर, ३।१३६

उदाहरण

(१) शातं शाश्वतमप्रमेयमनघं निर्वाणशांतिप्रदं
ब्रह्माशंभुफणींद्रसेव्यमनिशं वेदांतवेद्यं विभुं
रामाख्यं जगदीश्वरं सुरगुरुं मायामनुष्यं हरिं।
वंदेहं करुणाकरं रघुवरं भूपालचूडामणिं ॥[1]

(२) काले कुत्सित कीट का कुसुम में कोई नहीं काम था।
काँटे से कमनीयता कमल में क्या है न कोई कमी।
दंडों में कब ईख के विपुलता है ग्रन्थियों की भली।
हा! दुर्दैव प्रगल्भते! अपटुता तू ने कहाँ की नहीं ॥[2]

(३) सींचें ही बस मालिनें, कलश लें, कोई न ले कर्त्तरी,
शाखी फूल फलें यथेच्छ बढ़के, फैलें लताएँ हरी।
क्रीडा कानन-शैल यन्त्र-जल से संसिक्त होता रहे,
मेरे जीवन का, चलो सखि, वहीं सोता भिगोता बहे।[3]

झूलना या मणिमाल

इस वृत्त के प्रत्येक चरण में १६ वर्ण निम्नांकित क्रम से आते हैं सगण (।।ऽ), दो जगण (।ऽ।), भगण (ऽ।।), रगण (ऽ।ऽ), सगण (।।ऽ) और लघु (।), १२, ७ वर्णों पर यति पड़ती है।[4]

उदाहरण :

तब लोकनाथ विलोकि कै रघुनाथ को निज हाथ।
सविशेष सो अभिषेक कै पुनि उच्चरी शुभ गाथ।
ऋषिराज इष्ट वसिष्ठ सो मिलि गाधिनन्दन आइ।
पुनि बाल्मीकि वियास आदि जिते हुते मुनिराइ ॥[5]

करुणा

'करुणा' वृत्त के प्रत्येक चरण में छह भगण (ऽ।।) और एक गुरु (ऽ)

---

१. रामचरितमानस, ५।१।१-४
२ प्रियप्रवास, ४।२०
३. साकेत (नवम सर्ग), पृ० २७०
४. मानक हिन्दी कोश (दूसरा खंड), पृ० ४१८
केशव ने (रामचंद्रिका, ३३।३२ में) झूलना नामक एक मात्रिक छन्द [२६ मात्रा, अन्त में गुरु लघु (ऽ।)] का भी प्रयोग किया है।
५. रामचंद्रिका, २६।३०

मिलकर १६ अक्षर होते हैं ।[1]

उदाहरण :

देव अदेव जिते नरदेव सबै गुन मानन हैं ।
सेवत हैं जिनहीं तिनसों कछु पावत जानन हैं ।
श्रीरघुनाथ बिना परमानंद जो जनि जानहि रे ।
बारहि बार कहै तिन 'केसव' काहि न गानहि रे ।[2]

मूल

'मूल' छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमश सगण (IIS), दो जगण (ISI), सगण (IIS), रगण (SIS), सगण (IIS) और लघु (I) वर्ण मिलकर १६ अक्षर होते हैं ।[3]

उदाहरण :

करि जज्ञ पूरन जानकीपति दान देत असेप ।
बहु हीर चीर सनीर मानिक बाँप बारिद बेष ।
सुभ अंगराग तडाग बागनि बरनि रथ बहु भाँति ।
अति भौन भूषन भूमि भोजन भूरि बासर राति ॥[4]

२० वर्ण वाले वृत्त (कृति वर्ग)

गीतिका

'गीतिका' के प्रत्येक चरण में क्रमश सगण (IIS), जगण (ISI), जगण (ISI), भगण (SII), रगण (SIS) सगण (IIS), लघु (I) और गुरु (S) होते हैं, १२, ८ अक्षरों पर यति पड़ती है ।[5]

उदाहरण

(१) दसकंठ र शठ छोडि दै हठ बार बार न बोलिये ।
अब आजु राज समाज में बल साजु चित्त न डोलिये ॥

---

१. षट भगन रचि अन गुरु उनइस अक्षर आनि ।
प्रतिपद 'केसवदास' यह 'चन्द्रा' छन्द बखानि ॥
—छंदमाला, १।६० (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ४४३)

२. छन्दमाला, १।६० का उदाहरण (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ४४३)

३. सगन जगन पुनि जगन भनि सगन रगन करि लेखि ।
सगन मन लहु 'मूल' भनि उनइस अक्षर देखि ॥
—छंदमाला, १।६१ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ४४३)

४. छंदमाला, १।६१ का उदाहरण (केशव ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ४४३)

५. आदि चचरी छंद के लघु द्वै देहु सुजान ।
होइ 'गीतिका' छंद यह अक्षर बीस प्रमान ॥
—छंदमाला, १।६२ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ४४३)

गिरराज ते गुरु जानिये सुरराज को धनु हाथ लै ।
मुख माथ ताहि चढ़ायकै घर जाहि रे यश साथ लै ॥[1]

(२) तब एक विंशति बेर मैं बिन छत्र की पृथिवी रची।
बहु कुंड शोनित सों भरे पितृ तर्पणादि क्रिया सची ॥
उबरे जु छत्रिय छुद्र भूतल सोधि सोधि सँहारिहौं।
अब बाल वृद्ध न ज्वान छांड़हुँ धर्म निर्दय पारिहौं ॥[2]

इस वर्ग के अन्य वृत्त हैं सुवदना [क्रमश मगण (ऽऽऽ), रगण (ऽ।ऽ), भगण (ऽ।।), नगण (।।।), यगण (।ऽऽ) भगण (ऽ।।), लघु (।) और गुरु (ऽ) तथा ७, ७, ६ पर यति].[3] वृत्त [क्रमश रगण (ऽ।ऽ), जगण (।ऽ।), रगण (ऽ।ऽ), जगण (।ऽ।), रगण (ऽ।ऽ), जगण (।ऽ।), गुरु (ऽ) और लघु (।)][4] और सुवंशा [क्रमश. मगण (ऽऽऽ), रगण (ऽ।ऽ), भगण (ऽ।।), नगण (।।।), दो तगण (ऽऽ।) और दो गुरु (ऽऽ)][5] जिनका हिन्दी मे बहुत कम प्रयोग हुआ है।

२१ अक्षरों वाले वृत्त (प्रकृति जाति)

स्रग्धरा

'स्रग्धरा' के प्रत्येक चरण मे क्रमश· मगण (ऽऽऽ), रगण (ऽ।ऽ), भगण (ऽ।।), नगण (।।।) और तीन यगण (।ऽऽ) होते हैं तथा ७, ७, ७ पर यति पड़ती है।[6]

उदाहरण :

(१) रामं कामारिसेव्यं भवभयहरणं कालमत्तेभसिंहं
योगींद्रं ज्ञानगम्यं गुणनिधिमजितं निर्गुणं निर्विकारं ।
मायातीतं सुरेशं खलवधनिरतं ब्रह्मवृंदैकदेवं
वंदे कंदावदातं सरसिजनयनं देवमुर्वीशरूपं ॥[7]

---

१. रामचंद्रिका, ४।६
२. रामचंद्रिका, ७।३७
३. ज्ञेया सप्ताश्वषड्भिर्मरभनययुता भ्लौ गः सुवदना ।
—वृत्तरत्नाकर, ३।१३९
४. त्रो रजौ गलौ भवेदिहेदृशेन लक्षणेन वृत्त नाम । —वृत्तरत्नाकर, ३।१४०
५. स्यात्ता पूर्व- सुवंशा यदि मरभनास्तद्वय गौ गुरुश्च ।
—वृत्तरत्नाकर, ३।१४१
६. म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम् ।
—वृत्तरत्नाकर, ३।१४२
७. रामचरितमानस, ६।१।३-६

(२) रोती है और दूनी निरखकर मुझे दीन-सी तीन सासें,
होते हैं देवरश्री नत, हत बहनें छोड़ती हैं उसासें।
आली, तू ही बता दे, इस विजन बिना मैं कहाँ आज जाऊँ?
दीना, हीना, अधीना ठहरकर जहाँ शान्ति दूँ और पाऊँ?[1]

(३) नाना फूलों फलों से, अनुपम जग की, वाटिका है विचित्रा।
भौंरा हैं मंजुलों ही, मधुर शुक तथा, कोकिला गानशीला॥
कीड़े भी हैं अनेकों, परधन हरने, में सदा अग्रगामी।
कोई है एक माली, सुधि इन सबकी, जो सदा ले रहा है॥[2]

धर्म

'धर्म' छन्द के प्रत्येक चरण में क्रमशः भगण (ऽII), सगण (IIऽ), नगण (III), जगण (IऽI), नगण (III), भगण (ऽII) और सगण (IIऽ) मिलकर २१ अक्षर होते हैं।[3]

उदाहरण

कीरति अति पावन मति धीरति रति तू न गहतु रे।
आवत मग जात जगत दारुन दुख जानु सहतु रे।
काम नरहि दूर करहि और धरहि जो जु कहतु रे।
भेद भरम कोटि करम भूरि जनम को न दहतु रे।[4]

सरसी

'सरसी' वृत्त के प्रत्येक चरण में क्रमशः नगण (III), जगण (IऽI), भगण (ऽII), ३ जगण (IऽI) और रगण (ऽIऽ) मिलकर २१ वर्ण होते हैं।[5]

उदाहरण

भँवर सुनाभि कोक कुच हैं त्रिवली बिमली तरंग हैं।
द्विभुजमृनाल जानि कर कों, कमलै कहिये सुरंग हैं।
लहत कपोल कंबु मरि कों, अखियाँ झखियाँ अनूप हैं।
चिकुर सेंवार रूप जल तू, बनिता सरसीसरूप हैं॥[7]

---

१. साकेत (नवम सर्ग), पृ० २७२
२. रामनरेश त्रिपाठी (हिन्दी छन्दप्रकाश, पृ० ६५ पर उद्धृत)
३. सोरह अति गुरु चारि पुनि आदि देहु गुरु ओर।
इक्कइस अक्षर को करो 'धर्म' छन्द सिरमौर॥
—छन्दमाला, १।६३ (केशव ग्रन्थावली, द्वितीय खंड, पृ० ४८३)
४. छन्दमाला, १।६३ का उदाहरण (केशव ग्रन्थावली, द्वितीय खंड, पृ० ४८३)
५. छन्दार्णव, १२।१०८ (भिखारीदास ग्रन्थावली, प्रथम खंड, पृ० २६५)
६. मधुवत् पढ़ें।
७. छन्दार्णव, १२।१०९ (भिखारीदास-ग्रन्थावली, प्रथम खंड, पृ० २६५)

सवैया प्रकरण

संस्कृत में २२ से लेकर २६ वर्णों तक के वृत्तों में (आकृति से लेकर उत्कृति जाति तक) मद्रक, महास्रग्धरा, अश्वललित, मत्ताक्रीड, तन्वी, क्रौञ्च-पद, भुजंगविजृम्भित आदि अनेक वृत्तों का वर्णन हुआ है।[1] हिन्दी में २२ से लेकर २६ तक के वर्ण वाले वृत्त 'सवैया' के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये सभी वर्णवृत्त हैं, मात्रिक नहीं। हिन्दी में अनेक सवैयों का प्रयोग हुआ है। ये सवैये अत्यन्त लोकप्रिय रहे हैं। हिन्दी साहित्य के मध्यकाल से लेकर आधुनिक काल तक इन सवैयों का खूब प्रचलन रहा है। नीचे हम मुख्य मुख्य सवैयों का परिचय दे रहे हैं।

२२ वर्ण वाले सवैये (आकृति जाति)

मदिरा

इस सवैये के प्रत्येक चरण में ७ भगण (ऽ।।) और एक गुरु (ऽ) मिलकर कुल २२ वर्ण होते हैं।[2]

उदाहरण

(१) सिंधु तर्यो उनको बनरा तुम पै धनुरेख गई न तरी।
बांदर बांधत सो न बंध्यो उन बारिधि बांधि कै[3] बाट करी॥
श्रीरघुनाथ प्रताप कौ[3] बात तुम्हैं दसकंठ न जानि परी।
तेलहु तूलहु पूंछ जरी न जरी जरि लंक जराइ जरी॥[4]

(२) छत्रिन के पन जुद्ध, जुवा, दल काजि चढ़े गज बाजिन हीं।
बैस को बानिज और कृषी, प्रन सूद्र को सेवन साजन हीं।
विप्रन को प्रन है जु यही, सुख संपति सों कछु काज नहीं।
कै पढ़िबो कै तपोधन है, कन मांगत बाह्मन लाज नहीं॥[5]

हंसी

२२ वर्णों वाले इस सवैये के प्रत्येक चरण में क्रमश दो मगण (ऽऽऽ), तगण (ऽऽ।), तीन नगण (।।।), सगण (।।ऽ) और गुरु (ऽ) होते हैं।[6]

---

१. वृत्तरत्नाकर, ३।१४३-१५०
२. सात भ है मदिरा गुरु अन्तहु।
—छंदार्णव, ११।२ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० २४३)
३ लघुवत् पढ़ें।
४. रामचंद्रिका, १६।१२
५ सुदामा-चरित (नरोत्तमदास), १२
६ मानक हिन्दी कोश (पांचवां खण्ड), पृ० ५०६

उदाहरण

जाको जो जासों पग्यो सो सहजउ तदपि सुखद अति होई।
जो नाहीं जो को भावै सो अतिसुभ सगुपि चहत किमि कोई।
कन्चकी को कैसे भावै जदपि मुकुत अति जान प्रनसो।
ससारं नीको लागै पै अनरन कबहूँ चुगति नहिं हंसो॥[1]

मद्रक

'मद्रक' नामक सवैये के प्रत्येक चरण में क्रमशः भगण (SII), रगण (SIS), नगण (III), रगण (SIS), नगण (III), रगण (SIS), नगण (III) और एक गुरु (S) मिलकर २२ अक्षर होते हैं, तथा ४, ६, ६ और ६ पर यति पड़ती है।[2]

उदाहरण

कीजिय जू, गोपाल अरचा, गोपाल चरचा, सदाहि सुनिये।
मेटन को, महा कलुष को दरिद्र दुख को, न और गुनिये।
जाहिर हैं, सुरासुरनि में, लहू गुरनि में, चराचरनि में।
भद्र कहै, यही भरनि में, यही ढरनि में, यही परनि में॥[3]

२२ अक्षर वाले सवैयों में 'माद' [५ भगण (SII), मगण (SSS), सगण (IIS) और एक गुरु (S)] की भी गणना की जाती है।[4]

२३ वर्णों के सवैये (विकृति जाति)

मत्तगयन्द

'मत्तगयंद' नामक सवैये के प्रत्येक चरण में ७ भगण (SII) और दो गुरु (SS) होते हैं। इसके अन्य नाम हैं 'मालती' और 'विजय'।[5]

उदाहरण

(१) हौं जब हौं जब पूजन जात पितापद पावन पाप प्रनासी।
देखि फिरौं तब ही तब रावण सातौं रसातल के जे बिलासी।
लै अपने भुजदंड अखंड करौं छितिमंडल छत्र प्रनासी।
जानै को केशव केतिक बार मैं सेस के सीसन दीन्ह उसासी॥[6]

---

१. छंदार्णव ५।२२७ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० २१२)
२ मानक हिन्दी कोश (चौथा खंड), पृ० १६४
३ मधुवत् पढ़ें।
४. छंदार्णव १२।१९१ (भिखारीदास ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० २६५)
५ मानक हिन्दी कोश (चौथा खंड), पृ० ४२२
६ मानक हिन्दी कोश (चौथा खंड), पृ० २३५
छन्दमाला, १।६४ में इसे 'विजय' छन्द कहा गया है।
७ लघुवत् पढ़ें। ८ रामचंद्रिका, ४।१२

(२) नील सुषेन हनू उनके नल और सबै कपिपुंज तिहारे।
आठहु आठ दिशा बलि दै, अपनो पदु लै, पितु जा लगि मारे॥
तोसे[1] सपूतहि जाय कै[1] बालि अपूतन की पदवी पगु धारे।
अंगद संग लै[1] मेरो[1] सबै दल आजुहि क्यों न हतै बपुमारे॥[2]

(३) बैन वही उनको गुन गाइ औ[3] कान वही उन बैन सो[3] सानी।
हाथ वही उन गात सरै अरु पाँव वही जु वही अनुजानी॥
जान वही उन प्रान के[3] संग औ[3] मान वही जु करै मन मानी।
त्यों रसखान वही रसखानि जु है रसखानि सो[3] है रसखानी॥[4]

(४) जाल प्रपञ्च पसार घने, कुल-गौरव का उर फाड रहा है,
मानव-मण्डल में मिल दाहक दानव दुष्ट दहाड रहा है।
जाति-समुन्नति की जड को कर घोर कुकर्म उखाड रहा है,
भूल गया प्रभु शंकर को जड जीवन-जन्म बिगाड़ रहा है॥[5]

चकोर

'चकोर' के प्रत्येक चरण में ७ भगण (ऽ।।) गुरु (ऽ) और लघु (।) आते हैं।[6]

उदाहरण :

(१) सोहत है तुलसीवन में रमि रास मनोहर नंदकिसोर।
चारिहुं पास हैं[7] गोपवधू भनि 'दास' हिये में[7] हुलास न थोर॥
कौस उरोजवतीन को[7] आनन मोहननैन भ्रमै जिमि भौंर।
मोहन-आनन-चद लखै[7] बनितान के[7] लोचन चारु चकोर॥[8]

(२) सावन आय समीप लगो, तब नारि के[9] प्रान बचावन काज।
बादर दूत बनावन को, कुसलात सँदेस पठावन काज॥
कूटज फूल नये कर लै, मन कल्पित अर्घ बनावन काज।
बोल उठ्यो हँसते मुख ह्वै वह मेघ तें[9] प्रीति बढावन काज॥[10]

---

१. लघुवत् पढें। २. रामचंद्रिका, १६।१५ ३ लघुवत् पढें।
४. रसखान-रत्नावली, पृ० ७४
५ शंकर-सर्वस्व (नाथूराम शंकर शर्मा), पृ० ३५७
६. सात भ है 'मदिरा' गुरु अंतहु दै लघु और 'चकोर' कहो गुनि।
—छंदार्णव, ११।२ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खड, पृ० २४३)
छंदमाला, १।६६ मे केशवदास ने इसे 'वसुधा' कहा है।
७. लघुवत् पढें।
८. छंदार्णव, ११।४ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खड, पृ० २४३)
९. लघुवत् पढें।
१०. राजा लक्ष्मणसिंह (अनूदित मेघदूत, ४)

सुमुखी

इस सवैये के प्रत्येक चरण में सात जगण (ISI), एक लघु (I) और एक गुरु (S) मिलकर २३ अक्षर होते हैं।[1] इसे 'मानिनी', 'मल्लिका' और 'मुधा' भी कहते हैं।

उदाहरण

कुमार के[2] रंग निवास की[2] हैं अलबेली[2] नवेली[2] तहाँ रमनी।
लखे छवि सोवत में मुख की प्रति एक की[2] ऐसी[2] सुनाई[2] सनी।
परे कहुँ जाहि पै[2] दौरि जहाँ सोइ[2] लागति सुन्दरि ऐसी[2] घनी।
यहै कहि भावति है मन मे सब मे यह रत्न अमोल धनी॥[3]

अद्रितनया

'अद्रितनया' के प्रत्येक चरण में क्रमशः नगण (III), जगण (ISI), भगण (SII), जगण (ISI) भगण (SII) जगण (ISI), भगण (SII), लघु (I) और गुरु (S) मिलकर २३ अक्षर होते हैं।[4]

उदाहरण

घट घट में तुँही लसति है, तुँही बसति है, सरूप मति के।
तुम महिमा, भरी रहति है, सदा हृदय में, त्रिलोकपति के।
निज जन को, बिना भजनहू, कलेस हरनी, बिथा निहननी।
जय जय श्रीहिमाद्रितनया महेसघरनी गनेसजननी॥[5]

२४ अक्षरों के सवैये (संस्कृति जाति)

किरीट अथवा किरीटी

इसके प्रत्येक चरण में आठ भगण (SII) होते हैं।[6]

---

१. मानक हिन्दी कोश (पाँचवाँ खंड), पृ० ६०८
छंदमाला (२।६६) में इसे 'मुधा' नाम दिया गया है।
भिखारीदास (छंदार्णव, ९।१६) ने इसे 'मानिनी' कहा है।
२. लघुवत पढ़ें।
३. रामचंद्र शुक्ल (काव्य प्रदीप, पृ० ३६१ पर उद्धृत)
४. छंदार्णव, १२।१२ (भिखारीदास ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० २६६)
५ छंदार्णव, १२।१३ (भिखारीदास ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० २६६)
६. भगन आठ किरीट रचो बुनि॥
—छंदार्णव, १।१२ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० २४३)
केशवदास ने इसे 'अमल कमल' कहा है:
आठ भगन को बरन रचि अमरमन चौलीन।
'अमल कमल' यह छंद है प्रगट 'केशव' दीन॥
—छंदमाला, २।६६ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ४४५)

उदाहरण :

(१) मानुस हौं तो[1] वही 'रसखानि' बसौं ब्रज गोकुल गाँव के[1] ग्वारन ।
जो पसु हौं तो[1] कहा बस मेरो[1] चरौं नित नन्द की[1] धेनु मँझारन ।।
पाहन हौं तो[1] वही गिरि को जु धर्यो कर छत्र पुरन्दर कारन ।
जो खग हौं तो[1] बसेरो[1] करौं नित कालिंदि कूल कदम्ब की[1] डारन ।।[2]

(२) सभ्य समागम के प्रतिकूल न मूढ़ भयानक चाल चला कर,
वंचक, बान बिसार बुरी रच दम्भ किसी कुल को न छला कर ।
देख विभूति महाजन की पड़ शोक हुताशन में न जला कर,
शंकर को भज रे भ्रम को तज रे भव का भरपूर भला कर ।।[3]

दुर्मिल अथवा चन्द्रकला

दुर्मिल सवैये के प्रत्येक चरण में आठ सगण (IIS) होते हैं ।

उदाहरण :

(१) पग नूपुर औ पहुँची करकंजनि, मंजु बनी मनिमाल हिये ।
नवनील कलेवर पीत झँगा झलकै, पुलकै नृप गोद लिये ।
अरबिन्द सो[4] आनन रूपमरंद अनंदित लोचन भृंग पिये ।
मन में न बस्यो अस बालक जौं 'तुलसी' जग में फल कौन जिये ।।[5]

(२) बन राम रसायन की रसिका रसना रसिकों को[6] हुई सफला ।
अवगाहन मानस में कर के जन मानस का मल सारा[6] टला ।
बने[6] पावन भाव की[6] भूमि भली हुआ[6] भावुक भावुकता का[6] भला ।
कविता करके तुलसी न लसे कविता लसी पा तुलसी की[6] कला ।।[7]

(३) द्विज वेद पढ़ें, सुविचार बढ़ें, बल पाय चढ़ें, सब ऊपर को,
अविरुद्ध रहें, ऋजु पन्थ गहें, परिवार कहें, वसुधा-भर को,
ध्रुव धर्म धरें, पर दुःख हरें, तन त्याग तरें, भव-सागर को,
दिन फेर पिता, वर दे सविता, कर दे कविता, कवि शंकर को ।[8]

(४) सखि, नील नभस्सर में उतरा
यह हंस अहा ! तरता तरता,

---

१. लघुवत् पढ़ें ।
२. रसखान रत्नावली, पृ० ७३
३. शंकर-सर्वस्व (नाथूराम शर्मा 'शंकर'), पृ० ३५७
४. लघुवत् पढ़ें ।
५. कवितावली, १।२
६. लघुवत् पढ़ें ।
७. पद्य-प्रसून (हरिऔध), पृ० २२
८. शंकर-सर्वस्व (प० नाथूराम शर्मा 'शंकर'), पृ० ३७

अब तारक-मौक्तिक शेष नहीं,
निकला जिनको चरता चरता।
अपने हिम-बिन्दु बचे तब भी,
चलता उनको धरता धरता।
गड जायें न कण्टक भूतल के,
कर डाल रहा डरता डरता ॥[1]

गंगोदक

आठ रगण (SIS) का 'गंगोदक' सवैया होता है। इसके अन्य नाम हैं गंगाधर, लक्षी और खंजन।[2]

उदाहरण

लोक लोकेश स्यो जो जु ब्रह्मा रचे आपनी आपनी सींव सो सो रहैं।
चारि बाहैं धरे विष्णु रक्षा करें बात सांची यहै वेद बानी कहै।
ताहि भ्रूभंग ही देव देवेश स्यों विष्णु ब्रह्मादि दै रुद्रजू संहरैं।
ताहि हौं छोड़ि कै पांय काके परौं आज संसार तो पांय मेरे परैं ॥[3]

तन्वी

'तन्वी' सवैया में प्रत्येक चरण में क्रमश भगण (SII), तगण (SSI), नगण (III), सगण (IIS), दो भगण (SII), नगण (III) और यगण (ISS) मिलकर २४ अक्षर होते हैं।[4]

उदाहरण

बोलत कैसे, भृगुपति सुनिये, सो कहिये तन मन बनि आवै।
आदि बड़े हौ, बड़पन रखिये जा हित तूँ सब जग जस पावै।
चंदन हू मे अति तन घसिये, आगि उठै यह गुनि सब लीजे।
हैहय मारो, नृपजन संहरे, सो यश लै किन युग युग जीजे ॥[5]

---

१ साकेत (नवम सर्ग), पृ० २८६
२. आठ रगन को छद रचि चौबिस जानहु बर्न।
'गंगोदक' यह छद है 'केसव' पानकह्नें ॥
—छदमाला, १।७१ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ४४५)
छदार्णव, ११।८ में इसे 'लक्षी' कहा गया है।
३. रामचद्रिका, १६।१०
४ भगन तगन नगनौ सगन भगन भगन फिरि आनि।
नगन यगन चौबिस बरन 'तन्वी' छद बखानि ॥
—छदमाला, १।७२ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ४४६)
५. रामचद्रिका, ७।२२

मकरंद

सात जगण (ISI) और एक यगण (ISS) मिलकर मकरन्द सवैया होता है। इसे 'मंजरी', 'माधवी' तथा 'वाम' भी कहते हैं।[1]

उदाहरण :

कंपै उर बानि डगै बर डीठि त्वचाऽतिकुचै सकुचै मति बेली।
नवै नवग्रीव थकै गति केशव बालक ते सँगही सँग खेली।
लिये सब आधिन व्याधिन संग जरा जब आवै[2] ज्वरा की[2] सहेली।
भगै सब देह दशा, जिय साथ रहै दुरि दौरि दुराशा[2] अकेली ॥[3]

मुक्तहरा

'मुक्तहरा' सवैया के प्रत्येक चरण में आठ जगण (ISI) होते हैं। इसे 'मोतियदाम' भी कहते हैं।[4]

उदाहरण :

लसैं रद उज्ज्वल मोति समान जहाँ छबि मोहिनि मंजु रसाय।
मनोहर हैं तिनसो दो[5]उ ओठ जहाँ श्रुति सोभा[5] रही सरसाय।
भले दृग स्यामल औ रतनार सुहावत जद्यपि तेज जनाय।
तऊ इनमें बिलसैं उहि चारु प्रिया के[5] कटाच्छन की समताय ॥[6]

भुजंग

'भुजंग' नामक सवैये के प्रत्येक चरण में ८ यगण (ISS) होते हैं।[7]

---

१. सात जगन रचिये क्रमहिं यगन एक धरि अंत।
होन मंजरी छंद तहँ बरनत सुकबि अनंत॥
मंजरी छंदस्य नामान्तर मकरंदेति ज्ञातव्यम्।
रामचंद्रचंद्रिका, परिशिष्ट २ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ४३०)
मानक हिन्दी कोश (पाँचवाँ खण्ड), पृ० ३५

२. लघुवत् पढ़ें।

३. रामचंद्रिका, २४।११

४. छंदार्णव, ११।२ (भिखारीदास ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० २४३)
छंदमाला, १।६७ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ४४५) के अनुसार इसका नाम 'माधवी' है।

५. लघुवत् पढ़ें।

६. सत्यनारायण कविरत्न (काव्य-प्रदीप, पृ० ३६२ पर उद्धृत)

७ छंदार्णव, ११।२ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० २४३)

उदाहरण

तुम्हैं देखिबे की महाचाह बाढ़ी मिलापै बिचारै सराहै स्मरै जू।
रहै बैठि न्यारी घटा देखि कारी बिहारी बिहारी बिहारी ररै जू।
भई काल बौरी सि दौरी फिरै आजु बाढ़ी दसा ईस का धौं करै जू।
बिथा मैं ग्रसी सी भुजंगै डसी सी छरी सी मरी सी घरी सी भरै जू॥[1]

अरसात

सात भगण (SII) और एक रगण (SIS) का अरसात सवैया होता है।[2] इस प्रकार उपर्युक्त क्रम से इस सवैये के प्रत्येक चरण में २४ अक्षर होते हैं।[3]

उदाहरण

भाव भला उसके मन के किस भाँति कहूँ वह है न बखानता।
लो न कभी उसने सुध भी अपना जन क्यों न मुझे वह मानता।
जान सका वह क्यों न मुझे कहते सब हैं वह है सब जानता।
हूं निज ही रहता उर में फिर क्यों न मुझे वह है पहचानता॥[4]

आभार

इसी वर्ग के अन्तर्गत 'आभार' सवैये की भी गणना की जाती है, जिसके प्रत्येक चरण में ८ तगण (ऽऽ।) होते हैं।[5]

उदाहरण

ये गेह के लोग धौं कानिकी न्हान कों ठानि हैं काल्हि एकक ह्वै गौन।
सवाद कै याहि ह्यौ बावरी होइ की आजु आली रह्यौ ठानें ही मौन।
हौं जानती हौं न धौं मीत कौने दई नंद को लाल गोपाल धौं कौन।
आभार ह्यौ द्वार को ताहि कौं सौं फिरै मोहिं औ तोहिं ह्यां राखते भौन॥[7]

---

१. छन्दार्णव, ११।३ (भिखारीदास ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृ० २४४)
२ मानक हिन्दी कोश (पहला खण्ड), पृ० १७५
३ छन्दार्णव, ११।१७ (भिखारीदास-ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृ० २४७) के अनुसार यह 'अरसात' तथा छन्दमाला, १।३० (केशव-ग्रन्थावली, द्वितीय खण्ड, पृ० ४४५) के अनुसार यह 'मकरन्द' छन्द है।
४ गोपालशरण सिंह (काव्य प्रदीप, पृ० ३६४ पर उद्धृत)
५ मानक हिन्दी कोश (पहला खण्ड), पृ० २७८
६ मधुवत् यहाँ।
७ छन्दार्णव, ११।१० (भिखारीदास ग्रन्थावली, प्रथम खण्ड, पृ० २४५)

२५ अक्षर के सवैये (अतिकृति जाति)

सुन्दरी

इस सवैये के प्रत्येक चरण में आठ सगण (॥ऽ) और एक गुरु (ऽ) मिलकर २५ अक्षर होते हैं। इसके अन्य नाम हैं मल्ली, चन्द्रकला, माधवी और कमला।[1]

उदाहरण :

(१) पद कोमल, स्यामल गौर कलेवर, राजत कोटि मनोज लजाए।
कर बान-सरासन, सीस जटा, सरसीरुह-लोचन सोन सुहाए।
जिन देखे,[2]सखी[1] सतभायहु तें 'तुलसी' तिन तौ मन फेरि न पाए।
यहि मारग आजु किसोरबधू बिधु-बैनी[2] समेत सुभाय सिधाए॥[3]

(२) सब सारस हंस भये खग खेचर बारिद ज्यो बहु बारन गाजे।
बन के नर बानर किन्नर बालक लै मृग ज्यो मृगनायक भाजे॥
तजि सिद्ध समाधिन केशव दौरघ दौरि दरीन में[4] आसन साजे।
सब भूतल भूधर हाले[4] अचानक आइ भरत्थ के[4] दुदुभि बाजे॥[5]

(३) हम दीन दरिद्र हुताशन में दिन-रात पडे दहते रहते हैं,
छिन मेल विरोध-महानद में, मन बोहित-से बहते रहते हैं।
कवि शंकर काल कुशासन की फटकार कडी सहते रहते हैं,
पर भारत के गत गौरव की अनुभूत कथा कहते रहते हैं॥[6]

(४) यह होगा[7] महारण राग के[7] साथ युधिष्ठिर हो विजयी निकलेगा,
नर-संस्कृति की रणछिन्न लता पर शान्ति-सुधा-फल दिव्य फलेगा,
कुरुक्षेत्र की[7]धूलि नहीं इति पन्थ की,[7] मानव ऊपर और चलेगा,
मनु का यह पुत्र निराश नहीं, नवधर्म प्रदीप अवश्य जलेगा।[8]

---

१. छंदार्णव, ११।१३ (भिखारीदास ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० २४६) में इसे 'माधवी' कहा गया है।
केशव (रामचंद्रिका, २४।१३) ने 'चन्द्रकला' और 'सुन्दरी' को एक ही माना है।
मानक हिन्दी कोश (दूसरा खंड), पृ० १८४-८५ में भी 'चन्द्रकला' और 'सुन्दरी' दोनो को एक ही माना गया है।
२. लघुवत् पढ़ें।
३. कवितावली, २।२४
४. लघुवत् पढ़ें।
५. रामचंद्रिका, १०।१४
६. शंकर-सर्वस्व (प० नाथूराम शर्मा 'शंकर'), पृ० ३५६
७. लघुवत् पढ़ें।
८. कुरुक्षेत्र (रामधारी सिंह 'दिनकर'), पृ० १०६

लवंगलता अथवा विजया

'लवंगलता' नामक सवैये के प्रत्येक चरण में आठ जगण (ISI) और एक लघु (I) मिलकर कुल २५ वर्ण होते हैं।

उदाहरण

> जहाँ प्रति मंदिर सोभ बढ़ी तरुनी अवलोकन कौं रघुनन्दनु।
> मनो गृहदीपति देह धरें सु किधौं गृहदेबि बिमोहति हैं मनु॥
> किधौं कुलदेवि दिपैं अति 'केसव' कै पुरदेविन को हुलस्यो गनु।
> जहीं सु तहीं यहि भांति लसें दिवि देविन को मद घालति हैं मनु॥[1]

क्रौञ्च

'क्रौञ्च' सवैये के प्रत्येक चरण में क्रमशः भगण (SII), मगण (SSS), सगण (IIS), भगण (SII), चार नगण (III) और एक गुरु (S) के योग से २५ अक्षर होते हैं।[2]

उदाहरण

> सेरन कैसी पौरुष वातें रिसि करि पहहु डगर बिच बरनी।
> क्यों सुर सारी लौं पढ़ि जानें जतननि करि बक अरु बकघरनी।
> जानिय विद्या जातु जनाए नहिं जड कबहुँ बुधनि यह बरनी।
> तूल पराो क्यों करि हंसं गति गति धरत धरत पग धरनी॥[3]

अरविन्द

'अरविन्द' सवैये के प्रत्येक चरण में आठ सगण (IIS) और एक लघु (I) मिलकर कुल २५ वर्ण होते हैं।[4]

उदाहरण

> सबसों लघु आपुहिं जानिय जू यह धर्म सनातन जान सुजान।
> जबही सुमती मल आनि बसै उर सम्पति सर्व बिराजत आन॥
> प्रभु व्याप रह्यो सचराचर में तजि वैर सुभाविन सज्जो मतिमान।
> नित राम पदै अरविन्दन को मकरन्द पियो सुमिलिन्द समान॥[5]

---

१ रामचन्द्रचन्द्रिका, २२।८ (केशव ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ३४७-४८)

२ मानक हिन्दी कोश (पहला खंड), पृ० ६०८

३ छन्दार्णव, ५।२४० (भिखारीदास ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० २१३)

४ छन्दमाला (२।५४) के अनुसार यह 'मानिनी' छन्द है, जिसका लक्षण है :

> आठ सगन के अंत लघु कहहु 'मानिनी' छंद।
> चारि छंद 'केसव' कहत पचवीस आनन्द॥
> —छन्दमाला, २।५५ (केशव ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ४४६)

५ भानु कवि (रस छंद अलंकार, पृ० ६४ पर उद्धृत)

मदनमनोहर

'मदनमनोहर' के प्रत्येक चरण में आठ सगण (IIS) और एक गुरु (S) मिलकर कुल २५ वर्ण होते हैं।[1]

उदाहरण :

अँखियान मिली सखियान मिली पति आवत जाने मिली तजि भौने।
सुभ ध्यान विधान मिली मनहीं मन ज्यौं मिल नैंक मनोमय सौने।
कहि 'केसव' कैसेहु बेगि मिली नतु ह्वैहय हे हरि जो कछु होने।
तहँ पूरन प्रेमसमाधि मिले मिलि जैहे तुम्हें मिलिहौ फिरि कोने॥[2]

२६ अक्षरों के सवैये (उत्कृति जाति)

किशोर

इस सवैये के अन्य नाम हैं : 'सुखद' और 'कुन्दलता'। इसके प्रत्येक चरण में आठ सगण (IIS) और दो लघु (II) मिलकर कुल २६ अक्षर होते हैं।[3]

उदाहरण :

जग में नर जन्म दियो प्रभु नैं, मृदु भाषत बोल सुराखन लाजहु।
सत कर्म करें सत वृत्त बनें, समरत्थ रहैं नित ही पर काजहु।
धरवैं मन धीर 'बिहार' सदा, करवैं करनी जिहि मे जस छाजहु।
सतसंग सदा सुख सौं सजवैं, तजवैं भ्रम कौ भजवैं व्रज राजहु॥[4]

भुजंगविजृंभित

इस वृत्त (सवैया) के प्रत्येक चरण मे क्रमश दो मगण (SSS), एक तगण (SSI), तीन नगण (III), एक रगण (SIS), एक सगण (IIS), एक लघु (I) और एक गुरु (S) मिलकर २६ वर्ण होते हैं।[5]

---

१. आठ सगन को एक पद अत एक गुरु देखि।
'मदनमनोहर' छंद यह पच्चिस अक्षर लेखि॥
—छंदमाला, १।७४ (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ४४६)

२. छंदमाला, १।७४ का उदाहरण (केशव-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० ४४६)

३. छंदार्णव, ११।१५ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० २४६) मे इसे 'मानती' तथा छन्दमाला (१।७३) मे 'हार' छन्द कहा गया है।

४. साहित्य-सागर (हिन्दी छन्दप्रकाश, पृ० १०० पर उद्धृत)

५. छंदार्णव, १२।११४ (भिखारीदास-ग्रंथावली, प्रथम खंड, पृ० २६६)

उदाहरण :

साधु में माधन्वै पैये, बहु विधि विनय करत हूँ, निरादर कीनें हूँ।
जैसे धेनु दूधै देती, कटु निन अमित चक्लहूँ, गुडादिक दीनें हूँ।
मदे सों मदी पै होतो, जब तब जगत विदित है, उपाय करो किनो।
जैसे मिसी छोरे प्याए, विषमय स्वभन वहत है, भुजगादिक जम्मिनो॥[2]

उपजातिक या मिश्रित सवैये

उपर्युक्त सवैयों में कहीं कहीं इस प्रकार के सवैये भी मिलते हैं जिनमें एक या दो चरण एक प्रकार के सवैये के होते हैं और एक या दो चरण किसी अन्य सवैये के। उदाहरणार्थ तुलसीदास के निम्नांकित सवैये में प्रथम, तृतीय और चतुर्थ पाद मत्तगयन्द सवैये (७ भगण — २ गुरु) के तथा द्वितीय पाद सुन्दरी सवैये (८ सगण — गुरु) का है।

उदाहरण

तू रजनीचर-नाथ महा, रघुनाथ के[3] सेवक को जन हौं हौं।
बलवान है[3] स्वान गली अपनी, ताहि लाज न गाल बजावत सोहौं॥
बीस भुजा दस सीस हरौं न डरौं प्रभु आयसु भंग तें[3] जौं हौं।
खेत में[3] केहरि ज्यों गजराज दलौं दल बालि को बालक तौ हौं॥[4]

इसी प्रकार रसखान के निम्नांकित प्रसिद्ध सवैये में प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ चरण मत्तगयन्द (७ भगण — २ गुरु) सवैये के और तृतीय चरण सुन्दरी (८ सगण — गुरु) सवैये का है

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौ निधि को सुख नन्द कौ[5] गाय चराय बिसारौं।
रसखान कबौं इन नैननि सौं ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिक ये कलधौत के[5] धाम करीलन कुंजन ऊपर वारौं॥[6]

दण्डक प्रकरण

जिन छन्दों के एक चरण में २६ से अधिक वर्ण होते हैं उन्हें 'दण्डक' कहते हैं। ये दण्डक दो प्रकार के होते हैं—'साधारण' एवं 'मुक्तक'। साधारण दण्डकों के प्रत्येक चरण में वर्णों के लघु, गुरु की स्थिति निश्चित तथा

१. लघुवत् पढ़ें।
२ छन्दार्णव, १२।१५ (भिखारीदास ग्रन्थावली, प्रथम खंड, पृ० २६६)
३. लघुवत् पढ़ें।
४ कवितावली, ६।१३
५ लघुवत् पढ़ें।
६ रसखान रत्नावली, २५१ (पृ० १६३)

एक ही क्रम से रहती है किन्तु मुक्तक दण्डकों में वर्णों की संख्या मात्र निश्चित रहती है, उनके गुरु लघु का क्रम निश्चित नहीं रहता। इन मुक्तक दण्डकों के प्रत्येक चरण में वर्णों की संख्या समान रहती है। 'मुक्तक' दण्डकों को हिन्दी में सामान्यतया 'कवित्त' कहा जाता है।

साधारण दण्डक

मत्तमातंगलीलाकर

इस दण्डक के प्रत्येक चरण में ९ या इससे अधिक रगण (SIS) होते हैं।[1]

उदाहरण :

योग जाना नहीं, यज्ञ ध्याना नहीं वेद माना नहीं,
या कली माँहि मीता ! कहूँ।
ब्रह्मचारी नहीं, दण्डधारी नहीं, कर्मकारी नहीं,
है कहा आगमें जो छहूँ॥
सच्चिदानन्द आनन्द के कन्द को छाँडि कें,
रे मतीमन्द ! भूलो फिरो न कहूँ।
याहि तें हों कहौं ध्याइ लै जानकीनाथ को,
गावहीं जाहि सानन्द वेदा चहूँ॥[2]

कुसुमस्तबक

इस दण्डक के प्रत्येक चरण में ९ या इससे अधिक सगण (IIS) रखे जाते हैं।

उदाहरण :

जगदम्ब ! जरा करुणा कर दो,
निबलों पर पीडित दीन दुखी हम हैं।
हम में भर दो दुख दारिद दारिणि !
शक्ति महेश्वरि हे ! हम बेदम हैं॥
मन मंदिर में विकसे विमला मति,
धीर बनें हम वीर शिरोमणि हों।

---

१. छन्दप्रभाकर, पृ० २१० (हिन्दी साहित्य कोश, प्रथम भाग, पृ० ५६०) केशव (रामचंद्रिका, ६।३५) ने ८ रगण (SIS) के मत्तमातंगलीलाकरण दण्डक का प्रयोग किया है।

२. जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' (हिन्दी छन्दप्रकाश, पृ० १०१ पर उद्धृत)

यह भारत भारत भारत हो
इसमें फिर वे रण शूर शिरोमणि हों॥[1]

मुक्तक दण्डक

३१ अक्षरों के मुक्तक दण्डक

कवित्त

इसके प्रत्येक चरण मे ३१ वर्ण होते है, अंतिम वर्ण गुरु होना चाहिए। १६, १५ पर यति होती है। इसे 'मनहरण' और 'घनाक्षरी' भी कहते हैं।[2]

उदाहरण

(१) पात भरी सहरी, सकल सुत बारे बारे,
केवट की जाति कछू वेद न पढ़ाइहौं।
सब परिवार मेरो याही लागि, राजाजू!
हौं दीन वित्तहीन कैसे दूसरी गढ़ाइहौं?
गौतम की घरनी ज्यों तरनी तरैगी मेरी,
प्रभु सों निषाद ह्वै कै वाद न बढ़ाइहौं।
'तुलसी' के ईस राम रावरी सौं, सांची कहौं,
बिना पग धोए नाथ नाव न चढ़ाइहौं॥[3]

(२) निर्गुंन निरूप हो कि सुन्दर सरूप हो कि
भूपन के भूप हो कि दाता महादान हो।
प्रान के बचैया दूध पूत के दिवैया रोग
सोग के मिटैया किधौं मानी महामान हो!
विद्या के विचार हो कि अद्वै अवतार हो कि
सिद्धता की मूर्त हो कि सिद्धता की सान हो।
जोबन के जाल हो कि कालहू के काल हो कि
सत्रुन के सूल हो कि मित्रन के प्रान हो॥[4]

(३) कान्ह-दूत कैधौं ब्रह्म दूत ह्वै पधारे आप,
धारे प्रन फेरन की मति ब्रजबारी की।
कहै रतनाकर पै प्रीति रीति जानत ना,
ठानत अनीति आनि नीति लै अनारी की।

१. सुधाकर (हिन्दी छन्दप्रकाश, पृ० १०१ पर उद्धृत)
२. हिन्दी साहित्य कोश (प्रथम भाग), पृ० २८३
३. कवितावली (तुलसीदास), २।८
४. गुरु गोविन्दसिंह (कविता-कौमुदी, पहला भाग, पृ० ४४३ पर उद्धृत)

मान्यौ हम, कान्ह ब्रह्म एकही, कह्यौ जो तुम,
तौहूँ हमैं भावति न भावना अन्यारी की।
जैहै बनि-बिगरि न बारिधिता बारिधि की,
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की ॥[1]

(४) प्रेम-मद-छाके पग परत कहाँ के कहाँ
थाके अंग नैननि सिथिलता सुहाई है।
कहै रत्नाकर यौं आवत चकात ऊधौ
मानौ सुनियात कोऊ भावना भुलाई है।
धारत धरा पै ना उदार अति आदर सौं
सारत बहोलिनि जो आँस-अधिकाई है।
एक कर राजै नवनीत जसुदा को दियौ
एक कर बंसी बर राधिका-पठाई है ॥[2]

(५) दीन न हो गोपे, सुनो, हीन नहीं नारी कभी,
भूत-दया-मूर्ति वह मन से, शरीर से।
क्षीण हुआ वन में क्षुधा से मैं विशेष जब,
मुझको बचाया मातृजाति ने ही खीर से।
आया जब मार मुझे मारने को बार बार
अप्सरा-अनीकिनी सजाये हेम हीर से।
तुम तो यहाँ थीं, धीर ध्यान ही तुम्हारा वहाँ
जूझा, मुझे पीछे कर, पंचशर वीर से ॥[3]

कलाधर

इसके प्रत्येक चरण में गुरु-लघु के १५ युग्मक तथा एक गुरु वर्ण मिलकर ३१ वर्ण होते हैं।[4]

उदाहरण :

जाय के भरत्थ चित्रकूट राम पास बेगि
हाथ जोरि दीन ह्वै सुप्रेम ते बिनै करी।
सीय तात मात कौसिला वसिष्ठ आदि पुज्य
लोक वेद प्रीति नीति की सुरीति ही धरी ॥
जान भूप बैन धर्मपाल राम ह्वै संकोच
धीर दे गंभीर बंधु की गलानि को हरी।

१. उद्धवशतक (जगन्नाथदास 'रत्नाकर'), ३८
२. उद्धवशतक (जगन्नाथदास 'रत्नाकर'), १०८
३. यशोधरा (मैथिलीशरण गुप्त), पृ० १४५
४. मानक हिन्दी कोश (पहला खण्ड), पृ० ४५६

पादुका दई पठाय, औध को समाज साज,
देख नेह राम सीय के लिये कृपा भरो ॥[1]

मनहर अथवा मदनमनोहर

इस छन्द के प्रत्येक चरण में ३१ वर्ण होते हैं। इनका क्रम निम्नांकित है भगण (ऽ।।) जगण (।ऽ।), सगण (।।ऽ), नगण (।।।), भगण (ऽ।।), जगण (।ऽ।), सगण (।।ऽ), नगण (।।।), भगण (ऽ।।), जगण (।ऽ।) और गुरु (ऽ)।[2]

उदाहरण :

आवत विलोकि रघुवीर लघुवीर तजि,
व्योमगति भूतल विमान तब आइयो।
राम पद पद्म सुख सद्म कहँ बन्धु युग,
दौरि तब षट्पद समान सुख पाइयो।
चूमि मुख सूँघि सिर अंक रघुनाथ धरि,
अश्रु जल लोचननि पेखि उर लाइयो।
देव मुनि वृद्ध परसिद्ध सब सिद्धजन,
हर्षि तन पुष्प बरषानि बरषाइयो ॥[3]

इसके अतिरिक्त उद्धरण (प्रत्येक चरण में ३१ वर्ण जिनमें से ३० लघु वर्ण और अन्तिम वर्ण गुरु) आदि कुछ और दण्डकों की गणना भी इसी वर्ग के अन्तर्गत की जाती है।

३२ अक्षरों के मुक्तक दण्डक

रूपघनाक्षरी

इसके प्रत्येक चरण में ३२ वर्ण होते हैं, १६, १६ पर यति पड़ती है; चरण के अन्तिम दो वर्ण क्रमशः गुरु लघु (ऽ।) होते हैं।[4]

उदाहरण

(१) प्रभुरुख पाइ कै बोलाइ बाल घरनिहि,
बंदि कै चरन चहूँ दिसि बैठे घेरि-घेरि।
छोटो सो कठौता भरि आनि पानी गंगाजू को,
धोइ पायँ पियत पुनीत बारि फेरि-फेरि।
'तुलसी' सराहैं ताको भाग सानुराग सुर,
बरषैं सुमन जय जय कहैं टेरि टेरि।

---

१ काव्यदर्पण (पं० दुर्गादत्त), पृ० २२६
२ हिन्दी साहित्य कोश (प्रथम भाग), पृ० ५६१
३ रामचन्द्रिका, २१।३०
४ हिन्दी साहित्य कोश (प्रथम भाग), पृ० ६७१

विबुध-सनेह-सानी बानी असयानी सुनि,
हँसे राघौ जानकी लखन तन हेरि-हेरि ॥[1]

(२) स्वच्छतर अम्बर में छनकर आ रहा था
स्वादु-मधु गन्ध से सुवासित समीर-सोम,
त्यागी प्रेम-याग के व्रती वे कृती जायापती
पान करते थे गल बाँह दिये, आपा होम।
क्षुद्र कास-कुश से लगाकर समुद्र तक,
मेदिनी में किसका था मुदित न रोम रोम ?
समुदित चन्द्र किरणों का चौंर ढारता था,
आरती उतारता था दिव्य दीप वाला व्योम ![2]

जलहरण

इसके भी प्रत्येक चरण में ३२ वर्ण होते हैं, अन्तिम दो वर्ण (३१वाँ और ३२वाँ) सदा लघु होने चाहिए। यति ८, ८, ९ और ७ अक्षरों पर पड़ती है।[3]

उदाहरण :

(१) अधर तरंग-भंगिमा को भजते ही रहे
होती रहीं कम्पमान कुंचित भ्रुवें विशद।
रोम शक्ति-संचित उरंचित बने ही रहे
फैला रहा रक्तिम मुखारविंद पै भी मद।
रह गया कर का त्रिशूल भी तना का तना
वसुधा-विलोडित बिलोक के जया का नद।
बैठा बरिबंड महिषासुर के मुण्ड पर
प्रबल प्रचंड अचलेश-नन्दिनी का पद ॥[4]

(२) लेकर पवित्र नेत्रनीर रघुवीर धीर,
वन में तुम्हारा अभिषेक करें आओ तुम,
व्योम के वितान तले चन्द्रमा का छत्र तान,
सच्चा सिंह-आसन बिछा दें, बैठ जाओ तुम।
अर्घ्यपाद्य और मधुपर्क यहाँ भूरि भूरि,
अतिथि समादर नवीन नित्य पाओ तुम,
जंगल में मंगल मनाओ, अपनाओ देव,
शासन जनाओ, हमें नागर बनाओ तुम ॥[5]

---

१. कवितावली (तुलसीदास), २।१०
२. साकेत (द्वादश सर्ग, अन्तिम छन्द), पृ० ५०१
३. हिन्दी साहित्य कोश (प्रथम भाग), पृ० ३०१
४. सर्वाणी (अनूप शर्मा), ६१६ (पृ० २२४)
५. साकेत (पंचम सर्ग), पृ० १५८

कृपाण

इसके भी प्रत्येक चरण में ३२ वर्ण होते हैं जिनमें से ३१वाँ वर्ण गुरु और ३२वाँ लघु होना चाहिए। यति आठ-आठ वर्णों पर पड़ती है।[1]

उदाहरण :

(१) कौन-सा दिखाऊँ दृश्य वन का बता मैं आज ?
हो रही है आलि, मुझे चित्र-रचना की चाह,—
नाला पड़ा पथ में, किनारे जेठ जीजी खड़े,
अम्बु अवगाह आर्यपुत्र ले रहे हैं थाह ?
किंवा वे खड़ी हों घूम प्रभु के सहारे आह,
तलवे से कण्टक निकालते हों पे कराह ?
अथवा झुकाये खड़े हों वे लता और जीजी,
फूल ले रही हों, प्रभु दे रहे हों वाह वाह ?[2]

(२) "द्वापर समाप्त हो रहा है धर्मराज, देखो,
लहर समेटने लगा है एक पारावार;
जग से विदा हो जा रहा है कालखण्ड एक
साथ लिये अपनी समृद्धि की चिता का क्षार;
सयुग की धूलि में समाधि युग की ही बनी,
बह रही जीवन की आज भी अजस्र धार;
गत हो अचेत हो गिरा है मृत्यु-गोद-बीच,
निकट मनुष्य के अनागत रहा पुकार।"[3]

अनंगशेखर

यह भी दण्डक छन्द का एक भेद है। इसके प्रत्येक चरण में लघु-गुरु के १६ युग्मक के योग से ३२ वर्ण होते हैं।[4]

उदाहरण

तड़ाग नीरहीन ते सनीर होत केशोदास
पुंडरीक झुंड भौंर मंडलीन मंडही।
तमाल बल्लरी समेत सूखि सूखि के रहे
ते बाग फूलि फूलि के समूल सूल खंडही।
चितै चकोरनी चकोर मोर मोरनी समेत
हंस हंसिनी सुकादि सारिका सबै पढ़ैं।

१. मानक हिन्दी कोश (पहला खण्ड), पृ० ५७३
२. साकेत (नवम सर्ग), पृ० २७६
३. कुरुक्षेत्र (रामधारी सिंह 'दिनकर'), सप्तम सर्ग, पृ० १२२
४. क्रमे-ते लघु गुरु देइ पद, वर्निम यक्षर जानि।
यह अनंगशेखर सदा दंडक छंद बखानि॥
—छन्दमाला, ११३८ (केशव-ग्रन्थावली, खण्ड २, पृ० ४४७)

जहीं जहीं बिराम लेत रामजू तहीं तहीं
अनेक भाँति के अनेक भोग भाग सों बढ़ें ॥[1]

उपरिविवेचित मुक्तक दण्डको के अतिरिक्त विजया (प्रत्येक चरण मे ३२ वर्ण, अन्तिम तीन वर्ण लघु), डमरू (प्रत्येक चरण मे ३२ अक्षर और सभी लघु) आदि कुछ और दण्डक भी इसी वर्ग मे आते है।

३३ अक्षरों के मुक्तक दण्डक

देवघनाक्षरी

इसके प्रत्येक चरण मे ३३ वर्ण रखे जाते है जिनमे से अंतिम तीन वर्ण प्राय लघु होते हैं। ८, ८, ८ और ९ अक्षरो पर यति पडती है।[2]

उदाहरण :

झिल्ली झनकारैं पिक चातक पुकारैं बन
मोरनि गुहारैं उठैं जुगनू चमकि चमकि,
घोर घन कारे भारे धुरवा धुरारे धाम
धूमनि मचावैं नाचैं दामिनी दमकि दमकि।
झूकनि बहार बहै लूकनि लगावैं अंग
हूकनि भभूकनि की उर मे खमकि खमकि,
कैसे करि राखौं प्रान प्यारे 'जसवंत' बिना
नान्हीं नान्हीं बूँद झरैं मेघवा झमकि झमकि ॥[3]

अर्धसमवृत्त प्रकरण

जिस वर्णवृत्त मे पहला और तीसरा चरण एक समान तथा दूसरा और चौथा चरण एक समान हो, उसे अर्धसम वर्णवृत्त कहते हैं। नीचे हम कुछ मुख्य-मुख्य अर्धसम वृत्तो का विवरण देंगे जिनका प्रयोग हिन्दी मे हुआ है। इनका विशद निरूपण संस्कृत मे हुआ है, हिन्दी मे बहुत कम।

अपरवक्त्र

'अपरवक्त्र' के पहले और तीसरे चरण मे क्रमश दो नगण (।।।), रगण (ऽ।ऽ), लघु (।) और गुरु (ऽ) तथा दूसरे और चौथे चरण मे क्रमश. नगण

---

१. रामचंद्रिका, ६।३६
२. छन्दप्रभाकर (जगन्नाथ प्रसाद 'भानु') पृ० २२१—हिन्दी साहित्य कोश (प्रथम भाग), पृ० ३४१
३. जसवन्त सिंह (काव्य-प्रदीप, पृ० ३७३-७४ पर उदधृत)

(।।।), दो जगण (।ऽ।) और रगण (ऽ।ऽ) होते हैं।[1]

उदाहरण :

> रह चिरदिन तू हरी-भरी,
> बढ़, सुख से बढ़ सृष्टि सुन्दरी,
> सुध प्रियतम की मिले मुझे,
> फल जन-जीवन-दान का तुझे।[2]

वैतालीय

इस वृत्त के प्रथम एवं तृतीय पाद में क्रमशः दो सगण (।।ऽ), जगण (।ऽ।) और एक गुरु (ऽ) तथा दूसरे और चौथे चरण में क्रमशः सगण (।।ऽ), भगण (ऽ।।), रगण (ऽ।ऽ), लघु (।) और गुरु (ऽ) आते हैं।[3] इसे 'सुन्दरी' भी कहा गया है।[4]

उदाहरण

(१)
> अब भी वह वाटिका वहीं,
> पर बैठी वह उर्मिला यहीं।
> करुणाकृति माँ विसूरती,
> गिरिजा भी बन मूर्ति घूरती।[5]

(२)
> जननी इस सौध धाम में,
> उनके ही शुभ-सौख्य-काम में,
> करती कितने प्रयोग थीं,
> रचती व्यंजन-चारु-भोग थीं।[6]

मंजुमाधवी

इस वृत्त के विषम (प्रथम एवं तृतीय) चरण इन्द्रवज्रा [प्रत्येक चरण में १२ वर्ण, क्रमशः दो तगण (ऽऽ।), जगण (।ऽ।) और रगण (ऽ।ऽ)] के, तथा सम (द्वितीय एवं चतुर्थ) चरण इन्द्रवज्रा [प्रत्येक चरण में क्रमशः दो तगण (ऽऽ।), जगण (।ऽ।) और दो गुरु (ऽऽ) के योग से ११ वर्ण] के होते हैं। इस प्रकार इसके विषम चरणों में बारह बारह अक्षर तथा सम चरणों में ग्यारह-

---

१. अयुजि ननरला गुरुः समे तदपरवक्त्रमिदं नजौ जरौ ॥
—वृत्तरत्नाकर, ४।१६

२. साकेत (नवम सर्ग), पृ० २६६

३. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० १८७

४. हिन्दी-छन्द-रचना, पृ० ८४

५. साकेत (दशम सर्ग), पृ० ३५३-५४

६. साकेत (दशम सर्ग), पृ० ३५६

ग्यारह अक्षर होते हैं।[1] इसी वृत्त को किसी ने 'आनन्दिनी' की संज्ञा से अभिहित किया है।[2]

उदाहरण :

लेते गये क्यों न तुम्हें कपोत, वे,
गाते सदा जो गुण थे तुम्हारे ?
लाते तुम्हीं हा ! प्रिय-पत्र-पोत वे,
दुःखाब्धि में जो बनते सहारे।[3]

विषमवृत्त प्रकरण

जिन वर्णवृत्तों के चारों चरण एक-दूसरे से भिन्न हों, उन्हें विषम वृत्त कहते हैं। हिन्दी में इस प्रकार के वृत्त थोड़े ही हैं, जिनका विवरण निम्नांकित है।

सौरभक

'सौरभक' के पहले चरण में क्रमशः सगण (IIS), जगण (ISI), सगण (IIS) और लघु (I), दूसरे चरण में क्रमशः नगण (III), सगण (IIS), जगण (ISI) और गुरु (S); तीसरे चरण में क्रमशः रगण (SIS), नगण (III), भगण (SII) और गुरु (S); तथा चौथे चरण में क्रमशः सगण (IIS), जगण (ISI), सगण (IIS), जगण (ISI) और गुरु (S) होते हैं। इस प्रकार इस वृत्त के प्रथम तीन चरणों में १०, १० वर्ण तथा चतुर्थ चरण में १३ वर्ण होते हैं।[4]

उदाहरण :

सब छोड़िये असत काम।
शरण गहिए सदा हरी।
सर्व सूल भव जाँय टरी।
भजिये अहो निशि हरी-हरी-हरी।[5]

आपीड़

'आपीड' के पहले चरण में ८, दूसरे में १२, तीसरे में १६ और चौथे

---

१. हिन्दी-छन्द-रचना, पृ० ८६
२. आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना, पृ० १८७
३. साकेत (नवम सर्ग), पृ० २७६
४. वृत्तरत्नाकर, ५।१७
५. हिन्दी-छन्द-रचना, पृ० ८७

चरण में २० वर्ण होते हैं। प्रत्येक चरण के अन्तिम दो वर्ण गुरु तथा शेष वर्ण लघु होते है।[1]

उदाहरण

(१) लहरत सर सोहैं।
विकसित सरसिज मन मोहैं।
मधुप-निकर गुन गुन करि तहँ गावें।
वह छबि निरखत रसिकन मन अति मुद पावें।[2]

(२) प्रभु असुर संहर्ता।
जगविदित पुनि जगत भर्ता।
दनुज - कुल - अरि जगहित धरम - धर्ता।
अस प्रभु कहँ सरवस तज भज भव-दुख-हर्ता![3]

उपर्युक्त विषम वृत्तों (सौरभक और आपीड) के अतिरिक्त कुछ और भी वृत्त इस (विषमवृत्त) प्रकरण के अन्तर्गत आते हैं जिनके नाम हैं -

१ पदचतुरूर्ध्व, २. कलिका, ३ लवली, ४. अमृतधारा, ५. मंजरी, ६ उद्गता, ७ ललित, ८ उपस्थितप्रचुपित, ९ प्रवर्धमान और १०. शुद्धविराडार्षभ।[4] इन छन्दों का प्रचार और प्रसार हिन्दी में नहीं है, अतः इनका विवेचन अनपेक्षित है।

---

१. वृत्तरत्नाकर, ४।२
२ काव्य-प्रदीप, पृ० ३७५
३. छन्द प्रभाकर (हिन्दी-छन्द-रचना, पृ० ८७)
४. वृत्तरत्नाकर, पञ्चम अध्याय

८ काव्य-दोष

काव्यशास्त्रीय ग्रंथों मे जहाँ काव्य के उत्कर्ष-विधायक तत्त्वो (गुण, अलंकार, रस आदि) का वर्णन किया गया है वही रसापकर्षक अथवा काव्यानन्द के विघातक तत्त्वो (काव्य-दोषो) का भी विवेचन प्रस्तुत किया गया है। भरत से लेकर पंडितराज जगन्नाथ तक लगभग सभी आचार्यों ने दोषो का किसी-न-किसी रूप मे निरूपण किया है। इनमे भी आचार्य मम्मट[1] और विश्वनाथ[2] ने सर्वाधिक विस्तृत विवेचन किया है।

भरत ने गुणो को दोषो का विपर्यय-रूप माना था

गुणा विपर्ययादेषाम् ।[3]

भामह[4] और दण्डी[5] ने दोषो की निन्दा करते हुए कहा कि सत्कवियो को काव्य-दोषो से बचना चाहिए। आनन्दवर्धन ने रस के विरोधी अथवा अपकर्षक तत्त्व को दोष माना[6] तथा अग्निपुराणकार ने दोष को उद्वेगजनक कहा :

उद्वेगजनको दोषः ।[7]

वामन ने काव्य-सौन्दर्य की हानि करने वाले गुण-विरोधी तत्त्वो को दोष कहा .

गुणविपर्ययात्मानो दोषा ।[8]

---

१. काव्यप्रकाश, सप्तम उल्लास
२. साहित्यदर्पण, सप्तम परिच्छेद
३. नाट्यशास्त्र, १७।९४
४. काव्यालंकार, १।११
५. काव्यादर्श, १।६, ७, ३।१२६
६. ध्वन्यालोक, ३।७४-७५
७. अग्निपुराण, ३४७।१
८. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, २।१।१

आचार्य मम्मट ने दोष का लक्षण देते हुए लिखा :

मुख्यार्थहतिर्दोषः[1]

अर्थात् मुख्यार्थ का अपकर्ष करने वाले तत्त्व दोष हैं। यहाँ 'मुख्यार्थ' से मम्मट का तात्पर्य मुख्य रूप से रस तथा गौण रूप में शब्द और अर्थ है।

आचार्य विश्वनाथ की दोष-विषयक परिभाषा है :

रसापकर्षका दोषाः ॥[2]

अर्थात् रस के अपकर्षक अथवा विघातक तत्त्व दोष कहलाते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम संक्षिप्त रूप में कह सकते हैं कि 'काव्य के रस अथवा आनन्द के अपकर्षक अथवा विघातक तत्त्व दोष हैं।'

भरत ने दोषों की संख्या दस मानी है। उनके द्वारा गिनाये गये दोष हैं : १. गूढार्थ, २ अर्थान्तर, ३ अर्थहीन, ४ भिन्नार्थ, ५. एकार्थ, ६ अभिप्लुतार्थ, ७ न्यायादपेत, ८ विषम, ९ विसन्धि और १० शब्दच्युत।[3]

भामह ने अपने ग्रंथ 'काव्यालंकार' के चतुर्थ एवं पंचम परिच्छेद में १८ प्रकार के दोषों का विवेचन प्रस्तुत किया है। उनके द्वारा गिनाये गये दोष हैं १ अपार्थ, २ व्यर्थ, ३ एकार्थ, ४ ससंशय, ५ अपक्रम, ६ शब्दहीन, ७ यतिभ्रष्ट, ८ भिन्नवृत्त, ९ विसन्धि, १० देशविरोधी, ११ कालविरोधी, १२ कलाविरोधी, १३ लोकविरोधी, १४ न्यायविरोधी, १५ आगमविरोधी, १६ प्रतिज्ञाहीन, १७ हेतुहीन और १८ दृष्टान्तहीन।[4]

दण्डी ने इन ११ दोषों का उल्लेख किया है १ अपार्थ, २. व्यर्थ, ३ एकार्थ, ४ ससंशय, ५ अपक्रम, ६ शब्दहीन, ७. यतिभ्रष्ट, ८. भिन्नवृत्त, ९ विसन्धि और १० देशकालकलालोकन्यायागमविरोधी।[5] दण्डी द्वारा

---

१ काव्यप्रकाश, ७।४९ (सू० ७१)

२ साहित्यदर्पण, ७।१

३ गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेकार्थमभिप्लुतार्थम्।
न्यायादपेतं विषमं विसन्धि शब्दच्युतं वै दश काव्यदोषाः ॥
—नाट्यशास्त्र, १७।८७

४. अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम्।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसन्धि च ॥
देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च।
प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीनं दुष्टं च नेष्यते ॥
—काव्यालंकार, ४।१-२

५. अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम्।
शब्दहीनं यतिभ्रष्टं भिन्नवृत्तं विसन्धिकम् ॥
देशकालकलालोकन्यायागमविरोधि च।
इति दोषा दशैवैते वर्ज्याः काव्येषु सूरिभिः ॥ —काव्यादर्श, ३।१२५-२६

उल्लिखित ये दोष भामह द्वारा विवेचित प्रथम १५ दोष ही हैं। भामह द्वारा गिनाये गये अन्तिम तीन दोष (१ प्रतिज्ञाहीन, २ हेतुहीन और ३ दृष्टान्त-हीन) दण्डी को मान्य नहीं।

वामन ने शब्दगत और अर्थगत भेद मानकर शब्दगत दोषों के अन्तर्गत १. पदगत, २. पदार्थगत और ३. वाक्यगत तथा अर्थगत दोषों के अन्तर्गत १. पदार्थगत और २ वाक्यार्थगत दोष माने।[1] अग्निपुराण मे वक्ता, वाचक और वाच्य के भेद से सात प्रकार के दोष माने गये हैं।[2]

मम्मट ने तीन प्रकार के दोष माने हैं १. शब्ददोष, २ अर्थदोष और रसदोष। इनमें से शब्द-दोष ३७, अर्थ-दोष २३ और रस-दोष १३ माने गये हैं।[3]

आचार्य विश्वनाथ ने १६ पददोष[4], ५ पदांशगत दोष[5], २८ वाक्यदोष[6], २३ अर्थदोष[7] और १४ रसदोष[8] माने हैं।

दोषों के उपर्युक्त वर्गीकरण के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि दोष मुख्यत तीन प्रकार के होते हैं १ शब्दगत दोष, २ अर्थगत दोष और ३ रसगत दोष। इन्हीं को हम संक्षेप में शब्ददोष, अर्थदोष और रसदोष कह सकते हैं। शब्ददोष के अन्तर्गत पदगत दोष, पदांशगत दोष और वाक्यगत दोष आते हैं। इस प्रकार दोषों के निम्नांकित मुख्य प्रकार हुए १ पदगत दोष, २. पदांशगत दोष, ३. वाक्यगत दोष, ४ अर्थगत दोष और ५ रसगत दोष।[9] इसी क्रम से इनका विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

शब्द-दोष

शब्दार्थ की प्रतीति के पहले जो दोष जान पड़ते हैं वे शब्द-दोष कहलाते हैं। ये १६ प्रकार के होते हैं: १. श्रुतिकटु, २ च्युतसंस्कृति, ३ अप्रयुक्त,

१. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति, २।१-२
२. उद्वेगजनको दोषः सभ्यानां स च सप्तधा।
   वक्तृवाचकवाच्यानामेकद्वित्रिनियोगतः ॥ —अग्निपुराण, ३४७।१
३. काव्यप्रकाश, ७।५०-६२ (सू० ७२-८२)
४. साहित्यदर्पण, ७।२-४
५ साहित्यदर्पण, ७।२-४
६. साहित्यदर्पण, ७।५-८
७. साहित्यदर्पण, ७।९-१२
८. साहित्यदर्पण, ७।१२-१५
९. पदे तदंशे वाक्येऽर्थे संभवन्ति रसेऽपि यत्। —साहित्यदर्पण, ७।१

४. असमर्थ, ५. निहतार्थ, ६. अनुचितार्थ, ७. निरर्थक, ८. अवाचक, ९. अश्लील, १०. सदिग्ध, ११ अप्रतीत, १२. ग्राम्य, १३. नेयार्थ, १४. क्लिष्ट, १५ अविमृष्टविधेयाश और १६ विरुद्धमतिकृत।[१] इनमे से जो दोष प्राय काव्य मे दृष्टिगत होते हैं उनका विवेचन नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है।

१ श्रुतिकटुत्व : 'श्रुतिकटु' का शाब्दिक अर्थ है जो कानो को कड़ुआ (बुरा) लगे। जब किसी कोमल रचना मे कठोर वर्णों का प्रयोग होता है तब उसे 'श्रुतिकटुत्व' या 'दु श्रवत्व' दोष कहते हैं।[२] वीर, रौद्र आदि रसो मे जहाँ कठोर वर्ण ही प्रयुक्त होने चाहिए, कठोर वर्णों का प्रयोग दोष न होगा।

उदाहरण :

न था यह मेरा अपना कृत्य,
भर्तृ हैं भर्तृ, भृत्य हैं भृत्य।[३]

'साकेत' के कैकेयी-मथरा-सवाद की इन पक्तियो मे मथरा के मुख से 'भर्तृ' और 'भृत्य' शब्दो का प्रयोग करवाया गया है। ये दोनो शब्द दो-दो बार प्रयुक्त हुए हैं। इनके उच्चारण मे जिह्वा को एक विशेष प्रकार का व्यायाम करना पडता है। इन्हें हम 'श्रुतिकटुत्व' या 'दु श्रवत्व' दोष का उदाहरण मान सकते हैं। इसी प्रकार निम्नाकित उदाहरणो मे 'श्रुतिकटुत्व' नामक काव्य दोष है

(१) प्रिया अलक चक्षुश्रवा, डसं परतहीं दृष्टि।[४]
(२) कार्तार्थी तब होंहुगी मिलिहैं जब प्रिय आय।[५]
(३) कवि के कठिनतर कर्म की करते नहीं हम धृष्टता।
पर क्या न विषयोत्कृष्टता करती विचारोत्कृष्टता?[६]
(४) देख भाव-प्रवणता, वर-वर्णता,
वाक्य सुनने की हुई उत्कर्णता।[७]

---

१ काव्यप्रकाश, ७।५०-५१ (सू० ७२)
२. (क) श्रुतिकटु परुषवर्णरूप दुष्ट। —काव्यप्रकाश, ७।५० (सू० ७२) पर वृत्ति।
(ख) परुषवर्णतया श्रुतिदु खावहत्व दु श्रवत्वम्। —साहित्यदर्पण, ७।२ पर वृत्ति
३. साकेत (द्वितीय सर्ग), पृ० ४८
४. काव्यनिर्णय, २३।३ (भिखारीदास-ग्रथावली, द्वितीय खड, पृ० २१८)
५ काव्यकल्पद्रुम (प्रथम भाग—रसमंजरी), पृ० ३४६
६ भारतभारती (मैथिलीशरण गुप्त), १३
७. साकेत (प्रथम सर्ग), पृ० ३५

२. च्युतसंस्कृति : 'च्युत' शब्द का अर्थ है गिरा हुआ, हीन या भ्रष्ट। जब किसी रचना मे व्याकरण के नियमो के विरुद्ध शब्दो का प्रयोग होता है तब उसे 'च्युतसंस्कृति' दोष कहते हैं।[1]

उदाहरण :

फूलों की लावण्यता देती है आनन्द।
मधुप मस्त हो कुंज में गाते छवि के छन्द॥[2]

यहाँ 'लावण्यता' शब्द व्याकरण से अशुद्ध है। 'लावण्य' शब्द ही भाववाचक संज्ञा है, उसमे एक और प्रत्यय (तल्) लगाकर भाववाचक संज्ञा बनाना निरर्थक एवम् अनावश्यक है, अतः अशुद्ध है।

'च्युतसंस्कृतित्व' के अन्य उदाहरण :

(१) यह निमन्त्रण लेकर आज हो।
सुत-स्वफल्क समागत हैं हुए।[3]

(२) गत जब रजनी हो पूर्व-संध्या बनी हो।
उडुगण क्षय भी हो दीखते भी कहीं हों।
मृदुल मधुर निद्रा चाहता चित्त मेरा
तब पिक करती तू शब्द प्रारम्भ तेरा॥[4]

(३) हैं पुण्य पर्व करताभिषेक।[5]

(४) छिपी स्तर में एक पावक रवत कणकण चूम।[6]

३. अप्रयुक्तत्व : 'अप्रयुक्तत्व' नामक दोष वहाँ होता है जहाँ ऐसे शब्दो का प्रयोग हो जो व्याकरण, कोश आदि से तो ठीक हो, किन्तु भाषा और साहित्य में प्रयुक्त न होते हो।[7]

---

१. च्युतसंस्कृति व्याकरणलक्षणहीनम्।
—काव्यप्रकाश, ७।५० (सू० ७२) पर वृत्ति

२. काव्यप्रदीप, पृ० ३७८

३. प्रियप्रवास, २।१४

४. काव्याग-कौमुदी (तृतीय कला), पृ० १८८

५. काव्यदर्पण, पृ० ३०३

६. काव्यदर्पण, पृ० ३०३

७. (क) अप्रयुक्तं तथा आम्नातमपि कविभिर्नादृतम्।
—काव्यप्रकाश, ७।५० (सू० ७२) पर वृत्ति

(ख) अप्रयुक्तत्वं तथा प्रसिद्धावपि कविभिरनादृतत्वम्।
—साहित्यदर्पण, ७।२ पर वृत्ति

उदाहरण :

पुत्र जन्म-उत्सव समय, स्पर्श कीन्ह बहु गाय ।[1]

यहाँ 'स्पर्श' शब्द 'दान' के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है । 'अमरकोश' के अनुसार 'स्पर्शन' का अर्थ दान है,[2] किन्तु सामान्यतया इस शब्द का प्रयोग दान के अर्थ में नहीं होता, इसीलिए यहाँ 'अप्रयुक्तत्व' नामक दोष माना जायगा ।

'अप्रयुक्तत्व' के अन्य उदाहरण :

(१) नरत अँधेरी में जु कहुँ बिहँसति मम माँ लाल ।
दूतन मुकता हेतु चलि, करटा कर दस बाल ।।[3]

(२) राजकुल भिक्षाचरण ने लगा करने देह ।[4]

(३) पापी को मिलता सदा ही श्वभ्र है ।[5]

४. असमर्थता जिस अर्थ का बोध कराने के लिए कोई शब्द रखा जाय, जब उस अभीष्ट अर्थ की प्रतीति न हो तो वहाँ 'असमर्थता' नामक दोष होता है ।[6]

उदाहरण

सीय-स्वयंवर में जुरे, नरपति सुभग विसाल ।
धनु न टर्‌यो, कोन्यो निरखि, तब अनंग महिपाल ।।[7]

यहाँ 'अनंग' शब्द का प्रयोग राजा जनक के लिए 'विदेह' अर्थ का द्योतन करने के लिए हुआ है । 'अनंग' शब्द साहित्य में 'कामदेव' के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है, अतः यहाँ 'असमर्थता' नामक दोष हुआ क्योंकि 'अनंग' शब्द में 'विदेहत्व' का अर्थ देने की सामर्थ्य नहीं है ।

इस दोष के अन्य उदाहरण :

(१) कुंजहनन (कुंजगमन) कामिनि करत ।[8]

---

१. काव्यप्रदीप, पृ० २७६
२. विश्राणनं वितरणं स्पर्शनं प्रतिपादनम् । —अमरकोश २।७।२९
३. काव्यांग-कौमुदी (तृतीय कला), पृ० १८८
४. काव्यदर्पण, पृ० ३०४
५. काव्यालोचन, पृ० ७७६
६. असमर्थं यत्तदर्थं पठ्यते न च तत्रास्य शक्तिः ।
—काव्यप्रकाश, ७।५० (पृ० ७२) पर वृत्ति
७. काव्यांग-कौमुदी (तृतीय कला), पृ० १८६
८. काव्यकल्पद्रुम (प्रथम भाग—रसमञ्जरी, पृ० ३४७)

(२) मणि कंकण भूषण अलंकार, उत्सर्ग कर दिये क्यों अपार ?[१]

(३) भारत के नभ का प्रभापूर्य
शीतलच्छाय सांस्कृतिक सूर्य
अस्तमित आज रे—तमस्तूर्य दिङ्‌मंडल,[२]

५. निहतार्थ : जब किसी दो अर्थ वाले शब्द का अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग किया जाय, तब 'निहतार्थ' नामक दोष होता है।[3]

उदाहरण :

चपला यह रहिहैं नहीं, देखु हरिहिं चित लाय।
यहि मकरध्वज तरन कों, नाहिन और उपाय॥[४]

यहाँ 'चपला' और 'मकरध्वज' शब्द क्रमशः 'लक्ष्मी' और 'समुद्र' अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं, जो अप्रसिद्ध अर्थ हैं। इनके प्रसिद्ध अर्थ हैं 'बिजली' और 'कामदेव'।

'निहतार्थत्व' के अन्य उदाहरण

१) रे रे सठ नीरद भयो, चपला बिधु चित लाइ।
भव-मकरध्वज तरन कौं, नाहिंन और उपाइ॥[५]

(२) यमुना-संबर बिमल सों, छूटत कलिमल कोम।[६]

(३) अथवा प्रथम ऋतुकाल का प्रदोष आज
कानन कुमारियाँ चलीं द्रुत बहलाने को।
खोलती पटल प्रतिपटल अधीरता से
अटल उरोज अनुराग दिखलाने को॥[७]

६. अनुचितार्थता : अभीष्ट अर्थ का तिरस्कार करने में 'अनुचितार्थत्व' दोष होता है।

---

१. काव्यदर्पण, पृ० ३०४

२ तुलसीदास (श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'), १ —काव्यदर्पण, पृ० ३०४

३. (क) निहतार्थं यदुभयार्थमप्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्तं।
—काव्यप्रकाश, ७।५० (सू० ७२) पर वृत्ति

(ख) निहतार्थत्वमुभयार्थस्य शब्दस्याप्रसिद्धेऽर्थे प्रयोगः।
—साहित्यदर्पण, ७।२ पर वृत्ति

४. काव्याग-कौमुदी (तृतीय कला), पृ० १८६

५. काव्यनिर्णय, २३।१० (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० २२०)

६. काव्यकल्पद्रुम (प्रथम भाग—रसमंजरी), पृ० ३४८

७. काव्यदर्पण, पृ० ३०५

उदाहरण :

> भारत के नवयुवकगण रख उद्देश्य महान।
> होते हैं जन-युद्ध में बलि पशु से बलिदान ॥[1]

यहाँ भारत के उत्साही नवयुवकों को बलि-पशु कहा गया है, जो अनुचित है क्योंकि बलि-पशु में कातरता और परवशता का भाव है, जबकि नवयुवकों में स्वेच्छापूर्वक स्वातन्त्र्य-युद्ध में भाग लेने का भाव निहित है।

'अनुचितार्थत्व' के अन्य उदाहरण -

(१) नांगो ह्वै दह कूदिकै, गहि ल्यायो हरि ब्याल ॥[2]

(२) कदम-डार बिहरत बिहँसि, बाल निरखि नँदलाल।
उझकि आज इत-उत झकत, बानर-सम ततकाल ॥[3]

(३) ह्वै के पसु रन-यज्ञ में, अमर होहि जग सूर।[4]

७ निरर्थक : पाद-पूर्ति के लिए अनावश्यक शब्दों के प्रयोग में यह दोष होता है।[5]

उदाहरण .

> अरी हनन दृग-तीर सों, तो हिय ईर न पीर ॥[6]

यहाँ 'ईर' शब्द निरर्थक है।

इस दोष के अन्य उदाहरण :

(१) आम्र-प्रवाल सिखि-पिच्छ प्रसून-गुच्छ,
धारें गरें कमल उत्पल-माल स्वच्छ।
सोहैं विचित्र छवि गोप-समाज माँही,
गावैं प्रवीन-नट रंग-थली यथाही ॥[7]
(अंतिम 'ही' निरर्थक है)

(२) दास बनने का बहाना किसलिये ?
क्या मुझे दासी कहाना, इसलिये ?

---

१. काव्यदर्पण, पृ ३०५
२. काव्यनिर्णय, २३।११ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० २२०)
३. काव्याग-कौमुदी (तृतीय कला), पृ० १६०
४. काव्यकल्पद्रुम (प्रथम भाग—रसमंजरी), पृ० २४८
५. निरर्थकं पादपूरणमात्रप्रयोजनं चादिपदम्।
—काव्यप्रकाश, ७।५० (सू० ७२) पर वृत्ति
६. काव्यनिर्णय, २३।१३ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० २२१)
७. काव्यकल्पद्रुम (प्रथम भाग—रसमंजरी), पृ० २४६

देव होकर तुम सदा मेरे रहो,
और देवी ही मुझे रक्खो, अहो![1]
(अंतिम शब्द 'अहो' निरर्थक है)

८. अवाचकत्व - जिस शब्द का प्रयोग जिस अर्थ के लिए किया जाय उस शब्द से अभीष्ट अर्थ न निकले, तब यह दोष होता है।

उदाहरण :

अधिक अँधेरी रात हू तुव दरसन दिन होय।[2]

आपके दर्शनों से अँधेरी रात भी मेरे लिए प्रकाशमय हो जाती है। यहाँ 'दिन' शब्द का अर्थ 'प्रकाश' के अर्थ में हुआ है। सूर्य के प्रकाश में ही दिन होता है, अन्यथा नहीं। अतः यहाँ 'अवाचकत्व' नामक दोष है।

'अवाचकत्व' के अन्य उदाहरण :

(१) प्रगट भयो सखि विषमहृय, विष्नुयाम सानंदि।
सहसपान निद्रा तज्यो, खुलो पीतमुख बदि॥[3]

(२) कनक से दिन मोती सी रात सुनहली साँझ गुलाबी प्रात।
मिटाता रँगता बारबार कौन जग का यह चित्राधार॥[4]
('चित्राधार' में 'अवाचकत्व' दोष)

९. अश्लीलत्व : जिस शब्द के प्रयोग से भद्दापन प्रकट हो, उसे 'अश्लीलत्व' दोष का उदाहरण कहते हैं। यह 'अश्लीलत्व' दोष तीन प्रकार का होता है। १. व्रीडाव्यंजक, २. जुगुप्साव्यंजक और ३. अमंगलव्यंजक।[5]

उदाहरण :

बौरे चूतन रंग मं, हलि-हलि अलि झगरैल।
अंतक-दिन वर विहरिहौ, लखि न मोर यह सैल॥[6]

यहाँ 'चूत' शब्द लज्जाजनक, 'हलि-हलि' घृणोत्पादक और 'अंतक' (यम) अमंगलवाची है।

---

१. साकेत (प्रथम सर्ग), पृ० ३०
२. काव्यकल्पद्रुम (प्रथम भाग—रसमंजरी), पृ० ३४९
३. काव्यनिर्णय, २३।१५ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० २२१)
४. काव्यदर्पण, पृ० ३०६
५. (क) त्रिधेति व्रीडाजुगुप्साऽमंगलव्यंजकत्वात्।
—काव्यप्रकाश, ७।५० (सू० ७२) पर वृत्ति
(ख) अश्लीलत्वं व्रीडाजुगुप्साऽमंगलव्यंजकत्वात् त्रिविधम्।
—साहित्यदर्पण, ७।२ पर वृत्ति
६. काव्यांग-कौमुदी (तृतीय कला), पृ० १६१

'अश्लीलत्व' के अन्य उदाहरण

(१) जीमूतनि दिन पितृगृह, तिय पग यह गुदरान ॥[1]

(२) चोरत हैं पर उचित कों जे कवि ह्वै स्वच्छन्द;
वे उत्सर्ग रु वमन को उपभोगत मतिमन्द ।[2]

(३) धिक् मैथुन-आहार यन्त्र ।
रहते चूते मे मजदूर ।[3]

१०. जहाँ ऐसे शब्द का प्रयोग किया जाय जिससे वाञ्छित और अवाञ्छित [दो] प्रकार के अर्थों का बोध हो, वहाँ [']संदिग्धत्व' नामक दोष होता है।

उदाहरण

एक मधुर वर्षा मधु गति से बरस गयी मेरे अम्बर में ।[4]

यहाँ 'अम्बर' शब्द से आकाश का अर्थ लिया जाय या वस्त्र का ?

११ अप्रतीतत्व . जब किसी सामान्य रचना में ऐसे शब्द का प्रयोग [किय]ा जाय जो किसी शास्त्र विशेष में पारिभाषिक हो गया हो, तब वहाँ ['अप्रत]ीतत्व' नामक दोष होता है ।[5]

उदाहरण

तत्त्वज्ञान की ज्योति सों, भो आसय को नास ।
करम किएहूँ पर नहिं, ताके कबहूँ फांस ॥[6]

यहाँ 'आशय' शब्द का अर्थ है 'शुभ-अशुभ कर्मों से उत्पन्न वासना का [संस्का]र', किन्तु इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग केवल योगशास्त्र में ही होता [है।] इस प्रकार यहाँ 'अप्रतीतत्व' नामक दोष है ।

'अप्रतीतत्व' के अन्य उदाहरण

(१) कैसे ऐसे जीव ग्रहण या जानहिं करिहैं।
अष्टमार्ग द्वादस निदान कैसे चित धरिहैं ।[7]

---

[1] काव्यनिर्णय, २३।१६ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० २२२)
[2] काव्यकल्पद्रुम (प्रथम भाग—रसमंजरी), पृ० ३५०
[3] काव्य-प्रदीप, पृ० २८०
[4] काव्यदर्पण, पृ० ३०७
[5] (क) अप्रतीत यत्केवले शास्त्रे प्रसिद्धम् ।
—काव्यप्रकाश, ७।५१ (पृ० ७२) पर वृत्ति
(ख) अप्रतीतत्वमेकदेशमात्रप्रसिद्धत्वम् । —साहित्यदर्पण, ७।२ पर वृत्ति
[6] काव्यकल्प-कौमुदी (तृतीय कला), पृ० १६१
[7] काव्यदर्पण, पृ० ३०७

(२) जिसका आशय दलित होगया तत्त्व ज्ञान के पाने से,
लाभ उसे क्या विधि-निषेध-युत कर्मों में फंस जाने से ?[1]

१२ ग्राम्यत्व : जब गँवारू बोलचाल में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का प्रयोग साहित्यिक भाषा में किया जाता है, तब उसे 'ग्राम्यत्व' दोष की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।[2]

उदाहरण :

कैसे कहते हो इस दुआर पर अब से कभी न आऊँ।[3]

यहाँ 'दुआर' शब्द के प्रयोग में 'ग्राम्यत्व' दोष है। इसी प्रकार निम्नांकित उदाहरणों में भी 'ग्राम्यत्व' दोष है -

(१) भोजन बनावे निको न लागे।
पाव भर दाल में सवा पाव मुनवाँ।[4]

(२) रोक न पाया कोई जिसको पोखर, नद्दी नाला था,
आओ उसको याद करें हम, जिसका नाम निराला था।[5]

१३. नेयार्थ : लक्षणा वृत्ति का असंगत होना 'नेयार्थ' नामक दोष कहलाता है।[6]

उदाहरण :

बड़े मधुर हैं प्रेम-सद्म से निकले वाक्य तुम्हारे।[7]

यहाँ 'प्रेम-सद्म' का अर्थ-बाध है, लक्षणा द्वारा इसका अर्थ है 'मुख'। किन्तु लक्षणा वृत्ति या तो रूढ़िगत होती है या प्रयोजनगत, यहाँ न रूढ़ि ही है और न प्रयोजन ही। इस प्रकार यहाँ लक्षणा वृत्ति की असंगति के कारण 'नेयार्थ' नामक दोष है।

१४. क्लिष्टार्थ : जहाँ किसी शब्द का अर्थ ज्ञान कठिनता से हो, वहाँ

---

१. काव्य-प्रदीप, पृ० ३८१
२. ग्राम्यं यत्केवले लोके स्थितम्।
—काव्यप्रकाश, ७।५१ (सू० ७२) पर वृत्ति
३. काव्यदर्पण, पृ० ३०६
४. कबीर (काव्यदर्पण, पृ० ३०६ पर उद्धृत)
५. ओंकारनाथ श्रीवास्तव (काव्यालोचन, पृ० २८० पर उद्धृत)
६. नेयार्थत्व रूढ़िप्रयोजनाभावादशक्तिकृत लक्ष्यार्थप्रकाशनम्।
—साहित्यदर्पण, ७।२ पर वृत्ति
७. काव्यदर्पण, पृ० ३०७

'क्लिष्टार्थ' या 'क्लिष्टत्व' नामक दोष होता है।[1]

उदाहरण .

खगपतिपतितियपितुवधू-जल समान तुव बैन।[2]

खगपति—गरुड, उसके पति (स्वामी) विष्णु, उनकी तिय (पत्नी) लक्ष्मी, उनके पिता समुद्र और समुद्र की वधू गंगा के जल के समान तुम्हारे वचन हैं। यहाँ 'गंगाजल' अर्थ बडी कठिनता से उपलब्ध होता है, अत यहाँ 'क्लिष्टत्व' दोष है। सूरदास के 'दृष्टिकूट' पदो मे यह दोष अधिकाशत. पाया जाता है।

'क्लिष्टत्व' के अन्य उदाहरण

(१) कहत कत परदेसी की बात।
मंदिर अरध अवधि बदि हमसौं, हरि अहार चलि जात॥
ससि रिपु बरष, सूर रिपु जुग बर, हर रिपु कीन्हौ घात।
मघ पचक लै गयो सांवरो, तातें अति अकुलात॥
नखत, वेद, ग्रह, जोरि अर्ध करि, सोइ बनत अब खात।
सूरदास बस भईं बिरह के कर मींजैं पछितात॥[3]

(२) तरु-रिपु-रिपु-धर देख के विरहिन तिय अकुलात।[4]
(तरु-रिपु—अग्नि, अग्नि-रिपु—जल, जलधर—बादल)

(३) हस-वाहिनी-पति-पिता-दल-समान हैं नैन।[5]
[हस-वाहिनी—सरस्वती, सरस्वती-पति—ब्रह्मा, ब्रह्मा-पिता=कमल के दल (पत्र) के समान नेत्र]

१५ अविमृष्टविधेयाश यह दोष वहाँ होता है जहाँ प्रधानतया वर्णन किये जाने वाले पदार्थ को समास से या अन्य किसी प्रकार से अप्रधान या गौण बना दिया जाता है।[6]

---

१. (क) क्लिष्ट यतोऽर्थप्रतिपत्तिर्व्यवहिता।
—काव्यप्रकाश, ७।५१ (सू० ७२) पर वृत्ति
(ख) क्लिष्टत्वमर्थप्रतीतेर्व्यवहितम्।—साहित्यदर्पण, ७।३ पर वृत्ति

२. काव्यनिर्णय, २३।२३ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० २२४)

३. सूरसागर, १०।३६५७ (सूरसागर, दूसरा खंड, पृ० १४४४)

४ काव्यदर्पण, पृ० ३०७

५ काव्याग-कौमुदी (तृतीय कला), पृ० १६२

६ (क) अविमृष्ट. प्राधान्येनानिर्दिष्टो विधेयांशो यत्र तत्।
—काव्यप्रकाश, ७।५१ (सू० ७२) पर वृत्ति
(ख) विधेयस्य विमर्शाभावेन गुणीभूतत्वम् अविमृष्टविधेयांशत्वम्।
—साहित्यदर्पण, ७।३ पर वृत्ति

उदाहरण :

> आज मेरे हाथों अन्त आया जान अपना
> देश से ही आज रामानुज मैं यहाँ
> करता प्रचारित हूँ युद्ध हेतु तुमको।[1]

१६. विरुद्धमतिकृतत्व जहाँ ऐसे शब्दों का प्रयोग हो जिनसे प्रकृत अर्थ के प्रतिकूल अर्थ की प्रतीति हो, वहाँ 'विरुद्धमतिकृतत्व' नामक दोष होता है।

उदाहरण :

> कटि के नीचे चिकुर-जाल में उलझ रहा था बायाँ हाथ।[2]

यहाँ 'कटि के नीचे चिकुर-जाल' से 'गुह्यांग का केश-समूह' अर्थ लिया जा सकता है जो प्रकृत वर्णनीय के विरुद्ध मति वाला है। अतः यहाँ 'विरुद्ध-मतिकृतत्व' नामक दोष हुआ।

ऊपर गिनाये गये १६ शब्द-दोष पदगत भी होते हैं और वाक्यगत भी। इनमें से पदांश-दोष केवल ७ ही होते हैं : १ श्रुतिकटु, २ निहतार्थ, ३. निरर्थक, ४. अवाचक, ५. अश्लीलत्व, ६. संदिग्ध और ७. नेयार्थ।

वाक्य-दोष

वाक्यार्थ की प्रतीति के पहले जान पड़ने वाले दोष वाक्य-दोष कहलाते हैं। यहाँ हम केवल उन मुख्य-मुख्य वाक्य-दोषों का विवेचन प्रस्तुत करेंगे जो केवल वाक्यगत होते हैं। केवल वाक्यगत दोष हैं : १. प्रतिकूलवर्णत्व, २. लुप्तविसर्गत्व, ३ आहतविसर्गत्व, ४. अधिकपदत्व, ५. न्यूनपदत्व, ६. कथितपदत्व, ७ हतवृत्तत्व, ८. पतत्प्रकर्षत्व, ९. सन्धिविश्लेष, १०. संध्य-श्लीलत्व, ११. सन्धिकष्टत्व, १२ अर्धान्तरैकपदत्व, १३ समाप्तपुनरात्तत्व, १४ अभवन्मतसम्बन्धत्व, १५ अक्रमत्व, १६. अमतपरार्थत्व, १७. वाच्यान-भिधान, १८ भग्नप्रक्रमत्व, १९. प्रसिद्धित्याग, २०. अस्थानस्थपदत्व, २१. अस्थानस्थसमासत्व, २२. संकीर्णत्व और २३. गर्भितत्व।[3]

इनमें से लुप्तविसर्गत्व, आहतविसर्गत्व आदि कुछ दोष ऐसे हैं जो हिन्दी

---

१. काव्यदर्पण, पृ० ३०८
२. पंचवटी (मैथिलीशरण गुप्त), ३३
३. साहित्यदर्पण, ७।५-८

मे नहीं होते। जो दोष हिन्दी-काव्यों मे प्राय देखे जाते हैं उन्ही का विवेचन यहाँ किया जा रहा है।

प्रतिकूलवर्णत्व जहाँ वर्णनीय रस के अनुकूल शब्द-योजना न होकर विपरीत वाक्य-रचना होती है, वहाँ 'प्रतिकूलवर्णत्व' नामक वाक्यदोष होता है।[1]

उदाहरण

> मुकुट की चटक लटक बिबि कुण्डल की
> भौंह की मटक नैकि आँखिन दिखाउ रे।[2]

यहाँ शृंगार रस का वर्णन है, किन्तु शब्दावली टवर्ग-प्रधान होने से रस-विरोधी है, अत यहाँ 'प्रतिकूलवर्णत्व' दोष है। यही शब्दावली यदि रौद्र, वीर आदि रसों मे प्रयुक्त होती तो वहाँ यह गुण होता, दोष नहीं।

अधिकपदत्व : जहाँ अनावश्यक पदों का प्रयोग हो, वहाँ यह दोष होता है।

उदाहरण

(१) पुष्प पराग से रँग कर भ्रमर गुंजारता है।[3]

(२) तुम निज स्वरूप मे चिर महान।[4]

यहाँ प्रथम पंक्ति मे 'पुष्प' और द्वितीय पंक्ति मे 'निज' शब्द अनावश्यक है, अत 'अधिकपदत्व' दोष है।

न्यूनपदत्व . जहाँ अभीष्ट अर्थ की पूर्ति के लिए किसी शब्द का अध्याहार करना पड़े वहाँ 'न्यूनपदत्व' दोष होता है।

उदाहरण

> उत्तम मध्यम नीच गति पाहन सिकता पानि।
> प्रीति परिच्छा तिहुन की बैर बितिक्रम जानि॥[5]

यहाँ प्रथम पंक्ति के अन्त मे 'रेखा' शब्द का अध्याहार किये बिना अर्थ स्पष्ट नहीं होता, अत यहाँ 'न्यूनपदत्व' दोष है।

---

१. वर्णाना रसानुगुण्यविपरीतत्व प्रतिकूलत्वम्।
—साहित्यदर्पण, ७।५ पर वृत्ति

२. काव्यदर्पण, पृ० ३०८

३. काव्यप्रदीप, पृ० ३८३

४ काव्यप्रदीप, पृ० ३८४

५. दोहावली (तुलसीदास), ३५२

हतवृत्तत्व : जब किसी रचना में छन्द शास्त्र के नियमों का उल्लंघन हो, तब वहाँ 'हतवृत्तत्व' नामक वाक्य-दोष होता है। इसे 'छन्दोभङ्ग' भी कहते हैं। यह यति-भंग, गति-भंग आदि अनेक रूपों में हो सकता है।

उदाहरण :

> **दोउ समाज निमिराजु रघुराजु नहाने प्रात।**
> **बैठे सब बट बिटप तर मन मलीन कृस गात ॥**[1]

इस दोहे के प्रथम दल में यति-भंग दोष है। 'रघुराज' एक पद है, उसके बीच में (रघु और राज के बीच में) यति पड़ती है, जो एक दोष है।

पतत्प्रकर्षत्व : जब किसी रचना की उत्कृष्टता का आद्योपान्त निर्वाह न हो सके, तब वहाँ 'पतत्प्रकर्षत्व' दोष होता है।

उदाहरण :

> शिव-सिर मालति-माल, भगीरथ नृपति-पुण्य फल।
> ऐरावत-गज गिरि-पति-हिम-नग-कण्ठहार कल ॥
> सगर-सुअन सठ सहस-परस जल मात्र उधारन।
> अगनित धारा रूप धारि सागर सचारन ॥[2]

यहाँ रचना (समास) का जो उत्कर्ष प्रथम तीन पंक्तियों में है वह चौथी पंक्ति में नहीं निभ सका, अतः यहाँ 'पतत्प्रकर्षत्व' दोष है।

समाप्तपुनरात्त। जहाँ वाक्य-समाप्ति के पश्चात् भी उससे सम्बद्ध पदों का प्रयोग हो, वहाँ यह दोष होता है।

उदाहरण :

> **छाम बचाए पग धरी, ओढ़ी पट अति छाम।**
> **निरहिं सिखावें बाम सब, बिरमहु मग के ग्राम ॥**[3]

यहाँ दोहे के तीसरे चरण की समाप्ति पर वाक्य की समाप्ति है। उसके पश्चात् (बिरमहु मग······) के पद भी इसी में सम्बद्ध हैं, अतः यहाँ 'समाप्त-पुनरात्त' दोष है।

अक्रमत्व : जिस शब्द के साथ जो शब्द आना चाहिए, उस शब्द का वहाँ प्रयोग न होकर अन्यत्र प्रयोग होना 'अक्रमत्व' दोष कहलाता है।

---

१. रामचरितमानस, २।२७६।९-१०
२. गंगावर्णन ('सत्यहरिश्चन्द्र' तृतीय अंक, पृ० २)
—भारतेन्दु-ग्रंथावली, पहला खंड, पृ० २८२
३. काव्याग-कौमुदी (तृतीय कला), पृ० १६८

उदाहरण :

बंसी सुन्दर बट जितैं, कान्ह चरावत धेनु।
लकुटी इक कर मैं लिए, मगन बजावत बेनु॥[1]

यहाँ प्रथम पंक्ति में 'सुन्दर बंसीवट' के स्थान में 'बंसी सुन्दर बट' का प्रयोग 'अक्रमत्व' नामक दोष का उदाहरण है।

भग्नप्रक्रमत्व : जहाँ वर्ण्य वस्तुओं का क्रम आरम्भ से अन्त तक निभाया न जा सके, वहाँ यह दोष होता है।

उदाहरण :

यह वसन्त न खरी अरी, गरम न सीतल बात।
कहि क्यों प्रगटे देखियत, पुलक पसीजे गात॥[2]

इस दोहे के पूर्वार्द्ध में क्रमशः गरम और सीतल बात का उल्लेख है, किन्तु उत्तरार्द्ध में पहले पुलक और फिर पसीजे का उल्लेख है जो क्रमभंगता का लक्षण है। गरम और सीतल के क्रम से पसीजे और पुलक होना चाहिए था।

प्रसिद्धि-त्याग जहाँ कवि-सम्प्रदाय में प्रसिद्ध परंपरा के विरुद्ध शब्दों का प्रयोग होता है, वहाँ यह दोष माना जाता है।

उदाहरण :

घंटों की अविरत गर्जन से किस वीणा की सुमधुर ध्वनि पर।[3]

घंटों का घोष कवि-परम्परा-सिद्ध है, गर्जन नहीं। इस प्रकार यह 'प्रसिद्धि-त्याग' नामक दोष का उदाहरण हुआ।

अस्थानस्थपदत्व : जब कोई पद अपने उचित स्थान में प्रयुक्त न होकर अनुचित स्थान में प्रयुक्त हो, तब वहाँ यह दोष होता है।

उदाहरण .

मेरे जीवन की एक प्यास, होकर सिकता में एक बूंद।[4]

यहाँ उत्तरार्द्ध में 'एक' पद का प्रयोग बूंद के पूर्व नहीं, सिकता के पूर्व होना चाहिए था; अतः यहाँ 'अस्थानस्थपदत्व' नामक दोष है।

सकीर्णत्व : जहाँ एक वाक्य का पद दूसरे वाक्य में चला जाय, वहाँ य ह

---

१. काव्यांग-कौमुदी (तृतीय कला), पृ० १६६
२ बिहारी-बोधिनी, ५६१
३. काव्यदर्पण, पृ० ३१२
४. काव्यदर्पण, पृ० ३११

दोष होता है।[1]

उदाहरण :

घरो प्रेम से राम को पूजो प्रतिदिन ध्यान।[2]

यहां 'घरो' एक वाक्य में और 'ध्यान' दूसरे वाक्य में होने के कारण 'संकीर्णत्व' दोष है।

गर्भितत्व : एक वाक्य का दूसरे वाक्य में प्रविष्ट हो जाना ही 'गर्भितत्व' नामक दोष होता है।[3]

उदाहरण :

काटूं कैसे अब दिवस ये 'हे प्रिये सोच तू' मैं
छायी सारी दिशि घनघटा देख वर्षा ऋतु में।[4]

यहां 'वर्षा ऋतु में······मैं कैसे दिन काटूं', इस वाक्य में 'हे प्रिये सोच तू' यह दूसरा वाक्य प्रविष्ट हो जाने से 'गर्भितत्व' नामक दोष है।

अर्थ-दोष

अर्थ-दोष निम्नांकित हैं :

(१) अपुष्टत्व, (२) दुष्क्रमत्व, (३) ग्राम्यत्व, (४) व्याहतत्व, (५) अश्लीलत्व, (६) कष्टत्व, (७) अनवीकृतत्व, (८) निर्हेतुत्व, (९) प्रकाशित-विरुद्धत्व, (१०) सन्दिग्धत्व, (११) पुनरुक्तत्व, (१२) ख्यातिविरुद्धत्व, (१३) विद्याविरुद्धत्व, (१४) साकांक्षत्व, (१५) सहचरभिन्नत्व, (१६) अस्थानयुक्तत्व, (१७) अविशेषपरिवृत्तत्व, (१८) अनियमपरिवृत्तत्व, (१९) विशेषपरिवृत्तत्व, (२०) नियमपरिवृत्तत्व, (२१) विध्ययुक्तत्व, (२२) अनुवादायुक्तत्व और (२३) निर्मुक्तपुनरुक्तत्व।[5]

---

१. वाक्यान्तरपदानां वाक्यान्तरेऽनुप्रवेशः संकीर्णत्वम्।
—साहित्यदर्पण, ७।८ पर वृत्ति

२. काव्यदर्पण, पृ० ३१२

३. (क) गर्भितं यत्र वाक्यस्य मध्ये वाक्यान्तरमनुप्रविशति।
—काव्यप्रकाश, ७।५४ (सू० ७५) पर वृत्ति

(ख) वाक्यान्तरे वाक्यान्तरानुप्रवेशो गर्भितता।
—साहित्यदर्पण, ७।८ पर वृत्ति

४. काव्यदर्पण, पृ० ३१२

५. साहित्यदर्पण, ७।९-१२

इनमें से काव्यों में अधिकतर दृष्टिगत होने वाले दोषों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है .

अपुष्टत्व . जहाँ ऐसे विशेषणों का प्रयोग हो जिनके न रहने से भी अर्थ को कोई क्षति न पहुँचती हो, वहाँ 'अपुष्टत्व' नामक अर्थ-दोष होता है।[1]

उदाहरण

उयो अति बडे गगन में, उज्जल चारु मयंक।[2]

यहाँ 'अति बडे' तथा 'उज्जल' शब्द व्यर्थ हैं, क्योंकि इनके बिना अर्थ में कोई कमी नहीं आती।

दुष्क्रमत्व : जहाँ लोक और शास्त्र-विहित क्रम का उल्लंघन हो, वहाँ 'दुष्क्रमत्व' नामक दोष होता है।

उदाहरण -

मुख-मयंक को देख कर विकसा मानस-कंज।[3]

चन्द्रमा कमल को नहीं प्रकाशित करता, यह साहित्यिक मान्यता है किन्तु यहाँ इसके विपरीत कहा गया है, अतः 'दुष्क्रमत्व' दोष है।

व्याहतत्व जिसका महत्त्व दिखाया जाय, बाद में उसी के निरस्कृत किये जाने पर अथवा निरस्कृत का महत्त्व प्रकट करने पर यह दोष माना जाता है।[4]

उदाहरण

दानी दुनियाँ में बडे देत न धन जन हेत।[5]

यहाँ दानियों का बडप्पन दिखलाकर फिर धन न देने की बात कहकर उनका तिरस्कार किया गया है, अतः 'व्याहतत्व' दोष है।

कष्टत्व : जहाँ अर्थ कठिनता से समझ में आये, वहाँ 'कष्टत्व' या 'कष्टार्थत्व' नामक दोष माना जाता है।

उदाहरण :

तो पर वारौं चारि मुग, चारि विहग फल चारि।[6]

---

१. अपुष्टत्वं मुख्यानुपकारित्वम्। —साहित्यदर्पण, ७।६ पर वृत्ति

२. काव्यनिर्णय, २३।५८ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० २३१)

३ काव्य प्रदीप, पृ० ३८६

४ कस्यचित्प्रागुत्कर्षमपकर्षं वाभिधाय पश्चात्तदन्यथाभिधानं व्याहतत्वम्।
—साहित्यदर्पण, ७।६ पर वृत्ति

५. काव्यदर्पण, पृ० ३१४

६ काव्यनिर्णय, २३।५६ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० २३२

यहाँ चार मृग का अर्थ है : आँखों के लिए हरिण, घूँघट के लिए घोड़ा, गति के लिए हाथी और कटि के लिए सिंह, चार विहग से अभिप्राय है : वाणी पर कोकिल, ग्रीवा पर कबूतर, केश पर मोर और नासिका पर तोता। चार फल का अर्थ है : दाँतों पर दाड़िम (अनार), कुचों पर श्रीफल (बेल या नारियल), अधरों पर बिम्बाफल और कपोलों पर मधूक (महुए का फल)। इस प्रकार अर्थ बड़ी कठिनता से निकलता है, अतः यहाँ 'कष्टत्व' दोष माना जायेगा। यह एक अर्थ-दोष है, अतः शब्द-परिवर्तन से भी दोष समाप्त नहीं होता जबकि 'क्लिष्टत्व' नामक शब्द-दोष शब्द परिवर्तन से समाप्त हो जाता है।

अनवीकृतत्व : अनेक अर्थों को एक ही प्रकार से कहने में 'अनवीकृतत्व' नामक अर्थ-दोष होता है।[1]

उदाहरण :

कौन अचंभो जो पावक जारै तौ कौन अचंभो गरू गिरि भाई।
कौन अचंभो खराई पयोधि की कौन अचंभो गयन्द-कराई।
कौन अचंभो सुधा-मधुराई औ' कौन अचंभो विषो करुआई।
कौन अचंभो बृथो बहै भार औ' कौन अचंभो भलेहि भलाई ॥[2]

यहाँ 'कौन अचंभो' का अनेकधा प्रयोग 'अनवीकृतत्व' नामक दोष का उदाहरण है।

निर्हेतुत्व : किसी बात के कारण को न प्रकट करना 'निर्हेतुत्व' दोष है।[3]

उदाहरण :

सुमन झर्‌यो मानो अली, मदन दियो सर डारि।[4]

यहाँ यह कारण नहीं प्रकट किया गया कि कामदेव ने क्यों बाण डाल दिया, इसलिए 'निर्हेतुत्व' नामक अर्थ-दोष है।

प्रकाशितविरुद्धत्व : जिस भाव को कवि प्रकाशित करना चाहे उसके विरुद्ध वर्णन में 'प्रकाशितविरुद्धत्व' नामक अर्थ-दोष होता है।

---

१. जो न नए अर्थहि धरै, अनवीकृत सु विसेषि। —काव्यनिर्णय, २३।६६ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० २३३)
२. काव्यनिर्णय, २३।६७ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० २३४)
३. बात कहै बिन हेत की, सो निरहेतु बिचारि। —काव्यनिर्णय, २३।६५ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० २३३)
४. काव्यनिर्णय, २३।६५ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खंड, पृ० २३३)

उदाहरण :

मनु निरखने लगे ज्यों-ज्यों यामिनी का रूप,
वह अनंत प्रगाड छाया फैलती अपरूप;[1]

यहाँ 'अपरूप' शब्द से कवि का अभिप्राय शोभन रूप से है जबकि सामान्यतया अपरूप का अर्थ विकृत रूप होता है। इस प्रकार यहाँ 'प्रकाशित-विरुद्धत्व' नामक अर्थ-दोष है।

सन्दिग्धत्व : जहाँ वाक्य में वक्ता के निश्चित भाव का पता न लग सके, वहाँ 'सन्दिग्धत्व' नामक अर्थ-दोष होता है।

उदाहरण :

गिरिजागृह में पूजन जाओ, बैठ वहाँ पर ध्यान लगाओ।[2]

यहाँ 'गिरिजागृह' से पार्वती-मन्दिर का अभिप्राय है या ईसाइयों के मन्दिर (चर्च) का, यह निश्चित रूप से नहीं जाना जाता, इसलिए इसे 'सन्दिग्धत्व' नामक अर्थ-दोष का उदाहरण माना जायेगा।

ख्यातिविरुद्धत्व : जिस वस्तु के विषय में जैसी प्रसिद्धि हो उससे विपरीत वर्णन करना 'प्रसिद्धिविरुद्धत्व' दोष कहलाता है।

उदाहरण .

हरि दौड़े रण में लिये कर में धन्वा बाण।[3]

हरि के हाथ में सुदर्शन चक्र का होना प्रसिद्ध है, धनुष बाण नहीं, इसीलिए यहाँ 'ख्यातिविरुद्धत्व' दोष है।

विद्याविरुद्धत्व : शास्त्र-विरुद्ध बातों के वर्णन में 'विद्याविरुद्धत्व' नामक दोष होता है।

उदाहरण :

वह एक अबोध अचेतन बेसुध चैतन्य हमारा।[4]

यहाँ चैतन्य को बोधहीन, चेतनरहित और बेसुध कहा गया है, जो वेदान्त के विरुद्ध है। यदि चैतन्य ब्रह्म है तो वह शुद्ध-बुद्ध और मुक्त है। इस प्रकार यहाँ वेदान्त की मान्यता के विरुद्ध वर्णन होने से 'विद्याविरुद्धत्व' नामक दोष है।

---

१. कामायनी (वासना सर्ग), पृ० ६१
२. काव्यदर्पण, पृ० ३१५
३. काव्यदर्पण, पृ० ३१५
४. काव्यदर्पण, पृ० ३१६

साकांक्षत्व अर्थ-सगति के लिए जहाँ आवश्यक शब्दो का अभाव हो, वहाँ 'साकाक्षत्व' नामक अर्थ-दोष होता है।

उदाहरण

इधर रह गधर्वों के देश,
पिता की हूँ प्यारी सतान।[1]

यहाँ प्रथम चरण के अन्त मे 'मे' और द्वितीय चरण के प्रारम्भ मे अपने' शब्द के प्रयोग की आवश्यकता प्रतीत होती है, अत यहाँ 'साकाक्षत्व नामक अर्थ-दोष है।

सहचरभिन्नत्व : उत्कृष्ट और निकृष्ट का साथ-साथ वर्णन 'सहचर-भिन्नत्व' नामक दोष कहलाता है।[2]

उदाहरण

निज पर पुत्रनि मानते, साधु काग बिधि एक।[3]

कौआ धोखे से कोयल के पुत्र का पालन करता है, इसकी उपमा साधु से देना 'सहचरभिन्नत्व' नामक दोष है।

अस्थानयुक्तत्व : जहाँ अनुचित पद के प्रयोग से किसी बात के मण्डन के बदले खण्डन हो जाय, वहाँ यह दोष होता है।

उदाहरण :

सद्वशज लंकाधिपति, शैव सुरजयी और।
पर रावण, रहते कहाँ सब गुण मिलि इक ठौर॥[4]

इस दोहे का प्रयोजन है रावण की क्रूरता का दिग्दर्शन कराना, किन्तु दोहे के उत्तरार्ध से उस दोष मे लघुता आ गयी है। इस प्रकार यहाँ 'अस्थान-युक्तत्व' नामक दोष है।

निर्मुक्तपुनरुक्तत्व : जहाँ किसी अर्थ का उपसहार करके उसका अर्थ पुन ग्रहण किया जाय, वहाँ यह दोष होता है :

मेरे ऊपर वह निर्भर हैं खाने-पीने सोने मे।
जीवन की प्रत्येक क्रिया मे हँसने मे ज्यो रोने मे।[5]

यहाँ तीसरे चरण मे अर्थ का उपसहार हो गया है, उसके पश्चात् हँसने रोने आदि का उल्लेख कर पुन उसी अर्थ का ग्रहण करना निर्मुक्तपुनरुक्तत्व' दोष है।

---

१. कामायनी (श्रद्धा सर्ग), पृ० ५१
२ सो है सहचरभिन्न जहँ, सग कहन न विवेक।—काव्यनिर्णय, २३।८५ (भिखारीदास-ग्रथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० २३८)
३ काव्यनिर्णय, २३।८५ (भिखारीदास-ग्रथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० २३८)
४. काव्यदर्पण, पृ० ३१६
५ काव्यदर्पण, पृ० ३१७

रस-दोष

मुख्यार्थ द्वारा रस की प्रतीति में साक्षात् बाधक तत्त्व रस-दोष कहे जाते हैं। ऊपर गिनाए गये दोष रस-प्रतीति में परोक्ष रूप से बाधक होते हैं, किन्तु रस-दोष साक्षात् रूप से रस का विरोध करते हैं।

रस-दोष ये हैं :

(१) स्वशब्दवाच्यत्व, (२) प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण, (३) विभावानुभाव की कष्ट कल्पना, (४) असमय में रस-विस्तार, (५) असमय में रसच्छेद, (६) पुनः पुनः रस-दीप्ति, (७) अंगी रस का अननुसंधान, (८) प्रकृत रस के अनुपकारक रस का अति विस्तृत वर्णन, (९) अप्रस्तुत रस भावादि का अति विस्तार, (१०) प्रकृति विपर्यय और (११) अर्थानौचित्य।[1]

इनमें से अन्तिम आठ रस-दोष तो प्रबन्धकाव्यगत होते हैं, प्रकीर्ण काव्य में इनकी सम्भावना अधिक नहीं है। अतः प्रथम तीन का ही विवेचन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

स्वशब्दवाच्यत्व : रस की अभिव्यक्ति व्यंजना से होनी चाहिए। यदि 'शृंगार' आदि नामों से उनकी अभिव्यक्ति की जाय, तो 'स्वशब्दवाच्यत्व' नामक दोष होता है। इसी प्रकार स्थायी भावों या व्यभिचारी भावों का नाम लेकर उनकी अभिव्यक्ति करना उचित नहीं। यदि ऐसा हो, तो वहाँ भी 'स्वशब्दवाच्यत्व' नामक दोष होगा।

उदाहरण :

परशुराम ने जब किया, श्री रघुनाथ विरोध।
तब लक्ष्मण को आ गया, तुरत बड़ा ही क्रोध॥[2]

यहाँ 'क्रोध' का नाम लेकर भाव की अभिव्यक्ति का प्रयास हुआ है, अतः 'स्वशब्दवाच्यत्व' नामक रस-दोष है। इसी प्रकार किसी रस या किसी व्यभिचारी भाव का नाम लेकर उसकी अभिव्यक्ति करना 'स्वशब्दवाच्यत्व' नामक दोष होगा।

---

१. रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसञ्चारिणोरपि ।
परिपन्थिरसाङ्गस्य विभावादेः परिग्रहः ।
आक्षेपः कल्पितः कृच्छ्रादनुभावविभावयोः ॥
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ तथा दीप्तिः पुनः पुनः ।
अङ्गिनोऽननुसन्धानमनङ्गस्य च कीर्तनम् ॥
अतिविस्तृतिरङ्गस्य प्रकृतीनां विपर्ययः ।
अर्थानौचित्यमन्यच्च दोषा रसगता मताः ॥
—साहित्यदर्पण, ७।१२-१५

२. काव्यकौमुदी (तृतीय कला), पृ० २०४

प्रतिकूल विभावादि का ग्रहण : जहाँ रस-विशेष के प्रतिकूल विभाव का वर्णन हो, वहाँ यह दोष होता है।

उदाहरण :

> अरी खेलि हँसि बोलि चलि, भुज पीतम-गल डारि।
> आयु जात छिन छिन घटी, छीलरि कैसो बारि॥[१]

यहाँ वर्णन तो शृंगार रस का है किन्तु विभाव (आयु जात) शान्त-रस का। इस प्रकार यहाँ प्रतिकूल विभाव के वर्णन के कारण दोष है।

विभावानुभाव की कष्ट कल्पना : जहाँ विभाव या अनुभाव के विषय में यह निश्चित रूप से न ज्ञात हो सके कि यह किस रस का विभाव या अनुभाव है, वहाँ यह दोष होता है।

उदाहरण :

> (१) यह अवसर निज कामना किन पूरन करि लेहु।
> ये दिन फिर ऐहैं नहीं यह छन भंगुर देहु॥[२]

यहाँ यह कठिनता से ज्ञात होता है कि इसका आलम्बन विभाव कोई कामुक व्यक्ति है या विरागी।

> (२) हिमकर किरण पसारकर, जब देता आनंद।
> तब वह हँसती, दृग नचा, खिल उठता मुखचंद॥[३]

यहाँ नायिका आलम्बन विभाव है और चन्द्रमा उद्दीपन विभाव, किन्तु नायक के प्रेम को प्रकट करने वाले अनुभाव की प्रतीति बड़ी कठिनाई से होती है। नायक का उल्लेख न होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि नायिका का हँसना, नेत्र नचाना आदि प्रेम के ही कारण हैं या प्रकृतिगत विलासमात्र। इस प्रकार यहाँ रस-दोष है।

---

१. काव्यनिर्णय, २५।११ (भिखारीदास-ग्रंथावली, द्वितीय खण्ड, पृ० २४६)

२. काव्यदर्पण, पृ० ३१८

३. [illegible]

परिशिष्ट

न्याय

भारतीय साहित्यशास्त्र में कुछ लोकप्रसिद्ध न्याय (लोकरूढ़ नीतिवाक्य) प्रचलित हो गए हैं। उनका अकारादि क्रम से संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

अजापुत्रन्याय

'अजापुत्रन्याय' (बकरी के बच्चे का न्याय) का प्रयोग उस अवस्था में होता है जब किसी बलवान व्यक्ति को वश में करने में असमर्थ कोई व्यक्ति किसी निर्बल को दबाता है।[1]

अरुन्धतीदर्शनन्याय

अरुन्धतीदर्शनन्याय का अर्थ है अरुन्धती तारा दर्शन का सिद्धान्त अर्थात् ज्ञात से अज्ञात का पता लगाना। शंकराचार्य की निम्नांकित व्याख्या से इसका प्रयोग स्पष्ट हो जायेगा

अरुन्धतीं दिदर्शयिषुस्तत्समीपस्थां स्थूलां ताराममुख्यां प्रथममरुन्धतीति ग्राहयित्वा तां प्रत्याख्याय पश्चादरुन्धतीमेव ग्राहयति।[2]

अंधकवर्तकीयन्याय

जब कोई घटना अकस्मात् इसी प्रकार हो जाय जिस प्रकार अन्धे के हाथ बटेर लग जाय, तब उसे 'अन्धकवर्तकीयन्याय' या 'अन्धचटकन्याय' कहते हैं।[3]

---

१. काव्य दर्पण (परिशिष्ट), पृ० ३०३
२. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ५५६
३. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ५५६

अंधगजन्याय

जहाँ लोग अपने-अपने अनुमान से अदृष्ट वस्तु का वर्णन करें, वहाँ 'अंधगजन्याय' कहा जाता है।[1]

अवदर्पणन्याय

हठी एवं मूर्ख व्यक्ति को शिक्षा देना 'अंधदर्पणन्याय' कहलाता है।[2]

अंधपरंपरान्याय

'अंधपरंपरान्याय' का अर्थ है 'अंधानुकरण'। अर्थात् जब लोग बिना विचारे दूसरे का अंधानुकरण करते हैं तब इसे 'अंधपरंपरान्याय' कहते हैं।[3]

अशोकवनिकान्याय

'अशोकवनिकान्याय' का शाब्दिक अर्थ है 'अशोक वृक्षों के उद्यान का न्याय'। रावण ने सीता को अशोकवाटिका में रखा था यद्यपि अन्य स्थान भी थे। उसने अन्य स्थानों को छोड़कर इसी वाटिका में क्यों रखा, इसका कोई विशेष कारण नहीं बताया जा सकता। इसी प्रकार जब किसी के पास किसी कार्य को सम्पन्न करने के अनेक साधन हों तो यह उसकी इच्छा पर निर्भर करता है कि वह उनमें से किसी एक साधन को अपनाए। ऐसी अवस्था में किसी भी साधन को अपनाने का कोई विशेष कारण नहीं दिया जा सकता। इस प्रकार के सदर्भ में 'अशोकवनिकान्याय' का प्रयोग होता है।[4]

अश्मलोष्टन्याय

'अश्मलोष्टन्याय' का अर्थ है—पत्थर और मिट्टी के ढेले का न्याय। मिट्टी का ढेला रुई की अपेक्षा कठोर है। किन्तु पत्थर की तुलना में वही मिट्टी का ढेला मृदु है। इसी प्रकार जब एक व्यक्ति की तुलना अपेक्षाकृत निचले दर्जे के व्यक्तियों से की जाती है तब तो वह महत्वपूर्ण समझा जाता है, किन्तु श्रेष्ठतर व्यक्तियों के साथ तुलना में वही व्यक्ति नगण्य हो जाता है। इस प्रकार के सन्दर्भ में हम 'अश्मलोष्टन्याय' या 'पाषाणेष्टकन्याय' का प्रयोग करते हैं।[5]

---

१. काव्य दर्पण (प० दुर्गादत्त), पृ० १७३
२. काव्य दर्पण (प० दुर्गादत्त), पृ० १७३
३. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ५५६
४. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ५५६-५७
५. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ५५७

कदंबकोरकन्याय

'कदंबकोरक' या 'कदंबगोलकन्याय' का अर्थ है कदंबवृक्षकलिका का न्याय। कदंबवृक्ष की कलियाँ साथ ही खिल जाती हैं, अतः जहाँ उदय के साथ ही कार्य भी होने लगे, वहाँ इस न्याय का उपयोग करते हैं।[1]

काकतालीयन्याय

'काकतालीयन्याय' (कौवे और ताड़ के फल का न्याय) वहाँ माना जाता है जहाँ कोई घटना अकस्मात् रूप से घटती है जैसे एक कौवा किसी वृक्ष की शाखा पर जाकर बैठा ही था कि अचानक ऊपर से एक फल गिरा और कौवे प्राण पखेरू उड़ गए। अतः शुभ या अशुभ अप्रत्याशित के रूप से अकस्मात् घटना घटने पर इस न्याय का प्रयोग किया जाता है।[2]

काकदंतगवेषणन्याय

'काकदंतगवेषण' का अर्थ है कौवे के दाँत ढूंढना'। जब कोई व्यक्ति व्यर्थ, अलाभकर अथवा असम्भव कार्य करता है तब 'काकदंतगवेषणन्याय' का प्रयोग किया जाता है।[3]

काकाक्षिगोलकन्याय

'काकाक्षिगोलकन्याय (कौवे की आँख गोलक का न्याय) वाक्य का प्रयोग वहाँ होता है जब किसी शब्द का एक बार प्रयोग होने पर भी उसका दूसरे स्थान पर अध्याहार कर लिया जाए। कहते हैं कि कौवे की आँख तो एक ही होती है किन्तु आवश्यकता पड़ने पर वह उसे एक गोलक से दूसरे गोलक में ले जा सकता है। इसी आधार पर इस न्याय का नामकरण हुआ है।[4]

कूपयंत्रघटिकान्याय

कूपयंत्रघटिका अर्थात् रहट के चलते समय कुछ डिब्बे तो पानी से भरे हुए ऊपर को जाते हैं, कुछ खाली हो रहे हैं और कुछ बिल्कुल खाली होकर नीचे को जा रहे हैं। इसी प्रकार सांसारिक अस्तित्व की विभिन्न अवस्थाओं की स्थिति है। अतः इन विभिन्न अवस्थाओं को प्रकट करने के लिए

---

१. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० २५७
२. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० २५७, बृहत् हिन्दी कोश, पृ० २७६
३. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० २५७
४. संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० २५७; बृहत् हिन्दी कोश, पृ० २७६

'कूपयंत्रघटिकान्याय' का प्रयोग किया जाता है।[1]

घट्टकुट्टीप्रभातन्याय

'घट्टकुट्टीप्रभातन्याय' (चुंगीघर के निकट पौ फटी का न्याय) का प्रयोग वहाँ होता है जब कोई किसी कार्य को जानबूझ कर टालना चाहे परन्तु उसी को करने के लिए उसे बाध्य होना पड़े। कहते हैं एक गाड़ीवान चुंगी नहीं देना चाहता था, अतः वह ऊबड़-खाबड़ रास्ते से रात को ही चल दिया, किन्तु दुर्भाग्यवश रात भर इधर-उधर घूमते रहने के पश्चात् जब पौ फटी तो वह देखता क्या है कि उसी चुंगी घर के सामने खड़ा है। विवश होकर उसे चुंगी देनी पड़ी।[2]

कैमुतिकन्याय

'कैमुतिक (किमुत—ठक्) न्याय' इस बात का सूचक होता है कि जब इतना बड़ा काम पूरा हो गया, तब इस छोटे से काम के पूर्ण होने में क्या संदेह है ?[3]

गणपतिन्याय

किसी युक्तिविशेष से किसी कठिन कार्य को सुगमता से सिद्ध कर लेना 'गणपतिन्याय' कहलाता है।[4]

गोमयपायसीयन्याय

'गोमयपायसीयन्याय' (गोबर और दूध का न्याय) का अर्थ होता है कि निकृष्ट और सर्वोत्कृष्ट वस्तु का मिलन भी कहीं किसी समान भूमि पर होता है।[5]

---

१. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ५५७
'कूपयंत्रघटिकान्याय' के लिए 'मृच्छकटिक' नाटक का निम्नांकित श्लोक उद्धृत किया जा सकता है :
काश्चित्तुच्छयति प्रपूरयति वा काश्चिन्नयत्युन्नतिम्
काश्चित्पातविधौ करोति च पुनः काश्चिन्नयत्याकुलान्।
अन्योन्यं प्रतिपक्षसंहतिमिमां लोकस्थितिं बोधय-
न्नेष क्रीडति कूपयंत्रघटिकान्यायप्रसक्तो विधिः॥ —मृच्छकटिक, १०/६०
२. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ५५७
३. मानक हिन्दी कोश (पहला खण्ड), पृ० ५८३
४. काव्य दर्पण (प० दुर्गादत्त), पृ० १७६
५. सांख्ययोगदर्शन, १।३२ पर व्यासभाष्य

घुणाक्षरन्याय

जिस प्रकार लकड़ी में घुन लगने से यों ही कुछ अक्षर बन जाते हैं उसी प्रकार जब कोई घटना संयोगवश हो जाय, तब उसे 'घुणाक्षरन्याय' कहते हैं।[1]
उदाहरण :

कहत कठिन समुझत कठिन साधत कठिन बिबेक।
होई घुनाक्षर न्याय जौं पुनि प्रत्यूह अनेक॥[2]

तिलतण्डुलन्याय

परस्पर मेल होने पर भी अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाये रखना 'तिलतण्डुल न्याय' कहलाता है जिस प्रकार तिल और चावल एक साथ मिलाये जाने पर भी अलग अलग दिखायी देते हैं।[3]

दण्डपूपिकान्याय

जिस प्रकार किसी डण्डे के चूहे द्वारा खाये जाने पर उसमें बँधे हुए पुए अपने आप चूहे द्वारा खाये हुए मान लिये जाते हैं, उसी प्रकार जब दो परस्पर सम्बन्धित बातों में से एक के सिद्ध हो जाने पर दूसरे की सिद्धि अपने आप सिद्ध हो जाय, तब 'दण्डपूपिका' या 'दण्डापूप' न्याय कहा जाता है।[4]

देहलीदीपकन्याय

दीपक को घर की देहली पर रखना जिससे घर और बाहर दोनों स्थानों पर उजाला हो, 'देहलीदीपकन्याय' कहा जाता है।[5]

नीरक्षीरन्याय

एक वस्तु का दूसरी वस्तु में इस प्रकार मिल जाना कि दोनों का पृथक् पृथक् अस्तित्व समाप्त हो जाये 'नीरक्षीरन्याय' कहा जाता है।[6]

---

१. मानक हिन्दी कोश (दूसरा खण्ड), पृ० १७२
२. रामचरितमानस, ७/११८/१९-२०
३. काव्य दर्पण (प० दुर्गादत्त), पृ० १७५
४. मानक हिन्दी कोश (तीसरा खण्ड), पृ० १३
मूषिकेण दण्डो भक्षित इत्यनेन तत्सहचरितमपूपभक्षणमर्थादायातं भवतीति नियतसमानन्यायादर्थान्तरमापतनीत्येष न्यायो दण्डापूपिका।
—साहित्यदर्पण, १०/८३ पर वृत्ति
५. मानक हिन्दी कोश (तीसरा खण्ड), पृ० १२०
६. काव्य दर्पण (प० दुर्गादत्त), पृ० १७७

नृपनापितपुत्रन्याय

'नृपनापितपुत्रन्याय' (राजा और नाई के पुत्र का न्याय) का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी वस्तु को सर्वोत्तम समझता है। कहते हैं किसी राजा ने किसी नाई से कहा कि मेरे राज्य में जो लड़का सबसे सुन्दर हो उसे लाओ। नाई बहुत दिनों तक ढूंढता रहा किन्तु उसे कोई सुन्दर लड़का न मिला। अन्त में थककर वह घर आया। घर में उसने अपने काले कलूटे लड़के को ही सबसे सुन्दर पाया। वह उस लड़के को राजा के पास ले गया। राजा उस नाई के पुत्र को देखकर पहले तो क्रुद्ध हुआ किन्तु यह विचार कर कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी वस्तु ही सर्वश्रेष्ठ प्रतीत होती है उसका क्रोध शान्त हुआ।[1]

पंकप्रक्षालनन्याय

'पंकप्रक्षालनन्याय' (कीचड़ धोकर उतारने का न्याय) का अभिप्राय है कि कीचड़ लगने पर उसे धो डालने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा है कि मनुष्य कीचड़ लगने ही न दे। इसी प्रकार भयग्रस्त स्थिति में फँसकर उससे निकलने का प्रयत्न करने की अपेक्षा यह अधिक अच्छा है कि उस भयग्रस्त स्थिति में कदम ही न रखे।[2]

पिष्टपेषणन्याय

'पिष्टपेषणन्याय' (पिसे हुए को पीसना) का प्रयोग वहाँ होता है जब कोई व्यक्ति अपने किये हुए कार्य को ही दुबारा करने लगता है। इस प्रकार व्यर्थ कार्य के करने के संदर्भ में इस न्याय का प्रयोग किया जाता है।[3]

बीजांकुरन्याय

'बीजांकुरन्याय' (बीज और अंकुर का न्याय) का प्रयोग उस अवस्था में होता है जहाँ कार्य और कारण अन्योन्याश्रित होते हैं। बीज से अंकुर निकला और फिर समय पाकर अंकुर से पेड़ बना और उससे बीज निकला। इस प्रकार न बीज के बिना अंकुर हो सकता है और न अंकुर के बिना बीज।[4]

लोहचुम्बकन्याय

'लोहचुम्बकन्याय' (लोहे और चुम्बक के आकर्षण का न्याय) का प्रयोग प्राकृतिक घनिष्ठ सम्बन्ध या निसर्गवृत्ति के सन्दर्भ में किया जाता है। निसर्गवृत्ति

---

१. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ५५८
२. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ५५८
३. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ५५८
४. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ७५८

के आधार पर सभी वस्तुएँ एक दूसरे की ओर आकृष्ट होती हैं, अतः इसे ही 'लोहचुम्बकन्याय' की संज्ञा प्रदान की गयी है।[1]

वह्निधूमन्याय

'वह्निधूमन्याय' का अर्थ है धुएँ से अग्नि का अनुमान। जहाँ धुआँ होगा वहाँ अग्नि अवश्य होगी, अतः जहाँ दो पदार्थ कारण कार्य के रूप में अनिवार्य रूप से सम्बद्ध हों वहाँ यह न्याय माना जाता है।[2]

वृद्धकुमारीवाक्य (वर) न्याय

'वृद्धकुमारीवाक्य (वर) न्याय' (बूढ़ी कुमारी को वरदान का न्याय) का प्रयोग उन अवस्था में होता है जब कोई व्यक्ति ऐसा वरदान माँगे जिसमें सभी बातें आ जायें। महाभाष्य में एक कथा आयी है कि एक बुढ़िया कुमारी से इन्द्र ने कहा कि एक ही वाक्य में जो वरदान चाहो माँग लो। इस पर बुढ़िया बोली 'पुत्रा मे बहुक्षीरघृतमोदनं कांचनपात्र्या भुञ्जीरन्' अर्थात् मेरे पुत्र सोने की थाली में घी-दूधयुक्त भात खायें। इस एक ही वरदान में बुढ़िया ने पति, पुत्र, धन-धान्य, पशु, सोना, चाँदी सब कुछ माँग लिया। अतः एक की प्राप्ति से सब कुछ की प्राप्ति के सन्दर्भ में इस न्याय का प्रयोग किया जाता है।[3]

शाखाचंद्रन्याय

'शाखाचन्द्रन्याय' (शाखा पर वर्तमान चन्द्रमा का न्याय) का प्रयोग ऐसी स्थिति में होता है जब कोई दूरस्थ वस्तु निकटवर्ती किसी पदार्थ से सम्बद्ध मानी जाय। जब हम किसी को चन्द्रमा का दर्शन कराते हैं तो चन्द्रमा के दूर स्थित होने पर भी हम यही कहते हैं कि 'देखो सामने वृक्ष की शाखा के ऊपर चाँद दिखायी दे रहा है'। इसी के आधार पर यह न्याय बना है।[4]

सिंहावलोकनन्याय

'सिंहावलोकनन्याय' (सिंह का पीछे मुड़कर देखना) का प्रयोग वहाँ होता है जब कोई व्यक्ति आगे चलने के साथ साथ पीछे भी देखे अर्थात् अपने पूर्वकृत कार्य पर भी दृष्टि डाले, जिस प्रकार सिंह शिकार की खोज में आगे बढ़ता जाता है किन्तु साथ ही पीछे मुड़कर भी देखता रहता है।[5]

---

१. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ५५८
२. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ५५८
३. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ५५८
४. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ५५८
५. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ५५८

सूचीकटाहन्याय

'सूचीकटाहन्याय' (सुई और कड़ाही का न्याय) का अभिप्राय है सरल कार्य को पहले करना और कठिन को बाद में। कोई व्यक्ति किसी लोहार के यहाँ कड़ाही बनवाने गया। ठीक थोड़ी देर बाद एक और व्यक्ति वहाँ आ गया और उसने लोहार से सुई बनाने को कहा। लोहार ने सुई पहले बनायी बाद में कड़ाही। इस प्रकार पहले अल्पश्रमसाध्य कार्य को सम्पादित किया तत्पश्चात् श्रमसाध्य कार्य को।[1]

स्थालीपुलाकन्याय

जैसे हाँडी में उबाले गये चावलों का एक दाना देखते ही यह पता लग जाता है कि सभी चावल पक गये या नहीं, उसी प्रकार अंश के आधार पर अंशी के सम्बन्ध में अनुमान कर लेना 'स्थालीपुलाकन्याय' कहलाता है।[2]

स्थूणानिखननन्याय

'स्थूणानिखननन्याय' (गढ़ा खोदकर उसमें थूणी जमाना) का अर्थ है भिन्न-भिन्न प्रकार के तर्क और दृष्टान्त उपस्थित करके अपनी बात का उसी प्रकार और अधिक समर्थन करना जिस प्रकार कोई मनुष्य अपने घर में थूणी लगाकर उसे मिट्टी, कंकड़ आदि बार बार डाल कर और कूटकर और अधिक सुदृढ़ बनाता है।[3]

स्वामिभृत्यन्याय

'स्वामिभृत्यन्याय' (स्वामी और सेवक का न्याय) का व्यवहार उस स्थिति में होता है जब पालक-पाल्य और पोषक-पोष्य आदि सम्बन्ध दिखाने होते हैं।[4]

---

१. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ५५८
२ मानक हिन्दी कोश (पाँचवाँ खण्ड), पृ० ४७८
३. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ५५८
४. संस्कृत-हिन्दी कोश, पृ० ५५८

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

संस्कृत-ग्रन्थ

अग्निपुराण : व्यास, प्र० मनसुखराय मोर, ५, क्लाइव रोड, कलकत्ता, प्रथम संस्करण, सं० २०१८ वि०, १९५७ ई०

अध्यात्मरामायण (हिन्दी-अनुवाद सहित) : व्यास, गीताप्रेस, गोरखपुर, सप्तम संस्करण, सं० २००८ वि०

(हिन्दी) अभिनवभारती : अभिनवगुप्त, सं० डॉ० नगेन्द्र, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली; प्रथम संस्करण, १९६० ई०

कर्पूरमञ्जरी (काव्यमाला ४) : राजशेखर, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई; तृतीय संस्करण, १९२७ ई०

काव्यप्रकाश : मम्मट, अनु० हरिमंगल मिश्र, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, द्वितीय संस्करण, १९४३ ई०

काव्यमीमांसा : राजशेखर, अनु० पंडित केदारनाथ शर्मा सारस्वत, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, प्रथम संस्करण, सं० २०११ वि०, १९५४ ई०

(हिन्दी) काव्यादर्श : दण्डी, सं० रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१, १९५८ ई०

काव्यानुशासन (काव्यमाला ७०) : हेमचन्द्र, सं० महामहोपाध्याय पं० शिवदत्त; पाण्डुरंग जावजी, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई; १९३४ ई०

काव्यालंकार : भामह, सं० देवेन्द्रनाथ शर्मा; बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना; सं० २०१९ वि०, १८८४ शकाब्द, १९६२ ई०

काव्यालंकार : रुद्रट; सं० डॉ० सत्यदेव चौधरी, वासुदेव प्रकाशन, माडल टाउन, दिल्ली-९, प्रथम संस्करण, १९६५ ई०

काव्यालंकारसारसंग्रह : उद्भट, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, प्रथम संस्करण, १९२५ ई०

काव्यालंकारसूत्रवृत्ति (कामधेनुटिप्पणीसहिता) : वामन, पूना ओरियण्टल बुक एजेंसी; १९२७ ई०

कुवलयानन्द (चन्द्रालोक सहित) अप्पय दीक्षित; निर्णयसागर प्रेस, मुंबई २, दशम संस्करण, सन् १९५५ ई०

छन्दोमञ्जरी : सं० रामधन भट्टाचार्य; मेट्रोपालिटन प्रिंटिंग एण्ड पब्लिशिंग हाउस लिमिटेड, ५६, धरमतल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता; १९३५ ई०

छान्दोग्योपनिषद् (सानुवाद शाङ्करभाष्य सहित), गीताप्रेस, गोरखपुर, चतुर्थ संस्करण, सं० २०१९ वि०

तैत्तिरीयोपनिषद् (सानुवाद शाङ्करभाष्य सहित) गीताप्रेस, गोरखपुर; सप्तम संस्करण, सं० २०१९ वि०

दशरूपक : धनंजय, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, पंचम संस्करण, १९४१ ई०

ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी १, तृतीय संस्करण, संवत् २०२१ वि०

(हिन्दी) नाट्यदर्पण : रामचन्द्र गुणचन्द्र, सं० डॉ० नगेन्द्र; प्र० हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९६१ ई०

नाट्यशास्त्र : भरत मुनि; सं० मनमोहन घोष, मनीषा ग्रन्थालय, प्राइवेट लिमिटेड, ४/३ बी, बंकिम चटर्जी स्ट्रीट, कलकत्ता-१२; १९६७ ई०

प्रतापरुद्रयशोभूषण या प्रतापरुद्रीय : विद्यानाथ, सं० सी० शंकर राम शास्त्री; श्री बालमनोरमा प्रेस, माइलापुर, मद्रास; तृतीय संस्करण, १९५० ई०

मृच्छकटिक : शूद्रक, सं० आर० डी० करमरकर, प्र० आर० डी० करमरकर, सर परशुराम भाऊ कालेज, पूना; प्रथम संस्करण, १९३७ ई०

रसगंगाधर : पंडितराज जगन्नाथ, चौखम्बा विद्याभवन, चौक, बनारस-१, १९५५ ई०

लघुसिद्धान्तकौमुदी वरदराजाचार्य, सं० पं० गुरुप्रसाद शास्त्री, भार्गव पुस्तकालय गायघाट, बनारस, चतुर्थ संस्करण १९४९ ई०

वक्रोक्तिजीवित : कुन्तक; सुशील कुमार डे; प्र० के० एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता; तृतीय संस्करण, १९६१ ई०

वृत्तरत्नाकर : केदारभट्ट; लक्ष्मी वेंकटेश्वर प्रेस, कल्याण-मुंबई, संवत् १९८५ वि०

शृंगारप्रकाश (प्रथम दो प्रकाश) भोजदेव, पी० पी० सुब्रह्मण्य शास्त्री; प्र० श्रीरंगम्, श्रीवाणी विलास प्रेस, मद्रास; १९२६ ई०

श्रुतबोध : कालिदास, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, बनारस-१, षष्ठ संस्करण, १९५६ ई०

सरस्वतीकंठाभरण : भोजराज; सं० अनुन्दोराम बरुह, पब्लिकेशन बोर्ड, असम, गौहाटी-३; १९६९ ई०

साङ्ख्ययोगदर्शनम् : सं० गोस्वामि दामोदर शास्त्री; चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, बनारस; १९३५ ई०

साहित्यदर्पण : विश्वनाथ; सं० डॉ० सत्यव्रतसिंह; चौखम्बा विद्याभवन, चौक वाराणसी-१; १९५७ ई०

हर्षचरित : बाणभट्ट; पौरस्त्य ग्रन्थ प्रकाशन कार्यालय, त्रिवेन्द्रम; १९५८ ई०

हिन्दी-ग्रंथ

अङ्गराज : आनन्दकुमार, राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली; प्रथम संस्करण

अजातशत्रु (ऐतिहासिक नाटक) : जयशंकर प्रसाद, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, ग्यारहवाँ संस्करण, सं० २००३ वि०

अणिमा : सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग

अनघ : मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी)

अनामिका : सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग; चतुर्थ संस्करण, जुलाई, १९६३ ई०

अपरा : सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद; नवाँ संस्करण, १९७१ ई०

अभिव्यक्ति : सुमित्रानन्दन पंत, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली; प्रथम संस्करण, १९६० ई०

अलंकार-मंजूषा : ला० भगवानदीन, प्र० रामनारायण लाल, इलाहाबाद, दशम संस्करण, १९५१ ई०

अलंकार प्रदीप : रसालचंद्र, श्री भारत भारती लिमिटेड, १, अनसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली

आँसू : जयशंकर 'प्रसाद', भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग, द्वादश संस्करण, सं० २०१८ वि०

आधुनिक हिन्दी कविता में ध्वनि : डॉ० कृष्णलाल शर्मा, ग्रन्थम, रामबाग, कानपुर, नवम्बर, १९६४ ई०

आधुनिक हिन्दी-काव्य में छन्द-योजना : डॉ० पुत्तूलाल शुक्ल; प्र० लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, प्रथमावृत्ति, सं० २०१४ वि०

उद्धवशतक (रत्नाकर, पहला भाग) : जगन्नाथ दास रत्नाकर; काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, तीसरा संस्करण, सं० २००३ वि०

उर्मिला (प्रबन्ध-काव्य) : बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', प्र० अतरचन्द कपूर एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली, प्रथम संस्करण

उर्वशी : रामधारीसिंह 'दिनकर', प्र० उदयाचल, आर्यकुमार रोड, पटना-४, प्रथम संस्करण, १९६१ ई०

कबीर-ग्रन्थावली : सं० श्यामसुन्दरदास, नागरीप्रचारिणी-सभा, काशी, १९४७ ई०

कविता-कौमुदी (पहला भाग) : सं० रामनरेश त्रिपाठी, नवनीत प्रकाशन, ३४१, तारदेव बम्बई, आठवाँ संस्करण, १९५४ ई०

कवितावली : गोस्वामी तुलसीदास, सं० लाला भगवान 'दीन', प्र० रामनारायण लाल, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, सं० २००२ वि०

कवि-भारती : सं० सुमित्रानन्दन पंत, बालकृष्ण राव, डॉ० नगेन्द्र, साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी); दशमावृत्ति, २०१० वि०

कानन-कुसुम (जयशंकर 'प्रसाद' की सवत् १९६६ से १९७४ तक की स्फुट कविताओं का संग्रह) : भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, पंचम संस्करण, संवत् २००७ वि०

कामायनी : जयशंकर 'प्रसाद', भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद सं० २००३ वि०

काव्यकल्पद्रुम (प्रथम भाग—रसमंजरी) : कन्हैयालाल पोद्दार, प्र० प० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, चूडीवालों का मकान, मथुरा, सप्तम संशोधित संस्करण, सं० २०१९ वि०

काव्यकल्पद्रुम (द्वितीय भाग—अलंकारमंजरी) कन्हैयालाल पोद्दार, प्र० प० जगन्नाथ प्रसाद शर्मा, चूडीवालों का मकान, मथुरा, पंचम संस्करण, सं० २००६ वि०

काव्य दर्पण : पं० दुर्गादत्त, एस० चन्द एण्ड कम्पनी, देहली, लाहौर

काव्य दर्पण : पं० रामदहिन मिश्र; ग्रंथमाला-कार्यालय, पटना-४, पंचम संस्करण, १९७० ई०

काव्यधारा : सं० डॉ० इन्द्रनाथ मदान, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, तीसरा संस्करण, १९५९ ई०

काव्य-निर्णय : भिखारीदास, सं० जवाहरलाल चतुर्वेदी, मथुरा

काव्य-प्रदीप : रामबहोरी शुक्ल; हिन्दी-भवन, इलाहाबाद, सोलहवाँ संस्करण, १९६९ ई०

काव्यांग-कौमुदी (तृतीय कला) : विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्र० नंदकिशोर एण्ड ब्रदर्स, वाराणसी; तृतीय संस्करण, सं० २०१४ वि०

काव्यालोचन : डॉ० ओम् प्रकाश शर्मा शास्त्री; आर्य बुक डिपो, करोल बाग, दिल्ली, १९६७ ई०

कुरुक्षेत्र (प्रबन्ध-कविता) : रामधारीसिंह 'दिनकर', उदयाचल, राजेन्द्र नगर, पटना-४, सोलहवाँ संस्करण, १९६५ ई०

केशव-कौमुदी (प्रथम भाग) : सं० लाला भगवान दीन, प्र० रामनारायण लाल, इलाहाबाद; षष्ठावृत्ति, सं० २००४ वि०

केशव-कौमुदी (दूसरा भाग) : सं० ला० भगवानदीन, प्र० रामनारायण लाल, बेनी माधव, इलाहाबाद, पंचम संस्करण, १९६२ ई०

केशव-ग्रन्थावली (तीन खण्डों में) : सं० प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद; प्रथम संस्करण

गुंजन : सुमित्रानन्दन पंत; भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद; ग्यारहवाँ संस्करण, सं० २०२१ वि०

चक्रवाल : रामधारीसिंह 'दिनकर', उदयाचल, आर्यकुमार रोड, पटना-४, प्रथम संस्करण, १९५६ ई०

चन्द्रावली नाटिका : भारतेन्दु हरिश्चन्द्र; सं० प्रबंध उपाध्याय; प्र० रामनारायण लाल, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, १९४६ ई०

चिन्तामणि (पहला भाग) रामचन्द्र शुक्ल, इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, १९४६ ई०

छंदमाला केशवदास, भारती साहित्य मंदिर, फव्वारा, दिल्ली; सन् १९६१ ई०

छन्दार्णव भिखारीदास, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारिणी-सभा, काशी, प्रथम संस्करण, सं० २०१३ वि०

जगद्विनोद पद्माकर सं० प्रेम ब्रजवासी, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा; प्रथम संस्करण, १९५७ ई०

जयद्रथ-वध . मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी), सं० २०२४ वि०

जय भारत मैथिलीशरण गुप्त साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी), तृतीयावृत्ति, सं० २०२३ वि०

जायसी ग्रन्थावली सं० रामचन्द्र शुक्ल, काशीनागरी प्रचारिणी-सभा; तृतीय संस्करण सं० २००३ वि०

जौहर श्यामनारायण पाण्डेय, सरस्वती मन्दिर काशी, चतुर्थ संस्करण, १९६३ ई०

झंकार मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी), तृतीयावृत्ति, सं० २०१४ वि०

झरना जयशंकर प्रसाद, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद; नवीं आवृत्ति, सं० २०२१ वि०

तुलसीदास सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, सप्तम संस्करण, सं० २०२१ वि०

तुलसी साहित्य-रत्नाकर प० रामचन्द्र द्विवेदी, सत्साहित्य प्रकाशन-मण्डल, नया टोला, पटना, प्रथम संस्करण, सं० १९८६ वि०

दीनदयाल गिरि-ग्रन्थावली सं० श्यामसुन्दर दास, लखनऊ, ई० १९१९

दीपशिखा महादेवी वर्मा, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, [illegible] संस्करण, सं० २०१९ वि०

दोहावली गोस्वामी तुलसीदास, गीताप्रेस, गोरखपुर; पंद्रहवाँ संस्करण, सं० २०१६ वि०

द्वापर मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य सदन, चिरगाँव (झाँसी); २०१२ वि०

नीरजा महादेवी वर्मा, इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, १९४५ ई०

नीहार : महादेवी वर्मा, साहित्य भवन (प्राइवेट) लिमिटेड, इलाहाबाद, षष्ठ आवृत्ति १९६२ ई०

नूरजहाँ : गुरुभक्तसिंह, प्र० गुरुदास सिंह एण्ड ब्रदर्स, भक्त भवन, आजमगढ़; द्वादश संस्करण

पंचवटी : मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी); बत्तीसवाँ संस्करण, सं० २०१२ वि०

पद्माकर-ग्रन्थावली सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी, प्रथम संस्करण, सं० २०१६ वि०

पद्माभरण पद्माकर; सं० आचार्य दुर्गाशंकर मिश्र, जवाहर पुस्तकालय, मथुरा, प्रथम संस्करण, १९५९ ई०

पद्य-प्रसून पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', पुस्तक-भंडार, लहेरिया-सराय, दरभंगा

परिमल : सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सं० पं० दुलारेलाल भार्गव, गंगा पुस्तक-माला कार्यालय, लखनऊ, नवमावृत्ति, सन् १९६३ ई०

पल्लव : सुमित्रानंदन पंत, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, सातवाँ संस्करण, १९६३ ई०

पारिजात : अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', हिन्दी-साहित्य-कुटीर, बनारस, द्वितीय संस्करण संवत् २०१२ वि०

पार्वती-मंगल : गोस्वामी तुलसीदास, गीताप्रेस, गोरखपुर, तृतीय संस्करण, सं० २०१७ वि०

प्रियप्रवास : अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस; सं० २०२१ वि०

बरवै रामायण : गोस्वामी तुलसीदास, गीताप्रेस, गोरखपुर, द्वितीय संस्करण, सं० २०१६ वि०

बिहारी-बोधिनी : सं० ला० भगवानदीन, साहित्य-सेवा-सदन, बनारस; पञ्चमावृत्ति, सं० २००३ वि०

बृहत् हिन्दी कोश : सं० कालिकाप्रसाद, राजवल्लभसहाय और मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, तृतीय संस्करण

भारत-भारती : मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य-सदन, चिरगाँव, झाँसी

भारतीय साहित्यशास्त्र (प्रथम खंड) बलदेव उपाध्याय तथा रामदीन, प्रसाद परिषद्, काशी; प्रथम संस्करण, २००७ वि०

भारतीय साहित्यशास्त्र (दूसरा भाग) : बलदेव उपाध्याय, प्रसाद परिषद्, काशी; द्वितीय संस्करण, सं० २०१२ वि०

भारतेन्दु-ग्रन्थावली (पहला खण्ड) : सं० ब्रजरत्नदास; काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; प्रथम संस्करण, संवत् २००७ वि०

भाषा-भूषण : महाराज जसवन्तसिंह, सं० पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, हिन्दी-साहित्य कुटीर, बनारस; तृतीय संस्करण, सं० २००६ वि०

भाषा-शब्द-कोष : डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल'; प्र० रामनारायण लाल, इलाहाबाद, तृतीयावृत्ति, १६५१ ई०
भिखारीदास-ग्रन्थावली : स० प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी, प्रथम संस्करण
भूषण-ग्रन्थावली : स० मिश्रबंधु, नागरी-प्रचारिणी-सभा, काशी, स० २०१५ वि०
मतिराम-ग्रन्थावली स० प० कृष्णबिहारी मिश्र, प्र० श्री दुलारेलाल; गंगा पुस्तकमाला कार्यालय लखनऊ, चौथा संस्करण, स० २०१८ वि०
मधुकलश हरिवंशराय 'बच्चन', राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली; नवाँ संस्करण, सन् १६६६ ई०
मरण-ज्वार (प० माखनलाल चतुर्वेदी की प्रखर राष्ट्रीय कविताओं का संकलन) : स० श्रीकान्त जोशी, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी; प्रथम संस्करण, १६६३ ई०
मानक हिन्दी कोश - स० रामचन्द्र वर्मा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
मीराँबाई की पदावली : स० परशुराम चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, तृतीय संशोधित संस्करण, स० २००४ वि०
मुकुल : सुभद्राकुमारी चौहान, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, नौवाँ संस्करण, १६६४ ई०
मुद्राराक्षस : अनु० भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, स० ब्रजरत्नदास, प्र० रामनारायण लाल, इलाहाबाद, पंचम संस्करण, स० २००६ वि०
यशोधरा : मैथिलीशरण गुप्त, साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी), २००४ वि०
रत्नाकर (रत्नाकर-काव्य-संग्रह) : काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; तीसरा संस्करण, स० २००३ वि०
रश्मि : महादेवी वर्मा, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद; षष्ठ आवृत्ति, सन् १६६२ ई०
रश्मिरथी - रामधारीसिंह 'दिनकर', श्री अजन्ता प्रेस लिमिटेड, नयाटोला, पटना-४, प्रथम संस्करण, १६५२ ई०
रसखान-रत्नावली : स० डा० भवानीशंकर याज्ञिक, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण, १८८६ शकाब्द
रस, छन्द और अलंकार - कृष्णदेव शर्मा
रस-मीमांसा : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, स० विश्वनाथप्रसाद मिश्र; काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम संस्करण, स० २००६ वि०
रसवन्ती : रामधारीसिंह 'दिनकर', उदयाचल, राजेन्द्रनगर, पटना; दसवाँ संस्करण १६६६ ई०
रस-सिद्धान्त : स्वरूप-विश्लेषण : आनन्द प्रकाश दीक्षित; राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १६६० ई०

रहीम-रत्नावली : स० मायाशंकर याज्ञिक, साहित्य-सेवा-सदन, काशी, तृतीय परिशोधित परिवर्धित सस्करण, शक स० १८७९
रामचरितमानस : गोस्वामी तुलसीदास, स० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, काशिराज संस्करण
लहर : जयशंकर प्रसाद, भारती भण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग, छठा सस्करण, सं० २०१६ वि०
विनयपत्रिका : गोस्वामी तुलसीदास, स० वियोगी हरि, साहित्य-सेवा-सदन, काशी, चतुर्थ संशोधित सस्करण, स० २००१ वि०
वृन्द-सतसई : स० प० श्रीकृष्ण शुक्ल, महाशक्ति साहित्य-मन्दिर, वाराणसी, तृतीयावृत्ति, सं० २०१४ वि०
वैदेही-वनवास : अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', हिन्दी-साहित्य-कुटीर, बनारस, द्वितीय सस्करण, स० २००३ वि०
वैराग्य-संदीपनी : गोस्वामी तुलसीदास, गीताप्रेस, गोरखपुर, तृतीय सस्करण, सवत् २०१३ वि०
शकुन्तला नाटक (कालिदासविरचित अभिज्ञानशाकुन्तलम् का हिन्दी अनुवाद): अनु० राजा लक्ष्मणसिंह, स० सुधांशु चतुर्वेदी, रीगल बुक डिपो, नई सडक, दिल्ली, १९६६ ई०
संस्कृत-हिन्दी कोश : स० वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, पटना, वाराणसी, १९६६ ई०
सतरंगिनी : हरिवंशराय 'बच्चन', सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, दूसरा सस्करण, मई १९४८ ई०
सरदार भगतसिंह (राष्ट्रीय चेतना का प्रगतिशील महाकाव्य) : श्रीकृष्ण 'सरल', जन-कल्याण प्रकाशन, गोपाल भवन, माधव नगर, उज्जैन, मध्य प्रदेश; चतुर्थ सस्करण, १९६८ ई०
साकेत : मैथिलीशरण गुप्त; साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी), स० २०१८ वि०
सामधेनी : रामधारीसिंह 'दिनकर'; उदयाचल, आर्यकुमार रोड, पटना-४
सिद्धान्त और अध्ययन : गुलाबराय, प्रतिमा प्रकाशन मन्दिर, दिल्ली के लिए साहित्य रत्न भण्डार, आगरा, प्रथमबार, स० २००३ वि०
सुदामा-चरित : नरोत्तमदास; स० कृष्णदेव शर्मा, हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली, तृतीय संशोधित सस्करण, १९६६ ई०
सूरसागर (पहला खण्ड) स० नन्ददुलारे वाजपेयी, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, चतुर्थ सस्करण, सं० २०२१ वि०
सूरसागर (दूसरा खण्ड) : नन्ददुलारे वाजपेयी, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी; तृतीय सस्करण, स० २०१८ वि०
स्कन्दगुप्त : जयशंकर प्रसाद; भारती भंडार लीडर प्रेस, इलाहाबाद, सत्रहवीं आवृत्ति, स० २०२४ वि०

स्वर्णधूलि : सुमित्रानन्दन पंत, राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली; द्वितीय संस्करण, १९५९ ई०

हिन्दी छन्दप्रकाश : रघुनन्दन शास्त्री, राजपाल एण्ड सन्ज, कश्मीरी गेट, दिल्ली; द्वितीय संस्करण

हिन्दी छन्द-रचना : प्यारेलाल शर्मा, सूरी ब्रदर्स, जालन्धर, नई सड़क, दिल्ली; १९५२ ई०

हिन्दी-साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण, सं० २००३ वि०

हिन्दी साहित्य कोश (प्रथम भाग) : ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, प्रथम संस्करण, सं० २०१५ वि०

हिमकिरीटिनी : माखनलाल चतुर्वेदी (एक भारतीय आत्मा), सरस्वती प्रकाशन मन्दिर, जार्जटाउन, इलाहाबाद, तीसरा संस्करण, सं० २००५ वि०

अंग्रेजी-ग्रंथ

An Introduction to the Study of Literature (New Impression Reset) William Henry Hudson, George G Harrap & Co Ltd London, April 1963 Edition

Aristotle's Theory of Poetry and Fine Art Translated and Edited by S H Butcher; Published by Dover Publications Inc (U S A)

Essays in Criticism (Second Series) Matthew Arnold, Edited by S R Littlewood, Published by Macmillan & Co Ltd London, 1951 Edition

The Poetical works of Wordsworth Edited by Thomas Hutchinson, Published by Oxford University Press, London, Second Edition (Reprint) 1953

अलंकारानुक्रमणिका

(अकारादि क्रम से अलंकारों के नाम और पृष्ठ-संख्या)

छन्दोऽनुक्रमणिका

(अकारादि क्रम से छन्दों के नाम और पृष्ठ-संख्या)